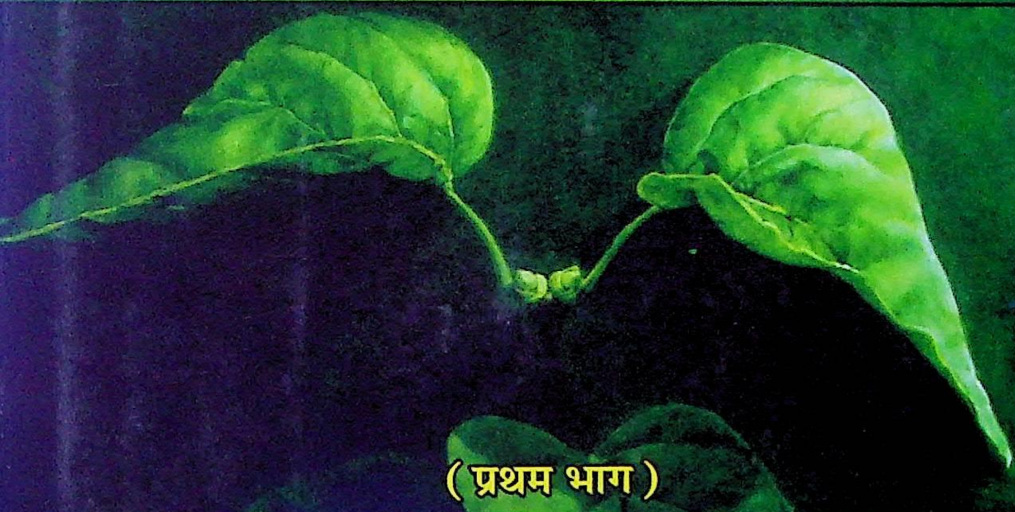
कृष्णदास आयुर्वेद सीरीज २४

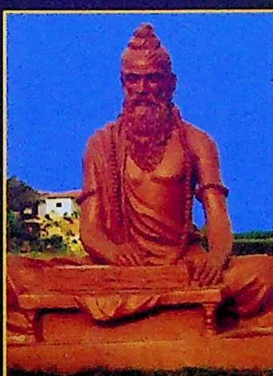
आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

लेखक
डॉ. लक्ष्मीधर द्विवेदी

भूमिका लेखक
आचार्य प्रियव्रत शर्मा



(प्रथम भाग)



चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

200

कृष्णदास आयुर्वेद सीरीज
२४
****

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

(प्रथम भाग)

लेखक
डॉ० लक्ष्मीधर द्विवेदी
ए० बी० एम० एस०, डी० ए० वाई० एम०, पी-एच डी०
(मौलिक सिद्धान्त), आचार्य (न्यायवैशेषिक)
विभागाध्यक्ष–आयुर्वेद संहिता, चिकित्सा विज्ञान संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भूमिका लेखक
आचार्य प्रियव्रत शर्मा



चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : तृतीय, सन् २०१०
मूल्य : रू. २६०,००

ISBN : 978-81-218-0043-9 (Vol. I)
978-81-218-0045-5 (Set)

के० ३७/११८, गोपालमन्दिर लेन
(गोपाल मन्दिर के उत्तरी फाटक पर)
पो० बा० नं० १११८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : २३३५०२०

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के0 37/99, गोपालमन्दिर लेन
(गोपाल मन्दिर के उत्तरी फाटक पर)
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो0 बा0 नं0 1008, वाराणसी—221001 (भारत)
फोन : 2333458 (आफिस), 2334032 एवं 2335020 (आवास)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
web-site : www.chowkhambaseries.com

KRISHNADAS AYURVEDA SERIES
24
***

AYURVEDA KE MULA SIDDHANTA EVAM UNAKI UPADEYATA

Vol. I

BY

DR. LAKSHMIDHAR DWIVEDI
A. B. M. S., D. A. Y. M., Ph.D (Maulika Siddhanta),
Acharya (Nyaya Vaisheshika)
Head of the Department, Ayurveda Samhita,
Institute of Medical Science,
Banaras Hindu University, Varanasi

Introduction
by
Acharya Priyavrata Sharma



CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
Varanasi

© CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY
Oriental Publishers & Distributors
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1118, Varanasi- 221001
(INDIA)
Phone : 2335020

भूमिका

आयुर्वेद अनादि एवं शाश्वत है, केवल अवबोध एवं उपदेश के द्वारा समय-समय पर व्यक्त होता रहता है। सामान्यतः यह उपवेद माना जाता है, किन्तु कश्यपसंहिता में इसे पञ्चम वेद कहा गया है और अन्य चारों वेदों से इसकी महत्ता प्रतिपादित की गई है। सुश्रुत ने कहा है कि सृष्टि के पूर्व ही ब्रह्मा ने इसे रचित कर दिया था। ये सभी तथ्य आयुर्वेद की शाश्वतता एवं प्राचीनता को ही लक्षित करते हैं।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत सहस्रों वर्षों में विकसित हुए हैं। आदिकाल में मानव ने व्याधियों के निराकरण के लिए विभिन्न वानस्पतिक, जान्तव तथा खनिज द्रव्यों का प्रयोग प्रारम्भ किया। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाइयों से जो सामग्रियाँ प्रकाश में आई हैं उनसे पता चलता है कि सिन्धु-सभ्यता के काल में भी ऐसी औषधियों का प्रयोग होता था। ऋग्वेद में भी अनेक औषधियों का उल्लेख मिलता है। किन्तु इन प्रयोगों से जब लाभ मिलने लगा तब स्वभावतः यह जिज्ञासा हुई कि यह कैसे होता है और मानव शरीर की क्रियाओं के साथ औषधियों की कर्म-प्रक्रिया क्या है? वैदिक काल इसी जिज्ञासा एवं चिन्तन का युग था जब महर्षियों ने अपनी तपः-साधना से प्रकृति के अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन किया। अन्धकार से प्रकाश की ओर यात्रा का यह उद्घोष था—'तमसो मा ज्योतिर्गमय'।

इसी काल में आयुर्वेदीय सिद्धांतों की सुदृढ आधारशिला स्थापित की गई, जिस पर आगे चलकर आयुर्वेदीय महर्षियों ने मौलिक सिद्धांतों की अट्टालिका खड़ी की। पंचभूत स्थूल जगत् के आधार हैं किन्तु इसमें जड़ता तो प्रतिष्ठित होती है, चैतन्य के उन्मेष का द्वार नहीं मिलता। इसी की खोज में त्रिदोषवाद का विकास हुआ जो जीव-जगत् की प्रक्रियाओं की व्याख्या के लिए एक क्रांतिकारी आविष्कार था। जीवन की सारी प्रक्रियाओं की व्याख्या त्रिदोष के आधार पर की गई। स्वास्थ्य एवं व्याधि का स्वरूप भी इसी पर प्रतिष्ठित हुआ और व्याधियों के निदान और चिकित्सा का मार्ग भी इसी से प्रशस्त हुआ। औषधि-विज्ञान में रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव का अनुसन्धान हुआ और इनका सामञ्जस्य त्रिदोष से स्थापित किया गया। इस प्रकार शरीर-क्रिया-विज्ञान, विकृति-विज्ञान तथा द्रव्यगुण-विज्ञान का एक त्रिकोण बना, जो समस्त आयुर्वेद की शक्ति का केन्द्र है।

सिद्धांत एवं व्यवहार, शास्त्र एवं कर्म आयुर्वेद रथ के दो चक्र हैं जिनमें एक के अभाव में यह नहीं चल सकता। आयुर्वेद की सम्यक् गति के लिए शास्त्र एवं कर्म

दोनों की दृढ़ता आवश्यक है। आये-दिन व्याधियों की वृद्धि होने से उनके निराकरण के लिए कर्म-परायणता तो बढ़ी है, किन्तु शास्त्रीय पक्ष का ह्रास हुआ है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि आयुर्वेद का अपना विज्ञान है जिसके द्वारा वह सारी प्रक्रियाओं की व्याख्या करता है और इस विज्ञान का आधार है मूलभूत सिद्धांत। यह सैद्धांतिक स्वरूप ही आयुर्वेद की मौलिकता है। प्रत्येक शरीर-क्रिया के साथ-साथ रोगविज्ञान तथा औषधों की कर्म-प्रक्रिया की व्याख्या भी आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धांतों के द्वारा की जानी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि इनका पठन-पाठन गम्भीरता से किया जाय और इनके मनन-चिन्तन एवं अनुसन्धान में भी पूर्ण मनोयोग से विद्वज्जन संलग्न हों।

इस विषय पर कार्य करने वाले इने-गिने लोग हैं, अतः इस पर ग्रन्थ रचना भी कम हुई है। प्रसन्नता की बात है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद संहिता विभाग के अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीधर द्विवेदी ने इस विषय पर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है जिसमें आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों की विशद व्याख्या के साथ-साथ उनकी व्यावहारिक उपयोगिता भी प्रदर्शित की गई है। अनेक स्थलों में आवश्यकतानुसार इन्होंने अन्य दर्शनों के मतों का भी दिग्दर्शन कराया है। यद्यपि कतिपय स्थलों पर त्रुटियाँ रह गई हैं, तथापि लेखक का यह उत्तम प्रयास है, जिसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशक महोदय भी इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिए धन्यवादार्ह हैं।

आशा है, छात्रवर्ग तथा विद्वत् समाज में इस नवीन उपयोगी रचना का स्वागत होगा। लेखक महोदय से भी आशा है कि भविष्य में अपनी उत्कृष्ट कृतियों से आयुर्वेद-वाङ्मय को समृद्ध करते रहेंगे।

गुरुधाम, वाराणसी **प्रियव्रत शर्मा**
२८ नवम्बर, १९९०

प्राक्कथन

सुधी पाठकों की सेवा में 'आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता' इस कृति के प्रथम भाग को प्रस्तुत करते हुए हमें आज परम आत्मतोष की अनुभूति हो रही है। हृदयान्तराल के उत्स से निसर्गतः तरंगायित भाव-लहरियों से मूर्तरूप हुए वर्ण्य विषयों को हमने आप्तोपदेश के आलोक में चयनित कर आयुर्वेद के शाश्वत एवं सुदृढ़ आधार पर ग्रथित तथा आधुनिक विज्ञानालोक से परिष्कृत कर प्रस्तुत रचना को उपस्थित करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों का जिनके आश्रयभूत होकर ही आयुर्वेद का समग्र साहित्य उपबृंहित एवं दिनानुदिन विकसित होकर मानव मात्र के लिए शाश्वत काल से सुख एवं आरोग्य का साधन बना हुआ है उनका समावेश क्रमबद्ध रूप में करते हुए तदनुसार उनकी उपादेयताओं तथा व्यावहारिक महत्त्व का भी यथासंभव प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक में कतिपय ऐसे तथ्यों का भी सिद्धांत के रूप में समावेश किया गया है जिनको साधारणतया आयुर्वेदानुरागियों की दृष्टि में सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने की विचार-परम्परा नहीं रही है। किन्तु हमने ऐसे तथ्यों को भी सिद्धान्त के रूप में विवेचित करने का प्रयास किया है क्योंकि विशद विचार करने पर मेरी दृष्टि से उनकी व्यावहारिक उपादेयता स्पष्ट ज्ञात होती है। अतः हमने सिद्धान्त के रूप में महत्त्व रखने वाले तथ्यों को भी अपनी विचार-सरणि में अन्तर्भूत करके उनकी उपादेयताओं को भी विवेचित करने का प्रयास किया है।

सिद्धांतों के प्रतिपादन एवं उनकी उपादेयताओं के विवेचन में व्यक्ति-विशेष के दृष्टिकोण का अत्यन्त महत्त्व है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सिद्धांतों का प्रतिपादन एवं उनकी उपादेयता दृष्टिकोण सापेक्ष होती है। जिस व्यक्ति का जैसा दृष्टिकोण विषय-विशेष के प्रति होगा तदनुसार विषय-विशेष का अवबोध भी होगा। प्रस्तुत प्रसंग में दृष्टिकोणभेद से विषयावबोध की भिन्नता का निदर्शन अंधगजन्याय से दिया जा सकता है। इसी प्रकार विषय-विशेष के अंग-विशेष के विषय में दृष्टिकोण तथा उसके समग्रता के विषय में दृष्टिकोण इन दोनों पहलुओं से भी विषयावबोध तथा प्रतिपादन में भिन्नता होती है। पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि प्रस्तुत रचना के विवरणों को उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य के आलोक में ही देखेंगे तो उन्हें विषयों के प्रस्तुतीकरण तथा विवेचन का समुचित एवं समीचीन औचित्य ज्ञात हो सकेगा।

आयुर्वेद संहिताओं में प्राप्त बहुत-से ऐसे तथ्य हैं जो सामान्यतया सिद्धांत के रूप में नहीं जाने जाते अथवा उन पर बहुधा लोगों का ध्यान नहीं जाता। किन्तु यदि उन तथ्यों पर ध्यानपूर्वक मनोयोग से विचार किया जाय तो वे निश्चय ही सिद्धांत के रूप में ग्राह्य हो जायेंगे और उनकी उपादेयता भी स्पष्ट रूप से ज्ञात हो सकेगी।

हम स्वयं ही इस सन्दर्भ में पाठकों के समक्ष निदर्शनार्थ एक दृष्टांत प्रस्तुत करना चाहेंगे जिससे कि व्यक्ति-विशेष के दृष्टिकोण का किसी विषय-विशेष के अवबोध में क्या महत्त्व तथा उपादेयता है इसका सहज ही बोध हो जायेगा। स्नातकावधि अध्ययन काल में चरकसंहिता के प्रारम्भ में आये हुए षड्पदार्थ परिगणन का आयुर्वेद की दृष्टि से क्या महत्त्व हो सकता है, इसका समुचित ज्ञान नहीं था। किन्तु जब स्नातकोत्तर अध्ययन के निमित्त पुनः-पुनः चरकसंहिता का अध्ययन एवं मनन करने लगा तथा तद्गत तथ्यों पर विशेष मनोयोग से विचार किया तो यह तथ्य भलीभाँति ज्ञात हो गया कि चरकसंहितोक्त उक्त विवरण कितना सोद्देश्य तथा महत्त्वपूर्ण है। आयुर्वेद के आचार्यों ने कुशलता से आयुर्वेद के विषय-क्षेत्र में प्रवेश से पूर्व ही षड्पदार्थ का परिगणन एवं प्रतिपादन कर यह संकेत किया है कि आयुर्वेद के समुचित ज्ञान के लिए तथा तदनुसार तद्गत तथ्यों की व्यावहारिक उपादेयता के निमित्त षड्पदार्थ का ज्ञान अनिवार्य एवं अपेक्षित है। जिस प्रकार आज के आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी के लिए जीव विज्ञान; भौतिक विज्ञान व रसायन विज्ञान का माध्यमिक स्तर का ज्ञान अनिवार्य है उसी प्रकार आयुर्वेद के समुचित ज्ञान के लिए भी षड्पदार्थवाद अर्थात् काणाद शास्त्र अथवा वैशेषिक दर्शन का समुचित ज्ञान अनिवार्य था। यों भी यह लोकोक्ति भारतीय वाङ्मय में बहुप्रचारित है कि—"काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्" इसी कारण हमने सर्वप्रथम प्रस्तुत ग्रन्थ में षड्पदार्थ को सिद्धांत के रूप में विवेचित करके उसकी उपादेयता का प्रतिपादन किया है। आयुर्वेद के बहुसंख्यक लोग षड्पदार्थवाद की उपयोगिता को आयुर्वेद के चिकित्सा उपक्रम में महत्त्व नहीं देते जब कि आयुर्वेद के मूल उपदेष्टाओं ने इसकी महती उपयोगिता का दिग्दर्शन चरक संहिता के प्रारम्भ में ही सूत्र रूप से संकेतित किया है। ऐसे ही आयुर्वेद के अनेक तथ्यों का आयुर्वेद से जुड़े लोगों में सामान्यतः प्रचार-प्रसार नहीं है, इसी कारण आयुर्वेद के अमृतमय ज्ञान का मानव समाज को समुचित लाभ नहीं मिल पा रहा है।

इसी प्रकार चरकसंहिता के सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में वात, पित्त तथा कफ के ७–७ गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है। बहुत दिनों तक मैं इस पर विचार करता रहा कि आचार्य ने प्रत्येक दोषों का ७-७ ही गुणों का उल्लेख क्यों किया है? इस विवरण में कुछ-न-कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य अवश्य ही निहित होगा। इसी दृष्टिकोण को रखते हुए हमने निरन्तर ही चरकसंहिता के स्वाध्याय का क्रम जारी रखा तो हमें कितने ही स्थलों पर रूक्षज वात, स्नेहज श्लेष्मा, शैत्यज वात आदि पदों का पाठ मिला। हमने पुनः-पुनः इसी दिशा में चिन्तन करना जारी रखा तो च० चि० १५वें अध्याय में हमें उक्त जिज्ञासा का समाधान मिला जिसमें आचार्य ने सप्तधातुओं

पर दोषों के विविध गुणों का किस प्रकार प्रभाव पड़ता है उसका स्पष्ट उल्लेख किया है। तदनन्तर हमने दोषों के ७-७ गुणों का प्रभाव सप्त धातुओं पर पड़ता है ऐसा निष्कर्ष निकाला। इसी कारण आचार्य ने दोषों के ७-७ गुणों का उल्लेख किया है। हमने भी इस तथ्य को "त्रिदोष सप्तविध गुणवाद" इस शीर्षक से सिद्धान्त के रूप में विवेचित किया है तथा इसकी उपादेयता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि त्रिदोष के ७-७ गुणों को सभी आयुर्वेदविद् जानते हैं तथा चिकित्सा कर्म में तदनुसार उपचार का उपक्रम करते हैं। किन्तु त्रिदोष के सात-सात गुण विभिन्न धातुओं पर अपना प्रभाव डालते हैं यह तथ्य शास्त्र में वर्णित होने पर भी लोगों का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं जाता कि त्रिदोष किस प्रकार अपना प्रभाव धातुओं को विषम अथवा सम करने में कैसे और क्यों करते हैं। इसी प्रकार शास्त्रगत अनेक तथ्यों को हमने सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया है जो कि सामान्यतया आयुर्वेद के अधिकतर लोगों की दृष्टि में उपेक्षित व पृष्ठभूमि में ही पड़े रहे हैं।

प्रस्तुत रचना में कतिपय ऐसे विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है जो कि आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में अप्रासंगिक-से जान पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में मेरा पाठकों से निवेदन है कि ऐसे विषयों का उल्लेख शास्त्र में मिलता है जो कि भले ही वाच्यार्थ रूप में अप्रासंगिक जान पड़ते हैं किन्तु फलितार्थ रूप में उनकी प्रासंगिकता आज भी है और भविष्य में भी बनी रहेगी। इस संदर्भ में मैं एक उदाहरण प्रस्तुत करके उक्त तथ्य को स्पष्ट करना अपेक्षित समझता हूँ। स्वस्थवृत्त प्रसंग में अवलम्बनाथ, आत्मरक्षार्थ व भयनिवारणार्थ दण्डधारण का निर्देश प्राप्त होता है। यद्यपि वाच्यार्थ रूप में सम्प्रति यह निर्देश अप्रासंगिक-सा जान पड़ता है किन्तु यदि निर्देश के फलितार्थ अर्थात् आत्मरक्षा व निर्भयता के लिए समुचित साधन का उपयोग लिया जाय जिससे व्यक्ति को आत्मविश्वास व आत्मशक्ति बढे तो इस परिणाममूलक तथ्य की प्रासंगिकता पर कोई आँच नहीं आती और पुराकालीन आचार्यो का निर्देश सार्थक व समीचीन लगता है। हमने ऐसे अनेक तथ्यों का विवरण इस रचना में समाविष्ट किया है, किन्तु यदि पाठक उन विषयों का मूल्यांकन उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में करेंगे तो विषय-विवेचन का स्वारस्य तथा सार्थकता अनुभव कर सकेंगे।

आयुर्वेद के तत्त्वचिन्तक उपदेष्टाओं ने आयुर्वेद का उपदेश अत्यन्त संक्षिप्त तथा संश्लिष्ट रूप में किया है जो कि सोद्देश्य तथा नितांत समीचीन है। संक्षिप्त अथवा सूत्र रूप में आयुर्वेद के विवेचन का यह महत्त्व है कि सूत्रात्मक उपदेश तत्-शास्त्रानुयायियों में सुदीर्घ काल तक अपने मूल रूप में अक्षुण्ण बना रहता है तथा उसमें किसी प्रकार का दूषण एवं अन्य तथ्यों का प्रक्षेपण नहीं हो पाता। इसके साथ ही सूत्रात्मक ज्ञान में तद्विद्यों द्वारा व्याख्यायित कर विस्तृत व विशदीकृत होने की संभावना रहती

है। अतः मूल रूप में सूत्रात्मक ज्ञान की महत्ता व उपादेयता सुदीर्घ काल तक बनी रहती है। संश्लिष्ट रूप ज्ञान की सार्थकता भी आयुर्वेद के मूल उपदेशों को अपने अविकल रूप में अक्षुण्ण रूप में सुदीर्घकाल तक बने रहने की है। आयुर्वेद के मूल स्वरूप व सार्थकता को समझने में इसका सूत्रात्मक व संश्लिष्ट रूप एक बहुत बड़ा अवरोध है। यद्यपि संहिता ग्रन्थों का आद्योपान्त मनोयोगपूर्वक स्वाध्याय किया जाय तो बहुत अंशों में इस अवरोध का निराकरण हो जाता है, क्योंकि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में कहीं-न-कहीं प्रसंगवश सूत्रात्मक व संश्लिष्ट वचन को अवश्य ही व्याख्यायित व विशदीकृत किये हैं। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से एक उदाहरण प्रस्तुत करना अपेक्षित है। चरकसहिता के सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में आयुर्वेद की परिभाषा—"हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥" प्रस्तुत श्लोक से की गई है। यहाँ पर सुखायु, दुःखायु, हितायु, अहितायु एवं आयु प्रमाण इन सभी तथ्यों को सूत्र तथा संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु उपर्युक्त तथ्यों का व्याख्यान तथा विशद विवेचन आचार्य ने सूत्रस्थान के ३०वें अध्याय में किया है जिससे कि प्रस्तुत तथ्यों को अत्यन्त सरलता से समझा जा सकता है। आयुर्वेद के सूत्रात्मक व संश्लिष्ट ज्ञान को प्रस्तुत रचना में उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में ही विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के विषयवस्तु के सम्बन्ध में यह तथ्य भी उपस्थित करना अपेक्षित है कि बहुत-से आयुर्वेदीय तथ्यों का स्पष्टीकरण आधुनिक विज्ञान से ही हो पाता है। आधुनिक विज्ञान प्राच्य एवं प्राचीन ज्ञान को जानने के लिए एक ज्योतिपुञ्ज के समान है जिसके आलोक में आयुर्वेद के रहस्यमय तथ्य आलोकित हो जाते हैं। आधुनिक विज्ञान प्राच्य एव पुराकालीन ज्ञान के बीच एक सेतु-सा है जिसके माध्यम से उपर्युक्त दोनों प्रकार के ज्ञानों के बीच की खाई पट जाती है। हमने अनेक आयुर्वेदीय तथ्यों के रहस्य को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझने तथा विवेचन करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत प्रसंग में कतिपय उदाहरण विषयावबोध के लिए अपेक्षित हैं। च० शा० चतुर्थ अध्याय में आचार्य चरक ने शुक्र एवं शोणित के बीज, बीजभाग तथा बीजभागावयव में विकृतियों के कारण उन-उन विशेष अवयवों की उत्पत्ति करने वाले भावों में विकृति से संतति में भी उन-उन विशेष अंगों या अवयवों में विकृति हो जाती है ऐसा उल्लेख किया है। इस प्रसंग में यदि आधुनिक विज्ञान का सहयोग लिया जाय तो प्रस्तुत तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। बीज से शुक्राणु तथा स्त्री-बीजाणु लिया जा सकता है। बीजभाग से शुक्राणुगत तथा स्त्री-बीजाणुगत क्रोमोसोम ग्रहण किया जा सकता है एवं बीजभागावयव से अत्यन्त आधुनिक विचार जीन्स का ग्रहण किया जा सकता है। यदि इस संदर्भ में आधुनिक विज्ञान का सहयोग

नहीं लिया जायेगा तो आचार्योक्त कथित तथ्य का उद्घाटन कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार आचार्य चरक ने च० शा० ७वें अध्याय में 'शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यत्वादतीन्द्रियत्वाच्च' च० शा० ७।१७. इस प्रसंग में परमाणु शब्द से यदि आधुनिक विज्ञान के अनुसार सेल या कोशा का अर्थ लिया जाय तो आचार्योक्त तथ्य का अवबोध सरलता से हो जाता है।

शास्त्रांतर ज्ञान से आयुर्वेदीय ज्ञान को संस्कारित व परिपुष्ट करने का निर्देश पुराकालीन आयुर्वेद के आचार्यों ने भी किया है, जैसा कि आचार्य सुश्रुत के "एक शास्त्रमधीयानो न विद्यात् शास्त्रनिश्चयम्। तस्माद्बहुश्रुतं शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः॥" इस वचन से पुष्ट होता है। इसी प्रकार आचार्य चरक ने भी आचार्य परीक्षा के सन्दर्भ में 'अनुपस्कृतविद्यं" ऐसा कहकर आयुर्वेद के आचार्यों के लिए शास्त्रांतर ज्ञान से अपने ज्ञान को संस्कारित करने का निर्देश किया है। आचार्य चक्रपाणि ने 'अनुपस्कृतविद्यं' को व्याख्यायित करते हुए स्पष्ट किया है कि—"यः आयुर्वेदज्ञ सन् शास्त्रांतरेणापि संस्कृतो भवति, स तु नितरामुपादेयः" अर्थात् जो आयुर्वेदज्ञ आयुर्वेद को जानते हुए दूसरे समानधर्मा शास्त्र से भी अपने ज्ञान को संस्कारित व सुशिक्षित रखता है वह बहुत ही उपादेय है। इन सभी शास्त्रवचनों के सम्बल को प्राप्त करके हमने भी आयुर्वेद के रहस्यों को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादन करने का प्रयास किया है।

ग्रन्थगत विषय कोई नवीन तथ्यों का प्रकाशन नहीं है प्रत्युत आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों के ही अभिमत का अभिनव रूप में प्रस्तुतीकरण है। हमने शास्त्रगत विषयों का ही प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोण से चिंतन व मनन करके तथा अपने सुदीर्घकाल के स्वाध्याय एवं अनुभव के आलोक में समन्वयात्मक विवेचन करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ में जो भी विषय विवेचित किया गया है सभी शास्त्रानुकूल एवं आयुर्वेद के मौलिक तथ्यों पर आश्रित है। कोई भी तथ्य ऐसा नहीं जिसका पुष्टीकरण शास्त्रगत उद्धरणों से नहीं किया गया हो। कुछ तथ्यों की प्रामाणिकता वेद व पुराण साहित्य से प्राप्त उद्धरणों से प्रतिपादित की गई है जिनका स्पष्ट विवरण आयुर्वेद संहिताओं में नहीं प्राप्त होता। किन्तु जैसा कि सभी विज्ञ जनों को विदित है कि—आयुर्वेद एक 'सर्वपारिषद शास्त्र' है तथा प्राचीन काल में जीवन के सभी तथ्यों से जुड़े होने के कारण इसका इतना अधिक प्रचार व प्रसार था कि संस्कृत-वाङ्मय के प्रायः सभी विधाओं में इसके विषयों का न्यूनाधिक समावेश पाया जाता है। अतः जहाँ तथ्यों की प्रामाणिकता आयुर्वेद के मूल संहिताओं से नहीं प्राप्त हुई उसे वैदिक तथा पुराण साहित्य से भी प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया गया है।

जैसा कि प्राक्कथन के प्रारम्भ में ही हम इङ्गित कर चुके हैं कि इस कृति को सुधी पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे परम आत्मतोष की अनुभूति हो रही है उसी स्वात्मतुष्टि के ही मानदंड से हमें यह भी प्रतीति हो रही है कि अधिकतर सुधी पाठकों को प्रस्तुत रचना से कुछ-न-कुछ आत्मतोष निश्चय ही प्राप्त हो सकेगा। क्योंकि इस तथ्य की प्रतीति हमें इस चिरंतन सत्य से हो रही है कि अन्तर्मन से उत्थित भाव आत्मगत होते हैं और सभी प्राणियों की आत्मा निसर्गतः एक-सी ही सत्-चित् एवं आनंदात्मक होती है। अतः यह स्वयंसिद्ध तथ्य है कि यदि इस रचना से हमें आत्मतोष हो रहा है तो विज्ञजनों को भी इससे कुछ-न-कुछ आत्मतोष होगा ही। यदि पाठकों को अथवा आयुर्वेद में आगत नवीन विद्यार्थियों को इस रचना से अल्पीयसी परिमाण में भी लाभ मिल सकेगा तो मैं अपनी इस रचना का निर्माण एवं तज्जनित श्रम को कृत-कृत्य समझूंगा।

यद्यपि हमने यथासंभव प्रयास करके प्रस्तुत कृति को इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तथापि मुझे यह संकोच हो रहा है कि कदाचित् इसमें कुछ त्रुटियाँ एवं अशुद्धियाँ आ गई होंगी। उन त्रुटियों एवं अशुद्धियों के लिए मैं विज्ञजनों से क्षमा प्रार्थी हूँ तथा उनसे आशा करता हूँ कि वे मुझे त्रुटियों व अशुद्धियों के विषय में अवश्य ही निस्संकोच संकेत करेंगे जिससे कि उनका बाद के संस्करण में सुधार किया जा सके।

अन्त में मैं अपने सभी गुरुजनों को जिनसे मुझे आयुर्वेद का यथासंभव समीचीन ज्ञान प्राप्त हुआ तथा जिनके दिग्दर्शन से आयुर्वेद के तथ्यों को समझने व प्रतिपादन करने की प्रेरणा मिली उन सभी के चरणों में सश्रद्ध प्रणति अर्पित करते हुए उनके प्रति अपनी चिरकृतज्ञता का सानुनय ज्ञापन करता हूँ। जिन पुराकालीन महर्षियों आचार्यों के ग्रन्थों एवं उपदेशों से मुझे जो-कुछ भी ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके प्रति भी मेरी सश्रद्ध प्रणति अर्पित है। परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से जिन विद्वानों के ज्ञानमय वचनों से मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

पुनः मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशक व कृष्णदास एकेडमी के निदेशक का भी अत्यन्त आभारी हूँ तथा उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि उन्हीं के सतत प्रेरणा व सत्प्रयासों से यह कृति इस रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो सकी।

धन्वन्तरि त्रयोदशी
१६ अक्टूबर १९९०

विनयावनत
लक्ष्मीधर द्विवेदी
विभागाध्यक्ष, आयुर्वेद संहिता
चिकित्सा विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विषय-सूची

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

पूर्वपीठिका

भूमिका—ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में कुछ-न-कुछ ऐसे आधारभूत तथ्य होते हैं जिनके आश्रय पर वह शास्त्र-विशेष विकसित एवं उपबृंहत होता हुआ अपने समग्र रूप में मूर्तमान होकर अपनी अस्मिता के अस्तित्व को बनाये रखता है। शास्त्र-विशेष का परिचय, लक्षण, उद्देश्य एवं उसकी उपादेयता का बोध भी जनसाधारण को तद्गत आधारभूत तथ्यों से ही हो पाता है। उपर्युक्त तथ्य को निम्नोक्त उदाहरण से भलीभाँति समझा जा सकता है। जैसे किसी भी भवन निर्माण के पूर्व मूलाधार (नींव) की आवश्यकता अपरिहार्य होती है तथा उसी मूलाधार के अनुरूप भवन की रूपरेखा एकरूपता लिए होती है उसी प्रकार किसी भी शास्त्र के कुछ मूलभूत सिद्धान्त होते हैं जिनके आधार पर ही उस शास्त्र का अस्तित्व बना रहता है तथा उस शास्त्र का जैसा भी विकास या उपबृंहिण होता है वह उसके मूल सिद्धान्तों के अनुरूप ही होता है।

उपर्युक्त प्रसंग में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि जैसे भवन निर्माण में प्रयुक्त मूलाधार जैसा होगा वैसा ही निर्मित भवन का स्थायित्व होगा। अर्थात् मूलाधार निम्न कोटि का हुआ तो भवन का स्थायित्व भी निम्न कोटि का ही होगा। किसी शास्त्र के सम्बन्ध में भी यही तथ्य पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त देश, काल एवं प्रकृति के अपरिहार्य नियमों की निकषशिला (कसौटी) पर अच्छी प्रकार से जाँच-परख कर स्थिर किये गये हैं तो वह शास्त्र-विशेष निश्चय ही अपने सुदृढ़ सिद्धान्तों के बल पर चिरकाल तक अपने स्वरूप व उपादेयता को बनाये रखता है।

उपर्युक्त पूर्वपीठिका के परिप्रेक्ष्य में यदि हम अपने वर्ण्य विषय पर विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद जो कि मानव के समग्र जीवन का एक सर्वाङ्गीण दर्शन एवं विज्ञान है वह भी अनेकों मूलभूत सिद्धान्तों के आश्रयभूत होकर प्राचीन काल से अद्यावधि पर्यन्त अक्षुण्ण रूप से मानव समाज के आरोग्य की रक्षा करता हुआ तथा अद्यतन चिकित्सा विज्ञान की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा जनित आविष्कारों की चुनौतियों का मौन भाव से सामना करता हुआ आज भी देश-काल-जाति-निरपेक्ष भाव से मानव मात्र के लिए उपादेय बना हुआ है।

वस्तुतः यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाये तो यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आयुर्वेद ही विश्व में एकमात्र जीवन का विज्ञान है जो कि ईसा-पूर्व १५०० वर्ष पहले भी

अपने सर्वाङ्गीण स्वरूप में विकसित हो चुका था। इस तथ्य को आधुनिक इतिहासविद् भी स्वीकार करते हैं। आखिरकार आयुर्वेद में वह कौन-सी विशेषता है कि विश्व के अन्य समुन्नत चिकित्सा-विज्ञान, यथा ग्रीक, रोमन तथा मिस्र देशीय प्रणालियाँ इतिहास की कुक्षि में समा गयीं, वहीं यह आज भी अत्यन्त प्राचीन काल से ही दुरतिक्रम काल के विकराल आघातों को सहता हुआ विश्व-क्षितिज में अपने जाज्ज्वल्यमान प्रकाश को बिखेर रहा है। अनवरत अभिनव अनुसन्धान का दम्भ करने वाला पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान भी प्रकृति के महान् रहस्य की गुत्थियों को सुलझाने में प्रकारान्तर से आयुर्वेद का ही अनुसरण कर रहा है। उदाहरण स्वरूप कुछेक तथ्यों का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। यथा—कुछ दशाब्दि पूर्व पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान स्वास्थ्यरक्षा तथा रोगोपचार के क्रम में मन तथा शरीर के अविच्छिन्न सम्बन्ध की महत्ता को नहीं स्वीकार करता था, किन्तु सम्प्रति इसमें मनोदैहिक चिकित्सा (Psychosomatic therapy) नामक स्वतन्त्र शाखा का समावेश हो चुका है। आयुर्वेद के प्राचीन ऋषियों ने इस तथ्य को हजारों वर्ष पहले ही जान लिया था और—

"सत्त्वमात्माशरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥" च० सू० १/४६

इस आप्त वाक्य से प्रतिपादित किया था जिसका तात्पर्य है कि—मन, आत्मा और शरीर ये ही जीवन के तीन पाये हैं और इन्हीं के संयोग पर समग्र प्राणी-जगत् आश्रित है तथा इन्हीं में सभी-कुछ विद्यमान है। अभी भी पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान आत्मतत्त्व को नहीं स्वीकारता किन्तु कुछ काल के पश्चात् उसे आत्मतत्त्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा तभी वह एक समग्र चिकित्सा-प्रणाली के रूप में विकसित हो पायेगा।

इसी प्रकार पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान आयुर्वेदाभिमत आमदोष-जनित रोगों को नहीं जानता था किन्तु अब प्रकारान्तर से इस तथ्य को भी "Autogenus Diseases" के रूप में स्वीकार करने लगा तथा इसका एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकास कर रहा है।

आयुर्वेद के पुरुष विचय सिद्धान्त को भी पाश्चात्य जगत् अब प्रकारान्तर से "पर्यावरण और पारिस्थितिकी" (Ecology and environment) के रूप में प्राणी-जगत् के स्वास्थ्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य स्वीकार करने लगा है। इन दिनों इस तथ्य पर अत्यधिक ध्यान देते हुए सभी विकसित एवं विकासशील देश इसे एक स्वतन्त्र विभाग के रूप में विकसित करके तदनुरूप इसके अनुपालन की यथासम्भव व्यवस्था कर रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित एवं प्रचारित अनेक तथ्य

अभिनव पाश्चात्य विज्ञान वादियों को भी आकर्षित कर रहे हैं तथा उन्हें प्रकारान्तर से अपने विज्ञान-सम्मत ज्ञान में समाविष्ट करने के लिए बाध्य कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का कार्यक्षेत्र तथा अभिधेय (Scope and objective) किसी भी विषय का याथातथ्य विवेचन करने के पूर्व उस विषय का कार्यक्षेत्र एवं उसके वर्ण्य विषय पर विचार करना अपेक्षित है जिससे कि लेखक को अपने विषय का कार्यक्षेत्र एवं उसके वर्ण्य विषय की सीमाओं का बोध बना रहे तथा वह अपने विवेचनीय विषयों पर ही केन्द्रित रहे। सुतरां वर्ण्य विषय के सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिपादन एवं प्रस्तुतीकरण के लिए उक्त तथ्य को सर्वदा ही लक्ष्य में रखना चाहिए। पाठकों के लिए भी विषय के कार्यक्षेत्र तथा वर्ण्य विषय का ज्ञान अपेक्षित है। क्योंकि विषय के कार्यक्षेत्र तथा वर्ण्य विषय से अपरिचित होने पर विषय का अपेक्षित बोध नहीं हो पाता, फलस्वरूप ग्रन्थ अध्ययन का उद्देश्य ही निष्प्रयोजन हो जाता है।

जहाँ तक प्रस्तुत विषय के कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है वह इसके नामकरण से ही भली भाँति ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की सीमा आयुर्वेद में सन्निहित सभी आधारभूत सिद्धान्तों तक मर्यादित है। इसके साथ ही उन सभी सिद्धान्तों की आयुर्वेद में क्या उपयोगिता है इसका विवेचन भी इसके कार्यक्षेत्र में अन्तर्भूत होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अभिधेय

वस्तुतः प्रस्तुत विषय के कार्यक्षेत्र एवं इसके अभिधेय में मूलतः कोई भेद नहीं है। तथापि आलोच्य विषय के प्रतिपादन सौकर्य के निमित्त एवं पाठकों के सहज विषयावबोधार्थ मैंने इसका पृथक् उल्लेख करना तथा उसपर समीचीन विचार प्रकट करना उचित समझा। जैसा कि इसके कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है उससे मेरा अभिप्राय यह रहा है कि कार्यक्षेत्र का एक सीमा तक विहंगावलोकन। जबकि अभिधेय (वर्ण्य विषय) से मेरा तात्पर्य है कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत सन्निहित विषयों का पृथक्-पृथक् अवलोकन। इस प्रकार यदि हम इस तथ्य को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कार्यक्षेत्र से आशय है प्रस्तुत समग्र विषयों पर सामान्य दृष्टिपात (Genralised view) तथा अभिधेय का तात्पर्य है प्रत्येक विषय पर विशेष दृष्टिपात (Dirtinctive view)।

यदि हम उक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में अभिधेय पर विचार करें तो यह सहज ही ज्ञात होगा कि विषय के कार्यक्षेत्र एवं अभिधेय में केवल दृष्टिकोण का भेद है। मूलतः दोनों एक ही हैं।

अब हम अपने मूल प्रसंग पर अर्थात् ग्रन्थ के अभिधेय (वर्ण्य विषय) पर विचार करेंगे। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि हमें ग्रन्थ के नाम से ज्ञात होता है कि इसमें

आयुर्वेद शास्त्र में प्राप्त सभी सिद्धान्त, जिसमें कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं, यथा पंचभूत सिद्धान्त, त्रिदोष सिद्धान्त, षट्पदार्थवाद सिद्धान्त, रस-गुण-वीर्य-विपाकवाद आदि सिद्धान्त हैं तथा कुछ प्रसंगगत आधिकरणिक सिद्धान्त हैं यथा सामान्य-विशेषवाद सिद्धान्त पंचपंचक सिद्धान्त, प्रमाणचतुष्टयवाद, स्वभावोपरमवाद, षड्धातुवाद आदि सिद्धान्त हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जो कि मूलतः अन्य दर्शनों के हैं किन्तु उनकी उपादेयता होने से आयुर्वेद में समाविष्ट कर लिये गये हैं, यथा सत्कार्यवाद, आरम्भवाद, विवर्तवाद, राशिपुरुषवाद तथा एकधातुवाद आदि हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्त जो कि निदर्शन मात्र के लिए उल्लिखित किये गये हैं, इसके अतिरिक्त भी बहुत-से सिद्धान्त हैं जिनका आयुर्वेद में उल्लेख प्राप्त होता है, वे सभी इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय हैं। साथ ही उन सभी सिद्धान्तों की आयुर्वेद में क्या उपादेयताएँ हैं यह भी इस ग्रन्थ के अभिधेयगत विषय हैं।

ग्रन्थ लेखन प्रयोजन

कोई भी कार्य किसी उद्देश्य को लक्ष्य करके ही किया जाता है। निष्प्रयोजन कार्य के प्रति किसी की अभिरुचि नहीं होती और यदि कोई प्रयोजनहीन कार्य निष्पादित भी कर लिया जाय तो समाज में उसकी न अपेक्षा होती है न उपादेयता। अतः किसी कार्य-सम्पादन के पूर्व कर्ता उस कार्य के प्रयोजन को लक्ष्य करके ही कार्य में प्रवृत्त होता है तथा उसे सम्पादित कर अपने कार्य की सार्थकता तथा समाज में उसकी उपादेयता को चरितार्थ करता है।

किसी ग्रन्थ के प्रयोजनाभिधान की आवश्यकता सार्थक होती है। प्रयोजनाभिधान के बिना ग्रन्थ के पाठकों की ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती और जब तक ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती तब तक ग्रन्थोक्त तथ्यों के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं और जब तक ग्रन्थोक्त तथ्यों के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता तब तक ग्रन्थ के प्रयोजन का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार गन्थ निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही निष्फल हो जाती है। अतः प्रयोजनाभिधान की अनिवार्यता स्पष्ट ही परिलक्षित होती है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए प्रयोजनाभिधान की अवतारणा प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों को साम्प्रतिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करना है एवं तदनुसार उन सिद्धान्तों की आयुर्वेद में क्या उपादेयता है इसका यथार्थ एवं युक्तिसंगत प्रतिपादन प्रस्तुत करना है। इस प्रसंग में यह तथ्य विचारणीय है कि आयुर्वेद के पुराकालीन मनोषियों ने जो भी मूलभूत सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं तथा जिसपर आयुर्वेद वाङ्मय का सम्पूर्ण कलेवर आश्रित है वह आज अपने ही आविर्भाव स्थल में इतना उपेक्षित क्यों हो गया है। भारतीय संस्कृति से

जुड़ा हुआ, भारतीय देशकाल-जनमानसानुकूल सर्वभूत हितैषी आयुर्वेद आज अपनी ही धरती पर उपेक्षित तथा तिरस्कृत हो रहा है। आयुर्वेद की उपेक्षा एवं तिरस्कार से स्वयं आयुर्वेद का कोई अहित नहीं होने वाला है और न इसके शाश्वत स्वरूप की ही हानि होती है। किन्तु भारत की ८० प्रतिशत जनता जो कि अपनी निर्धनता के कारण आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली की व्ययसाध्य निदान पद्धति एवं रोगोपचार में असमर्थ है आयुर्वेद के आश्रय बिना अवश्य ही उत्पीड़ित एवं असहाय हो गई है। आयुर्वेद के प्रति आखिर यह उपेक्षा और तिरस्कार भाव क्यों ? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो इसके अनेक कारण हैं। हम यहाँ पर सभी कारणों का उल्लेख नहीं करेंगे क्योंकि वह विषयान्तर भी होगा तथा उसका निराकरण भी आज की परिस्थिति में असंभव-सा है। अतः हम प्रसंगानुसार एक ही कारण का उल्लेख करेंगे जो कि ग्रन्थ-प्रयोजन के सन्दर्भ में अपेक्षित है तथा जिसका निराकरण भी सहज ही संभव है।

ग्रन्थ-प्रयोजन के सन्दर्भ में यह कारण इसलिए प्रतिपाद्य है कि पाठकों को यह तथ्य ज्ञात हो सके कि अन्ततः आयुर्वेदानुरागियों का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अधिक-से-अधिक क्या प्रयास हो सकता है जिससे आयुर्वेद की प्रतिष्ठा कम-से-कम इसके अध्ययन-अध्यापन में लगे लोगों तथा आयुर्वेदाश्रित व्यवसाय प्रतिष्ठान से जुड़े व्यक्तियों में विश्वास पूर्वक प्रतिष्ठापित हो।

किन्तु विडम्बना यह है कि आयुर्वेद से जुड़े अधिकतर लोगों को स्वयं ही आयुर्वेद के शाश्वतिक मूल्यों पर भरोसा नहीं है फलस्वरूप अन्य चिकित्सा-प्रणालियों की अपेक्षा दिनानुदिन इसकी प्रतिष्ठा एवं विश्वसनीयता ह्रास की ही ओर बढ़ती जा रही है। इस स्थिति का मुख्य कारण है कि आयुर्वेद से जुड़े अधिकतर लोग इसके मूल सिद्धान्तों पर ध्यान नहीं देते अथवा यदि कदाचित् ध्यान भी देते हैं तो उनकी उपादेयता के सम्बन्ध में भरोसा नहीं करते और समझते हैं कि ये सिद्धान्त तो अनेक सहस्त्रों वर्ष पूर्व ऋषियों द्वारा केवल कल्पना के आधार पर स्थापित किये गये हैं जिनका आज के सतत अभिनवशील वैज्ञानिक अनुसंधान की तुलना में केवल ऐतिहासिक ही महत्त्व हो सकता है न कि इसकी व्यावहारिक उपादेयता।

परन्तु वे तथाकथित अद्यतन विज्ञानवादी इस तथ्य को भूल जाते हैं कि आखिर वे भी जिस विज्ञान पर विश्वास करते हैं तथा तदनुरूप उसकी उपादेयता मानकर उसे व्यवहार में लाते हैं, वे सभी विज्ञानसम्मत तथ्य भी तो अनेकों वैज्ञानिकों के अनेक विध अनुसंधानों पर ही आधारित हैं जो कि सभी विज्ञानानुयायियों के प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा से परे हैं। फिर भी विश्वासपूर्वक उन सभी वैज्ञानिक तथ्यों का अनुसरण करते हैं तो इसका कारण क्या है ? यदि इस तथ्य पर विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि इसका

कारण है उन वैज्ञानिक तथ्यों के प्रति बद्धमूल विश्वास, सभी विज्ञानवादियों की यह दृढ़ आस्था होती है कि जो भी तथ्य वैज्ञानिकों ने प्रतिपादित किये हैं वे सभी सत्य हैं तथा उनमें सन्देह करने की गुंजाइश ही नहीं। इस प्रकार की दृढ़ आस्था को ही भारतीय प्राचीन मनीषियों ने "आप्तत्व" की संज्ञा दिया है जैसा कि आचार्य चरक के निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—"रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपो ज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा। आप्ताशिष्टाः विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्॥ सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमः।" च० सू०। ११/१८/१९ उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि जो अपने तप एवं ज्ञानबल से रजोगुण एवं तमोगुण से मुक्त हो गये हैं तथा जिनका निर्मल ज्ञान भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान तीनों के प्रति सदा अबाधित रहता है वे सभी आप्त, शिष्ट और विबुद्ध होते हैं तथा वे जो भी कहते हैं सत्य ही कहते हैं। रज एवं तम से मुक्त होने के कारण वे असत्य कैसे कहेंगे।

उपर्युक्त तथ्य के आलोक में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक विज्ञानवादी अद्यतन विज्ञान के तथ्यों के प्रति तो आप्तत्व का भाव रखते हैं किन्तु जिन मनीषियों ने यथोक्त "आप्तत्व" की मौलिक अवधारणा प्रस्तुत किया तथा जो वास्तविक आप्तत्व के मानदंड थे उन्हीं के वाक्यों के प्रति अनास्था और उपेक्षा की स्थिति! आखिर यह विरोधाभास क्यों? इसका मूल कारण है आयुर्वेद के प्रति अनाप्तत्व भाव और आयुर्वेद के प्रति अनाप्तत्व का कारण है इसके मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा। आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा का कारण है तन्निहित उपादेयता के प्रति अविश्वास।

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की उपादेयता के प्रति अविश्वास का कारण है मूल सिद्धान्तों तथा उनकी उपादेयताओं का अपरिचय। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आज के अद्यतन वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के महत्त्व का अपरिचय तथा उनकी उपादेयता का अज्ञान ही आयुर्वेद से जुड़े अधिकतर लोगों में आयुर्वेद के प्रति अनास्था और उपेक्षा का एक प्रमुख कारण है।

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में तो भारतवर्ष में दिनानुदिन आयुर्वेद का पठन-पाठन तथा तदाश्रित संस्थाओं की बहुत ही अभिवृद्धि हुई है तथा हो रही है। ऐसी प्रत्यक्षमूलक स्थिति में भी आयुर्वेद के प्रति आयुर्वेद से ही जुड़े लोगों की अनास्था तथा उपेक्षा का आक्षेप निराधार तथा नैराश्यवादी विचार का द्योतक है। इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि आयुर्वेद के प्रचार एवं प्रसार की अभिवृद्धि प्रतीति आभास मात्र है वस्तुतः यह विश्वासमूलक नहीं है। अतः आयुर्वेद का यह विकास गुणात्मक नहीं प्रत्युत परिमाणात्मक ही है जिसके प्रति निर्भरता क्रमशः कम ही होती जा रही है। इस स्थिति को इस तथ्य से भी जाना जा सकता है कि राष्ट्रिय स्वास्थ्यरक्षा

कार्यक्रम में जहाँ आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली (Modern Medicine) पर देश की व्यय होने वाली धनराशि का ९७% खर्च किया जाता है वहां आयुर्वेद-प्रणाली पर केवल २% धनराशि व्यय होता है। इस विषम स्थिति से सहज ही जाना जा सकता है कि आयुर्वेद के प्रति राष्ट्र की कितनी आदर भावना है। आयुर्वेद के प्रति इस उपेक्षा भाव का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में यदि कुछ भी निराकरण किया जा सकता है तो वह आयुर्वेद में आस्था तथा विश्वास रखने वाले आयुर्वेदज्ञों द्वारा ही। और इस कार्य का सम्पादन आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की महत्ता एवं उपादेयता का सरल एवं स्पष्ट रूप में प्रतिपादन करके किया जा सकता है जिससे कि कम-से-कम आयुर्वेद के विद्यार्थियों में इसके प्रति आस्था और विश्वास सुदृढ़ हो। क्योंकि किसी भी विषय के यथार्थ ज्ञान बिना उसके प्रति विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास के उसमें अभिरुचि नहीं होती तथा बिना अभिरुचि के दृढ़ आस्था नहीं होती, जैसा कि भारतीय जनमानस के महाकवि तुलसी के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

"जाने बिनु न होई परतीति। बिनु परतीति होइ न प्रीति॥ प्रीति बिना नहीं भगति दृढ़ाई।" रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड। आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की महत्ता एवं उसकी उपादेयता का यथार्थ परिचय हो, इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर इस ग्रंथ का लेखन प्रारम्भ किया गया है जिससे कि आयुर्वेद के प्रति अधिक-से-अधिक लोगों का विश्वास व आस्था बढ़े।

आयुर्वेद का संक्षिप्त परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के अभिधेय "आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उपादेयता" इस मूल विषय पर विस्तृत विवेचन के पूर्व हम आयुर्वेद पर ही संक्षिप्त विचार करेंगे। क्योंकि जैसी कि एक सामान्य अवधारणा है कि आयुर्वेद भी अन्य चिकित्सा-प्रणालियों की भांति एक चिकित्सा-प्रणाली मात्र है। इस प्रकार की अवधारणा आयुर्वेद की व्यापकता के प्रति एक महान् भूल होगी। इसीलिए इस सन्दर्भ में आयुर्वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। विशेषकर इसके मूल सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में तो इस तथ्य की उचित जानकारी की और-भी अनिवार्यता होती है क्योंकि जैसे आयुर्वेद का क्षेत्र व्यापक होता है तदनुसार उसके सिद्धान्त भी व्यापक एवं अनेकविध हैं। आयुर्वेद की व्यापकता का यथार्थ ज्ञान होने पर ही इसके मूल सिद्धान्तों की व्यापकता और विशिष्टता का सहज बोध होता है तथा उनकी विश्वसनीयता भी बढ़ती है।

आयुर्वेद इस शब्द का सामान्य अर्थ है "आयुषो वेदः आयुर्वेदः" अर्थात् आयु का वेद। इस प्रकार आयुर्वेद आयु+वेद इन दो शब्दों से बना यौगिक शब्द है। आयु का सामान्यतः सीमित अर्थ लिया जाता है वय या उम्र किन्तु यह अर्थ भ्रामक है। आयुर्वेद

की दृष्टि में आयु शब्द से जीवन का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगोधारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥" च० सू० १/४२। उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग ही जीवन या आयु है। धारि (धारयति शरीरं पूतितां गन्तुं न ददाति इति धारि चक्रपाणि) अर्थात् जो शरीर का धारण करे। नित्य ही शरीर के असंख्य कोशाओं के शीर्यमाण (नष्ट होते हुये भी) इसे कोथक्रिया (सड़ने से) बचाये तथा इसे दुर्गन्धित न होने दे अतः धारि है। जीवितम् (जीवयति प्राणान् धारयति इति जीवितम् चक्रपाणि) अर्थात् जो प्राणों का धारण करे अतः जीवितम् है। नित्यग (नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छति इति नित्यगः—चक्रपाणि) अर्थात् शरीर नित्य ही काल के एक-एक क्षण से संयुक्त होता हुआ चलता रहता है, अतः नित्यग है। अनुबन्ध (अनुबघ्नाति आयुः अपरापरशरीरादिसंयोगरूपतया इति अनुबन्धः, चक्रपाणि) अर्थात् पूर्वापर आयु (जीवन) को शरीरादि (शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा) संयोग रूप से एक के पश्चात् दूसरे से बाँधता है अतः अनुबन्ध। धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध इन सभी पर्यायों से आयु कहा जाता है।

आयु शब्द के निरुक्तिपरक अर्थ पर विचार करें तो यह आ उपसर्ग तथा युजिर् योगे धातु से व्युत्पन्न होता है। 'आसमन्तात् चेतनया युनक्ति इति आयुः' अर्थात् प्रारम्भ से अन्त तक चेतना से जोड़ने वाला। युज् धातु संयमन अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, इस अर्थ में आयु की निरुक्ति होगी 'आसमन्तात् योजयति इति आयुः' अर्थात् प्रारम्भ से अन्त तक जो चेतना धातु को संयमित करे वह आयु है। युज् समाधौ अर्थात् युज् धातु समाधि अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में आयु शब्द की निरुक्ति होगी—"आसमन्तात् चेतनां युज्यते समाधीयते अनेन इति आयुः" अर्थात् प्रारम्भ से अन्त तक जो चेतना धातु की समाधि (आत्मज्ञान) लाभ कराये वह आयु है। उपर्युक्त तीनों अर्थों में प्रयुक्त युज् धातु के साथ आ उपसर्ग जुड़ने से जो आयु शब्द बनता है यदि इसका व्यापक अर्थ लिया जाय तो इसका अर्थ होगा प्रारम्भ से अन्त तक जो शरीर को चेतना धातु से जोड़े रहे, संयमित करे तथा समाधि में लगाये वह आयु है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में देखने से स्पष्ट होता है कि आयु शब्द का कितना व्यापक अर्थ होता है। आयु शब्द से शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा इन सभी का समष्टिभूत अर्थ अभिप्रेत होता है। अतः आयु का विचार करते समय व्यक्ति के शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन सभी का विचार अभीष्ट होता है और आयुर्वेद में इन सभी का विचार आयु पद से वाच्य है। यही आयुर्वेद का वैशिष्ट्य है कि जीवन-प्रक्रिया में इससे सम्बन्धित सभी मूल तत्त्वों का समावेश है। विश्व के किसी भी चिकित्सा-प्रणाली में जीवन के इन मूल तत्त्वों का समष्टि रूप में विचार नहीं किया गया। इसीलिए आयुर्वेद

केवल एक चिकित्सा-प्रणाली ही नहीं अपितु जीवन का समग्र दर्शन एवं विज्ञान है। इसका निदर्शन हमें उपर्युक्त तथ्य से मिलता है। केवल दो अक्षरों वाला आयु शब्द अपने में कितने व्यापक अर्थ को समेटे हुए है। इसी प्रकार यदि हम आयुर्वेद के दूसरे शब्द वेद पर विचार करें तो ज्ञात होता है यह भी अपने में व्यापक अर्थ को समेटे हुए है। उदाहरणार्थ इस प्रसंग में उसका उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। वेद शब्द विद् धातु से व्युत्पन्न है। विद् धातु चेतना, आख्यान (विस्तृत विवरण) तथा निवास अर्थ में होता है। इन अर्थों में आयुर्वेद का निरुक्तिपरक अर्थ होगा "आयुर्वेदयति अनेन इति आयुर्वेद:" अर्थात् आयु का जो विस्तृत ज्ञान कराये वह आयुर्वेद है। (२). "विद् ज्ञाने" इस अर्थ में निरुक्तिपरक अर्थ होगा "आयुर्वेदयति इति आयुर्वेद:" अर्थात् आयु को जो जाने वह आयुर्वेद है। (३). "विद् सत्तायाम्" इस अर्थ में आयुर्वेद का निरुक्तिपरक अर्थ होगा आयुर्विद्यते यस्मिन् इति आयुर्वेद:" अर्थात् जिसमें आयु की सत्ता या अस्तित्व हो वह आयुर्वेद है। (४). "विद् विचारणे" इस अर्थ में निरुक्तिपरक अर्थ होगा "आयुर्विन्ते यस्मिन् इति आयुर्वेद:" अर्थात् जिसमें आयु का विचार किया जाय वह आयुर्वेद है। (५). "विद्लृलाभे" इस अर्थ में आयुर्वेद का निरुक्तिपरक अर्थ होगा "आयुर्विन्दति अनेन इति आयुर्वेद:" अर्थात् जिससे आयु का लाभ या प्राप्ति हो वह आयुर्वेद है।

इस प्रकार आयुर्वेद का समष्टिपरक अर्थ—आयु का ज्ञान हो, जो आयु का ज्ञान कराये, जिसमें आयु की सत्ता हो तथा आयु का विचार हो और जिससे आयु की प्राप्ति हो वह आयुर्वेद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन आयुर्वेद-मनीषियों ने कितनी कुशलता से जीवन से सम्बन्धित समग्र अनिवार्य तथ्यों को समेटते हुए इस शास्त्र की एक सर्वाङ्गीण एव सार्वभौमिक संज्ञा आयुर्वेद अभिहित किया है। इस सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त एक ही धातु के सभी अर्थों को एक ही शब्द में संश्लिष्ट करने का कोई औचित्य नहीं जान पड़ता। इस सम्बन्ध में आचार्य चरक के निम्न वचन को उद्धृत करना प्रासंगिक समझता हूँ जिसमें कि आयुर्वेद की व्यापक परिभाषा एक ही श्लोक में वर्णित की गई है जो कि भिन्न-भिन्न अर्थों वाले एक ही धातु के प्राय: समग्र अर्थों को समाविष्ट किये हुए है। यथा—

हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद: स उच्यते ॥ च० सू० १/४१

अर्थात् जिसमें उपादेय सुख आयु और हित आयु एवं हेय दुःख आयु तथा अहित आयु का विचार हो तथा आयु के उचित मान (Life Span) का विचार हो वह आयुर्वेद है। आचार्य चरक के उपर्युक्त उद्धरण से हमें स्पष्ट होता है कि एक ही धातु के भिन्न-भिन्न

अर्थों वाले सभी अभिप्राय समष्टि रूप से प्राचीन आयुर्वेदज्ञों को आयुर्वेद शब्द से अभिप्रेत था।

आयुर्वेद के अष्टाङ्ग

पूर्वोक्त व्यापक अर्थ वाले आयुर्वेद शास्त्र के सर्वाङ्गीण ज्ञान तथा तदनुसार व्यवहार के लिए इसे निम्नोक्त आठ शाखाओं में विभक्त किया गया है—

(१) **कायचिकित्सा** :—"कायस्य चिकित्सा" काय अर्थात् शरीर की चिकित्सा कायचिकित्सा कहा जाता है। काय शब्द "चिञ्चयने" धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका निरुक्तिपरक अर्थ होगा 'चीयते अन्नादिभिः" अर्थात् जो अन्नपानादि से पोषित होता है वह काय है। काय शब्द से अग्नि का बोध भी होता है। शरीरान्तर्गत अग्नि ही आहार द्रव्यों का पाचन कर सर्वाङ्ग शरीर को पोषित करती है तथा शरीर को प्रकृतिस्थ भाव में रखती हैं एवं अग्नि के कार्य में दोष आने पर ही शरीरगत निज रोगों का (स्वतः शरीर दुष्ट धातुओं से उत्पन्न) प्रादुर्भाव होता है। अतः अग्नि की चिकित्सा यह अर्थ भी कायचिकित्सा से ग्रहण किया जाता है। कायचिकित्सा के अन्तर्गत सर्वाङ्गसंश्रित शरीरगत ज्वर, रक्त, पित्त, शोथ, उन्माद, अपस्मार, प्रमेह, अतिसार आदि व्याधियों का उपचार किया जाता है।

(२) **शल्य** :—"शल् हिंसायाम्" धातु से शल्य शब्द बनता है जिसका निरुक्तिपरक अर्थ होता है "पीडाकारकं शल्यमपनेतुं कृतं यत् शास्त्रम् तत् शल्यम्" अर्थात् शरीर में पीडाकारक जो भी विविध तृण, पाषाण, लोह, अस्थि, बाल, नख, पूय, आस्राव, (शरीरनिर्गत दुष्ट धातुद्रव) दुष्ट व्रण तथा दुष्ट गर्भ आदि के बाहर निकालने तथा शरीरगत रोगों के निदान एवं उपचार में व्यवहृत यन्त्र, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि के उपयोग में जो शास्त्र प्रवृत्त हो वह शल्य है।

(३) **शालाक्य** :—"शलाकायाः कर्म शालाक्यम्" अर्थात् जिसमें शलाका के द्वारा रोग-निदान एवं उपचार हो वह शालाक्य कहा जाता है और जिसमें शलाका की प्रधानता हो वह शालाक्य तन्त्र है। ऊर्ध्वजत्रुगत (गले के ऊपर) कान, नाक, मुख, नासिकागत रोगों के उपचार के लिए तथा इनमें शलाका यन्त्र की उपयोगिता होने से आयुर्वेद की इस शाखा-विशेष को शालाक्यतन्त्र कहते हैं।

(४) **भूतविद्या** :—"भूतानि देवासुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पितृ-नाग-पिशाचाः अष्टौ तानि वेत्ति अनया इति भूतविद्या" अर्थात् देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, नाग एवं पिशाच इन आठों को भूत कहते हैं। इन सभी को जिस विद्या या ज्ञान से जाना जाय वह भूतविद्या है। इन सभी उपर्युक्त भूतों के आवेश से प्रभावित चित्त वाले मनुष्यों

के लिए शान्तिकर्म एवं सम्बन्धित ग्रहों के निमित्त बलिकर्म आदि से ग्रहों के शमन के लिए प्रवृत्त शास्त्र को भूतविद्या कहते हैं।

(५) कौमारभृत्य :- आयुर्वेद की कौमारभृत्य शाखा को परिभाषित करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं—"कौमारभृत्यं नाम कुमारभरण-धात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थंदुष्टस्तन्य ग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्।" सु०सू० १/१-५। अर्थात् कुमारों (शिशुओं) के पोषणार्थ एवं स्तनन्धय धात्री (दूध पिलाने वाली धात्री) के क्षीर-दोष के संशोधनार्थ, दूषित क्षीर एवं विभिन्न बालग्रहों से उत्पन्न बालकों की व्याधियों के उपचार में प्रवृत्त होने से आयुर्वेद की इस शाखा को कौमारभृत्य कहा जाता है।

(६) अगदतन्त्र :—"न गद: अगद: अगदाय तन्त्रम् अगद तन्त्रम्" इस निरुक्ति-परक अगदतन्त्र का अभिप्राय है कि – जो गद न हो वह अगद है, अगद के लिए प्रवृत्त शास्त्र को अगदतन्त्र कहते हैं। आचार्य सुश्रुत ने अगदतन्त्र की निम्नोक्त परिभाषा की है—

"अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतादष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च।" सु० सू० १/७-६।

अर्थात् सर्प, कीट, मर्कट आदि के काटने से उत्पन्न विष के निदानार्थ एवं विविध विषों के संयोग से उत्पन्न लक्षणों के उपचारार्थ प्रवृत्त शास्त्र को अगदतन्त्र कहते हैं।

(७) रसायन तन्त्र :—रसायन तन्त्र को परिभाषित करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि—"रसायनतन्त्रं नाम वय:स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च। सु० सू० १/७-७।

उपर्युक्त उद्धरण का आशय है कि वय को यथायोग्य प्रकृतिस्थ भाव में रखने के लिए आयु (जीवन), मेधा (ज्ञान धारण योग्यता) तथा बल के लिए एवं रोगों को दूर करने के निमित्त प्रवृत्त शास्त्र को रसायन तन्त्र कहते हैं।

(८) वाजीकरण तन्त्र :—"अवाजी वाजीव अत्यर्थमैथुने शक्त: क्रियते येन तद्वाजी-करणम्" चक्रपाणि। अर्थात् अवाजी (अल्प शुक्र तथा बल वाला) को अश्व की तरह मैथुन कर्म में सामर्थ्य जिससे प्राप्त हो वह वाजीकरण कहा जाता है। वाजीकरण में प्रवृत्त शास्त्र को वाजीकरण तन्त्र कहते हैं। आचार्य सुश्रुत ने वाजीकरणतन्त्र की परि-भाषा करते हुए कहा है कि—"वाजीकरणतन्त्रं नाम अल्पदुष्टं क्षीणं विशुष्करेतसामाप्या-पनप्रसादोपचयजनननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च।" सु० सू० १/७-८। अर्थात् अल्प शुक्र वाले, दूषित शुक्र वाले, क्षीण शुक्र वाले तथा विशुष्क रेतस (अत्यन्त क्षीण शुक्र) के

लिए क्रमशः वृद्धि, शुद्धिकरण, पुष्टिकरण तथा शुक्रजनन के निमित्त एवं स्वल्प शुक्रवाले पुरुष के शुक्रवृद्धि स्राव के निमित्त प्रवृत्त शास्त्र को वाजीकरण तन्त्र कहते हैं।

इस प्रकार मानव के समग्र जीवन के स्वास्थ्य तथा रोगोपचार के निमित्त आयुर्वेद को आठ अंगों में विभाजित कर तदनुसार सभी अगों का विस्तृत उपदेश कर प्राचीन आयुर्वेदज्ञ-मनीषियों ने मानव को स्वस्थ एवं सुखी जीवन प्रदान किया है।. आयुर्वेद के इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात् हम इसके मूल सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त

मूल सिद्धान्त इस संज्ञा से जैसा कि स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार मूल के आधार पर ही सम्पूर्ण वृक्ष का कलेवर आश्रित रहता है उसी प्रकार समग्र आयुर्वेद-वाङ्मय भी इसके मूल सिद्धान्तों पर ही आश्रित है। सिद्धान्त ही मूल है जिसका वही मूल सिद्धान्त है। सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—"सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः।" च०वि० ८/३७। अर्थात् जिस तथ्य को अनेक परीक्षकों के द्वारा अनेक विध परीक्षा करके उसका तर्कसंगत निर्णय स्थापित किया जाता है वह सिद्धान्त है। उपर्युक्त सिद्धान्त के लक्षण से यह सहज ही ज्ञात होता है कि प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने किसी भी सिद्धान्त की स्थापना योंही केवल अपनी कल्पनाशक्ति पर ही नहीं किया है प्रत्युत् किसी तथ्य की अनेक परीक्षकों द्वारा अनेक प्रकार की परीक्षा करके तदनुसार उसके व्यवहार पक्ष की अनेकविध जाँच-परख की कसौटी पर निरीक्षण करके तर्कसगत निष्कर्ष को निष्पादित किया है। यदि आज की वैज्ञानिक पद्धति से परीक्षण की प्रक्रिया से स्थापित किसी तथ्य से प्राचीनों के सिद्धान्त की तुलना करें तो प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही सार्वकालिक, सार्वभौमिक तथा शाश्वतिक सिद्ध होते हैं। क्योंकि वैज्ञानिक परीक्षणों से प्रतिपादित सिद्धान्त तर्कसंगत कारण-कार्यहेतु से घटित नहीं होते, जबकि प्राचीनों के सिद्धान्त अनेकविध परीक्षणों के पश्चात् तर्कसंगत कारण-कार्य-हेतु से भी घटित करके ही प्रतिपादित किये गये हैं। अतः प्राचीनों के सिद्धान्त में बदलाव या त्रुटि की कोई गुंजाइश नहीं होती। उपर्युक्त तथ्य के आलोक में विचार करने से यह सहज ही स्पष्ट होता है कि अद्यतन वैज्ञानिकों का आयुर्वेद के सिद्धान्तों के प्रति अवैज्ञानिकता का आक्षेप निराधार ही सिद्ध होता है। यद्यपि इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन काल में आज की तरह सर्वसुविधा-सम्पन्न प्रयोगशालाएँ नहीं थीं और न आज के सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं के अवलोकनसमर्थ उपकरण। तथापि प्राचीनों ने प्रकृति की विशाल प्रयोगशाला में अपने विविध युक्ति-कौशल तथा गहन चिन्तन से जो भी सिद्धान्त स्थापित किये वे आज भी सार्थक तथा उपादेय हैं।

सिद्धान्तों का वर्गीकरण

आचार्य चरक ने सिद्धान्तों का निम्नोक्त चार भेद किया है—१. सर्वतन्त्र सिद्धान्त, २. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, ३. अधिकरण सिद्धांत और ४. अभ्युपगम सिद्धान्त।

(१) **सर्वतन्त्र सिद्धान्त** :—सर्वतन्त्र सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—"तत्रं सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिन् तस्मिन् सर्वस्मिन् तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धम्।" च० वि० ८/३७। अर्थात् जो सिद्धान्त एक शास्त्र में प्रसिद्ध होते हुए भी सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध तथा व्यवहृत हो वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ-रोग के कारण हैं, रोग हैं, साध्य रोगों के उपचार के उपाय हैं इत्यादि। कोई भी चिकित्सा-प्रणाली उपर्युक्त तथ्यों को नकार नहीं सकती कि रोग के कारण नहीं है। रोग नहीं है तथा साध्य रोगों का उपचार नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वतन्त्र सिद्धान्त जैसा कि इसके नाम से द्योतित होता है सभी शास्त्रों में समान रूप से ग्राह्य हैं अतः इन्हें सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं।

(२) **प्रतितन्त्र सिद्धान्त** :—प्रतितन्त्र सिद्धान्त उन्हें कहते हैं कि जो कि किसी एक ही शास्त्र में प्रसिद्ध तथा व्यवहार्य हैं अर्थात् इन सिद्धान्तों की उपयोगिता किसी शास्त्र-विशेष में ही लागू होती है। उदाहरणार्थ—आयुर्वेद में ६ रस प्रसिद्ध एवं ग्राह्य हैं किंतु किसी अन्य शास्त्र में ८ रस प्रसिद्ध हैं। आयुर्वेद में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसिद्ध तथा ग्राह्य हैं अन्य शास्त्र में ६ इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं इत्यादि।

(३) **अधिकरण सिद्धांत** :—आचार्य चरक ने निम्नोक्त प्रकार से अधिकरण सिद्धांत को परिभाषित किया है। यथा—"अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यप्यधिकरणानि भवन्ति। यथा—न मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते, निस्पृहत्वात्। इति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा भवन्ति।" च० वि० ८/३७।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अधिकरण सिद्धान्त वे हैं जो कि तथ्य-श्रृङ्खला के किसी तथ्य-विशेष के ग्रहण से ही सम्पूर्ण तथ्य-श्रृङ्खला को सहज ही उद्घाटित अथवा प्रकट कर देते हैं अर्थात् अधिकरण-विशेष के एक तथ्य को ग्रहण करने से उसके श्रृङ्खला के सम्पूर्ण तथ्य स्वयमेव गृहीत हो जाते हैं। यथा-मुक्त पुरुष निस्पृह होने से फलासक्ति से प्रेरित होकर कोई ऐसा कार्य नहीं करते जो कि उन्हें कर्मफल परम्परा से बाँधता है। यहाँ पर "न मुक्तः" अर्थात् मुक्त पुरुष कर्मफल परम्परा वाले कार्य नहीं करते, ऐसा कहने से सहज ही आसक्तियुक्त कर्म का कर्मफल होता है, कर्मफल को भोगना पड़ता है, कर्मफल के क्षीण होने पर पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है तथा कर्मफल के शेष रहने पर पुनर्भव (पुनर्जन्म) होता है आदि तथ्यों का ग्रहण हो जाता है। अतः इस प्रकार के सिद्धान्त को अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं।

(४) **अभ्युपगम सिद्धांत** :—अभ्युपगम सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—"अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम स यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टम-हेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः, तद्यथा—द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, गुणाः प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, वीर्यप्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादिः।" च० वि०—८/३७। अभ्युपगम सिद्धान्त वह है जो किसी वस्तु के प्रस्तुत करने के समय यद्यपि असिद्ध, अपरिक्षित, अनुपदिष्ट (आप्तों के द्वारा कथित नहीं है) तथा अहेतुक (बिना उचित तर्क का) फिर भी उसकी प्रधानता का उल्लेख किया जाय। यथा—द्रव्य की प्रधानता है ऐसा कहेंगे, गुणों की प्रधानता होती है यह कहेंगे, वीर्य की प्रधानता होती है ऐसा कहेंगे इत्यादि। इस प्रकार अभ्युपगम सिद्धान्त से यह आशय स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु के वर्णन काल में उसी वस्तु की सारी विशेषताओं का उल्लेख करके प्रस्तुत वस्तु की प्रधानता स्थापित की जाय जिससे कि वक्ता तथा श्रोता का ध्यान उसी वस्तु पर केन्द्रित रहे जिससे कि उसकी महत्ता का प्रतिपादन हो। यद्यपि अभ्युपगम सिद्धान्त, सिद्धान्त के लक्षणों से घटित नहीं होता, अतः इसे सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता तथापि किसी वस्तु-विशेष की प्रधानता बुद्धि-कौशल या तार्किकता से प्रतिपादित की जाती है, अतः इस दृष्टि से इसे सिद्धान्त जानना चाहिये।

आयुर्वेद में चारों सिद्धान्तों का समावेश है और इन्हीं सिद्धान्तों के आश्रयभूत होने के कारण इसका स्वरूप अत्यन्त प्राचीनकाल से अद्यावधि पर्यन्त अक्षुण्ण है तथा भविष्य में भी ऐसा ही बना रहेगा। आयुर्वेद-वाङ्मय का सम्पूर्ण कलेवर इन सिद्धान्तों से ऐसे निविड भाव से जुटा हुआ है कि यदि इसके किसी भी तथ्य पर विचार किया जाय तो वह सहज ही अविच्छिन्न रूप से इसके धूरीभूत सिद्धान्तों पर केन्द्रित हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आयुर्वेद का कोई भी कथ्य अविकल रूप से इसके सिद्धान्त के बिना प्रतिपादित ही नहीं किया जा सकता है।

आयुर्वेद एवं सिद्धान्त की उपर्युक्त संक्षिप्त परिचयात्मक पीठिका के पश्चात् हम अब इस ग्रन्थ के मूल वर्ण्य विषय का विवेचन करेंगे जिसे लक्ष्य कर इसका प्रस्तुतीकरण आरम्भ किया गया है।

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उपादेयता प्रस्तुत विषय के विवेचन के पूर्व हम आयुर्वेद के सभी सिद्धान्तों को सूचीबद्ध रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे जिससे कि क्रमशः उन सभी का लक्ष्यगत विवेचन किया जा सके, सुतरां कोई भी महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय सिद्धांत विचार-प्रक्रिया से छूट न सके। आयुर्वेद के कुछ सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और व्यापक हैं जो कि इसके समग्र क्षेत्र को व्याप्त किये हैं। उदाहरणार्थ—पंचभूत सिद्धान्त त्रिदोष सिद्धान्त, दोष-धातुमल-विज्ञानसिद्धान्त, रस गुण-वीर्य-विपाक सिद्धान्त, सामान्य-विशेष सिद्धान्त आदि। कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो कि आयुर्वेद के सीमित क्षेत्र में ही लागू

होते हैं तथा कुछ ऐसे हैं जो कि प्रसंगवश उल्लिखित किये गये हैं तथा अन्य शास्त्र के आचार्यों के द्वारा प्रश्न के रूप में उठाये गये हैं और उनके समाधान के निमित्त आयुर्वेदज्ञों ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है जो कि आयुर्वेद के लिए महत्त्वपूर्ण अवदान है।

विविध सिद्धान्तों की सूचीबद्ध तालिका एवं विवेचन

विवेच्य सिद्धान्तों की सूचीबद्धतालिका निम्नांकित है :—१. षड्पदार्थवाद सिद्धान्त, २. सामान्य-विशेष सिद्धान्त, ३. त्रिदण्ड सिद्धान्त, ४. नवद्रव्यवाद सिद्धान्त, ५. गुण-कर्म सिद्धान्त, ६. समवायवाद, ७. त्रिविधहेतुवाद, ८. आत्मनिर्विकारवाद, ९. त्रिदोषवाद, १०. पंचभूत सिद्धान्त, ११. द्विविधमानसदोषवाद, १२. त्रिदोष-सप्तविधगुणवाद, १३. षड्रसवाद, १४. पंचकर्म सिद्धान्त, १५. पंचविधकषायकल्पना, १६. अग्निबलापेक्षी आहारमात्रा, १७. हिताहितसंसर्जनक्रम, १८. आदानविसर्गवाद, १९. स्वस्थवृत्तानुपालन, २०. धारणीयाधारणीयवेगवाद, २१. पंचपंचक सिद्धान्त, २२. अध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रह, २३. सद्वृत्तानुष्ठान, २४. भिषगादिचतुष्पाद सिद्धान्त, २५. धातुसाम्यासाम्यवाद, २६. तिस्रैषणीयवाद, २७. प्रमाणचतुष्टय, २८. त्रयोपस्तम्भवाद, २९. त्रिण्यायतनवाद, ३०. त्रिरोगमार्गवाद, ३१. त्रिविधौ-षधवाद, ३२. स्नेहस्वेदकल्पना, ३३. स्वभावोपरमवाद, ३४. दोषत्रिविधगति, ३५. दोषद्विविध गति, ३६. सामान्यजनानात्मजविकार, ३७. षडुपक्रमवाद, ३८. तिलपीडकगतिवाद, ३९. यज्जःपुरुषीयवाद, ४०. आत्रेयभद्रकाप्यीयवाद, ४१. तन्त्रार्थबोधक तत्त्व, ४२. ऊर्ध्वाधोभाजरसवाद, ४३. अन्नपानविधि सिद्धान्त, ४४. धातुपोषण सिद्धान्त, ४५. दशप्राणायतनवाद, ४६. अर्थे दशवाद, ४७. आयु-र्वेदशाश्वतिकवाद, ४८. पंचनिदान सिद्धान्त, ४९ दोषसामनिरामवाद, ५०. निदान-दोषदूष्यवाद, ५१. रससमान-गुणसमान-गुणभूयिष्ठवाद, ५२. रस-द्रव्य-दोष-विकारप्रभाववाद, ५३. आहारविधि-विशेषायतनवाद, ५४. आहारविधिविधानवाद, ५५. त्रिविधकुक्षीय सिद्धान्त, ५६. जनपदोद्ध्वंसनीयवाद, ५७. दैवपुरुषकारवाद, ५८. कालाकालमृत्युवाद, ५९. त्रिविधरोग-विशेषविज्ञानीयवाद, ६०. स्रोतससिद्धान्त, ६१. व्याधितरूपीयवाद, ६२. भिषक्वादमार्ग, ६३. दशविधपरीक्ष्यवाद, ६४. आतुरपरीक्ष्य दशभाव, ६५. षड्धातुपुरुषवाद, ६६. चेतनाधातुपुरुषवाद, ६७. राशिपुरुषवाद, ६८. पुरुषकारणवाद, ६९. प्रज्ञापराधवाद, ७०. लिंगपुरुषवाद, ७०. पुरुष विचयवाद आदि।

उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब हम आगे के प्रकरणों में क्रमशः विवेचन करेंगे तथा साथ ही इनकी आयुर्वेद में क्या उपादेयता है, इसका भी विचार करेंगे।

(१) षड्पदार्थवाद:—प्राच्यविद्या-वाङ्मय के समस्त शाखाओं की यह विशेषता है कि वह अनन्त ब्रह्माण्डों वाली सम्पूर्ण चेतन-अचेतन सृष्टि के सारतत्त्वों को समझने के लिए तन्निहित असंख्य वस्तुओं को कुछ ही वर्गों में वर्गीकृत कर शब्दों के माध्यम से सर्वसाधारण को परिचित कराने में सचेष्ट होती है। इसके साथ ही विश्व की सृष्टि कैसे हुई, इसके मूलभूत तत्त्व कौन हैं तथा चरम तत्त्व क्या है जो कि समग्र जगत् को व्याप्त किये हुए अविनाशी एवं शाश्वत रूप में स्थित हैं, उससे प्राणिमात्र का क्या सम्बन्ध है आदि तथ्यों का भी प्रतिपादन करते हैं। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश (शिक्षा) देने के पूर्व आयुर्वेदाधारभूतषड् अलग पदार्थों का अपने ज्ञान-चक्षुओं से यथोचित अवलोकन करके तथा इनके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके आयुर्वेद-तन्त्र की अपथ्य-परिहार तथा पथ्योपादान रूप विधि को प्राप्त किया। षड्पदार्थों की महत्ता को दर्शाते हुए आचार्य चरक निम्नोक्त उद्धरण में षड्-पदार्थों की गणना प्रस्तुत करते हैं। यथा :—

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तविधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम्॥ च०सू० १/२८-२९.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि ऋषियों ने आयुर्वेद की लोकहितकारी विधि को अपनाने के पूर्व सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म एवं समवाय इन ६ पदार्थों को अपने ज्ञानचक्षु से यथावत् अवलोकित कर उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। आयुर्वेद के लिए आश्रयभूत इन षड्पदार्थों के समुचित ज्ञान से ऋषियों ने परम कल्याण रूप स्थिर जीवन को प्राप्त किया॥

आचार्य चरक ने आयुर्वेदोपदेश के पूर्व ही इन षड्पदार्थों के सम्बन्ध में उल्लेख कर इनकी महत्ता को प्रतिपादित किया है। वस्तुतः विचार किया जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि जगत् को इन षड् पदार्थों में अन्तर्भूत कर लिया गया है। विश्व की कोई भी चेतन अथवा अचेतन वस्तु षड्पदार्थों के बाहर नहीं है। पुराकालीन ऋषियों द्वारा विश्व के समस्त असंख्य ज्ञात-अज्ञात अभिधेय (संज्ञेय) पदार्थों को कुछ वर्गों में वर्गीकृत करके परि-गणित करने से सृष्टि-तत्त्वों के जिज्ञासुओं को सहज ही विश्व के मूल तत्त्वों की जानकारी प्राप्त हो जाती है। विश्व के मूल तत्त्वों का परिचय होने से जिज्ञासुओं के लिए यह सहज ही बोध होता है कि विश्व कोई अजूबा नहीं है प्रत्युत उनके शरीर की भाँति ही एक रचना है जो कि रचना तथा कार्यों की दृष्टि से शरीर की तुलना में असंख्य गुना बड़ा है। गुणात्मक दृष्टि से शरीर और ब्रह्माण्ड में कुछ भेद नहीं, केवल भेद है तो इसके परिमाण में। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पुराकालीन ऋषियों ने (पुरुष विचय)

सिद्धान्त की स्थापना की है। इस सम्बन्ध में प्रसंगानुसार हम विवेचन करेंगे। इस सन्दर्भ में इस तथ्य को प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह है कि अन्ततः षड्पदार्थवाद की स्थापना की आवश्यकता तथा उपादेयता क्या है? इस तथ्य को विवेचित करने के पूर्व हम षड्पदार्थवाद का परिचय प्रस्तुत करना चाहेंगे जिससे कि पाठकों को इस सिद्धान्त की आवश्यकता तथा उपादेयता का युक्तिसंगत ज्ञान हो सके।

जैसा कि "षड्पदार्थवाद" इस नाम से ज्ञात होता है कि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को ६ वर्गों में विभाजित किया गया है। इस प्रसंग में "पदार्थ" शब्द का परिचय अपेक्षित है। पदार्थ शब्द यौगिक है। यह "पद+अर्थ" इन दो शब्दों से मिल कर बना है जिसका तात्पर्य होता है अर्थ को प्रकट करने वाला पद। कोई पद जिसका व्यवहार में कोई अर्थ न प्रकट हो तो उसे पदार्थ नहीं कहा जा सकता। ससार में जितने भी पदवाच्य शब्द हैं वे सभी अपना निश्चित अर्थ रखते हैं अतः वे सब पदार्थ हैं। उदाहरण स्वरूप घट पद को लें तो इससे प्रकट होता है कि यह एक पात्र है जो कि जलाहरण के लिए प्रयुक्त होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी से, जिसे घड़े का ज्ञान है, घड़ा लाने के लिए कहे तो वह व्यक्ति घड़ा ही लायेगा, न कि कपड़ा। इससे सिद्ध होता है कि घट शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है अतः घट पदार्थ है। पदार्थ शब्द का निरुक्तिपरक अर्थ होता है—"पदस्य पदयोः पदानाम् अर्थः पदार्थः", अर्थात् एक वचनार्थक एक पद, द्विवचनार्थक दो पद अथवा बहुवचनार्थक अनेक पदों के अर्थ अथवा अभिप्राय जिससे जाना जाय वह पदार्थ है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार पद शब्द का अभिप्राय होता है कारकत्व-बोधक सुबन्त शब्द तथा क्रिया-बोधक तिङन्त शब्द, जैसा कि आचार्य पाणिनि के निम्नोक्त सूत्र से स्पष्ट होता है—"सुप्तिङन्तं पदम्" सुबन्त तथा तिङन्त शब्दों को पद संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का अथवा किसी विषय का ज्ञान हो वह पदार्थ है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ज्ञेय सभी वस्तुओं तथा विषयों को पदार्थ कहते हैं।

पदार्थ के भेद:—ज्ञेय सभी वस्तुओं तथा विषयों को ६ श्रेणी में विभाजित किया गया है जिससे कि विश्वगत सभी वस्तु तथा विषय उनमें अन्तर्भूत हो जाएँ। पदार्थों के ६ भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय। वैशेषिक दर्शन इन उपर्युक्त पदार्थों के साथ ही एक अभाव नामक पदार्थ मानता है। किन्तु आयुर्वेद में इसकी उपयोगिता नहीं होने से आयुर्वेदज्ञों ने अभाव की पदार्थ में गणना नहीं की है। इनमें से कुछ भौतिक स्वरूप हैं एवं इन्द्रिय-ग्राह्य हैं तथा कुछ भावस्वरूप हैं एवं इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। द्रव्य पदार्थ के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ भेद हैं। नौ द्रव्यों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पांच इन्द्रिय-ग्राह्य तथा भौतिक हैं अतः इन्हें 'पंचभूत' इस संज्ञा से भी अभिहित किया

जाता है। आत्मा, काल और दिशा ये अभौतिक तथा इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं अतः ये भाव रूप कहे जाते हैं। अर्थात् इनकी सत्ता तो है किन्तु केवल अनुभवगम्य हैं। नवाँ द्रव्य मन आयुर्वेद के अनुसार भौतिक तो है किन्तु अणुत्वगुण (परमसूक्ष्म) होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं है अतः यह भी अनुभवगम्य ही है।

द्रव्य पदार्थ के अतिरिक्त गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन पाँच पदार्थों में गुण और कर्म पदार्थ द्रव्य पदार्थ के ही आश्रित रहते हैं इनकी अलग सत्ता नहीं होती अतः भावस्वरूप ही हैं। सामान्य और विशेष पदार्थ वस्तुओं तथा विषयों की विशेष स्थिति मात्र है अतः ये भी अभौतिक हैं। समवाय पदार्थ सम्बन्ध का द्योतक है। यह अविच्छिन्न रूप से जिस प्रकार गुण गुणी में आश्रित रहते हैं उसी सम्बन्ध को दर्शाता है। द्रव्य पदार्थ में गुण तथा कर्म समवाय सम्बन्ध से (अविच्छिन्न) ही आश्रित रहते हैं। इन सभी पदार्थों पर विस्तृत विचार हम तत्तद् शीर्षक से यथावसर आगे करेंगे किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में अभीष्ट षड्पदार्थवाद की उपादेयता पर विचार अपेक्षित है।

षड्पदार्थवाद की उपादेयता :— सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उपादेयता यह है कि विश्व के समस्त वस्तुओं एवं विषयों की जानकारी जिज्ञासुओं को एक निश्चित संख्या में हो जाती है जिससे कि विश्व के सारे तत्त्वों के प्रति उनकी अभिव्यक्ति इन षड्पदार्थों के माध्यम से होती है। यदि इस षड्पदार्थवाद सिद्धान्त की स्थापना नहीं होती तो किसी वस्तु का परिचय एक-दूसरे को किस प्रकार दिया जा सकता था ? परिणामतः मानव मात्र विश्वजनीन तथ्यों के प्रति बिल्कुल अपरिचित रहता। षड्पदार्थों के परिचय से लोगों में आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मविश्वास की भावना बढ़ती है क्योंकि इस सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्ति का विश्व से तादात्म्य सम्बन्ध का बोध होता है तथा मनुष्य को जीवन से सम्बन्धित तथ्यों के प्रति आकर्षण से सहज ही उसकी जानकारी के प्रति यत्नशीलता होती है एवं तदनुसार आचरण करते हुए सुखी एवं स्वस्थ जीवन व्यतीत करता है।

षड्पदार्थवाद की उपर्युक्त उपादेयता तो समष्टि रूप में इस सिद्धान्त के परिचय से स्पष्ट होती ही है, इसके अतिरिक्त इन ६ पदार्थों के व्यष्टिकृत ज्ञान की भी उपादेयता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यथा—द्रव्य पदार्थ के ज्ञान से नौ द्रव्यों का परिचय होता है। जिसमें पंचभूत सृष्टि के प्रत्यक्ष कारण हैं तथा काल, दिशा परोक्ष कारण हैं। आत्मा जो कि चेतन प्राणियों में चेतना का कारण है एवं मन जो कि बुद्धि तथा ज्ञान का कारण होता है इसका पृथक्-पृथक् ज्ञान मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है। क्योंकि इन सब के पृथक्-पृथक् ज्ञान के बिना कौन वस्तु क्या है ? तथा उसकी उपादेयता क्या है ? इसका बोध नहीं होता और जब किसी वस्तु का बोध ही नहीं होगा तो उससे लाभ कैसे प्राप्त किया जा सकता है। यों तो हम ६ पदार्थों के सम्बन्ध में परिचय एवं उपादेयता का विवेचन यथावसर अलग-अलग करेंगे किन्तु इस प्रसंग में संकेत रूप से केवल इतना

कहना अत्यन्त आवश्यक होगा कि आयुर्वेद जो कि जीवन का समग्र दर्शन एवं विज्ञान है आयु शब्द में निहित तत्वों का उल्लेख कर षड्पदार्थवाद की उपादेतता को सुस्पष्ट रूप में प्रकट करता है। आयु शब्द के तात्पर्य का उल्लेख करते हुये आचार्य चरक कहते हैं :—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगोधारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ च० सू० १/४२

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने परोक्ष रूप से षड्पदार्थों का उल्लेख कर इसकी उपादेयता का संकेत किया है। शरीर तथा इंद्रिय शब्द से पंचभूतों का ग्रहण हो जाता है क्योंकि शरीर पाँचभौतिक होता है। सत्त्व शब्द से मन का ग्रहण तथा आत्म शब्द से आत्मा का ग्रहण, इस प्रकार नौ द्रव्यों में सात द्रव्यों का ग्रहण आयु में हो जाता है। शेष दो द्रव्य काल एव दिशा तो सर्वव्यापक हैं अतः शरीर भी काल एवं दिशा निरपेक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार आयु शब्द से नौ द्रव्य ग्रहण कर लिया जाता है। अब शेष पाँच पदार्थों में गुण और कर्म तो द्रव्य के ही आश्रयभूत होते हैं अतः आयु में जब सभी द्रव्यों का अन्तर्भाव हो जाना है तो गुण और कर्म भी सहज रूप से इसमें अनुस्यूत रहेंगे। उद्धरण के संयोग शब्द से समवाय सम्बन्ध का संकेत स्पष्ट होता है जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है :—

"अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्। सु० सू० १/२२

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि आयुर्वेद में पंचमहाभूत के साथ आत्मा के समवाय सम्बन्ध से युक्त होने से शरीर रचना होती है और यही शरीर पुरुष पद से वाच्य है। इसी में आयुर्वेदोचित क्रिया की जाती है तथा यही चेतना का आश्रय है।

इस प्रकार हम देखते हैं आयुपद-वाच्य जीवन से द्रव्य, गुण, कर्म तथा समवाय पदार्थ का ग्रहण हो जाता है। शेष दो पदार्थ सामान्य तथा विशेष बच जाते हैं। सामान्य पदार्थ एकत्व तथा सादृश्य भाव वाला होता है जिससे कि समान गुण-धर्म वाले पदार्थों की अभिवृद्धि होती है। आयु के पर्याय में धारि शब्द का उल्लेख हुआ है जिसका तात्पर्य शरीर के धारण तथा पोषण से है। शरीर का धारण एवं पोषण समान गुण-धर्म वाले द्रव्यों से ही होता है, अतः संकेत रूप से आयु में सामान्य पदार्थ का भी ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार विशेष पदार्थ पृथक्ता बोधक होता है अर्थात् यह शरीरगत धातुओं में विभेद करता है। शरीर में अनेक प्रकार की धातुएं होती हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाएं। अतः शरीर शब्द से विशेष पदार्थ का भी ग्रहण हो जाता हैं, क्योंकि शरीर शब्द का निरुक्तिपरक अर्थ होता है—"शीर्यत इति शरीरम्" जो नित्य-प्रति शीर्यमाण हो

(क्षय को प्राप्त) वह शरीर है। विशेष को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि :—

"तुल्यार्थता हि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः।" च० सू० १/४५.

अर्थात् सामान्य तुल्यार्थक है तथा विशेष इसके विपरीत। इस प्रकार सामान्य वृद्धि का कारण होता है, इसके विपरीत विशेष ह्रास या क्षय का कारण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य चरक ने किस कुशलता से आयु को परिभाषित करते हुए षड्पदार्थ वाद का परोक्ष रूप से प्रतिपादन किया है। अतः जिस प्रकार जीवन की उपादेयता सभी प्राणि मात्र के लिए है उसी प्रकार षड्पदार्थ वाद की भी उपादेयता है।

वस्तुतः षड्पदार्थवाद सिद्धान्त आयुर्वेद का ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जिसमें कि आयुर्वेदीय वाङ्मय के सभी तथ्य इससे जुड़े हुए हैं। कोई भी विचार षड्पदार्थ को असम्पृक्त करके हो ही नहीं सकता। इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य को दृष्टिगत कर आचार्य चरक ने अपने प्रति संस्कृत ग्रन्थ चरकसंहिता में अपने मुख्य अभिधेय स्वयं आयुर्वेद को परिभाषित करने के पूर्व ही षड्पदार्थवाद का उल्लेख किया है तथा आयुपद-वाच्य जीवन के मूल में भी इनके महत्त्व का संकेत किया है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आयुर्वेद का षड्पदार्थवाद सिद्धान्त अपने में आयुर्वेद के सभी मूलभूत सिद्धान्तों को समाहित किये हुए है और कुछ भी षड्पदार्थ के अतिरिक्त नहीं है। जैसे हाथी के पाँव में सभी पाँव समा जाते हैं "सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः" उसी प्रकार सभी सिद्धान्त इस सिद्धान्त में समाविष्ट हैं।

(२) सामान्य-विशेषवाद सिद्धान्त :—यद्यपि सामान्य तथा विशेष इन दो पदार्थों के सम्बन्ध में षड्पदार्थवाद के अंतर्गत उल्लेख किया जा चुका है तथापि इनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों की आयुर्वेद में महती उपादेयता होने के कारण इस सिद्धान्त पर स्वतन्त्र विचार अपेक्षित है। षड्पदार्थों के गणना-क्रम में सामान्य-विशेष का ही पहले उल्लेख किया गया है अतः इससे इस सिद्धान्त की और भी महत्ता तथा उपादेयता प्रतिष्ठापित होती है। सामान्य की परिभाषा करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—"सामान्यमेकत्वकरम्" तथा "तुल्यार्थता हि सामान्यम्" च० सू० १/४५ अर्थात् एकत्व (एक समान) भाव को उत्पन्न करने वाला तथा समान गुण-धर्म वाला सामान्य होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—"नित्यत्वे सति समानगुणवृत्तित्वम् अनेक समवेतत्वं सामान्यम्" अर्थात् नित्य भाव से रहने वाला, समान गुण-धर्म वाला तथा अनेकों में समवेत रूप में रहने वाला सामान्य होता है। यथा—गौओं में गोत्ववृत्ति समान रूप से रहती है, अश्वों में अश्वत्व वृत्ति समान रूप से रहती है अतः यह वृत्ति-सादृश्य ही जो समान गुण-धर्म वाले अनेक वस्तुओं में होता है सामान्य पद से अभिहित किया जाता है।

सामान्य (समानता) तीन प्रकार का होता है —(१) द्रव्य-सामान्य, (२) गुण-सामान्य और (३) कर्म-सामान्य ।

द्रव्यसामान्य से अभिप्राय है द्रव्य के सदृश समानता यथा—मांस की समानता मांस से है। आचार्य चरक ने द्रव्य-सामान्य की निम्नोक्त परिभाषा की है :—

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।" च० सू० १/४४.

अर्थात् सभी भावों के समान भाव वृद्धि के कारण होते हैं। यहाँ समान भाव से वृद्धि का कारण तत्सदृश भाव या द्रव्य ही है। जैसे-४ गौओं में २ गौ मिला देने से गौओं की संख्या वृद्धि होकर ६ हो जाती है।

गुण-सामान्य : गुण-सामान्य से अभिप्राय है गुणों में समानता, यथा—दूध और शुक्र (धातु) भिन्न-भिन्न जाति के होते हुए भी दोनों में मधुरादि गुणों की समानता के कारण दुग्ध सेवन से शुक्र की वृद्धि होती है। इस प्रकार की वृद्धि का कारण गुण-सामान्य होता है। गुण-सामान्य का संकेत आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण से किया है। "सामान्यमेकत्वकरम्"। च० सू० १/४५., अर्थात् गुण-सादृश्य से जो एकत्व बुद्धि उत्पन्न करे वह गुण-सामान्य है। गुण-सामान्य तत्तद् द्रव्यों के गुणों के समान होने से वृद्धि का कारण होता है।

कर्म-सामान्य :– तत्तद् दोषों के स्वरूप के अनुरूप समान कर्म होने से जो सामान्य लक्षण प्राप्त होता है उसे कर्म-सामान्य कहते हैं, जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है।—"तुल्यार्थता हि सामान्यम्" च० सू० १/४५. अर्थात् समान द्रव्यों में द्रव्यों के कर्म के सदृश क्रियाकारित्व वाले कर्मों से जो सामान्य लक्षण की उत्पत्ति होती है वह कर्म-सामान्य होता है। यथा —आस्यारूप (सुखपूर्वक आराम करना) कर्म कफदोष के समान नहीं है। तथापि आराम से सुखपूर्वक अन्नपानादि का सेवन कफ के क्रियाकारित्व लक्षण के अनुरूप होने से कफ दोष की वृद्धि होती है। अतः कर्म-सामान्य भी सामान्य लक्षण होने से तत्तद् द्रव्यों में वृद्धि का कारण होता है।

कुछ आचार्यों ने अत्यन्त सामान्य, मध्य-सामान्य तथा एकदेश सामान्य, इस प्रकार सामान्य का भेद किया है। आचार्य चरकोक्त सामान्य के लक्षणों में "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" इस उद्धरण से अत्यन्त सामान्य का ग्रहण किया जाता है। "सामान्यमेकत्वकरम्" इस लक्षण से मध्य-सामान्य का निर्देश होता है तथा "तुल्यार्थता हि सामान्यम्" इस सामान्य लक्षण से एकदेश सामान्य का ग्रहण किया जाता है। कोई आचार्य उभयवृत्ति तथा एकवृत्ति भेद से दो प्रकार के सामान्य मानते हैं। उभयवृत्ति सामान्य वह है जो कि पोष्य-पोषक भाव से वृद्धि का कारण होता है। यथा—मांस, मांस का वर्धक उभयवृद्धि सामान्य से होता है। एकवृत्ति सामान्य वह है जो कि अपने प्रभाव

से आंशिक वृद्धि का कारण होता है। यथा—घृत अग्निवर्धक, धावन, वेग, विधारण आदि कर्म वातवर्धक, आस्य कर्म (आराम से रहना), अत्यधिक सोना आदि कर्म कफवर्धक होते हैं। ये सभी वर्धनीय द्रव्यों के प्रति सर्वतोभावेन समान नहीं होते किन्तु अपने प्रभाव से वृद्धि के कारण होते हैं। सामान्य के विपरीत विशेष होता है। सामान्य जहाँ कि वृद्धि का कारण होता है ठीक इसके विपरीत विशेष ह्रास (क्षय) का कारण होता है। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ च० सू० १/४९.

अर्थात् सामान्य (समानता) सर्वदा ही सब भावों के वृद्धि में कारण होता है। उसी प्रकार विशेष (पृथक्ता) ह्रास या अपचय का कारण होता है। सामान्य और विशेष की यह प्रवृत्ति (कार्य) शरीर के सम्बन्ध से होती है। शरीर से असम्बद्ध होने पर सामान्य-विशेष वृद्धि या ह्रास के कारण नहीं होते। सामान्य-विशेष की यह प्रवृत्ति यदि उचित होती है तो वह धातुसाम्य को यथावत् रखती है। यदि केवल सामान्य का ही सेवन किया जाय तो धातु की वृद्धि होने से धातुवैषम्य हो जाता है जो कि रोग का कारण होता है। उसी प्रकार यदि केवल विशेष (असमान) का उपयोग किया जाता है तो धातुक्षय से भी धातुवैषम्य हो जाता है जो कि पुनः रोग का कारण होता है। जिस प्रकार सामान्य तीन प्रकार का होता है उसी प्रकार विशेष भी। यथा—(१) द्रव्यविशेष, (२) गुणविशेष तथा (३) कर्मविशेष। इन तीनों प्रकार के विशेषों का संकेत आचार्य चरक ने विशेष का लक्षण करते हुए प्रस्तुत किया है।

द्रव्य-विशेष का लक्षण :—"ह्रासहेतुर्विशेषश्च" अर्थात् विशेष ह्रास (अपचय) का कारण इस वचन से किया है। जैसे कि गवेधुक (तृणविशेष) मांस के प्रति विशेष है अतः इससे मांस का अपचय होता है। मांस में गवेधुकत्व नहीं होता अतः गवेधुक मांस के लिए असमान या विशेष होता है इसी कारण गवेधुक का सेवन मांस के अपचय में कारण होता है।

गुण-विशेष के लक्षण का संकेत आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से किया है— 'विशेषश्च पृथक्त्वकृत' अर्थात् पृथक्त्व भाव वाले द्रव्य गुणविशेष के कारण अपचय के हेतु होते हैं। यथा—शुण्ठी, पिप्पली आदि द्रव्य अपने उष्णगुण के कारण कफ का अपचय करते हैं। मधुर, स्निग्ध, द्रव्य वात के विरुद्ध गुण होने के कारण वात को क्षीण करते हैं।

इसी प्रकार कर्म-विशेष के लक्षण का संकेत आचार्य चरक के निम्न वचन से ज्ञात होता है—"विशेषस्तु विपर्ययः" अर्थात् विपरीत कर्म धातुविशेष या दोषविशेष के कर्म से विपरीत होने के कारण अपचय या ह्रास के कारण होते हैं। यथा—दिवास्वप्न

से बढ़े कफ का रात्रि-जागरण से क्षय होता है। रात्रि-जागरण से बढ़े वात में दिन में सोना कर्म से वात का क्षय होता है।

सामान्य के अन्य जो भेद सामान्य प्रकरण में कहे गये हैं वे सभी भेद विशेष के भी होते हैं अतः उसकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं है।

सामान्य-विशेष सिद्धान्त की उपादेयता :--आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति का स्वास्थ्य-रक्षण तथा रोगाक्रान्त का रोग-निवारण है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त शरीर में धातुसाम्य का होना आवश्यक है। क्योंकि धातुवैषम्य ही रोग का कारण है और धातुसाम्य ही आरोग्य है, जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है :--

विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च॥ च० सू० ९/४

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि धातुवैषम्य ही विकार है तथा धातुसाम्य प्राकृतावस्था, धातुसाम्य ही सुखसंज्ञक आरोग्य है तथा धातुवैषम्य विकार ही दुःख है।

आरोग्य की प्राप्ति तथा रोग से निवृत्ति के लिए सामान्य-विशेष सिद्धान्त के व्यवहार की महती अनिवार्यता है। धातुवैषम्य में किसी धातु की वृद्धि अथवा ह्रास होता है। इस दृष्टि से क्षीण धातुओं की वृद्धि के लिए सामान्य सिद्धान्त के अनुसार धातु के समान द्रव्यों, समान गुण वाले द्रव्यों तथा समान गुण-भूयिष्ठ द्रव्यों का सेवन अपेक्षित होता है। उसी प्रकार वृद्धि प्राप्त धातु को अपचित अथवा क्षीण करने के लिए विशेष सिद्धान्त का उपयोग आवश्यक है। चिकित्सा सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए आचार्य वाग्भट कहते हैं कि :—

क्षीणाः वर्धयितव्याः, वृद्धाः ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः।
— अष्टांगसंग्रह सू० २०

इस प्रकार क्षीण दोषों या धातुओं की वृद्धि के लिए तत्तद् दोष धातुओं के समान गुण-कर्म वाले द्रव्यों के सेवन से क्षीण दोष बढ़ जाते हैं। बढ़े हुए दोष व धातुओं के ह्रास के लिए तत्तद् दोष व धातु के विपरीत गुण-कर्म वाले द्रव्यों के सेवन से वृद्ध दोष धातु का अपचय हो जाता है। इसी प्रकार धातुसाम्य की अवस्था में दोष धातुओं का इस प्रकार पालन करना चाहिए कि उनकी साम्यावस्था बनी रहे। इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा होती है कि दोष धातुओं की सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुसार वृद्धि व ह्रास किस परिमाण में करना चाहिए कि स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सके। इसी जिज्ञासा को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य सुश्रुत ने निम्नोक्त उद्धरण में कहा है कि :—

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान् ।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक् ।
तावद्यावदरोगः स्यादेतद् साम्यस्य लक्षणम् ॥ सु० सू० १५/४०,

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि स्वस्थ व्यक्ति की स्वास्थ्य रक्षा एवं अस्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्यलाभ के निमित्त बुद्धिमान् चिकित्सक बढ़े हुए दोष धातु एवं मलों का ह्रास एवं क्षीण हुए दोष धातु-मलों की वृद्धि करें। यह ह्रास या वृद्धि उस अवधि तक करना चाहिए जब तक कि व्यक्ति नीरोग न हो जाये। यही दोष, धातु एवं मलों के साम्य का लक्षण है।

आचार्य चरक ने भी चिकित्सा सूत्र का उल्लेख करते हुये धातुवैषम्य स्थिति से धातुसाम्य की उपलब्धि तथा धातुसाम्य अवस्था से धातुवैषम्य की स्थिति न आने देने की क्रिया को ही चिकित्सा का मूल सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है।

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम् ॥
कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति ।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥
त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् ।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ च० सू० १६/३४–३६

उपर्युक्त उद्धरण में चिकित्सा क्रिया के मूल में सामान्य तथा विशेष सिद्धान्त का ही संकेत किया गया है। शरीर में धातुसाम्य की प्राप्ति समान द्रव्यों का सेवन करने से प्राप्त होती है, इस तथ्य से सामान्य सिद्धान्त की उपादेयता की पुष्टि होती है। उसी प्रकार विषम हेतुओं के त्याग अर्थात् विशेष सिद्धान्त के व्यवहार से धातुवैषम्य का अनुबन्ध समाप्त हो जाता है जिससे कि शरीर में धातुसाम्य की स्थिति बनी रहती है तथा व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं चिकित्सा के मूल में सामान्य-विशेष सिद्धान्त की ही मुख्य उपादेयता है। रोगोत्पत्ति में भी रोगोत्पादक कारण के समान हेतु से ही रोगोत्पत्ति होती है, अतः आयुर्वेदज्ञों ने रोगोपचार क्रम में प्रथम मुख्य कर्तव्य के रूप में निदान परिवर्जन (रोगोत्पादक हेतुओं का त्याग) प्रतिपादित किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा—"संक्षेपतः क्रियायोगो निदानं परिवर्जनम्" सामान्य सिद्धान्त की उपादेयता को दृष्टिगत रखते हुए ही उपर्युक्त चिकित्सा सूत्र को आचार्यों ने आयुर्वेद में महत्त्व दिया है। सामान्य-विशेष सिद्धान्त की आयुर्वेद में इतनी व्यापक उपादेयता है

कि यदि उस पर विचार किया जाय तो एक बृहद् कलेवर का स्वतन्त्र ग्रंथ लिपिबद्ध किया जा सकता है। किन्तु न तो लेखक का उद्देश्य उतने विस्तार में जाना है और न तो ग्रन्थ के अभिधेय की दृष्टि से ही यह उचित है। तथापि निदर्शन के रूप में संक्षेप में निम्नलिखित उपादेयताओं का उल्लेख करना अपेक्षित तथा प्रासंगिक है।

आहार विधि में सामान्य-विशेष सिद्धान्त की उपादेयता :—स्वास्थ्य तथा जीवन की रक्षा के निमित्त उचित आहार की अनिवार्यता जग-जाहिर है। आहार से ही प्राणिमात्र को पंचभूतात्मक शरीर के पोषण के लिए रस एवं ऊर्जा की प्राप्ति होती है। शरीर के सभी धातु, दोष एवं मलों की पुष्टि आहार से ही होती है। और इन सभी की उचित मात्रा में उपस्थिति ही शरीर के स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। दोष, धातु एवं मल की साम्यावस्था सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुरूप व्यवहार से ही संभव हो सकती है। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा :—

'ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तन्ते यथावयः शरीरम्। एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः। निमित्तस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां वृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यां रससाम्य मुत्पादयत्यारोग्याय, किट्टं च मलानामेवमेव स्वमानातिरिक्ताः पुनरुत्सर्गिणः शीतोष्णपर्यायगुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यन्ते। च० सू० २८/४.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के स्वस्थावस्था के लिए शरीर के सभी धातुओं (धारण करने वाले तत्त्वों), जो कि प्रसादाख्य-धातु एवं मलाख्य-धातु रूप हैं क्रमशः रस, मल से पोषित होते हुए अपने-अपने उचित परिमाण में रहते हुए व्यक्ति के वय एवं शरीर के अनुसार स्थित रहते हैं, जिससे कि वह स्वस्थ रहता है। इस प्रकार रस एवं मल के अपने-अपने उचित प्रमाण में स्थित रहने से व्यक्ति का धातुसाम्य बना रहता है। किसी कारण से क्षीण एवं वृद्ध हुए धातु तथा मल को क्रमशः आहारमूलक वृद्धि तथा क्षय से व्यक्ति के आरोग्य के लिए धातुसाम्य एवं मलसाम्य को बनाये रखना अपेक्षित है। अपने परिमाण से अधिक हुए मल का शीत-उष्ण के विपरीत क्रम से उपचार करने से अर्थात् शीत से उत्पन्न वृद्ध मल का उष्ण उपचार और उष्ण से उत्पन्न वृद्ध मल का शीत उपचार करते हुए व्यक्ति के शरीर का धातुसाम्य व्यवस्थित करने से आरोग्य बना रहता है।

उपर्युक्त प्रसंग में स्पष्ट ही आचार्य ने किसी निमित्त से उत्पन्न हुए धातु एवं मल के क्षीण एवं वृद्ध होने पर उसे वृद्धि करने तथा क्षय करने का उल्लेख कर सामान्य-विशेष सिद्धान्त की उपादेयता का संकेत किया है।

त्रिदोषसाम्य में सामान्य-विशेष सिद्धान्त :—स्वस्थ शरीर के लिए वात, पित्त एवं कफ, इन तीन दोषों का कितना महत्त्व है यह इसी तथ्य से जाना जा सकता है कि यदि ये अपने प्राकृत मान में रहें तो शरीर स्वस्थ रहता है तथा यदि इनके मान में असन्तुलन हुआ तो शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। इसी तथ्य को दृष्टिगत करके आचार्य सुश्रुत ने निम्नोक्त उद्धरण में त्रिदोष की महत्ता को प्रतिपादित किया है। यथा :—

"वातपित्तश्लेष्माण एव देवसंभवहेतवः। तैरेव अव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते आगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहु रेके। त एव व्यापन्नाः प्रलयहेतवः॥ सु० सू० २१/३.

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—वात, पित्त और श्लेष्मा, ये तीन दोष ही देह के धारण-हेतु हैं। ये ही तीनों दोष शरीर के अधोभाग स्थित (वात) मध्यभाग स्थित (पित्त) तथा ऊर्ध्वभाग स्थित (कफ) प्राकृत अवस्था में रहते हैं तो शरीर का धारण तीन स्तम्भों पर आधारित गृह के समान होता है। इसी कारण कोई आचार्य इन्हें त्रिस्थूण भी कहते हैं। यदि यही तीन दोष जब विकृत हो जाते हैं तो शरीर में नाना प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करने में हेतु हो जाते हैं। इस प्रकार हमें स्पष्ट होता है कि शरीर के स्वास्थ्य में त्रिदोष का कितना महत्त्व है।

शरीर में त्रिदोष की साम्यावस्था को बनाये रखने के लिए तथा विषमावस्था से पुनः साम्मावस्था लाने के लिए सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुसार तत्तद् दोषों के अनुरूप गुण-कर्म वाले द्रव्यों का सेवन या परित्याग आवश्यक होता है तभी दोषसाम्य बना रहता है और व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

शास्त्र में त्रिदोषप्रकोपक एवं त्रिदोषशामक गुण-कर्मों का उल्लेख मिलता है। तदनुसार दोषों की क्षीणावस्था में दोषों के समान गुण-कर्म वाले द्रव्यों का सेवन तथा दोषों के प्रकोपावस्था में तत्तद् दोषों के विपरीत गुण-कर्म वाले द्रव्यों का उपयोग एवं तत्तद् दोष के समान गुण-कर्म वाले द्रव्यों का परिवर्जन आवश्यक होता है। अतः त्रिदोष की साम्यावस्था में सामान्य-विशेष सिद्धान्त की उपादेयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

रस-दोष सम्बन्ध में सामान्य-विशेष सिद्धान्त :—त्रिदोष के प्रकोप तथा प्रशम में रसों का प्रभाव होता है। दोष प्रकृतिभूत होने पर शरीर के उपकारक होते हैं तथा विकृत होने पर शरीर को अनेक प्रकार की व्याधियों से पीड़ित करते हैं। दोषों की विकृति दो प्रकार की होती है। यथा :—

(१) दोषों का क्षीण होना तथा (२) दोषों की वृद्धि होना।

दोषों की विकृति को दूर करने में रसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रस ६ होते हैं, यथा— मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय इनमें तीन-तीन रस एक-एक दोष की वृद्धि करते हैं तथा तीन-तीन रस एक-एक दोष का शमन करते हैं।

मधुर, अम्ल और लवण रस कफ दोष को उत्पन्न करते हैं तथा ये ही रस वात दोष का शमन करते हैं। कटु, अम्ल, लवण पित्त की वृद्धि करते हैं तथा मधुर, तिक्त, कषाय पित्त का शमन करते हैं। कटु, तिक्त, कषाय रस वात की वृद्धि करते हैं तथा मधुर, अम्ल, लवण रस वात का शमन करते हैं। कटु, तिक्त, कषाय रस कफ का शमन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं रस एवं दोषों के शरीर में सम्बन्ध होने पर जो रस जिन दोषों के समान गुण वाले तथा समान गुण-भूयिष्ठ (आधिक्य) होते हैं वे सामान्य सिद्धान्त के अनुसार उन दोषों की वृद्धि करते हैं। इसके विपरीत जो रस जिस दोष के विपरीत गुण वाले तथा विपरीत गुण-भूयिष्ठ होते हैं वे विशेष सिद्धान्त के अनुसार उन दोषों का शमन करते हैं। सामान्य-विशेष सिद्धान्त की इस प्रकार की व्यवस्था के निमित्त ही आयुर्वेद में पृथक्-पृथक् ६ रसों तथा तीन दोषों के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गई हैं। उपर्युक्त तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में कहा है कि— यथा :—

रसदोषसन्निपाते तु ये रसा दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणाः विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति। एतद्व्यवस्था हेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम्।

च० वि० १/७

आचार्य चरक के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि जो रस जिस दोष के समान गुण वाले होते हैं वे सामान्य सिद्धान्त के अनुसार ही उस दोष-विशेष को बढ़ाते हैं तथा जो रस जिस दोष के विपरीत गुण वाले होते हैं वे विशेष सिद्धान्त के अनुसार ही उस दोष-विशेष का ह्रास (अपचय) करते हैं।

उपर्युक्त तथ्य के आलोक में अब हम यह विचार करेंगे कि रसों के किन-किन समान गुणों से दोषों की वृद्धि होती है तथा रसों के किन-किन विपरीत गुणों से दोषों का ह्रास होता है। आचार्य चरक ने वात के निम्नोक्त गुणों का उल्लेख किया है। यथा :—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मः चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति॥ च० सू० १/५९.

रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद एवं खर ये वात के गुण हैं। कटु, तिक्त एवं

कषाय रस वात के उपर्युक्त गुण के समान हैं, अतः इन रसों के सेवन से वात दोष की वृद्धि होगी। मधुर, अम्ल एवं लवण रस वात दोष के गुण से विपरीत होने से प्रकुपित वात के शामक होते हैं। पित्त के निम्नोक्त लक्षण होते हैं जैसा कि उद्धरण से ज्ञात होता है। यथा :—

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ च० सू० १/६०

स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर एवं कटु ये पित्त के गुण हैं। कटु, अम्ल और लवण रस उपर्युक्त गुणों के समान होने से इनका सेवन पित्त की वृद्धि करता है। मधुर, तिक्त एवं कषाय रस पित्त के गुणों से विपरीत है अतः इनका सेवन पित्त दोष का ह्रास या शमन करता है।

इसी प्रकार गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर एवं पिच्छिल गुण कफ के हैं, इन गुण वाले द्रव्यों के सेवन से श्लेष्मा की वृद्धि होती है। मधुर, अम्ल तथा लवण रस भी कफ के समान होने से इसके वृद्धि के कारण होते हैं। इसके विपरीत कटु, तिक्त और कषाय रस से कफ का ह्रास (अपचय) होता है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा :—

गुरु-शीत-मृदु-स्निग्ध-मधुर-स्थिर-पिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ च० सू० १/६१

इस प्रकार हम देखते हैं समान गुण वाले रसों से वात, पित्त एवं कफ इन त्रिदोषों को वृद्धि होती है तथा इसके विपरीत गुण वाले रसों से इनका अपचय होता है। इस प्रकार सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुसार रसों के उपयोग से त्रिदोष की वृद्धि एवं ह्रास होता है। जिस प्रकार शरीर में दोषसाम्य के निमित्त सामान्य-विशेष सिद्धान्त की उपयोगिता है उसी प्रकार स्वास्थ्य के लिए धातु (रसरक्तादि सात धातु) एवं मल (पुरीष, मूत्र, स्वेद आदि) के साम्यावस्था को बनाये रखने के लिए भी सामान्य-विशेष सिद्धान्त की उपादेयता अनिवार्य तथा अपेक्षित है। दोष, धातु एवं मल तीनों की साम्यावस्था शरीर के लिए आवश्यक है, क्योंकि ये ही शरीर के मलाधार हैं, जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा :—

"दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्। सु० सू०१५/३.

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि शरीर के मूलाधार दोष, धातु एवं मल हैं। अतः इनकी साम्यावस्था के लिए सामान्य-विशेष सिद्धान्तानुसार व्यवहार आवश्यक है।

इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य सुश्रुत ने निम्न उद्धरण में बढ़े हुए दोष, धातु एवं मल के ह्रास एवं इनके क्षीणावस्था में बृंहण का विधान निर्दिष्ट किया है। यथा :--

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य च बुद्धिमान्।
क्षययेद् बृंहयेच्चापि दोषधातु मलान् भिषक्॥
तावद्यावदरोगः स्यान्नरो रोगसमन्वितः॥ सु० सू० १५/४७.

उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट ही "क्षययेत्, (अपचय करे) तथा "बृंहयेत्" (बढ़ाये), इस उल्लेख से सामान्य-विशेष सिद्धान्त की उपादेयता ही परिलक्षित होती है।

आमदोष के सन्दर्भ में सामान्य-विशेष सिद्धान्त :—रोगों की उत्पत्ति में आमदोष की भी प्रधानता होती है। अनेक रोग आमदोषजनित होते हैं। आमदोष को आधार बनाकर त्रिदोष भी अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। अतः स्वास्थ्यरक्षा एवं रोगापनयन की दृष्टि से आमदोष का पचन-शमन आवश्यक है। आमदोष को परिभाषित करते हुए आचार्य वाग्भट कहते हैं। यथा :—

उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥ अ० हृ० सू० १३/२५.

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि जाठराग्नि की मंदता (अल्पक्रियाशीलता) से जो आहार रस अपचित होता है, आमाशयगत वही दूषित रस आम कहा जाता है। तदनन्तर वही आमदोष त्रिदोष के प्रभाव से दूष्यों (सप्तधातुओं) को दूषित करके अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। आमदोष की निवृत्ति के लिए दो क्रिया करनी पड़ती है। प्रथम जाठराग्नि की क्रियाशीलता बढ़ाना तथा द्वितीय आमदोष का पाचन। जाठराग्नि के बढ़ाने के लिए अग्नि के समान गुण वाले पदार्थों का उपयोग करने से अग्नि की वृद्धि होती है। इस कार्य में सामान्य सिद्धान्त की उपादेयता है। आम पाचन के लिए आम से विपरीत गुण वाले द्रव्यों का सेवन अपेक्षित होता है। इसमें विशेष सिद्धान्त के अनुसार कार्य आवश्यक है। अतः आमदोष की निवृत्ति में भी सामान्य-विशेष सिद्धान्त की प्रधान भूमिका होती है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाय तो सामान्य-विशेष सिद्धांत की उपादेयता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरणस्वरूप कुछेक तथ्यों को प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में बहुत से रोग शरीर के लिए आवश्यक तत्त्वों के अभाव से उत्पन्न होते हैं जिन्हें डेफिसियेन्सी डिजीजेज (अभावजन्य रोग) की श्रेणी में परि-गणित किया जाता है। यथा—स्कर्वी रोग विटामिन सी की कमी से, बेरी-बेरी विटा-

मिन बी की कमी से, रिकेट्स विटामिन डी की कमी से होते हैं। इसी प्रकार अनेक रोग शरीर के लिए उपादेय तत्त्वों की कमी से होते हैं।

इस प्रकार के रोगों का उपचार जिन-जिन तत्त्वों की कमी से ये रोग होते हैं उन्हीं के सेवन से किया जाता है। इस प्रकार का उपचार पूर्णतः सामान्य सिद्धान्त के अनुसार ही किया जाता है, भले ही आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विशेषज्ञ आयुर्वेद के सामान्य सिद्धान्त से अपरिचित हों।

इसी प्रकार बहुत-से रोग ऐसे होते हैं जो कि शरीर में आहार द्रव्यों के अत्यधिक सेवन से अथवा शरीरगत विकृतियों के परिणामस्वरूप हो जाते हैं, जिन्हें संतर्पणजन्य व्याधि की श्रेणी में रखा जाता है। ऐसी व्याधियाँ हैं—प्रमेह, मेदोरोग, मेदोरोगजन्य हृद्रोग, मेदोरोगजन्य रक्तचाप आदि। इन रोगों में बढ़े हुए धातुओं के अपकर्षण के लिए तत्तद् कारणभूत पदार्थों का त्याग तथा उनके ह्रास के लिए औषधियों का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार का उपचार पूर्णतः आयुर्वेद के विशेष सिद्धान्त पर आधारित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति के स्वास्थ्यरक्षा तथा रोगोपचार में सामान्य, विशेष सिद्धान्त की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपादेयता है।

(३) त्रिदण्ड सिद्धान्त :—सत्त्व, आत्मा तथा शरीर ये तीन जीवन के त्रिपाद के सदृश आधार हैं। ससार के प्राणिमात्र की जीवनस्थिति इन्हीं पर आधारित है। इनमें एक की भी न्यूनता से जीवन नहीं रह सकता। इन्हीं के संयोग से प्राणी का जीवन-धारण एवं सभी सांसारिक कार्यों का प्रतिपादन होता है। इन्हीं त्रिदण्ड के समष्टि रूप को पुरुष या चेतन कहते हैं। यही आयुर्वेद का आधार है तथा इसी को लक्ष्य करके आयुर्वेद को प्रकाशित किया गया है। उपर्युक्त तथ्यों को आचार्य चरक ने निम्न उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा :—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः॥ च० सू० १/४६–४७

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि स्वस्थ जीवन के लिए स्वस्थ मन, स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ आत्मा (शुद्ध बुद्धि तथा अहंकार) आवश्यक हैं। जीवन के लिए जिस प्रकार स्वस्थ शरीर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार स्वस्थ मन एवं स्वस्थ बुद्धि,

"तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्"
च० सू० ८/१७

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि मन एवं बुद्धि को यथोचित कर्तव्य में प्रेरित करने के लिए तथा आत्महित की इच्छा से सद्वृत्तों को सम्यक् प्रकार से स्मृति में रखकर सभी के द्वारा सर्वदा सभी सद्वृत्तों का पालन करना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरण से पुष्ट होता है कि आचार्य ने मुख्यतः मन एवं बुद्धि की प्रधानता को लक्ष्य करके ही त्रिदण्ड सिद्धान्त में शरीर, मन एवं आत्मा का उल्लेख किया है। क्योंकि आयुर्वेद का आधारभूत तथा प्रयोजनमूलक अभीष्ट त्रिदण्ड ही है जिसे लक्ष्य करके समस्त आयुर्वेद वाङ्मय का उपदेश (व्याख्यान) किया गया है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेख्य है कि आचार्य ने आयु के लक्षण प्रसंग में भी—

"शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगोधारिजीवितम्"

ऐसा उल्लेख किया है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, सत्व (मन) एवं आत्मा का संयोग ही जीवन है। आयु (जीवन) के प्रसंग में ही सभी प्राणधारक तत्वों का उल्लेख करने के पश्चात् भी आचार्य त्रिदण्ड सिद्धान्त में पुनः शरीर, सत्त्व तथा आत्मा का उल्लेख करते हैं तो इसमें अवश्य ही उनका विशेष अभिप्राय है। इसी तथ्य को आचार्य चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में निम्नोक्त प्रकार से प्रतिपादित किया है। यथा :—

"पूर्वं शरीरेत्यादिनाऽऽयुरुक्तं, सत्त्वमात्मेत्यादिनातु
तन्त्राधिकरणभूत पुरुष उच्यत इति न पौनरुक्त्यम्।
अत्र चात्मग्रहणेन बुद्ध्यहंकारादीनां ग्रहणम्, शरीर
ग्रहणेनेन्द्रियाणामर्थानां च शरीर संबद्धानां ग्रहणं व्याख्येयम्।"

—चक्रपाणि

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य चक्रपाणि ने आयु-प्रसंग में उल्लिखित शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा का आचार्य द्वारा उल्लेख सामान्य रूप से जीवन के घटकों के सम्बन्ध में निर्देशित करना है, ऐसा प्रतिपादित किया है। त्रिदण्ड के रूप में सत्त्व, आत्मा एवं शरीर का उल्लेख आयुर्वेदाधिकृत पुरुष को निर्देशित करना है। अतः इस प्रकार का उल्लेख पुनरुक्ति दोष नहीं है। त्रिदण्डात्मक पुरुष में आत्मा का उल्लेख बुद्धि, अहंकार आदि के ग्रहण के लिए किया गया है तथा शरीर से इन्द्रियों तथा उनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का ग्रहण अपेक्षित है।

त्रिदण्ड सिद्धान्त की उपादेयता

जैसा कि उपर्युक्त अवतरणों में उल्लेख किया गया है कि त्रिदण्डात्मक पुरुष ही आयुर्वेद का अधिकरण है तथा इसी को लक्ष्य करके आयुर्वेद का विस्तृत व्याख्यान किया गया है। अतः यह तथ्य सहज ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि आयुर्वेद का क्षेत्र केवल शरीर के स्वास्थ्य रक्षा तथा इसके रोगों के उपचार तक ही सीमित नहीं है अपितु मन, बुद्धि एवं अहंकार आदि की स्वस्थावस्था तथा तद्गत काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, मोह आदि मानसिक व्याधियों को भी दूर करना है। क्योंकि शरीर को स्वस्थ रहने के लिए मन, बुद्धि का भी स्वस्थ रहना अपेक्षित है। इसी तथ्य को दृष्टिगत करके आचार्य सुश्रुत ने स्वस्थ पुरुष की परिभाषा में इन सभी तत्वों का भी समावेश किया है। जैसाकि निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है :—

समदोषः समाग्निश्च समधातु मल क्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः स्वस्थइत्यभिधीयते ॥

सु० सू० १५/४५

उपर्युक्त उद्धरण में शारीरिक दोष, धातु, अग्नि एवं मल की साम्यावस्था तथा इनकी क्रियाओं का सम्यक् प्रवर्तन के साथ ही आत्मा, इन्द्रिय तथा मन की प्रसन्नता अर्थात् इनकी स्वस्थता का भी स्वस्थ व्यक्ति के लिए होना आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि मन एवं बुद्धि के स्वस्थ रहने पर ही व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। इसी तथ्य की महत्ता बतलाने के लिए आचार्य चरक ने त्रिदण्ड सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जैसे कि शारीरिक दोष वात, पित्त एवं कफ होते हैं उसी प्रकार मानसिक दोष रज और तम होते हैं। शारीरिक एवं मानसिक दोषों दोनों के ही प्रकोपक कारण असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम हैं। स्वस्थ रहने के लिए जिस प्रकार शरीरिक दोषों का साम्य आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक दोषों का भी महत्त्व है। शारीरिक विकार एवं मानसिक विकारों में पारस्परिक सम्बन्ध है जिससे कि दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा :—

"ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः।
कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयोज्वरादयश्च। च० वि० ६/८

शरीर एवं मन का अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। इसी सम्बन्ध के महत्व तथा तदनुसार स्वस्थ रहने के लिए प्रयासरत रहने के निमित्त त्रिदण्ड सिद्धान्त की महती उपादेयता है।

नवद्रव्यवाद :—संसार में चेतन अचेतन असंख्य पदार्थ हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती। किन्तु इन असंख्य पदार्थों के कारणभूतद्रव्यों पर यदि विचार किया जाय

तो इनकी संख्या सीमित हो सकती है तथा असंख्य वस्तुओं को भी एक निश्चित वर्ग विशेष में परिगणित किया जा सकता है। पदार्थों को निश्चित वर्ग में वर्गीकृत कर देने से तत्तद् वर्ग विशेष के गुण धर्मों की जानकारी प्राप्त हो जाती है जो कि सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए सुगम हो जाता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत कर प्राचीन ऋषियों ने ससार की असंख्य वस्तुओं को जो कि कार्य द्रव्य अथवा स्थूल स्वरूप होने के कारण अनन्त स्वरूप तथा अनन्त नाम वाले हैं। उनके कारणभूत तत्वों का अन्वेषण कर उन्हें उनके गुणधर्मों के आधार पर कुछ वर्गों में वर्गीकृत कर दिये हैं जिससे कि कम-से-कम वर्ग के रूप में उन अनन्त नाम-रूप वाले पदार्थों की जानकारी जनसाधारण को प्राप्त हो सके तथा तदनुसार उसके व्यवहार से लाभान्वित हो सकें।

विश्व के अनन्त नाम-रूपात्मक वस्तुओं को प्राचीन तत्वद्रष्टाओं ने नौ वर्गों में वर्गीकृत किया है। ये नौ कारण-द्रव्य ही जगत् के समस्त पदार्थों के कारण हैं अतः इन्हें कारण द्रव्य कहते हैं तथा इनसे उत्पन्न होने वाले अनन्त पदार्थों को कार्य-द्रव्य से अभिहित किया जाता है।

द्रव्य की परिभाषा :—द्रव्यों को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि :—

"यत्राश्रिताः कर्म गुणाः कारणं समवायियत् ।
तद् द्रव्यम्"................ । च० सू० १/५१.

अर्थात् जिसमें कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध से (अपृथक्भाव) आश्रित रहते हैं उन्हें द्रव्य कहते हैं। आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में नौ कारण द्रव्यों का उल्लेख किया है। यथा :—

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम् ।। च० सू० १/४८

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि खादि अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आत्मा, मन, काल एवं दिशा ये नौ कारण द्रव्यों के संग्रह हैं। इन्हीं से संसार के समस्त चेतन अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। इन्द्रिय (ज्ञानसाधन के कारण) होने से चेतन द्रव्य होते हैं तथा निरिन्द्रिय होने से अचेतन द्रव्य होते हैं।

उपर्युक्त नौ कारण द्रव्यों में कुछ तो उपादान कारण (आधारभूत) होते हैं, कुछ चेतन तत्व के कारण हैं तथा कुछ निमित्त कारण होते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी ये पांच कारण द्रव्य जिन्हें पंचभूत कहते हैं सभी कार्यद्रव्यों चेतन अचेतन के उपादानभूत होते हैं। अर्थात् इन्हीं मूल कारणों के पंचभूतात्मक स्थूल रूप तत्वों से उत्पन्न होते हैं। कोई भी वस्तु चेतन या अचेतन यद्यपि पंचभूतात्मक ही होते हैं तथापि किन्हीं

में किसी एक भूत (कारण द्रव्य) विशेष की अधिकता होती है इसी कारण भूत विशेष के अनुसार उनका आकाशीय, वायव्य, आग्नेय, जलीय या पार्थिव नाम से वर्गीकरण किया जाता है।

पंचभूतों के अतिरिक्त शेष चार कारण द्रव्यों में आत्मा तथा मन ये दो चेतनतत्व के आधार हैं अतः इसकी अभिव्यक्ति केवल सेन्द्रिय (ज्ञान साधन के कारणों वाले) वस्तुओं (प्राणियों) में होती है। शेष दो कारण द्रव्य काल एवं दिशा सभी चेतन एवं अचेतन वस्तुओं को व्याप्त करके स्थित रहते हैं और सभी वस्तुओं के निमित्त कारण होते हैं। कारण द्रव्यों के अनुरूप ही कार्य द्रव्यों में गुणधर्म होते हैं।

पंचभूतों के गुणों का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा :—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥

च० शा० १/२७–२८.

आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी भूत के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये नैसर्गिक गुण होते हैं। आकाश में केवल एक गुण शब्द होता है। वायु में दो गुण शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप ये तीन गुण, जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस ये चार गुण तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच गुण होते हैं। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व भूतों के गुण क्रमशः उत्तर २ भूतों में बढ़ते जाते हैं। इन पंचभूतों के कुछ असाधारण लक्षण होते हैं जिनसे इनका ज्ञान होता है। ये असाधारण लक्षण आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से ज्ञात होते हैं। यथा :—

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥
लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः॥

च० शा० १/२९–३०

खर, द्रव, चल, उष्ण एवं अप्रतिघात (अस्पर्शत्व) क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश के असाधारण लक्षण हैं। ये सभी लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। जो इन्द्रिय जिस विषय को ग्रहण करती है वह उस विषय के अभाव का भी ग्रहण करती है।

इन पंचभूतों के सम्बन्ध में हम पंचभूतवाद प्रसंग में विशद विचार करेंगे अतः इस प्रसंग में उपर्युक्त विचार ही यथेष्ट है।

आत्मा :—नौ द्रव्यों में आत्मा भी परिगणित किया गया है। केवल आत्मा ही नौ द्रव्यों में चेतनावान है अन्य सभी आठ द्रव्य अचेतन हैं। आत्मा के संयोग से ही मन, इन्द्रिय, शरीर आदि चेतन होते हैं। स्वयं आत्मा निर्विकार होता है। विकार का आश्रय शरीर तथा मन है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण से प्रतिपादित किया है। यथा—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥

च० सू० १/५६

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आत्मा निर्विकार अर्थात् निरोग होता है। रोग के आश्रय शरीर एवं मन होते हैं। आत्मा इतना सूक्ष्म होता है कि उसे बाह्येन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। मन, पंचभूतों के शब्दादि गुण तथा श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों के सान्निध्य से ही आत्मा चैतन्य में कारण होता है—अर्थात् शरीर को चैतन्य प्रदान करता है। यह आत्मा नित्य होता है अर्थात् न इसकी उत्पत्ति होती है और न विनाश। मनुष्य के शरीर में यह साक्षी के रूप में समस्त क्रियाओं को देखता है। आत्मा के परत्व गुण की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि कहते हैं कि—

"पर इति सूक्ष्मः श्रेष्ठोवा, तेन तत्व
शरीरात्ममेलक रूपो य आत्म
शब्देनोच्यते तं व्यावर्तयति, यदुक्तम्
संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः" च० शा० १/८५

संयोगेऽपि चात्मादीनां मनस्येव वेदना भवति
सतुमनः संयुक्ते आत्मन्यपि संबद्धा इत्युच्यते"। —**चक्रपाणि**

अर्थात् यहाँ पर जो आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है वह त्रिदण्ड में आए हुए सत्व, आत्मा एवं शरीर के मेलक रूप आत्मा से भिन्न है। अतः वह पर सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ है। आचार्य ने अन्यत्र जो आत्मा को वेदनाकृत अर्थात् सुख-दुख के ज्ञान को जानने वाला कहा है वह भी आत्मा के मन एवं शरीर से संबद्ध रहने पर ही होता है। क्योंकि सुख-दुःख रूपी वेदना (ज्ञान) मन में ही होता है और मन आत्मा से जुड़ा रहता है अतः संयोगयुक्त आत्मा में ही सुख-दुःख की अनुभूति होती है न कि निर्विकार आत्मा में। स्वतन्त्र रूप में आत्मा निर्विकार ही होता है। आत्मा के सम्बन्ध में विशेष विवरण आत्मा से सम्बन्धित प्रकरण में करेंगे।

मन या मानस :—मनुष्य को जो विविध प्रकार के ज्ञान होते हैं उसका प्रधान कारण मन ही है। मन का निरुक्तिपरक अर्थ "मन्यते ज्ञायते अनेन इति मनस्" जिससे मनन अथवा ज्ञान प्राप्त हो वह मन है। आयुर्वेद मन को भौतिक मानता है किन्तु सांख्य दर्शन के अनुसार मन आहंकारिक है अर्थात् अहंकार से उत्पन्न होता है। द्रव्यों के प्रसंग में मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है क्योंकि आयुर्वेद के आचार्यों ने मन के गुण एवं कर्मों का पृथक् उल्लेख किया है। चूंकि गुण एवं कर्म किसी द्रव्य के ही आश्रयभूत होकर रहते हैं, अतः मन द्रव्य है। इसी कारण मन को द्रव्य में परिगणित किया गया है।

मन के लक्षण, गुण व कर्म का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नोक्त श्लोकों में किया है। यथा—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ॥
चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च, ततः परंबुद्धिः प्रवर्तते॥
च० शा० १/१८-२१

उपर्युक्त उद्धरण से तात्पर्य है कि ज्ञान का न होना अथवा होना यह मन का लक्षण है। अर्थात् ज्ञान का होना (ज्ञान भाव) अथवा ज्ञान का न होना (ज्ञानाभाव) ये दोनों ही मन के द्वारा ही बोध्य हैं। ज्ञान की उपलब्धि मन, आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय इन सभी के संयोग से होती है। यदि मन का पूर्वोक्त ज्ञान के घटकों से संयोग नहीं होता हो तो ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। इन्द्रियों से मन का सबंध नहीं होने पर बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं होता तथा सम्बन्ध होने पर ज्ञान होता है। एक ही काल में अनेक इन्द्रियों के विषयों का मन द्वारा ज्ञान नहीं होता। अतः मन आत्मा की तरह व्यापक न होकर अणु परिमाण वाला है तथा एक काल में इसे एक ही इन्द्रियार्थ का ज्ञान होता है। इससे मन एक ही है। अणुत्व और एकत्व ये दो मन के गुण हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार मन का लक्षण है युगपत (एक साथ) ज्ञान का न होना जैसा कि निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है। यथा—

"प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्" वै० द० ३/२.

अर्थात् चेष्टाओं के एक साथ न होने से तथा ज्ञान का एक साथ न होने से मन एक है।

मन के विषय :—चिन्त्य (चिन्ता करने योग्य), विचार्य (विचार करने योग्य), उह्य (तर्क करने योग्य), ध्येय (ध्यान करने योग्य), संकल्प्य (निश्चय करने योग्य) तथा मन से जो भी जानने योग्य है वे सभी मन के विषय है।

मन के कर्म :—इन्द्रियों को नियन्त्रित करना, स्वयं मन को नियन्त्रित करना, तर्क करना, किसी विषय पर विचार करना, तत्पश्चात् किसी निश्चयात्मक ज्ञान के प्रति बुद्धि प्रवृत्त होती है। मन के विषय में विशेष विचार आगे पंचपंचक प्रकरण में किया जायेगा।

काल :—ससार की सभी क्रियायें काल के सान्निध्य में ही होती हैं। संसार की कोई भी चेतन अचेतन वस्तु काल-निरपेक्ष नहीं हो सकती। काल के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि :—

"कालो हि नाम (भगवान्) स्वयम्भुरनादि मध्यनिधनः।
अत्र रस व्यापत् संपत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते" ॥

सु० सू० ६।३

काल ही भगवान स्वयम्भु हैं जिनका आदि मध्य अथवा अन्त नहीं होता अर्थात् जो सतत शाश्वत नित्य है। इस काल के ही अधीन रस की विपन्नता (विकृति) तथा सम्पत्ति (सम्पन्नता) होती है। मनुष्यों का जीवन-मरण भी काल के ही अधीन है।

काल की निरुक्ति करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि :—

'स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः,
संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः।" सु० सू० ६।३

अर्थात् काल सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल के अंश को भी गतिशीलता के कारण नहीं छोड़ता अतः इसे काल कहते हैं। संसार के समस्त पदार्थों को संहरण (एकत्र) करके एक समूह में कर देता है अतः काल है। संसार के समस्त जड़-चेतन पदार्थों को मृत्यु को प्राप्त कराता है अतः काल है। सभी वस्तुओं को संक्षिप्त करता है अर्थात् वृद्धि से नाश की ओर अग्रसर करता है अतः काल है। सभी प्राणियों को सुख-दुःख से युक्त करता है अतः काल है।

उपर्युक्त लक्षणवाला काल अपने संवत्सर कलेवर वाला भगवान् भास्कर के गति विशेष से निमेष, काष्ठा, कला, मूहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, युग क्रम से अपना अनेक विभाग करता है। वास्तविक में यह काल का विभाजन नहीं है यह उपाधि-

रूप अर्थात् व्यवहार के लिए कल्पित विभाजन है। जैसे कि आकाश सर्वव्यापक है किन्तु उपाधि वश इसे घटाकाश, मठाकाश आदि विविध उपाधियों से अभिहित किया जाता है उसी प्रकार काल का उपर्युक्त विभाजन व्यवहारार्थ सोपाधिक है।

आचार्य चरक ने भी काल का प्रतिपादन करते हुए निम्नोक्त तथ्यों का उल्लेख किया है। यथा :—

"शीतोष्ण वर्ष लक्षणाः पुनर्हेमन्त, ग्रीष्म वर्षाः संवत्सरः स कालः।"

च० सू० ११/४२

अर्थात् शीत, उष्ण एवं वर्षा के लक्षणवाला तथा पुनः हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद आदि षडऋतु स्वरूप वाला जो संवत्सर होता है वही काल है।

दिशा :—इससे वह दूर है या समीप है, अथवा इससे वह पूर्व या पश्चिम है आदि दिशा का निर्देश जिससे हो वह द्रव्य दिशा है। कौन पास है या दूर है। कौन नीचे है या ऊपर है आदि बोधक वृत्ति जिसके माध्यम से होती है वही दिशा है। इसी दिशा से ही देश की स्थिति होती है। "दिशायां भवति इति देशः" दिशा में स्थित होने से देश की अभिव्यक्ति होती है।

वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद ने दिशा की निम्नोक्त परिभाषा किया है।

"इत इदमिति यतस्तद्दिश्य लिंगम्"   वैशे० सू० २/२।१०

उपर्युक्त सूत्र का तात्पर्य यह है कि–इधर से यहाँ से यह है इस प्रकार का व्यवहार जिस निमित्त से होता है वह दिक् (दिशा) का लिंग (द्योतक) लक्षण है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने दिक् की व्याख्या करते हुए लिखा है कि--

'दिक् पूर्व परादि प्रत्यय लिंगा। मूर्त द्रव्यमवधिम् कृत्वा मूर्तेष्वेव पश्चिमेनोत्तरेण पूर्व दक्षिणेन दक्षिणापरेण अपरोत्तरेण उत्तरपूर्वेण मधस्तादुपरिष्टाच्चेति दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्य निमित्ता सम्भवात्। दिग्लिंगाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपि दिशः परममहर्षिभिः श्रुतिस्मृति लोक संव्यवहारार्थं मेरुम् प्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्यें संयोग विशेषा लोकपाल परिगृहीतदिक् प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादि-भेदेन दशदिशः सिद्धाः।   प्रशस्तपादभाष्यम् (दिकप्रकरणम्)

आचार्य प्रशस्तपाद के उपर्युक्त उद्धरण का आशय यह है कि–यह किसी से पास है या दूर है इस प्रकार की प्रतीति जिस निमित्त से हो वह दिक् (दिशा) है। किसी मूर्त द्रव्य की सीमा में रखकर अर्थात् उसे लक्ष्यकर किसी दूसरे मूर्तद्रव्यों में इससे यह पूर्व है, दक्षिणं है, पश्चिम है, उत्तर है, दक्षिण-पूर्व है, दक्षिण-पश्चिम है, उत्तर-पश्चिम है

तथा उत्तर-पूर्व है, ऊपर है, नीचे है इस प्रकार दसो दिशा को प्रतीति, जिस निमित्त से इस प्रकार की प्रतीति सम्भव है वह दिक् है। दिक् लिंग से द्योतित दिशा यद्यपि पूर्णतः एक ही है तथापि श्रेष्ठ महर्षियों के द्वारा श्रुति, स्मृति तथा लोक के सम्यक् व्यवहार के लिए सुमेरू पर्वत की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते हुए भगवान भास्कर के दिशाविशेष में स्थित लोकपालों के संयोगविशेष से युक्त दिशा विशेष को पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण दिशा आदि का दसो दिशा का अन्वर्थक (यथोचित क्रम प्राप्त) नाम दिया जाता है, यह तथ्य सर्वतः सिद्ध है। इस प्रकार नवद्रव्यों के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय के पश्चात् अब हम नवद्रव्यवाद सिद्धान्त की उपादेयता पर विचार करेंगे।

नवद्रव्यवाद सिद्धान्त की उपादेयता

सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उपादेयता यह है कि--आयुर्वेद से सम्बद्ध लोगों को संसार के समस्त जड़चेतन वस्तुओं का ज्ञान नववर्गों के माध्यम से हो जाय तथा कोई भी वस्तु कम-से-कम किस वर्ग की है यह ज्ञात हो जाय। किसी वस्तु के गुण धर्मों का ज्ञान वह वस्तु किस वर्ग विशेष की है इसकी जानकारी होने पर उस वर्ग विशेष के गुण धर्मों को जानने पर साधारणतया हो जाती है। जिससे कि व्यक्ति हितकर वस्तुओं का ग्रहण तथा अहितकर वस्तुओं का त्याग करने में सक्षम हो जाता है। उदाहरणार्थ यह शरीर पाँच भौतिक है और समस्त आहार द्रव्य भी पाँच भौतिक हैं। अतः यदि व्यक्ति को पाँच भौतिक आहार द्रव्यों के गुणधर्मों का ज्ञान हो जाय तो वह शरीर के लिए आवश्यकतानुसार किन-किन भूतों के उत्कर्ष वाले आहार द्रव्यों का सेवन लाभकर हो सकता है तथा किन-किन भूतों के उत्कर्ष वाला आहार द्रव्य हानिकर हो सकता है; तदनुसार आहार द्रव्यों के सेवन तथा परित्याग से अपने स्वास्थ्य की रक्षाकर सकता है। नव द्रव्यों में पंचभूत के सम्बन्ध में हम विस्तृत विचार पंचभूतवाद प्रसंग में करेंगे। उसी सन्दर्भ में इस सिद्धान्त की उपादेयता पर भी विचार करेंगे। इसी प्रकार आत्म द्रव्य का विशद विवेचन एवं उपादेयता आत्म प्रसंग में करेंगे। इस प्रसंग में आत्मवाद ज्ञान की उपादेयता के सम्बन्ध में इतना ही कहना अपेक्षित होगा कि आत्म तत्व के सम्बन्ध में यह ज्ञान होने पर कि यह नित्य, निर्विकार तथा चेतना का आश्रय है व्यक्ति को आत्म विश्वास होता है कि शरीर ही आत्मा नहीं है। आत्मा एक स्वतन्त्र तत्व है तथा शरीर में रोग होने पर भी आत्मा उससे अप्रभावित रहता है। मनुष्य रोग-ग्रस्त होने पर स्वयं अपने आत्म तत्व को ही अज्ञानवश रोगी-दुःखी मानता है जिसके कारण मानसिक उद्वेग से शारीरिक रोगों में और भी अभिवृद्धि होती है। यदि व्यक्ति इस तथ्य से परिचित हो कि रोग शरीर में है न कि स्वयं उसके मन अथवा आत्मा में। इससे उस व्यक्ति को कम-से-कम मानसिक दुःख नहीं होगा और यदि मन दुःखरहित प्रसन्न हो तो कितनी ही गम्भीर व्याधियाँ भी उचित उपचार तथा काल क्रम से ठीक हो

जाती हैं। और यदि इसके विपरीत व्यक्ति शारीरिक रोगों से अपने मन तथा आत्मा का सम्बन्ध जोड़ता है तो साधारण व्याधि भी मानसिक उद्वेग के कारण गंभीर व्याधि का रूप ले लेती है।

मन के सम्बन्ध में भी ज्ञान होने से व्यक्ति को यह लाभ होता है कि मन और शरीर का अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। मन और शरीर दोनों ही रोग के अधिष्ठान (आश्रय) होते हैं। मानसिक व्याधियों का प्रभाव शारीरिक व्याधियों को उत्पन्न करता है तथा शारीरिक व्याधियाँ मानसिक व्याधियों को उत्पन्न करती हैं। अतः व्यक्ति को शारीरिक व्याधि से ग्रस्त होने पर कम-से-कम उद्विग्न नहीं होना चाहिए तथा मानसिक शान्ति एवं प्रसन्नता को बनाए रखना चाहिए। स्वास्थ्य के लिए जैसे शरीर का नीरोग रहना आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक शान्ति एवं प्रसन्नता भी आवश्यक है जिससे कि मनुष्य स्वस्थ एवं सुखी रहे।

नौ द्रव्यों में परिगणित काल द्रव्य के परिज्ञान से यह लाभ होता है कि व्यक्ति काल के महत्त्व को समझते हुए तदनुसार आचरण कर अपने को सुखी एवं स्वस्थ रख सकता है। संसार के समस्त प्राणी काल के अधीन है। कालानुसार ही ऋतु परिवर्तन होता है। शीत, उष्ण एवं वर्षा रूप संवत्सर ही काल द्रव्य का प्रतिनिधि है। संवत्सर रूप काल में ही समस्त चेतन प्राणियों तथा अचेतन वस्तुओं की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश का क्रम चलता रहता है। इसी से वेदों में संवत्सर को प्रजापति कहा गया है जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है—"संवत्सरो व प्रजापतिः"। समस्त रोगों की उत्पत्ति में त्रिविध हेतुकारण होते हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम ये त्रिविध हेतु हैं। इनके अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग से ही समस्त रोगों का प्रादुर्भाव होता है। त्रिविध हेतुओं में परिणाम काल द्रव्य का ही परिचायक है। इसी काल के अयोग, अतियोग तथा मिथ्या योग को रोगों की उत्पत्ति में कारण का प्रतिपादन करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—

> **"अतिमात्र स्व लक्षणः कालः कालातियोगः, हीन स्वलक्षणः कालः कालायोगः, यथा स्वलक्षण विपरीत लक्षणस्तु कालः कालमिथ्या योगः। कालः पुनः परिणाम उच्यते इत्यसात्म्नेन्द्रियार्थ संयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविध विकल्पा हेतवो विकाराणां, समयोगयुक्तास्तु प्रकृति हेतवो भवन्ति"।** च० सू० ११/४२-४३

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि—काल के स्वाभाविक रूप अर्थात् जिस काल में इसका जैसा रूप शीत, उष्ण या वर्षा होना चाहिये उससे अधिक मात्रा में शीत, उष्ण या वर्षा का होना काल का अतियोग होता है। काल के स्वाभाविक लक्षण से हीन लक्षण को

काल का अयोग कहते हैं। काल के स्वाभाविक लक्षण से विपरीत लक्षण अर्थात् शीत में उष्ण, उष्ण में शीत अथवा वर्षा में वर्षा का न होना आदि काल का मिथ्यायोग कहा जाता है। इस प्रकार काल का त्रिविध विकल्प सभी विकारों का उत्पत्ति हेतु होता है। काल का सम्यक् योग (सम्बन्ध) स्वास्थ्य का हेतु है। सर्वप्रभावकारी संवत्सररूप व्यापक काल के अतिरिक्त आयुर्वेद में आतुरावस्था (रोग की स्थिति) को भी काल के अन्तर्गत ही परिगणित किया जाता है। अब हम संवत्सर रूप काल तथा आतुरावस्था रूप काल का वर्णन करेंगे—जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा :—

कालः संवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा, त्रिधा, षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य। अत्रखलु तावद् षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते – हेमन्तो, ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्ण वर्षलक्षणा स्त्रय ऋतवो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवो प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः, तस्यानुबन्धोहि वर्षाः एवमेतेसंशोधनमधिकृत्य षट्विभज्यन्ते ऋतवः। च० वि० ८/१२५

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद में संवत्सर तथा आतुरावस्था रूप काल के दो भेद माने जाते हैं। संवत्सर रूप काल को कार्यों के अनुसार उत्तरायण, दक्षिणायन दो भेद से, ऋतु के अनुसार ६ भेद से अथवा मासानुसार १२ भेद से विभाजित किया जाता है। आयुर्वेद में दोषों के संचय, प्रकोप एवं प्रशम कार्यों की दृष्टि से संवत्सर रूप काल को ६ ऋतुओं में विभाजित कर तदनुसार दोष संशोधनादि कर्म किया जाता है। किन-किन ऋतुओं में कौन-कौन दोषों का संचय, प्रकोप तथा प्रशम होता है तथा उनका संशोधन किन-किन ऋतुओं में अपेक्षित है इसका विवरण हम स्वस्थवृत्तानुपालन प्रकरण में करेंगे।

आयुर्वेदाभिमत संवत्सर रूप काल का उल्लेख करने के पश्चात् आतुरावस्था रूप काल का उल्लेख अपेक्षित है। आचार्य चरक ने आतुरावस्था रूप काल का वर्णन निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है। यथा :—

"आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकाल संज्ञा, तद्यथा—अस्याम् अवस्थायामस्य भेषजस्यकालः, कालः, पुनरन्यस्येति, एतदपि हि भवत्यवस्था विशेषेण", तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकाल संज्ञा। तस्य परीक्षा मुहुर्मुहुरातुरस्य सर्वावस्था विशेषावेक्षणं यथावद्भेषज प्रयोगार्थम्। नह्यतिपतित कालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति, कालोहि भैषज्य प्रयोगपर्याप्तिमभि निर्वर्तयति। च० वि० ८/१२८

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने आतुरावस्था रूप काल का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—आतुरावस्थाओं में भी कार्य, अकार्य को दृष्टिगत करते हुए काल एवं अकाल की संज्ञा दी जाती है। जैसे कि किसी रोगी को किसी अवस्था विशेष में औषधि देना अहितकर है अतः आतुरावस्था के लिए यह अकाल है। किन्तु किसी दूसरे रोगी के लिए उसी अवस्था विशेष में औषधि देना हितकर है अतः यह आतुरावस्था के लिए काल है। इसलिए यह आवश्यक है कि किस रोगी के लिए किस अवस्था विशेष में औषधि देना हितकर है इस प्रकार के आतुरावस्था की जानकारी अपेक्षित है। इसीलिए आतुरावस्था में भी काल और अकाल संज्ञा होती है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखकर रोगी के आतुरावस्था की पुनः पुनः परीक्षा यथोचित औषधि प्रयोग के लिए करना चाहिए। औषधि प्रयोग काल से अधिक देर हो जाने पर अथवा औषधि प्रयोग काल के पूर्व औषधि का प्रयोग रोगी के लिए हितकर नहीं होता। यथोचित काल पर औषधि का प्रयोग भेषज प्रयोग की सिद्धि को प्राप्त कराता है अर्थात् रोगी को रागमुक्त करता है।

काल के उपर्युक्त उभयविध स्वरूप का ज्ञान होने से व्यक्ति यथासाध्य अपने को कालायोग, कालातियोग एवं मिथ्या योग से बचाता हुआ स्वस्थ रह सकता है। काल के षड्ऋतुक रूप को जानते हुए तदनुसार भिन्न-भिन्न ऋतुओं में यथोचित ऋतुचर्या का पालन कर व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। इस प्रकार काल के महत्त्व का ज्ञान तथा तदनुसार व्यवहार से स्वस्थ जीवन की उपादेयता स्पष्ट ज्ञात होती है।

दिक् (दिशा) :—दिशा द्रव्य ज्ञान की उपादेयता का भी आयुर्वेद में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। आयुर्वेद में दिशा का व्यवहारोपयोगी नाम देश दिया गया है। वस्तुतः दिशा या देश में कोई अन्तर नहीं है। किसी दिशा विशेष में ही देश विशेष अवस्थित होता है। औषधियों की कार्मुकता प्रसंग में आचार्य चरक ने अनेक कारणों का उल्लेख किया है जिनमें एक देश की प्रधानता भी निर्दिष्ट है। इस प्रसंग में आचार्यचरक का निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा :—

"तानि तु द्रव्याणि देश काल गुण भाजन संपद्वीर्य बलाधानात् क्रिया समर्थतमानि भवन्ति"। च० कल्प १/७

उपर्युक्त उद्धरण का आशय है कि—औषधियों की क्रियाकारित्व शक्ति देश, काल, गुण, भेषजस्थापन, स्थान की श्रेष्ठता के अनुरूप होती है। अर्थात् यदि देश, कालादि चार कारणों की श्रेष्ठता हुई तो औषधियों की क्रियाकारित्व शक्ति भी श्रेष्ठ होगी। आगे आचार्य चरक देश के वैशिष्टय का प्रतिपादन करते हुए देश के त्रिविध भेद का वर्णन करते हैं जो कि निम्नोक्त हैं। यथा :—

"त्रिविधः खलु देशः जांगलः, आनूपः साधारणश्चेति। तत्र जांगलः पर्याकाश

भूयिष्ठः, तरुभिरपि खदिरासनाश्वकर्ण धवतिनिश साल बदरी अश्वत्थ वटामलकी वन गहनः, प्रतत मृगतृष्णोपगूढ तनुखरपरुषसिकता शर्करा बहुलः, लावतित्तिरचकोरानुचरित भूमि भागः वात पित्त बहुलः, स्थिर कठिन मनुष्य प्रायोज्ञेयः। च० कल्प १/८.

देश तीन प्रकार का होता है। जांगल, आनूप एवं साधारण। जांगल देश का आकाश अधिकतर वृक्षादि से आच्छादित रहता है। इसमें खदिर, असन, अश्वकर्ण, धव, तिनिश साल बदरी, अश्वत्थ, वट, आमलकी आदि के वृक्षों से गहन वन होता है। इसमें स्थिर तथा शुष्क वायु वेग से छोटे-छोटे वृक्ष हिलते रहते हैं। घास से भूमि आच्छादित रहती है सूखे कठोर कंकड़ों वाली बालू की भूमि होती है। लावा, तितर, चकोर आदि पक्षियों से भूमिभाग सुशोभित होता है। वात पित्त दोष की बहुलता होती है। इस देश के मनुष्य स्थिर कठिन शरीर वाले होते हैं।

"अथानूपो हिन्ताल, तमाल, नारिकेल कदली वनगहनः सरित्समुद्रपर्यन्त प्रायः शिशिर पवन बहुलः सरिद्भिरुपगतभूमिभागः, क्षितिधरनिकुंजोपशोभितः मन्दपवनानुवीजित क्षितिरुह गहनः, अनेक वनराजि पुष्पित वनगहन भूमिभागः स्निग्ध तरुप्रतानोपगूढः, हंसचक्रवाक बलाका मत्तकोकिलानुनादित तरुविटपः सुकुमार पुरुषः पवन कफ प्रायोज्ञेयः। च० कल्प १।८.

आनूप देश हिन्ताल, तमाल, नारियल, केला आदि वृक्षों से गहन वन वाला, समुद्र से मिलने वाली अधिकतर नदियों से युक्त, शीतवायु वाला, नदियों के तटों से जुड़े हुए भूमिभाग वाला, वृक्षों तथा निकुन्जों से शोभित, मन्द मन्द पवन से अनुप्राणित, वृक्षों से भरा हुआ, अनेक प्रकार के वृक्षों के पुष्पों से युक्त, चिकने वृक्षों तथा लताओं से आच्छादित, हंस, चक्रवाक, बगुला आदि पक्षियों से सुशोभित मदमाती कोयलों की कूक से गूंजती वृक्षों वाला, सुकुमार मनुष्यों वाला, वात कफ बहुल दोष वाला देश आनूप होता है।

इसी प्रकार जांगल एवं आनूप दोनों देशों के वनस्पतियों वाला, स्थिर, सुकुमार बल वर्ण तथा सुगठित देह वाले पुरुषों से युक्त साधारण देश होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त देश के भेदों में हमें यह ज्ञात होता है कि किस देश में किस प्रकार की जलवायु होती है तथा वहाँ के मनुष्य कैसे होते हैं एवं उनमें किन किन दोषों का आधिक्य होता है। इस प्रकार के देश ज्ञान से तदनुसार चिकित्सा व्यवस्था से तथा देशानुरुप स्वस्थवृत्ताचरण एवं व्यवहार से मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। इस दृष्टिकोण से दिशा ज्ञान की उपादेयता स्पष्ट ज्ञात होती है।

एक अन्य प्रसंग में आचार्य चरक ने देश का दो भेद बतलाया है। भूमि तथा आतुर। इस प्रसंग में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है।

"देशस्तुभूमिरातुश्च। तत्र भूमिपरीक्षा आतुर परिज्ञान हेतोर्वास्यादौषध परिज्ञान हेतोर्वा। तत्र तावदियमातुर परिज्ञान हेतोः। तद्यथा—अयंकस्मिन् भूमि देशेजातः संवृद्धो व्याधितो वा, तस्मिंश्चभूमि देशे मनुष्याणामिदमाहार जातम्, इदं विहार जातम्, इदमाचारजातम्, एतावच्चबलम्, एवं विधं सत्त्वम्, एवं विधं सात्म्यम्, एवं विधो दोषः, भक्तिरियम्, इमे व्याधयः, हितमिदम्, अहितमिदमिति प्रायोग्रहणेन।

च. वि० ८/९२-९३

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने देश की क्या महत्ता एवं उपादेयता है तथा किन-किन तथ्यों के आधार पर देश की परीक्षा स्वास्थ्य रक्षा तथा आतुर के उपचार के लिए आवश्यक है इन सभी प्रासंगिक विवरणों का उल्लेख किया है। यथा :—देश शब्द से भूमि एवं आतुर दोनों का ग्रहण अपेक्षित है जैसा कि एक अन्य प्रसंग में आचार्य ने निर्दिष्ट किया है—

"देशः पुनः स्थानं द्रव्याणामुत्पत्ति प्रचारौ देश सात्म्यं चाचष्टे। च० वि० १/५

अर्थात् देशका तात्पर्य है स्थान जिसमें विविध आहार द्रव्यों तथा औषधियों की उत्पत्ति हो तथा उनके भोक्ता का स्थान हो। इसी कारण इस प्रसंग में आचार्य ने देश शब्द से भूमि तथा आतुर दोनों का अभिप्राय ग्रहण किया है। देश का महत्व भूमि परीक्षा की अपेक्षा से आतुर परीक्षा तथा औषधि परीक्षा के परिज्ञान के निमित्त आवश्यक है। यहाँ पर आतुर के परिज्ञान के लिए निम्न तथ्यों की जानकारी आवश्यक है। यह किस देश में उत्पन्न हुआ बढ़ा एवं व्याधिग्रस्त हुआ। उस देश में मनुष्यों का स्वाभाविक आहार यह है, स्वाभाविक विहार यह है, स्वाभाविक आचरण यह है, उनका बल ऐसा है, इस प्रकार का सत्व है, इस प्रकार का सात्म्य है, इस प्रकार का दोष है, उनकी अभिरूचि ऐसी है, इस प्रकार की व्याधियाँ हैं। उनके लिए यह हितकर अथवा अहितकर है। आचार्य ने प्रायः शब्द से यह संकेत किया है कि देश विशेष के आहारादि का अनुमान निश्चित नहीं होता तथापि अधिकतर व्यवहार होने के कारण यह प्रायोभावित्व का द्योतक है।

आतुर के देश की परीक्षा के अनन्तर आचार्य आतुर की परीक्षा का विधान भी इसी (देश) शीर्षक से करते हैं। यथा :—

"आतुरस्तु खलुकार्य देशः। तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाण ज्ञान हेतोर्वास्यात्, बलदोष प्रमाण ज्ञान हेतोर्वा। तत्रतावदियं बलदोष प्रमाण ज्ञान हेतोः, दोष प्रमाणानुरूपो हि भेषज प्रमाण विकल्पो बल प्रमाण विशेषापेक्षो भवति। सहसा ह्यतिबल मौषधमपरीक्षक प्रयुक्तमल्प बल मातुरमतिपातयेत्। च० वि० ८/९४

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने आतुर को कार्य देश कहते हुए उसको परीक्षा का विधान प्रस्तुत किया हैं। आतुर की परीक्षा उसके आयु प्रमाण के ज्ञान के लिए अथवा उसके बल, दोष के प्रमाण ज्ञान के लिए अपेक्षित है। रोगी के बल एवं दोष प्रमाण का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि दोष के प्रमाणानुसार ही औषधि का प्रमाण विकल्प रोगी के बल प्रमाण विशेष की अपेक्षा से होता है। बिना परीक्षा के ही अचानक अधिक बलवाली औषधि का प्रयोग रोगी के लिए सद्यः प्राणहर हो जाता है। अर्थात् यदि बलवान रोगी के प्रबल दोष को शमन करने के निमित्त यदि अधिक बलवाली औषधि का प्रयोग हो तो वह सफल होता है। यदि रोगी अल्पबल हो पर उसका दोष प्रबल हो उसके लिए अधिक बलवाली औषधि रोगी के मृत्यु का कारण होती है। इस प्रकार आचार्य ने देश की महत्ता तथा उपादेयता का विशद विवेचन किया है। ग्रन्थ के विस्तार भय से इसका संक्षिप्त विचार ही प्रस्तुत किया गया है। कल्प स्थान में आचार्य ने भूमि परीक्षा का भी विशद विवेचन किया है। इस प्रसंग में हमारा लक्ष्य केवल देश की महत्ता एवं उपादेयता को ही संकेतित करना है।

नव द्रव्यवाद के उपर्युक्त वर्णन से हमें स्पष्ट होता है कि इस सिद्धान्त की आयुर्वेद में कितनी व्यापक महत्ता एवं उपादेयता है।

गुण कर्म सिद्धान्त :—आयुर्वेद का गुण तथा कर्म के सम्बन्ध में वर्णन वैशेषिक दर्शनोक्त गुण कर्म विवरण से कुछ भिन्न है। आयुर्वेद एक जीवन का व्यावहारिक विज्ञान है अतः इसमें गुण कर्म विषयक विवरण व्यवहारिक उपयोगिता की दृष्टि से कुछ विशेष मिलता है। यद्यपि वैशेषिक दर्शनोक्त गुण कर्म सिद्धान्त का आयुर्वेदीय गुण कर्म सिद्धान्त से मूलतः भेद नहीं है तथापि व्यवहार सौकर्य के लिए आयुर्वेद में इसका कुछ विशेष भेद बतलाया गया है। जहाँ तक गुण के लक्षण का सम्बन्ध है आयुर्वेद तथा वैशेषिक दर्शनोक्त परिभाषा में भेद नहीं है। आयुर्वेद में गुण का निम्नोक्त लक्षण आचार्य चरक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यथा :—

"समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः।" **च० सू० १।५१**

अर्थात् जो समवाय सम्बन्ध (अपृथकभाव) से द्रव्य में रहे, चेष्टारहित (प्रयत्न-हीन) हो उसे गुण कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में भी गुण का ऐसा ही लक्षण मिलता है जैसा कि आचार्य कणाद के निम्नोक्त सूत्र से स्पष्ट है। यथा :—

"द्रव्याश्रय्यगुणवान संयोगविभागेष्वनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।"

वै० सू० १।१–१६

अर्थात् जो द्रव्याश्रयी (द्रव्य में आश्रय लेने का जिसका स्वभाव हो) जो स्वयं अगुणवान् हो अर्थात् गुण का आश्रय न हो, संयोग और विभाग में कारण न हो तथा अन्य किसी की अपेक्षा न रखता हो यह गुण का लक्षण है।

उपर्युक्त दोनों लक्षणों का यदि समन्वय किया जाय तो हमें ज्ञात होता है कि दोनों ही आचार्य गुण को द्रव्याश्रित मानते हैं। दोनों ही गुण को निश्चेष्ट मानते हैं। आचार्य चरक तो निश्चेष्ट विशेषण का प्रयोग भी करते हैं वही तत्समानार्थक आचार्य कणाद संयोग विभाग में जो अकारण हो ऐसा लक्षण मानते हैं। संयोग विभाग बिना कर्म के नहीं होता अतः प्रकारान्तर से गुण निश्चेष्ट ही होते हैं। गुणों में गुण नहीं रहते प्रत्युत गुण द्रव्यों में रहते हैं अतः यह अगुणवान् है। गुण किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार दोनों ही आचार्यों के गुण लक्षण में कोई विशेष भेद नहीं है। आयुर्वेद व वैशेषिक गुणों की संख्या में दोनों में भिन्नता है। वैशेषिक दर्शन के आचार्य गुणों की संखया २४ मानते हैं। किन्तु आयुर्वेद गुणों की संखया ४१ मानता है। आयुर्वेद में वैशेषिक के २४ गुणों के अतिरिक्त गुर्वादि २० गुण जो कि चिकित्सा शास्त्रोपयोगी है उनका भी ग्रहण किया जाता है। गुणों की गणना आचार्य चरक ने निम्न प्रकार से किया है। यथा :—

"सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ता परादयः गुणाः प्रोक्ता।"

च० सू० १।४९

उपर्युक्त उद्धरण में तीन प्रकार के गुणों का उल्लेख किया गया है। सार्था शब्द से वैशेषिक गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध गुण ग्रहण किया जाता है। जैसा कि आचार्य ने अन्यत्र निर्दिष्ट किया है :—

"अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।" च० शा० १।३१

गुर्वादि २० गुण हैं :—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र एवं द्रव। ये सामान्य गुण कहे जाते हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न ये ६ आत्म गुण होते हैं। आत्मा के चेतन 'स्मृति' धृति एवं अहंकार आदि अन्य गुण बुद्धि के अन्तर्गत ग्रहण कर लिए जाते हैं। परादि दस गुण-परत्व, अपरत्व, युक्ति, संखया, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार तथा अभ्यास हैं। इस प्रकार गुर्वादि २० गुण, वैशेषिक शब्दादि ५ गुण, बुद्धि, सुख-दुःखादि आत्मगत ६ गुण तथा परादि १० गुण सभी मिलकर ४१ गुण आयुर्वेदानुसार माना जाता है।

इन सभी गुणों के अतिरिक्त प्रकृतिगत नैसर्गिक तीन गुण सत्व, रज और तम होते हैं। प्रकृति का स्वरूप सहज रूप से इन तीन गुणोंवाला होता है जो कि संसार के समस्त जड़ चेतन द्रव्यों को आबद्ध किए रहते हैं। गुण का निरुक्तिपरक अर्थ बांधना ही है। "गुज्यते बध्यते अनेन इति गुणः" अर्थात् जो सभी पदार्थों को बांधे वह गुण है। इसी तथ्य का भगवान कृष्ण ने अर्जुन के प्रति उपदेश निम्नलिखित वचन से दिया है—

सत्त्वंरजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ भ० गी० १४।५.

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न हैं जो कि अव्यय (अविनाशी) आत्म तत्त्व को देह (शरीर) में बाँधते हैं। प्रकृति के इन तीन गुणों का भी आयुर्वेद में अत्यन्त महत्त्व है। इन तीन गुणों का प्रभाव मन पर पड़ता है और इनके उत्कर्षापकर्ष (अधिकतान्यूनता) से ही मनुष्य सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक मनोवृत्तियों के होते हैं। रज और तम को आयुर्वेद में मानसिक दोष भी माना जाता है जिनसे अनेक मानसिक व्याधियों की उत्पत्ति होती है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार हम "द्विविध मानस दोषवाद" शीर्षक में करेंगे।

गुणवाद सिद्धान्त की उपादेयता :—आयुर्वेदोक्त गुणों का आयुर्वेद के प्रयोजन सिद्धि में व्यापक उपयोग होता है। द्रव्यों में आश्रित गुणों के माध्यम से ही शरीर में अभीष्ट कार्यों का सम्पादन होता है जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा :—

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेऽष्वपि ते तथा ।
स्थान वृद्धिक्षयास्तस्मात् देहिनां द्रव्य हेतुकाः ॥ सु० सू० ४१।१२.

अर्थात् द्रव्यों में विविध गुण कहे गये हैं, उनसे ही व्यक्तियों के दोष धातु मल का साम्य, वृद्धि तथा क्षय होता है। अतः द्रव्याश्रित गुण ही साम्य, वृद्धि तथा क्षय के कारण हैं।

दोषों की प्रकोपावस्था में तत्तद् दोषों के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से दोष का शमन होता है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचनों से स्पष्ट होता है। यथा :—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथविशदः खरः ।
विपरीत गुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥
गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुरस्थिर पिच्छिलः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः ॥

च० सू० १।५९-६१

रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद एवं खर ये वात के लक्षण हैं। इन लक्षणों वाले वात प्रकोप में इनके विपरीत अर्थात् स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थुल स्थिर, पिच्छिल एवं श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों से वात का शमन होता है।

स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर एवं कटु गुण वाले पित्त प्रकोप में रूक्ष, शीत, मन्द, सान्द्र, तिक्त, स्थिर एवं कषाय विपरीत गुण वाले द्रव्य पित्त प्रकोप शामक हैं। गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर एवं पिच्छिल गुण वाले कफ का शमन लघु, उष्ण, कठिन, रूक्ष, कटु, सर एवं विशद आदि विपरीत गुण वाले द्रव्यों से होता है।

इसी प्रकार वातक्षय पित्तक्षय अथवा श्लेष्मक्षय में तत्तद् दोषों के समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन से तत्तद् दोषों की वृद्धि होती है। इस प्रकार दोष साम्य को बनाए रखने में गुण वाद सिद्धान्त की उपादेयता महत्वपूर्ण है।

जिस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य में धातु साम्य को बनाए रखने के लिए यथावश्यक दोषों के ह्रास या वृद्धि में तत्तद् दोषों के विपरीत या समान गुण वाले द्रव्यों का सेवन अनिवार्य है, उसी प्रकार मानसिक दोषों की विकृति से उत्पन्न मानसिक व्याधियों के उपचार व मानसिक स्वस्थता के लिए मानसिक गुणों की (सत्व गुण वाले भावों) वृद्धि की अनिवार्यता आवश्यक होती है। इसीलिए आयुर्वेद में मानसिक स्वस्थता एवं मानसिक रोगों के उपचार में सत्वावजयचिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है।

आत्मगत गुणों की उपादेयता मानसिक व्याधियों के प्रतिकार के लिए महत्त्वपूर्ण है जैसा कि आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण से प्रतिपादित किया है। यथा—

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञान-विज्ञान-धैर्य-स्मृतिसमाधिभिः॥ च० सू० १/५८.

शारीरिक व्याधियों का शमन युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा या औषधियों के सेवन से तथा मानसिक व्याधियों का शमन ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति एवं समाधि जो कि आत्मगत गुण हैं इनसे होता है।

परादि गुणों की उपादेयता—

परादि १० गुणों का प्रतिपादन करते हुए आचार्य चरक ने इनकी उपादेयता का निम्नोक्त वचन से उल्लेख किया है। यथा—

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः ज्ञेयाः परादयः।
सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे॥
देशकालवयोमान-पाक-वीर्य-रसादिषु।
परापरत्वे युक्तिश्च योजना यातु युज्यते॥
संख्यास्याद् गणितं योगः संयोग उच्यते।
द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजोऽनित्य एव च॥

विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशः ग्रहः ।
पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ।।
परिमाणं पुनर्मानं संस्कारः करणं मतम् ।
भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ।।
इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः ।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते ।।

च० सू० २६/२९/३५.

उपर्युक्त परादि १० गुण चिकित्सा के सिद्धि में साधन हैं जिनका निम्न लक्षण होता है। परत्व-अपरत्व, गुण देश, काल, वय, मान, पाक रस एवं वीर्य के लिए वरीयता एवं कनीयता को द्योतित करने के लिए होता है। अर्थात् कौन देश किस देश की अपेक्षा वरीय (उत्तम) है और कौन देश किस देश की अपेक्षा अवर है इस तथ्य को द्योतित करने तथा तदनुसार व्यवहार के लिए उपादेय है। इसी प्रकार सभी उपर्युक्त काल, वय; मान, रस आदि बिन्दुओं पर विचार एवं व्यवहार परत्व, अपरत्व गुण के आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ मरु देश पर है एवं अनूप देश अपर है, विसर्गकाल पर है, आदान अपर, तरुण वय पर है, बाल एवं वृद्धवय अपर है।

युक्ति गुण से अभिप्राय है कि औषधियों का समुचित प्रयोग, संख्या गुण एक, दो, तीन, चार संख्याओं के लिए व्यवहृत होता है। संयोग गुण द्रव्यों के योग (मिलाने) अर्थ में ग्रहण किया जाता है। यह संयोग तीन प्रकार का होता है—द्वन्द्वकर्मज जिसमें परस्पर दो द्रव्य मिलें। सर्वकर्मज जिसमें सभी द्रव्य परस्पर मिलने की क्रिया करें। एककर्मज जिसमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिले। विभाग गुण से किसी द्रव्य का विभाजन अर्थ गृहीत होता है। पृथक्त्व का तात्पर्य है असंयोग अर्थात् अलग करना। परिमाण से किसी वस्तु का नाप या तौल तात्पर्य अभिप्रेत है। संस्कार से अभिप्राय होता है किसी वस्तु का विशेष विधिसे गुणों का बढ़ाना।

अभ्यास गुण किसी भाव या कार्य का सर्वदा करते रहने अथवा सेवन करने को कहते हैं। इस प्रकार अपने-अपने लक्षणों वाले परादि गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन गुणों का यथोचित ज्ञान न होने से चिकित्सा का उत्तम विधान नहीं हो सकता। परादि गुणों की परिभाषा द्वारा ही हमें ज्ञात होता है कि आयुर्वेद में इनकी कितनी उपादेयता है। यदि विस्तार से इन सभी गुणों का अलग-अलग विवेचन किया जाय तथा तदनुसार उनकी उपादेयताओं का प्रतिपादन हो तो इस पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है, किन्तु हमने विषय निदर्शनार्थ गुणों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है।

कर्म--

सभी प्रकार की क्रियाओं को कर्म शब्द से अभिहित किया जाता है। आचार्य चरक ने कर्म की निम्नोक्त परिभाषा किया है।

"प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते।" च० सू० १/४९.

प्रयत्नपूर्वक की गई क्रिया जिसमें चेष्टा हो उसे कर्म कहते हैं। आयासपूर्वक किया गया कर्म ही प्रयत्न है। यद्यपि चेष्टा प्राणियों का कार्य कहा जाता है तथापि यहाँ चेष्टा शब्द से क्रिया अभिप्रेत है। प्रयत्नादि शब्द में आदि का प्रयोग प्रकाए सूचक है। इससे तात्पर्य है कि संस्कार, गुरुत्व आदि गुणों से उत्पन्न सभी क्रियाओं का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। कर्म का लक्षण बतलाते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि--संयोग (मिलने) तथा विभाग (अलग होने) में एक साथ ही जो कारण हो तथा द्रव्य के आश्रयभूत हो वह कर्म है। कर्ता द्वारा कर्तव्य की क्रिया ही कर्म है। उत्पन्न हुआ कर्म अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता अर्थात् एक बार प्रारम्भ हुआ कर्म जब तक प्रर्वतमान रहता है तब तक उसे कारणान्तर की अपेक्षा नहीं होती। आचार्य चरक ने उपर्युक्त कर्म लक्षण को निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते॥ च० सू० १/५२.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु का किसी वस्तु से संयोन अथवा वियोग बिना कर्म के नहीं हो सकता अतः संयोग वियोग में कर्म कारण होता है। गुण की तरह कर्म भी द्रव्य के आश्रित होता है। द्रव्य के आधार बिना कर्म की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। करने योग्य जो भी क्रिया होतो है वह कर्म है। वैशेषिक सूत्रकार ने भी कर्म का ऐसा ही लक्षण किया है जो कि निम्न उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा—

"एकद्रव्यमगुणं संयोग-विभागेष्वनपेक्ष कारणमिति कर्मलक्षणम्।"

वै० सू० १/१/१७.

वैशेषिक सूत्रकार आचार्य कणाद ने कर्म का निम्नोक्त पांच भेद बतलाया है। यथा—

"उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनप्रसारणंगमनमिति कर्माणि" वैशेषिक सू० १/१/७.

अर्थात् उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) अवक्षेपण (नीचे फेंकना) आकुञ्चन (सिकोड़ना) प्रसारण (फैलाना) तथा गमन (गति) ये पांच कर्म होते हैं। इन्हीं पांच कर्मों में समस्त कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है।

आयुर्वेद में दोष-संशोधन-निमित्त प्रतिपादित पंचकर्म—वमन विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन तथा अनुवासन कर्म भी इन्हीं उत्क्षेपणादि पंचकर्मों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। आयुर्वेदोपदिष्ट पंचकर्म भी दोष-संशोधन के निमित्त इच्छापूर्वक प्रयत्न से ही किये जाते हैं, अतः इन्हें कर्म के अन्तर्गत माना जाता है। उर्ध्वभाग से दोष-संशोधन की प्रवृत्ति वमन तथा अधोभाग से दोष-संशोधन प्रवृत्ति विरेचन को क्रमशः उत्क्षेपण तथा अवक्षेपण माना जाता है। शिरोविरेचन कर्म में शिर के दोष का संशोधन शिर के अधोभाग नासिका चक्षु आदि से होता है; अतः यह भी अवक्षेपण कर्म है। वात दोष के संशोधन एवं अनुलोभन के निमित्त किया गया आस्थापन तथा अनुवासन गमन कर्म के अन्तर्गत होता है। शरीरगत विविध चेष्टायें आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन कर्म के अन्तर्गत होती हैं। आयुर्वेदोपदिष्ट पंचकर्म के सम्बन्ध में विशद विवेचन हम पंचकर्म शीर्षक में आगे प्रस्तुत करेंगे।

आयुर्वेद में कर्म की उपादेयता—

कर्म की परिभागा में उक्त प्रयत्न शब्द आयुर्वेद में भी कर्मवाचक होता है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया,
कर्म, यत्नः कार्य समारम्भश्च। च० वि० ८/७७.

उपर्युक्त चरकोक्त उद्धरण में कार्य के निमित चेष्टा को प्रवृत्ति कहा गया है, इसी को क्रिया, कर्म, यत्न तथा कार्य समारम्भ आदि संज्ञाओं से कहा जाता है। इस प्रकार आयुर्वेद में कर्म शब्द का, जो प्रवृत्ति का ही नामान्तर है, तात्पर्य रोगों का प्रतिकर्म—(उपचार) लिया जाता है जैसी कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

"प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्म समारम्भः। तस्य लक्षणं भिषगौषधातुरपरिचारकाणां क्रिया समायोगः। च० वि० ८/१२९.

उपर्युक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है कि रोगों के प्रतिकर्म (उपचार) का आरम्भ ही प्रवृत्ति है जिसमें चिफित्सक, औषध, रोगी तथा परिचारक सभी की क्रियाओं का समावेश होता है। आयुर्वेद में कर्म की उपादेयता उपर्युक्त तथ्य से भलीभाँति ज्ञात होती है जिसमें चिकित्सा के चतुष्पाद का सम्यक् योग बतलाया गया है। भिषक्, औषध, रोगी तथा परिचारक इन चार चतुष्पादों की उत्तमता से हो चिकित्सा कर्म की सिद्धि होती है।

शरीर में दोष साम्य की अवस्था को बनाये रखने के लिए दोष निर्हरण तथा संशोधन के निमित्त पंचकर्म का विधान आवश्यक है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कर्म सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट परिलक्षित होतो है।

समवायवाद—

समवाय की गणना षड्पदार्थों में की गई है, समवाय से तात्पर्य अपृथक्भाव सम्बन्ध से है। समवाय को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक कहते हैं—

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥ च० सू० १/५०

अर्थात् समवाय अपृथक्भाव सम्बन्ध है जो कि गुण गुणी, अवयवाययवी, कर्म कर्मवान में अविच्छिन्न रूप में रहता है। यह सम्बन्ध नित्य होता है। द्रव्य में गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से ही रहते हैं। जीवित प्राणियों में सत्व, आत्मा और शरीर का संयोग भी समवाय सम्बन्ध से ही होता है। इसी कारण जब तक जीवन है तब तक शरीर का सत्व व आत्मा से अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। इसी तथ्य को दृष्टगत कर आचार्य सुश्रुत कर्म पुरुष का प्रतिपादन करते हुए उल्लेख किये हैं कि—

पंचमहाभूतशरीरि समवायः पुरुषः इति।
स एष कर्म पुरुषः चिकित्साधिकृतः ॥ सु० शा० १/१६.

अर्थात् पंचभूतात्मक शरीर से आत्मा का समवाय सम्बन्ध ही पुरुष है यही चिकित्सा करने योग्य कर्मपुरुष है।

त्रिदोष का शरीर से समवाय सम्बन्ध होता है किन्तु रोगों का त्रिदोष से असमवायि अथवा संयोग सम्बन्ध होता है। संयोग सम्बन्ध कभी होता है कभी नहीं भी होता। इसी प्रकार विविध द्रव्यों में गुण तथा कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं अर्थात् जब तक द्रव्य की सत्ता है गुण और कर्म उसमें अनिवार्य रूप से रहेंगे।

वैशेषिक सूत्रकार ने समवाय का निम्नोक्त लक्षण किया है। यथा—

"इहेदमिति यतः कार्य-कारणयोः स समवायः" वै० सू० ७/२/२६

अर्थात् इसमें यह है इस प्रकार का ज्ञान जिससे कार्य और कारण में होता है, वहीं यह बोध बराबर हुआ करता है कि इस कारण (अधिकरण) में कार्य आश्रित (आधेय) है। जैसे वस्त्र तंतुओं में आश्रित रहता है। प्रत्येक अवयवी के कारण होते हैं। वे अवयव जिनसे संयुक्त होने पर अवयवी उत्पन्न होता है या बनता है। अवयव कारण है अवयवी कार्य है। कार्य, कारण में जिस सम्बन्ध से रहता है, वह समवाय कहा जाता है।

ऐसे केवल पांच युग्म होते हैं जिनका परस्पर समवाय सम्बन्ध रहता है। ये हैं— **१. द्रव्य-गुण, २. द्रव्य-कर्म, ३. अवयव-अवयवी।** सूत्र के **"कार्य-कारणयोः"** इस पद से इन तीनों का ग्रहण हो जाता है। अन्य दो युग्म हैं—**१. व्यक्ति-जाति तथा**

२. अन्त्यनित्य-द्रव्यविशेष। व्यक्ति में जाति आश्रित है, तथा अन्त्य नित्य द्रव्य (परमाणु) में विशेष है। इन दोनों में भी कार्य-कारण भाव नहीं है, परन्तु इनमें समवाय सम्बन्ध है।

समवाय सिद्धान्त की उपादेयता--

समवाय सम्बन्ध का परिचय होने से यह ज्ञात होता है कि जो भी वस्तु शरीर में समवाय सम्बन्ध (अविच्छिन्न रूप) से रहता है वह शरीर के लिए अपरिहार्य है और उसकी सभी प्रकार से रक्षा तथा साम्य बनाये रखना परम आवश्यक है। उदाहरण स्वरूप त्रिदोष की शरीर में स्थिति समवाय सम्बन्ध से है। अतः त्रिदोष का स्वास्थ्य रक्षा के लिए साम्य रखना अत्यन्त आवश्यक है। दोष धातु एवं मल को शरीर का आधार या मूल कहते हैं, इसका कारण भी शरीर का इनसे समवाय सम्बन्ध से जुड़े रहना है। जिस प्रकार स्वास्थ्य के लिए दोषसाम्य की अनिवार्यता है उसी प्रकार धातु, साम्य एवं मलसाम्य भी स्वास्थ्यरक्षा के प्रमुख स्तम्भ है।

शरीर की रुग्णावस्था में व्याधियों का सम्बन्ध असमवायि कारण (संयोग-सम्बन्ध) से होता है जो अनित्य होता है अतः समुचित उपचार से व्याधियों का शमन हो जाता है। इस तथ्य से चिकित्सक तथा आतुर को यह बोध रहता है कि असमवायि कारण से होने वाले रोग अनित्य है, अतः उनका शमन काल क्रम से शरीर की स्वाभाविक क्षमता तथा उचित चिकित्सा से हो सकता है। आतुरावस्था में आवश्यकता होती है तो केवल असमवायि कारण जन्य दोषों की विषमता को दूर करना। जिस प्रकार द्रव्यों में गुण व कर्म समवाय सम्बन्ध (आधाराधेय) से रहते हैं उसी प्रकार शरीर के धारण के लिए दश प्राणायतन (प्राण के आश्रय) होते हैं। इन्हीं दश प्राणायतन के आश्रय से समवाय सम्बन्ध से मनुष्यों का प्राण आश्रित रहता है अतः इन प्राणायतनों की रक्षा करना अत्यन्त अनिवार्य है। इसी तथ्य को दृष्टिगत कर आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्राणायतनों का महत्त्व प्रतिपादित किया है। यथा--

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शंखौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥
तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयान्।
जानीते यः स वै विद्वान् प्राणाभिसर उच्यते॥ च० सू० २९/३-४.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने दश प्राणायतन का नामोल्लेख करते हुए कहा है कि—दो शंख प्रदेश, तीन मर्म-वस्ति, हृदय एवं शिर, कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओजस एवं गुदा ये दस प्राण के आश्रय-स्थल हैं। इन सभी प्राणायतन को जो चेतना का समवायि-कारण रूप से जानता है तथा इनके व्याधित होने के कारण तथा उपचार को जानता

है, उसी को विद्वान् तथा प्राणाभिसर (प्राणों को लाने वाला) कहा जाता है। इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त दश प्राणायतनों को इसलिए प्राण का आश्रय कहा गया है कि ये समवाय सम्बन्ध से शरीर में स्थित हैं। प्रकारान्तर से आचार्य ने प्राण तथा प्राणायतन के सम्बन्ध की ही प्रधानता को दिखाने के लिए उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख किया है। दश प्राणायतन के सम्बन्ध मे विशेष विचार हम दश प्राणायतनीय शीर्षक में करेंगे। इस प्रसंग में इनका उल्लेख तो समवाय सम्बन्ध के महत्त्व तथा उपादेयता को लक्ष्य करके किया गया है।

त्रिविध हेतुवाद—

समस्त व्याधियों के कारणों को समष्टि रूप से प्रस्तुत करते हुए आचार्य चरक ने निम्नोक्त तीन कारणों का उल्लेख किया है। यथा—

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः॥ च० सू० १/५४.

शीत, उष्ण एवं वर्षा के लक्षणों वाला काल, बुद्धि (प्रज्ञापराध) एवं असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग इनका अतियोग (अत्यधिक सम्पर्क), मिथ्या योग (दूषित सम्पर्क) तथा अयोग (असम्पर्क) शारीरिक एवं मानसिक रोगों के समुदाय रूप कारण हैं।

उपर्युक्त त्रिविध कारण संग्रह का हम पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे जिससे कि विषय का सुखावबोध हो।

काल—

काल को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—

"शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः, स कालः। च० सू० ११/४२.

अर्थात् शीत, उष्ण, एवं वर्षा के स्वरूप वाला तथा हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद आदि षड्ऋतुओं वाला संवत्सर (वर्ष) ही काल है। उपर्युक्त लक्षण वाले काल का अतियोग, अयोग एवं मिथ्या योग व्याधि के कारण हैं। कालातियोग, अयोग, मिथ्यायोग का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—

तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः, हीनस्वलक्षणः कालः कालायोगः, यथा स्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः। कालः पुनः परिणाम उच्यते। च० सू० १/४२.

कालातियोग—

शीत, उष्ण, वर्षा यह जो काल का तीन स्वाभाविक रूप है, उससे अधिक परिमाण में शीत, उष्ण एवं वर्षा का होना अर्थात् शीतकाल मे अत्यधिक शीत होना, ग्रीष्मकाल

में अत्यधिक उष्ण होना तथा वर्षाकाल में अत्यधिक वर्षा होना ही काल का अतियोग होता है।

कालायोग—

काल का स्वाभाविक लक्षण शीत, उष्ण एवं वर्षा में यदि स्वाभाविक शीत से कम शीत, स्वाभाविक उष्णता से कम उष्णता तथा स्वाभाविक वर्षा से कम वर्षा हो तो इन्हें काल का अयोग कहते हैं।

काल मिथ्या योग—

काल के स्वाभाविक शीत, उष्ण एवं वर्षा के स्वरूप से यदि विपरीत लक्षण हो अर्थात् शीतकाल में उष्ण अथवा उष्ण काल में शीत तथा वर्षा काल में वर्षा के विपरीत सूखा पड़े तो ये काल के मिथ्या योग कहे जाते हैं।

प्रज्ञापराध—

"प्रज्ञायाः बुद्धेः अपराधम् दूषणम् इति प्रज्ञापराधम्।"

अर्थात् बुद्धि के दोष को प्रज्ञापराध कहते हैं। प्रज्ञापराध का आचार्य चरक ने निम्नोक्त लक्षण किया है। यथा—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥ च० शा० १/१०२.

बुद्धि, धैर्य एवं स्मृति से च्युत व्यक्ति जो अशुभ कर्म करता है, उसे प्रज्ञापराध जानना चाहिए जो कि त्रिदोष का प्रकोपक होता है।

प्रज्ञापराध के अन्तर्गत विविध अशुभ कर्मों का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरणों में प्रस्तुत किया है। यथा—

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः।
सेवनं साहसानांच नारीणां चातिसेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्चकर्मणाम्।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम्॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्।
परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम्॥
अकालादेशसंचारी मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः।
तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद् देह कर्मच॥

यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥

च० शा० १/१०३-१०८.

उपर्युक्त उद्धरणों का यह तात्पर्य है कि-अस्वाभाविक मल-मूत्रादि के वेग को बलात् प्रवर्तित करना तथा प्रवृत्त वेगों को रोकना, अत्यधिक दुःसाहस करना, स्त्री का अधिक सहवास, उचित समय पर कर्तव्य-कर्म का न करना, कर्त्तव्य-कर्मों का अनुचित आरम्भ, विनय व सदाचार की हीनता, पूज्य जनों का अनादर करना, स्वयं ज्ञात इन्द्रियों के उचित कर्मों का त्याग कर अहितकर विषयों का सेवन, अधिक उन्माद कर विश्वासों का पालन, अनुचित काल एवं देश मे संचरण, क्रूरकर्म तथा दूधित कर्म वाले लोगों से मित्रता, इन्द्रियोपक्रम में कथित इन्द्रियों के उचित व्यवहार का त्याग एवं सदाचार का त्याग, ईर्ष्या, अभिमान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, घमंड एवं भ्रांति से युक्त होना अथवा इनसे उत्पन्न जो दूषित कर्म होता है, या देह के द्वारा दूषित कर्म करना तथा इसी प्रकार के अन्य रज एवं तम से उत्पन्न अशुभ कर्मों को आप्तजन प्रज्ञापराध कहते हैं जो कि अनेक व्याधियों के कारण हैं।

एक अन्य स्थल पर आचार्य चरक ने वाक् (वाणी), मन तथा शरीर के कर्मों के अतियोग, अयोग एवं मिथ्या योग का वर्णन रोगों के उत्पत्ति के कारण प्रसंग में किया है। निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

"कर्मवाङ्मनः शरीरप्रवृत्तिः । तत्र वाङ्मनः शरीरातिप्रवृत्तिरतियोगः सर्वशोऽप्रवृत्तिरयोगः, वेगधारणोदीरणविषम-स्खलन-पतनांग-प्रणिधानांग-प्रदूषण-प्रहार-मर्दनप्राणोपरोध संक्लेशनादिः शारीरो मिथ्या योगः, सूचकानृताकालकलहाप्रिया बद्धानुपचारपरुषवचनादिर्वाङ्मिथ्यायोगः भयशोक क्रोध-लोभ-मोह-मानेर्ष्या-मिथ्या-दर्शनादिर्मानसो मिथ्यायोगः ।"

च० सू० ११/३९.

वाणी, मन, तथा शरीर के कर्मों के अतिप्रवृत्ति को वाणी, मन तथा शरीर का अति योग कहते हैं। इनका बिल्कुल ही प्रवृत्त न होना अयोग कहा जाता है। शरीर के स्वाभाविक मल मूत्रादि वेगों की प्रवृत्ति न होने पर भी बलात् इन वेगों को प्रवृत्त करना, स्वाभाविक वेगों को रोकना, टेढ़े-मेढ़े होते हुए शरीर का गिरना, लुढ़कना, अंगों का टेढ़े-मेढ़े चलाना, अंगों को मोड़ना तोड़ना, शरीर पर प्रहार, शरीर को मरोड़ना, श्वास का रोकना, शरीर को कष्ट देना आदि शरीर कर्मों का मिथ्या योग है। निन्दा परक वाणी, असत्य वाणी, अनावश्यक एवं अनुचित समय के कलह, (झगड़ा करना) अप्रिय, असंबद्ध (अप्रासंगिक), अशिष्ट, कठोर वाणी ये वाणी के मिथ्या योग है।

भय, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या, मोह, मिथ्या भ्रान्ति आदि मन के मिथ्या योग हैं।

इस प्रकार त्रिविध भेद वाला वाणी, मन तथा शरीर के कर्मों को प्रज्ञापराध जाने जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

"इति त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्।"

च० सू० ११/४१.

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग

जो कुछ स्वयं के लिए हितकर होता है, उसे सात्म्य कहते हैं। जो सात्म्य नहीं है उसे असात्म्य कहते हैं। इन्द्रियों से विषयों के संयोग को इन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। इन्द्रियों से विषयों का ऐसा संयोग जो असात्म्य अर्थात् अहित कर हो उसे असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग का फलितार्थ हुआ इन्द्रियों का अहितकर विषयों से संयोग।

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग के भी तीन भेद होते हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ अतियोग, असात्म्येन्द्रियार्थ अयोग तथा असात्म्येन्द्रियार्थ मिथ्या योग। ये तीनों प्रकार के ही असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग रोगोत्पत्ति के कारण हैं जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

त्रिण्यायतनानि—अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगः। तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमतियोगः सर्वशोऽदर्शनमयोगः, अतिश्लिष्टातिविप्रकृष्ट रौद्र भैरवाद्भुत बीभत्सविकृतवित्रासनादि रूप दर्शनं मिथ्या योगः, तथाऽतिमात्रस्तनित पटहोत्कुष्टादीनां शब्दानामतिमात्रं श्रवणमतियोगः, सर्वशोऽश्रवणमयोगः, परुषेष्टविनाशोपघात,प्रधर्षणभीषणादि शब्दश्रवणं मिथ्यायोगः, तथाऽतितीक्ष्योग्राभिष्यन्दिनां गन्धानामतिमात्रं घ्राणमतियोगः, सर्वशोऽघ्राणमयोगः, पूतिद्विष्टामेध्यक्लिन्नविषपवनकुणपगन्धादि घ्राणं मिथ्यायोगः, तथा रसानामत्यादानमतियोगः, सर्वशोऽनादानमयोगः, मिथ्यायोगोराशिवर्ज्येष्वाहार विधिविशेषायतनेषूपदेक्ष्यते, तथाऽतिशीतोष्णानां स्पृश्यानां स्नानाभ्यंगोत्सादनादीनां चात्युपसेवनमतियोगः, सर्वशोऽनुपसेवनमयोगः, स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामनानुपूर्व्योपसेवनं विषमस्थानाभिघाताशुचि भूत संस्पर्शादयश्चेतिमिथ्यायोगः।

च० सू० ११/३७.

उपर्युक्त सन्दर्भ में आचार्य ने त्रिविध हेतु को त्रीण्यायतन संज्ञा से अभिहित किया है। इस प्रसंग में आयतन शब्द निदान या हेतु का वाचक है त्रीणि आयतनानि निदानानि इति त्रीण्यायतनानि अर्थात् तीन हेतु हैं जिसके वह त्रीण्यायतन है। ये तीन हेतु हैं—(१) अर्थ, अर्थात् असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, (२) कर्म, अर्थात् वाणी, मन तथा शरीर तथा (३) काल, इन तीनों का अतियोग, अयोग मिथ्यायोग रोग के कारण हैं। काल

तथा कर्म (प्रज्ञापराध) का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। इस प्रसंग में इंद्रियों का विषयों से अतियोग; अयोग एवं मिथ्या योग का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

चक्षुरिन्द्रिय का अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग—

अत्यधिक तेज वाले यथा सूर्य, विद्युत आदि का देखना चक्षु का अतियोग है। बिल्कुल ही न देखना अयोग हैं। अत्यधिक पास, अत्यधिक दूर, अत्यधिक भयजनक दृश्य, अति खतरनाक दृश्य, अति आश्चर्यजनक दृश्य, अतिद्वेष का दृश्य, मन को अत्यधिक व्याकुल करने वाला दृश्य, अंगविहीन का दृश्य, आतंकित करने वाला दृश्य आदि को देखना दर्शन का मिथ्यायोग है।

श्रवण का अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग—

अत्यधिक तेज आवाज वाले मेघ गर्जन, नगाड़ा ढोल आदि की तेज आवाज, अत्यन्त गर्वीले व्यक्ति की डांट फटकार की तेज आवाज, को सुनना श्रवण का अतियोग है। बिल्कुल न सुनना श्रवण का अयोग है। कर्कश वाणी, अपने प्रियजन के नाश का शब्द, अपने को आघात पहुँचाने की आवाज, तिरस्कार का शब्द, तथा अत्यधिक भय उत्पन्न करने वाला शब्द का सुनना श्रवण का मिथ्या योग है।

घ्राण का अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग -

अत्यन्त तीक्ष्ण, उग्र, क्लिन्नता (आर्द्रता) उत्पन्न करने वाला गन्ध का सूँघना घ्राण का अति योग है। घ्राण से बिल्कुल न सूँघना घ्राण का अयोग है। सड़े हुए का गन्ध, आर्द्रता उत्पन्न करने वाला गन्ध, विषैली वायु का गन्ध, सड़े हुए मुर्दे का गंध आदि का सूँघना घ्राण का मिथ्या योग है।

रसना का अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग—

रसों का अत्यधिक ग्रहण करना रसना का अतियोग है। रसों का बिल्कुल ग्रहण न करना रसना का अयोग है। रसों का मिथ्या योग आहार विधि में वर्णित आठ आहार विधि विशेषायतन में राशि को छोड़कर शेष प्रकृति, करण, संयोग, देश, काल, उपयोग संस्था तथा उपभोक्ता आदि के विरुद्ध रसों का सेवन रसना का मिथ्या योग है।

स्पर्श का अतियोग, अयोग व मिथ्या योग—

अत्यधिक शीत या उष्ण पदार्थ का स्पर्श, स्नान, अभ्यंग अथवा उबटन आदि का अत्यधिक सेवन स्पर्श का अतियोग है। स्पर्शनेन्द्रिय का बिल्कुल ही व्यवहार न करना स्पर्श का अयोग है। उष्णता से पीड़ित व्यक्ति को अचानक शीत जल में अवगाहन अथवा अत्यन्त शीत पीड़ितों को अचानक उष्णता का सम्पर्क, स्नान के पश्चात उबटन

आदि का प्रलेप या अभ्यंग आदि का व्यवहार जो कि क्रम का लंघन है, विषम (उबड़-खाबड़) स्थान पर गिरने से चोट लगना, किसी शस्त्रादि से चोट खाना, अपवित्र पिशाच प्रेत आदि का स्पर्श ये सब स्पर्श के मिथ्यायोग हैं। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि सभी व्याधियों की उत्पत्ति में इन त्रिविध हेतुओं के त्रिविध विकल्प ही कारण हैं। इन त्रिविध हेतुओं का क्षेत्र इतना व्यापक है कि कोई भी रोग इनके विषय क्षेत्र से बाहर नहीं है। उदाहरण स्वरूप काल के अतियोग, अयोग व मिथ्या योग को ही लें तो हमें ज्ञात होता है कि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत एवं अतिउष्णता का कितना व्यापक प्रभाव पड़ता है यह सर्व विदित है। उसी प्रकार प्रज्ञापराध का भी क्षेत्र व्यापक है। अनेकविध रोग प्रज्ञापराध के कारण होते हैं। प्रज्ञापराध से प्रधानतः मानसिक विकृति होती है और मानसिक विकृति से कर्तव्याकर्तव्य का बोध न होने से शरीर के लिए अहितकर विषय के सेवन से अनेक शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग के अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग से उत्पन्न व्याधियों का क्षेत्र भी व्यापक है। अतः रोगों की उत्पत्ति में त्रिविध हेतुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्पष्ट है।

त्रिविध हेतुवाद की उपादेयता—

त्रिविध हेतुवाद के परिचय के पश्चात् हम इसके उपादेयता के सम्बन्ध में विचार करेंगे। सर्वप्रथम इस सिद्धांत की उपादेयता है कि चिकित्सक को समस्त व्याधियों के मूलभूत कारणों का संक्षेप में परिचय हो जाता है जिससे कि वह स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा इन त्रिविध कारणों के अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग से विरत करके (दूर रखकर) कर सकता है। रोग ग्रस्त व्यक्ति के उपचार क्रम में भी निदानानुप सेवन (कारणों का परिवर्जन) से रोग का बल क्षीण होकर व्याधि शान्त हो जाती है।

त्रिविध हेतुओं के त्रिविध विकल्प अर्थात् अतियोग, अयोग व मिथ्या योग रोग के कारण हैं तथा इनका सम्यक्योग आरोग्य का कारण है। इसी तथ्य को आचार्य वाग्भट ने निम्नोक्तवचन से निर्देशित किया है। यथा—

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्॥ अ० हृ० सू० १/१९.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि काल, अर्थ इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क (तथा कर्म) कायिक, वाचिक एवं मानसिक इनका हीन योग, मिथ्यायोग तथा अति-योग रोग के कारण हैं तथा इनका सम्यक् योग आरोग्य का कारण है। इन त्रिविध

हेतु का ज्ञान होने से व्यक्ति रोग के कारण भूत हीन, मिथ्या तथा अतियोग से बचता हुआ त्रिविध हेतु से सम्यक् योग बनाये रखता है तो स्वस्थ रह सकता है।

स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त आयुर्वेद में बहुत से सेवनीय विधि तथा बहुत से असेवनीय अथवा त्याज्य निषेध का वर्णन किया गया है, जब तक हमें निषेध या त्याज्य विषयों का ज्ञान नहीं होगा तब तक हम उसका त्याग कैसे कर सकते हैं और हितकर विधि का सेवन कैसे सम्भव हो सकता है। इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत करके आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने स्वस्थ वृत्त तथा सद्वृत्त का उपदेश देकर विधि का सेवन तथा निषेध का परिवर्जन करने का निर्देश किया है।

आचार्य चरक ने त्रिविध हेतु को सभी दुःखों का कारण बतलाया है। इस प्रसंग का सूत्रपात आचार्य ने महर्षि आत्रेय पुनर्वसु के प्रति आचार्य अग्निवेश के प्रश्न के समाधान रूप में प्रस्तुत किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। आचार्य अग्निवेश का यह प्रश्न है कि :—"कारणं वेदनानां किम्" च० शा० १।१३. सभी दुःखों का कारण क्या है? महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने उपर्युक्त प्रश्न का निम्न समाधान प्रस्तुत किया है जिसे आचार्य चरक ने निम्नांकित उद्धरण में बतलाया है। यथा —

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः संप्राप्तिः कालकर्मणाम् ।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ।। च० शा० १।९८.

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि महर्षि आत्रेय ने सभी दुःखों का (केवल व्याधियों का ही नहीं) कारण प्रज्ञापराध काल संप्राप्ति एवं काय; वाणी तथा मन के कर्म संप्राप्ति को बतलाया है। यहाँ पर काल संप्राप्ति से तात्पर्य है काल में व्यक्त होने वाले शीत उष्ण कर्म का अतियोग, अयोग व मिथ्या योग। कर्म संप्राप्ति से तात्पर्य है काय, वाणी तथा मन के द्वारा कृत दोष का कर्म परिपाक अर्थात् अशुभ कर्मों का परिणाम।

उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट होता है कि मनुष्य को सुखी रहने के लिए त्रिविध हेतु के अतियोग, अयोग एवं मिथ्या योग से विरत रहना तथा साथ ही इनके सम्यक् योग का पालन करना अनिवार्य है। त्रिविध हेतु में काल का अतियोग, अयोग व मिथ्या योग तो मानव के वश में नहीं किन्तु प्रज्ञापराध एवं काय, वाणी एवं मन के कर्म के अतियोग, अयोग व मिथ्या योग से तो बचा ही जा सकता है। यदि व्यक्ति काल को छोड़कर शेष दोनों हेतुओं से भी बचे तो बहुसंख्य रोगों से बचते हुए सुखी रह सकता है।

त्रिविध हेतुओं में काल को दुष्परिहार्य कहा गया है अर्थात् काल के प्रभाव से बचना अत्यन्त कठिन है। किन्तु काल के सन्दर्भ में भी यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि व्यापक धर्मा-

चरण एवं धार्मिक वातावरण से काल भी अपने स्वाभाविक रूप को अनुसरण करता हुआ लोक स्थिति का पालन करता है। इसके विपरीत यदि लोक में व्यापक अधर्माचरण होता है तो वातावरण भी अधर्ममय हो जाता है जो कि काल को प्रभावित कर इसे अपने स्वरूप के विपरीत अतियोग, अयोग व मिथ्या योग से युक्त कर देता है जो कि लोक विनाश का कारण होता है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने अधर्म को जनपदोध्वंश (जनों का व्यापक विनाश) का मूल कारण माना है। इस प्रसंग में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा -

'प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्तद्वैगुण्यात्समान कालाः समानलिंगाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्तमाना जनपदमुद्ध्वंसयन्ति ते तु खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति तद्यथा— वायुः, उदकं, देशः काल इति। च० वि० ३/६.

आचार्य चरकोक्त उपर्युक्त उद्धरण में निर्दिष्ट है कि— मनुष्यों के जो अन्य भाव स्वाभाविक रूप से समान हैं उनके दूषित होने से वे समान काल में समान लक्षणों वाले व्याधियों को अभिवृद्ध करते हुए जनपदोद्ध्वंश करते हैं। जनपदों में जो समान्य भाव हैं जिनके दूषित होने से व्यापक जन विनाश होता है। वे हैं—वायु, जल, देश एवं काल।

उपर्युक्त चारों भाव जो कि दूषित होने पर व्यापक जन विनाश के कारण हैं इनकी दुष्टि में भी प्रकारान्तर से त्रिविध हेतुओं का अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग ही कारण होते हैं। यद्यपि त्रिविध हेतुओं का त्रिविध विकल्प जनपदोद्ध्वंश की दृष्टि से व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत होता है तथापि इसका मूल कारण प्रज्ञापराध ही होता है, जैसा कि आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में कहा है। यथा—

"सर्वेषामप्यग्निवेश वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः। तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। च० वि ३/२०

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि—वायु, उदक, देश तथा काल की जो दुष्टि होती है उसका मूल (कारण) अधर्म है। और अधर्म का कारण असत्कर्म (सत्कर्म से विरुद्ध कर्म) है तथा अधर्म और असत्कर्म का कारण प्रज्ञापराध होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रज्ञापराध से व्यापक जन-विनाश भी हो सकता है। अतः इसकी जानकारी होने से सभी लोग विधि कर्मों के पालन तथा निषेध कर्मों के त्याग से धर्म की प्रतिष्ठा बनाये रख सकते हैं तथा समाज एवं जनपद को व्यापक जन विनाश से बचा सकते हैं।

कालज व्याधियां दोषों के चय, प्रकोप से अथवा काल के मिथ्यायोग; अतियोग तथा अयोग से होती हैं। भोजन से भी कालज व्याधियों का सम्बन्ध होता है यथा—भोजन

के तत्काल पश्चात् कफ की वृद्धि, भोजन के पच्यमानावस्था में पित की वृद्धि तथा भोजन के पचने पर वात की वृद्धि होती है। उसी प्रकार दिन के पूर्व भाग (पूर्वाह्ण) में कफ की वृद्धि, मध्यान्ह में पित्त की वृद्धि तथा दिन के अन्त में वात की वृद्धि। रात्रि के प्रथम पहर में कफ की वृद्धि, अर्द्धरात्रि में पित्त वृद्धि तथा रात्रि के अन्तिम पहर में वात की वृद्धि होती है। उपर्युक्त कालों में नियत दोषों की वृद्धि होने से तज्जन्य कालज रोगों की उत्पत्ति होती है। इन कालज रोगों से प्रतिकार के लिए ऋतुचर्या तथा दिनचर्या में विहित उपायों के सेवन तथा निषिद् कर्मों का त्याग आवश्यक है। काल के परिणाम स्वरूप ही वृद्धावस्था तथा मृत्यु आती है। क्षुधा, पिपासा, निद्रा आदि स्वाभाविक व्याधियाँ अपरिहार्य हैं। इनका प्रतिकार असम्भव है। तथापि उचित अन्न-पान सेवन से क्षुत पिपासा का शमन होता है। रसायन सेवन से वृद्धावस्था के गति क्रम को कम किया जा सकता है: कालजन्य स्वाभाविक रोग को आचार्य चरक ने निष्प्रतिक्रिय माना है जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट है। यथा—

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः॥ च० शा० १/११५.

कालजन्य स्वाभाविक रोगों के स्वरूप तथा इसके निष्प्रातिक्रिय (अचिकित्स्य) स्वभाव का जानने से मनुष्य को यह सहज ही विश्वास होता है कि ये व्याधियाँ अपरिहार्य हैं। इस प्रकार के सहज बोध से व्यक्ति इन व्याधियों को सहज रूप से स्वीकार करता है जिससे उसे मानसिक उद्वेग या अधीरता नहीं होती परिणामस्वरूप मानसिक तनाव के नानाविध दुष्परिणामों से बच जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्य का परिचय स्वयं ही इसकी उपादेयता को सिद्ध करता है। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग के अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग अनेक ऐन्द्रियक व्याधियों की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इन व्याधियों से बचने के लिए असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग के त्रिविध विकल्पों का त्याग करना स्वास्थ्य रक्षा के लिए अपेक्षित है। इन्द्रियार्थ का समयोग सुख एवं स्वास्थ्य का कारण है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते।
शब्दादीनां सविज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियकोबुधैः॥
वेदनानामशांतानामित्येते हेतवः स्मृताः।
सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः॥ च० शा० १।१२८-१२९

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि शब्दादि इन्द्रियार्थों के मिथ्यायोग, अतियोग तथा हीनयोग से ऐन्द्रियक व्याधि उत्पन्न होते हैं। अकल्याण कारक ऐन्द्रियक व्याधियों के कारण ये त्रिविध विकल्प हैं। इन्द्रियार्थों का समयोग ही सुख का कारण है।

इस प्रकार स्वस्थ तथा सुखी रहने के लिए असात्म्येन्द्रियार्थ के त्रिविध विकल्पों से विरत रहना जन सामान्य के लिए अपेक्षित है। इन सब तथ्यों के आलोक में विचार करने से त्रिविध हेतुवाद की उपादेयताओं का सहज ही ज्ञान हो जाता है। त्रिविध हेतुवाद की उपादेयताएं अत्यन्त विस्तृत हैं किन्तु विस्तार भय से उसका विवेचन नहीं किया जा रहा है। निदर्शनार्थ इस पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया गया है।

आत्म निर्विकारवाद—

आयु (जीवन) के अनिवार्य तत्त्वों में से एक आत्म तत्व है जैसा कि आचार्य चरक के आप्त वचन "शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म संयोगोधारि जीवितम्" च० सू० १।४२ से ज्ञात होता है। आत्म तत्व को आचार्यों ने नित्य, जन्म जरा मृत्यु रहित तथा निर्विकार माना है। इस प्रसंग में हम आत्मा के निर्विकार स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन करेंगे जो कि भारतीय दर्शन का सर्व प्रमुख मीमांस्य (विचार्य) केन्द्र बिन्दु है। त्रिदण्ड सिद्धान्त के अन्तर्गत आचार्य चरक ने सत्व (मन) आत्मा तथा शरीर इन तीन संघटकों का उल्लेख किया है। जिसके परस्पर संयोग से जीवन का धारण होता है। इनमें मन तथा शरीर दो व्याधि के आश्रय हैं अर्थात् मन तथा शरीर ही व्याधि ग्रस्त होते हैं जैसा कि आचार्य के निम्न वचन से स्पष्ट होता है।

शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः। च० सू० १/५५

त्रिदण्ड के दो पाद सत्व और शरीर को आचार्य ने व्याधि का आश्रय बतलाया है। तीसरा पाद आत्मा की इस संदर्भ में क्या स्थिति है इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य निम्न उद्धरण में प्रतिपादित करते हैं। यथा—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूत गुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ च० सू० १।५९.

उपर्युक्त उद्धरण में आत्मा को सूक्ष्म, बिना विकार वाला, मन तथा इन्द्रियों के सहयोग से चेतना का कारण नित्य और सभी क्रियाओं का द्रष्टा (साक्षी) कहा गया है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि सत्व (मन), शरीर तथा आत्मा का समष्टि रूप जो आत्मा शब्द से कहा गया है वही (आत्मा) यहाँ अभीष्ट नहीं है क्योंकि संयोगिपुरुष (आत्मा) तो मन एवं शरीर के सान्निध्य से सुख दुःख की अनुभूति करता है जैसा कि भगवान कृष्ण ने अर्जुन के प्रति उपदेश किया है। यथा—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ भ० गीता १३।२१

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पुरुष (आत्मा) जब प्रकृति से संयुक्त होता है तो वह क्रमशः ७ प्रकृति विकृति एवं षोडश विकारों से युक्त होकर प्रकृतिजन्य गुणों सत्व

रजतमो युक्त सुख, दुःख एवं मोह से ग्रस्त होता हुआ सभी प्रकार के परिणामों को भोगता है। इसका कारण होता है इस पुरुष का गुणों (रज एवं तम) से आसक्ति और यही इसके (पुरुष या आत्मा) का शुभ और अशुभ योनियों में उत्पन्न होने का कारण है।

इस प्रकार हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उपर्युक्त चरकोक्त उद्धरण में जो आत्मा को निर्विकार कहा गया है वह असंग आत्मा के लिए निर्दिष्ट है। असंग आत्मा तो स्वभावतः नित्य, ज्ञान स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप है। किन्तु वही आत्मा जब प्रकृतिगत विकारों से युक्त होता है तो सुख, दुःख राग द्वेष, लाभ हानि आदि द्वन्दों से पीड़ित होता है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने आचार्य अग्निवेश के प्रश्न सन्दर्भ में महर्षि आत्रेय के वचन को समाधान रूप में प्रस्तुत किया है जो कि निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट होता है। आचार्य अग्निवेश का महर्षि आत्रेय के प्रति इस प्रश्न का—

"स्यात् कथं चाविकारस्य विशेषो वेदना कृतः। च० शा० १।१०

अर्थात् अविकारी आत्मा को दुःखादि की अनुभूति क्यों होती है। इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि आत्रेय कहते हैं कि—

नैकः कदाचिद्भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते।
विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते॥
संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः।
वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः॥ च० शा० १।८४-८५.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भूतात्मा (आत्मा) एक है तथा वह किन्हीं लक्षणों से प्राप्त (ज्ञात) नहीं होता और उस अनुपलब्ध आत्मा को विविध वेदनाएँ नहीं होती। वेदनाएँ (दुःखादि) तो संयोगि पुरुष (राशि पुरुष) को होती हैं। सुख दुख-रूप वेदनाएँ बुद्धि, मन आदि के समूह में होती हैं और आत्मा बुद्धि मन से संयुक्त होने पर उन वेदनाओं की अनुभूति करता है तथा परिणामस्वरूप हर्ष दैन्य आदि भावों से लिप्त हो जाता है। किन्तु उपर्युक्त भाव बुद्धि मन आदि राशि पुरुष में होते हैं न कि आत्मा में। बुद्धि मन से युक्त होने पर ही सुखदुःख रूप द्वन्द्वों से निर्मुक्त आत्मा सुख दुखादि का भोक्ता होता है।

वस्तुतः आत्मा निर्विकार ही होता है किन्तु अज्ञानवश शरीर तथा मन के साथ जुड़े होने से अपने को सुखी दुखी, धनी-निर्धन, ज्ञानी-अज्ञानी आदि द्वन्द्व भावों से आरोपित कर लेता है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा के द्विविध स्वरूप (निर्विकारी तथा विकार युक्त) को समझाने की दृष्टि से निम्नोक्त उद्धरण दिया गया है। यथा—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। श्वेताश्वर ४।६-७.

उपर्युक्त औपनषदिक वचन का तात्पर्य है कि—(पुरुष और पुरुष विशेष अर्थात् जीव और ईश्वर रूप) दो पक्षी जो साथ रहने वाले और मित्र हैं वे दोनों एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृति रूप बृक्ष को आलिंगित किये हुए हैं। उन दोनों में से एक जीवरूप पक्षी—(जन्ममरण और भोगरूपी सुखदुःख) स्वाद वाले फल को खाता है और दूसरा ईश्वर रूपी पक्षी फल न खाता हुआ केवल साक्षीरूप से रहता है। उसी प्रकृति रूप वृक्ष पर जीवरूपी पक्षी आसक्त होकर असमर्थता से धोखा खाता हुआ शोक करता है। किन्तु जब योग युक्त होकर अपने दूसरे साथी ईश और उसकी महिमा को देखता है, तब शोक से पार हो जाता है।

उपर्युक्त उद्धरण में जीवात्मा तथा परमात्मा इन दो प्रकार के आत्माओं का विवरण प्राप्त होता है वस्तुतः यह समझाने के लिए रूपक मात्र से प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में तो वह आत्मा एक ही है, नित्य है तथा निर्विकार है किन्तु मोह एवं अज्ञानवश अपने को जन्म, जरा, व्याधि युक्त मानता हुआ दुःखी होता है। यदि व्यक्ति आत्म तत्व को शरीर, मन एवं बुद्धि से परे जान लें तो वह द्वन्द्वात्मक वेदनाओं से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वररूपी पक्षी को द्रष्टा अथवा साक्षी रूप कहा गया है उसी प्रकार आचार्य चरक ने आत्मा को "द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः" ऐसा कहकर निर्देशित किया है जिसका तात्पर्य है कि वह सभी क्रियाओं का द्रष्टा या साक्षी होता है। इस प्रकार आचार्य चरक ने भी प्रकारान्तर से आत्मा के द्विविध स्वरूप को (व्यावहारिक दृष्टि से) प्रतिपादित किया है। वस्तुतः आत्म तत्व तो एक, नित्य अविनाशी तथा निर्विकार है।

आत्मा के गुण एवं लक्षण—

आचार्य अग्निवेश ने महर्षि आत्रेय से पुरुष अथवा आत्मा के लक्षण एवं गुणों के सम्बन्ध में प्रश्न किया था कि—"किंलिंग पुरुषस्य च" च० शा० १।४. अर्थात् पुरुष या आत्मा का क्या लक्षण है! इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि आत्रेय ने निम्नोक्त उत्तर दिया था जो कि आचार्य चरक के निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट होता है। यथा—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसोगतिः।
इन्द्रियान्तर संचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्नेपंचत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः ।
बुद्धिस्मृतिरहंकारो लिंगानिपरमात्मनः ।।
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिंगान्येतानि जीवितः ।
नमृतस्यात्म लिंगानि तस्मादाहुर्मनीषिणः ।। च० शा० १।७०-७३.

अर्थात् प्राण, अपान, (उच्छ्वास निःश्वास) उन्मेष, निमेष (पलकों का झपकना) जीवन क्रम का नैरन्तर्य, मन का विभिन्न विषयों से सम्पर्क तथा विभिन्न विषयों पर विचार करना, स्वप्न में दूसरे देश में जाना तथा मरण का ज्ञान होना, दाहिने आँख से देखी हुई वस्तु का बाई आँख से पहचान करना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति एवं अहंकार ये सभी आत्मा के लक्षण व गुण हैं । ये सभी लक्षण जीवित प्राणी में मिलते हैं मृत व्यक्ति में आत्मा के लक्षण नहीं मिलते ।

आयुर्वेद एक व्यावहारिक विज्ञान है अतः आचार्यों ने निर्विकार, निर्गुण आत्मा का शरीर की अपेक्षा से लक्षणों एवं गुणों का उल्लेख किया है क्योंकि यदि आत्मा का व्यावहारिक दृष्टि से लक्षण व गुण का निरूपण नहीं किया जाता तो आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का बोध कैसे हो पाता । यद्यपि आत्मा स्वभावतः निष्क्रिय है तथापि मन से युक्त होने पर यह अचेतन मन को चेतनता प्रदान करता है तथा मन के माध्यम से अनेकविध कार्यों को सम्पादित करता है इसी कारण इसे कर्ता भी कहा गया है । मन अचेतन होने के कारण क्रियावान होते हुए भी अकर्ता होता है इसी तथ्य को आचार्य चरक ने महर्षि आत्रेय के वचन के रूप में निम्नांकित उद्धरण में प्रस्तुत किया है । यथा —

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयितापरः ।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ।।
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपिनोच्यते ।। च० शा० १/७५-७६.

आत्मा अपने कार्य करने के प्रति स्वतन्त्र होता है तथा प्राणियों को प्राण से युक्त करता है । इसका नियामक अन्य कोई नहीं होता यह अपने ही द्वारा सम्पादित कर्मों के वश होकर अनेक योनियों में जन्म लेता है । कर्म करने में आत्मा की स्वतन्त्रता होती है किन्तु कर्मफल को भोगने में आत्मा की स्वतन्त्रता नहीं होती । अनिष्ट योनि में जन्म का कारण अधर्म होता है । अधर्म करने में तो आत्मा की स्वतन्त्रता होती है किन्तु अधर्म से हुए कर्मफल को इसे न चाहते हुए भी भोगना पड़ता है इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्न वचन से स्पष्ट किया है । यथा —

यथा स्वेनात्मनाऽऽत्मानंसर्वः सर्वासुयोनिषु ।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः ।। च० शा० १/७७.

आचार्य अग्निवेश का महर्षि आत्रेय के प्रति यह प्रश्न कि आत्मा यदि स्वयंवशी है अर्थात् सभी विषयों में स्वेच्छाधीन प्रवृत्ति वाला है तो असुख या अनिष्ट भावों से बलात् क्यों आक्रान्त हो जाता है। प्रश्न का क्रम निम्नोक्त है। यथा—

"वशीयद्यसुखैः कस्माद्भावैराक्रम्यते बलात्" च० शा० १/७.

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि आत्रेय कहते हैं कि—

वशीतत् कुरुतेकर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते।
वशीचेतः समाधत्ते वशीसर्वंनिरस्यति॥ च० शा० १/७८.

अर्थात् वशी आत्मा अपनी इच्छा के अधीन कर्म करके उसके फल को भोगता है। वशी आत्मा चित्त को अनिष्ट कर्म करने से रोकता है यदि यह वशी न हो तो मन को कैसे निमन्त्रित करता। वशी होने के कारण ही आत्मा मोक्ष की प्रवृत्ति से शुभाशुभ फल वाले सभी कार्यों को त्याग देता है। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि कार्य करने के प्रति तो आत्मा वशी है किन्तु कर्म फल भोगने में वह स्वेच्छाधीन नहीं होता।

आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है। सर्वगत होते हुए भी देही (आत्मा) अपने अपने इंद्रियों वाले शरीर की ही वेदना (सुख दुखः जन्य ज्ञान) को जानता है। क्योंकि यह मन इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय के उपस्थित होने पर ही चैतन्य का कारण होता है। आत्माभिव्यक्ति के लिए मन, इंद्रिय तथा इंद्रियों के विषय का होना अनिवार्य है। जैसे आकाश की अभिव्यक्ति इसके विषय शब्द इंद्रिय श्रोत्र तथा मन के सान्निध्य से होता है उसी प्रकार आत्माभिव्यक्ति के लिए भी मन, इन्द्रिय तथा विषय इन माध्यमों की अनिवार्यता होती है। यहाँ पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि आत्मा सर्वगत है तो दूसरे लोगों की वेदनाओं को क्यों नहीं जानता। इसका समाधान करते हुए महर्षि आत्रेय कहते हैं जो कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

देही सर्वगतोऽप्यात्मा स्वेस्वे संस्पर्शनेन्द्रिये।
सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्माऽतो वेत्तिवेदनाः॥ च० श० १/७९.

अर्थात् सर्वगत होते हुए भी आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों की वेदनाओं को नहीं जानता। क्योंकि अपने ही शरीर की वेदनाओं को आत्मा अपने ही ज्ञान साधनभूत मन तथा इन्द्रियों से जानता है। दूसरे के शरीर में आत्मा की अपने कर्मों से प्राप्त इन्द्रियों का अभाव होने से इसकी विद्यमानता होने पर भी सुखदुख रूप वेदना की उपलब्धि नहीं होती। क्योंकि पर शरीर में आत्मा उसके कर्मों द्वारा प्राप्त मन तथा इन्द्रिययुक्त होता है। अतः वही ज्ञान साधनभूत माध्यम उस व्यक्ति के सुखदुख रूप वेदनाओं की उपलब्धि में सहायक होगा न कि दूसरे व्यक्ति के ज्ञान साधन।

उवर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आत्मा तो वास्तव में सर्वंगत तथा एक है किन्तु इसके ज्ञान साधन भूत मन तथा इन्द्रियाँ प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होती हैं। क्योंकि सभी जीव का कर्म भिन्न-भिन्न होता है तदनुसार मन तथा इन्द्रियों की स्थिति भी भिन्न-भिन्न होती है। ज्ञान साधनों की भिन्नता ही आत्मा के सर्वंगत होने में बाधक होती इसी कारण दूसरे के शरीर की वेदनाओं को दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता। इसी है तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने उद्धरण में स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये" इस पद को प्रस्तुत किया है जिसका तात्पर्य अपने-अपने इन्द्रियों में वेदनाओं की उपलब्धि करना है।

आत्मा विभु है—

सर्वंगत होने से आत्मा सर्वत्र है। महापरिमाणयोगि द्रव्य को विभु कहा जाता है। आत्मा महापरिमाण योगि है अर्थात् सर्वव्यापक है। आत्मा यदि विभु है तो पर्वत तथा किसी प्रकार के अवरोध के कारण पारगत वस्तुओं को क्यों नहीं देखता ऐसी शंका उठती है। प्रस्तुत शंका का समाधान आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में किया है। यथा—

विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतोमहान्।
मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मातिरस्कृतम्॥
नित्यानुबंधं मनसा देहकर्मानुपातिना।
सर्वयोनिगतं विद्यान्देक योनावपि स्थितम्॥ च० शा० १/८०-८१.

अर्थात् सर्वगत एवं महान् होने से आत्मा विभु है (सर्वगत परिमाण योगि)। सर्वगत होने से सर्वत्र उपलभ्यमान है। सर्वंगतत्व आकाश, काल और दिक् में भी होता है। इसीलिए आत्मा को इनसे पृथक् करने के लिए आचार्य ने उद्धरण में महान् पद का प्रयोग किया है। यह आत्मा मन के समाधान (स्थिरता) से पर्वतादि व्यवधानों को पारकर उनके पार के वस्तुओं को देखने में समर्थ होता है। इस प्रकार का सामर्थ्य योगियों में देखा जाता है। किन्तु अपने-अपने कर्मों से प्राप्त फल का अनुबन्ध मन में बना रहता है। इसलिए भिन्न-भिन्न योनियों में गया हुआ आत्मा भी देह कर्म के अनुसार किसी विशेष योनि से प्राप्त मन के अनुबन्ध के कारण उसी योनि के बारे में जानता है न कि अन्य योनियों को। देह कर्म के अनुसार प्राप्त मन का अनुबन्ध आत्मा से होता है। अतः आत्मा का ज्ञान मन के अनुबन्ध के अनुरूप ही होगा। इसी कारण सर्वगत विभु आत्मा भी अवरोध के कारण पारगत वस्तुओं को देखने में समर्थ नहीं होता।

राशिसंज्ञक पुरुष या आत्मा ही जन्ममरणादि रूप भोग शरीर की उत्पत्ति में कारण है। यद्यपि आत्मा अनादि है तथापि मोह, इच्छा तथा द्वेष आदि के कारण इसे धर्म तथा अधर्म में प्रवृत्ति होती है ओर धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति से ही भोग के लिए शरीर

की उत्पत्ति होती है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने निम्न उद्धरण में कहा है कि—

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः॥ च० शा० १/५२.

अर्थात् अनादि आत्मा का कोई कारण नहीं है यह शाश्वत तथा नित्य है तथापि राशि संज्ञक पुरुष (भोग के निमित्त शरीर सत्वादि से युक्त आत्मा) अपने मोह, इच्छा तथा द्वेष के कारण धर्म या अधर्म में प्रवृत्त होता है तदनुसार धर्माधर्म के फलोपभोग के निमित्त इसे शरीर ((राशि संज्ञक पुरुष के रूप में) धारण करना पड़ता है।

नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला आत्मा उपधा (तृष्णा) के कारण शरीर धारण कर दुःख प्राप्त करता है। इसी प्रकार की तृष्णाओं (इच्छाओं) का त्याग ही सभी दुःखों का नष्ट करने वाला है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने शरीर द्वारा ही उत्पादित तन्तुओं से आबद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होता है उसी प्रकार जीवात्मा अपनी ही इच्छाओं के वशीभूत होकर नानाविध कष्टों को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति इच्छाओं का त्याग कर धर्म अधर्म की प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है वह राग द्वेषादि से आरम्भ होने वाले कर्मों के अभाव से सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

उपधा हि परोहेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥
कोषकारोयथाह्यंशूनुपादत्तेवधप्रदान् ।
उपादत्तेतथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थाज् ज्ञोज्ञात्वातेभ्योनिवर्तते ।
अनारम्भादसंयोगात्तंदुःखंनोपतिष्ठते ॥ च० शा० १९५-९७.

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि सभी दुःखों का मूल कारण उपधा (तृष्णा) है और सभी प्रकार के तृष्णाओं का त्याग ही दुःखों को नाश करने वाला है। आत्मा के दुःखों में आबद्ध होने में स्वयं उसकी तृष्णायें ही अंशुकीट के समान कारण हैं। तृष्णाओं में प्रवृत्ति होने में तो आत्मा स्व न्त्र है किन्तु तृष्णाजन्य दुःखों को भोगने में वह कर्मफल के आधीन है। जीवात्मा अज्ञानता वश विविधतृष्णाओं से लिप्त होकर अनेक विध कष्टों को झेलता है। तृष्णाओं के नाश हो जाने से जीवात्मा की तज्जनित धर्म अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती और उसके लिए कर्मफल को आरम्भ करने वाले कार्यों, का विराम हो जाता है परिणामस्वरूप आत्मा की दुःखों से निवृत्ति हो जाती है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि शरीर स्थित आत्मा तृष्णाओं के कारण ही

उत्पन्न धर्माधर्म से द्वन्द्वात्मक कष्टों को भोगता है। इस सन्दर्भ में सहज ही जिज्ञासा होती है कि आखिर किस प्रकार के कर्म किए जायँ कि धर्माधर्म जनित द्वन्द्वात्मक कष्टों से मुक्ति हो सके। ऐसे कर्मों का निर्धारण करना तो अत्यन्त दुष्कर है। किन्तु इस जिज्ञासा का समाधान हमें भगवान कृष्ण के अर्जुन के प्रति उपदिष्ट निम्नोक्त वचन से प्राप्त होता है। यथा--

तस्मादसक्तः सततं कार्यंकर्मसमाचर।
असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥ भ० गी० ३/१९.

अर्थात् व्यक्ति आसक्ति रहित होकर अपने कर्त्तव्यकर्म को करे। आसक्ति रहित कर्म करते हुए व्यक्ति श्रेष्ठ ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखकर किया गया कर्म जीवात्मा को कर्मफल से नहीं बाँधता है। इस प्रकार कर्म करता हुआ भी व्यक्ति कर्मफल जनितद्वण्द्वात्मक कष्टों से मुक्त रहता है।

आत्म निर्विकार वाद की उपादेयता—

उपर्युक्त विवरणों में हमने आत्मा के निर्विकार स्वरूप के विषय में विवेचन किया इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि आत्मा स्वरूपतः निर्विकारी है तथा सुख दुखादि द्वन्द्वों से आवद्ध होने में इसकी परतन्त्रता नहीं है। आत्मा अपनी ही इच्छाओं से सुखदुःखादि द्वन्द्वों से लिप्त होकर दुःखी होता है और वह भी अपने अज्ञानवश। क्योंकि सुख दुःखादि द्वन्द्वों से लिप्त होने की अनुभूति को वह अपने पर आरोपित कर लेता है वस्तुतः लिप्त नहीं होता। जैसे कि आकाश में अनन्त वस्तुओं के होने पर भी आकाश उन वस्तुओं से लिप्त नहीं होता वरन् उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है उसी प्रकार नानाविध विषय वस्तु में रहने पर भी आत्मा उनसे लिप्त नहीं होता आत्मा की लिप्तता तो केवल अज्ञानवश आरोपित होती है। इसी तथ्य को भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के प्रति निम्नोक्त वचन से कहा है। यथा—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मानोपलिप्यते॥ श्रीमद्भ० गी० १३/३२.

उपर्युक्त भगवदुक्त वचन से स्पष्ट है कि सर्वगत आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण किसी वस्तु से लिपायमान नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर में स्थित आत्मा भी देह के विषयादि तथा गुणों से लिप्त नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण आत्म निर्विकारवाद की उपादेयता समझने के लिए अत्यन्त प्रासंगिक है। व्यक्ति को यदि यह बोध रहे कि उसका शरीर वह स्वयं नहीं है। शरीर तो

केवल एक आश्रय है। जैसे कि घर में रहने वाला व्यक्ति घर नहीं होता उसी प्रकार शरीर में रहने वाली आत्मा शरीर नहीं हो सकती। इसी तथ्य को भगवान शंकराचार्य ने अपने निर्वाणषटक में निम्नोक्त रीति से प्रतिपादित किया है—

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानिनाहंनचश्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमिर्नतेजोन वायुः चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥
न च प्राण संज्ञो न वै पञ्चवायुर्न वा सप्तधातुर्न वा पञ्चकोशः।
न वाक्पाणिपादं न चोपस्थपायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

शंकराचार्यकृत निर्माणषट्क

उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट किया गया है कि आत्म तत्व न मन है, न बुद्धि, न अहंकार न चित्त, न पंच ज्ञानेन्द्रिय और नहीं आकाशादि पंचभूत यह तो चिदानन्द रूप शिव तत्त्व है। न तो यह शरीर स्थित प्राण है, न ही प्राणादि पांच वायु, न तो रसादि सप्त धातु है, न ही अन्नमयादि पाँच कोश और न ही हस्तपादादि पांच कर्मेन्द्रिय। यह तो चिदानन्द रूप शिवतत्त्व है।

इस प्रकार के आत्म स्वरूप का बोध होने से व्यक्ति शरीर या मन के दुःखित होने पर भी स्वयं को दुःखी नहीं मानता। क्योंकि वह जानता है कि शरीर या मन वह स्वयं नहीं है परिणामस्वरूप आत्मा जो कि चैतन्य का कारण है शरीर एवं मन से निर्लिप्त होने पर शरीर तथा मन में दुःख होने पर भी स्वयं को दुःखी नहीं मानता। परिणाम स्वरूप व्यक्ति आतंक या मानसिक उद्वेगों के कुप्रभाव से बचा रहता है तथा बहुत से शारीरिक या मानसिक कष्ट काल प्रभाव से अपने आप शान्त हो जाते हैं।

आयुर्वेद के आचार्यों ने आत्मा की निर्विकारिता प्रतिपादित कर लोक जनमानस को यह बतलाने का प्रयास किया है कि व्यक्ति को स्वयं का आत्म तत्व सर्वगत होने के कारण सम्पूर्ण शरीर व्यापी है तथा इसका सम्बन्ध शरीरगत प्रत्येक कोशाओं से है जो कि शरीर का सूक्ष्मतम स्वतन्त्र एकक (यूनिट) है। ऐसी स्थिति में यदि शरीरगत कोई विकृति होती है और यदि व्क्ति उससे प्रभावित होकर स्वयं को कष्ट में मानने लगता है तो उस स्थानिक विकृति का व्यापक आत्म तत्व से सम्बन्ध हो जाने से विकृति का प्रभाव भी व्यापक हो जाता है परिणामस्वरूप मन बुद्धि इन्द्रियाँ सभी प्रभावित हो जाती हैं। मन बुद्धि के प्रभावित होने से शरीरगत अनेक अन्तःस्रावी ग्रंथियों से स्राव जिन्हें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में हारमोन्स कहा जाता है, होने लगता है जिससे रोग की और भी वृद्धि होने लगती है। यद्यपि अंतःस्रावी ग्रन्थियों का स्राव शरीरगत प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया के रूप में ही होता है तथापि मन बुद्धि के सम्बन्ध से यह प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया भी स्थाई स्वरूप की हो जाती है जिसका शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और कभी-

कभी तो प्रतिक्रिया इतनी तीव्र होती है कि सम्बन्धित मनुष्य का शरीर उसे सहने में असमर्थ हो जाता है तथा व्यक्ति की अचानक मृत्यु हो जाती है जिसे आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में मानसिक आघातजन्य हृदयातिपात (शॉक इन्ड्यूस्ड कोलैप्स) कहते हैं। इसके विपरीत यदि व्यक्ति को आत्म निर्विकारवाद का बोध एवं विश्वास हो तो वह किसी व्याधि या कष्ट से ग्रस्त होने पर भी मानसिक रूप से उद्वेलित नहीं हो सकता। परिणाम स्वरूप व्याधि ग्रस्त व्यक्ति धीरता पूर्वक सहज भाव से व्याधि के प्रतिकार का उपाय करके तज्जनित कष्ट से शीघ्र ही मुक्त हो जायेगा।

इसी प्रकार आत्म निर्विकार वाद से परिचित व्यक्ति अनागत व्याधियों के आशंका के प्रति भी भयहीन रहता है जिससे कि अनावश्यक मानसिक तनाव से मुक्त होकर स्वस्थ एवं सुखी जीवन व्यतीत करने में सक्षम हो सकेगा। साथ ही आत्म निर्विकार वाद के प्रति विश्वास रखने वाला सहज रूप से सद्वृत्त एवं स्वस्थवृत्त परायण रहेगा जिससे कि वह अनायास ही नानाविध रोगों से ग्रस्त होने से बचा रहेगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त की उपयोगिता रोगों से प्रतिकार तथा रोगोपचार कर्म इस उभय विध चिकित्सा शास्त्रीय प्रयोजन की सिद्धि में है।

वस्तुतः देखा जाय तो आत्म निर्विकार वाद की मुल भित्ति पर ही आयुर्वेद का मूल उद्देश्य टिका हुआ है। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ एवं सुखी जीवन ही है। इसी उद्देश्य की पूर्ति में आयुर्वेद का सम्पूर्ण वाङमय केन्द्रित है। आत्म निर्विकारवाद के प्रति सहज बोध एवं विश्वास के बिना स्वस्थ एवं सुखी जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यदि आत्म निर्विकारवाद को आयुर्वेद वाङ्मय की आत्मा कहा जाय तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। विश्व के अन्य सभी चिकित्सा शास्त्रों की अपेक्षा आयुर्वेद का यह भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है कि इसकी आधारशिला आत्म निर्विकारवाद रूपी शाश्वत नित्य अविनाशी सुदृढ़ भूमि पर अविछिन्न रूप से टिकी है।

आयुर्वेद के आद्य उपदेष्टाओं की लोक कल्याण के निमित्त यह अहैतुकी कृपा ही हैं जो कि उन्होंने सर्वभूतानुकम्पा से आयुर्वेद वाङ्मय में आत्म निर्विकार वाद रूप सिद्धान्त को इस प्रकार अनुस्यूत कर दिया (गूँथ दिया) है कि काल प्रवाह से आयुर्वेद के परवर्ती आचार्य चाहें जो भी हों इसको अलग नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त को निकाल देने पर आयुर्वेद का स्वरूप आयुर्वेद नहीं रह जायेगा। आयुर्वेद की आधुनिक काल में जो भी यशोहानि हो रही है वह भी आत्म निर्विकार वाद जैसे अनेक सिद्धान्तों की उपेक्षा के ही कारण। आयुर्वेद भी सम्प्रति अन्य चिकित्सा प्रणालियों की भांति व्यवसाय परक माना जाने लगा है जो कि इसकी मूल भावना के बिल्कुल विपरीत है यदि हम आयुर्वेद की आरम्भिक अवतारणा प्रसंग पर दृष्टिपात करें तो यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा

कि आयुर्वेद के मूल उपदेष्टाओं की दृष्टि में आयुर्वेद का समाज के प्रति क्या दृष्टिकोण था? इस प्रसंग में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा —

अथ मैत्री परः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।
शिष्येभ्योदत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया॥ च० सू० १/३०.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने सभी प्राणियों के प्रति कृपा भाव तथा मैत्रीभाव से अपने ६ शिष्यों को आयुर्वेद का पुण्य ज्ञान दिया। इस प्रसंग में यह ध्यान देना चाहिए कि आयुर्वेद को सभी प्राणियों के हित के निमित्त मैत्रीभाव पूर्वक प्रसारित किया गया। यहाँ पर उपर्युक्त विवरण देने का अभिप्राय यह है कि आयुर्वेद धनोपार्जन निमित्त मात्र एक चिकित्सा प्रणाली नहीं है प्रत्युत पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के सिद्धि में व्यापृत समग्रजीवन दर्शन या विज्ञान है। अन्य चिकित्सा प्रणालियों से अर्थ और काम की सिद्धि तो हो सकती है किन्तु स्वस्थ एवं सुखी जीवन का मूलाधार धर्म की सिद्धि तो अत्यन्त कठिन है। क्योंकि अन्य चिकित्सा प्रणालियों में आध्यात्मिक तत्त्वों के निरूपण का नितान्त अभाव है। आत्म निर्विकारवाद जैसे आध्यात्मिक तत्त्वों के अभाव में धर्म तथा मोक्ष सिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार किया जाय तो धर्म का पालन केवल पुण्य लाभ के लिए ही नहीं वरन् स्वस्थ एवं सुखी जीवन के निमित्त भी अनिवार्य है। क्योंकि धर्म के पालन से व्यक्ति अनायास ही अनेक दुर्व्यसनों से बच जाता है जो कि परोक्ष रूप से उसके स्वास्थ्य रक्षा में सहायक है। धर्म का वास्तविक स्वरूप भी अभ्युदय (भौतिक समृद्धि) एवं निःश्रेयस सिद्धि (मोक्ष अथवा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति) ही बतलाया गया है जैसा कि—वैशेषिक सूत्रकार आचार्य कणाद के निम्नोक्त सूत्र से ज्ञात होता है। "यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि स धर्मः" अर्थात् जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है। आत्म निर्विकारवाद के प्रति विश्वास रखने वाला व्यक्ति यथासंभव अधर्म से विरत तथा धर्म पालन में रत रहता है, जिससे कि उसे स्वस्थ एवं सुखी जीवन की उपलब्धि होती है।

उपर्युक्त अवतरणों में हमने रोगी या व्यक्ति से सम्बन्धित आत्म निर्विकारवाद की उपादेयता के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया है। आत्म निर्विकारवाद की उपादेयता चिकित्सक के प्रति भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के प्रति चिकित्सक का बोध एवं विश्वास होने से वह आतुरों के रोगोपचार क्रम में सतत प्रयत्नशील रहता है कि उसकी आत्म शक्ति बनी रहे। एतदर्थ चिकित्सक रोगी को यह विश्वास दिलाता है कि अर्थात् उसका स्वयं तत्त्व तो निर्विकार है उसमें तो किसी रोग का होना असंभव है। रोग तो उसके शरीर के किसी अंग विशेष में है उसका शमन समुचित उपचार से हो जायेगा। अतः उसे यह बोध नहीं होना चाहिए कि उसका स्वयं तत्त्व रोग ग्रस्त है। इस

प्रकार के विश्वास से रोग ग्रस्त आतुर की चिकित्सा सरल एवं शीघ्र साध्य होती है। इसके अतिरिक्त चिकित्सक को भी पूर्ण विश्वास रहता है कि आत्म तत्त्व अथवा प्रकारान्तर से कहें तो चेतन तत्त्व शरीर से भिन्न तथा निर्विकारी होने से रोगी के रोग की चिकित्सा दुःरुह नहीं होगी। यदि प्रभावित व्यक्ति के मनोबल को इस तथ्य से दृढ़ करा दिया जाय कि उसके शरीर के किसी अंग विशेष में अथवा किसी प्रणाली विशेष में विकृति है जिससे कि उसका सम्पूर्ण अस्तित्व वाला चेतन तत्त्व प्रभावित नहीं हो सकता तो उसे शीघ्र ही रोग से मुक्ति मिल जाती है। चिकित्सक के आत्म विश्वास का प्रभाव रोगी पर पड़े बिना नहीं रह सकता। परिणामस्वरूप आत्मबल वाले रोगी की चिकित्सा सरल एवं सुसाध्य होती है इस प्रकार आत्म निर्विकार वाद की उपादेयता रोगी एवं चिकित्सक दोनों के ही सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण परिलक्षित होती है। स्वास्थ्य रक्षा की उभय विध (प्रतिकारात्मक तथा उपचारात्मक) पद्धतियों में आत्म निर्विकारवाद की भूमिका असंदिग्ध रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आत्मनिर्विकार वाद सिद्धांत की उपादेयता इस तथ्य में भी सन्निहित है कि सर्वसाधारण जन में जो विविध रोग एवं विविध कष्ट व्याप्त हैं उससे उदारचेता जनों में उनके प्रति सहज सहानुभूति होने से उनको मानसिक कष्ट होता है तथा लोक व्याप्त कष्टों को दूर करने में अपनी निरुपायता का बोध होने से नैराश्य पूर्ण भाव आ जाता है। उदारचेता जनों के लिए यह स्थिति अत्यन्त कातरता पूर्ण होती है। इस स्थिति में भी धैर्यपूर्वक यथासम्भव लोक कष्ट को दूर करने के उनके प्रयत्न करने में आत्म निर्विकार वाद एक प्रभावी प्रेरणास्रोत का कार्य करता है। क्योंकि लोक व्याप्त विविध रोग या द्वन्द्वात्मक कष्ट जो कि कालक्रम से होने वाले अवश्यंभावी अपरिहार्य परिस्थितियाँ हैं जिससे व्यापक जन समुदाय अज्ञानवश पीड़ित होता है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रकृति जन्य नश्वर अनित्य, जरा रोग मरणशील शरीर ही विविध कष्टों का आश्रय है न कि नित्य, शाश्वत अपरिणामशील निर्विकार आत्मा। जरारोग मरणशील शरीर का तो रोग ग्रस्त, पीड़ा युक्त तथा द्वन्द्वात्मक भावों से लिप्त होना अपरिहार्य है अतः इसमें शोक क्या करना। इसी तथ्य को भगवान कृष्ण ने अर्जुन के प्रति निम्नोक्त वचन से उपदेश दिया था। यथा—

> जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्युःध्रुवं जन्ममृतस्य च।
> तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ भ० गी० २/२०

अर्थात् जो मनुष्य जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है तथा जो मरता है वह निश्चित ही जन्म लेगा अतः इस अपरिहार्य तथ्य के प्रति शोच करना उचित नहीं।

उदार चेता लोग जो कि अपनी सहज करुणा वृत्ति के कारव लोक व्याप्त विविध कष्टों से मानसिक पीड़ा से दुखित होते हैं वे भी इस प्रकार के विवेक युक्तविचार के

आलोक में अपनी मानसिक पीड़ा से त्राण पाते हैं। क्योंकि आत्म निर्विकारवाद रूपी शाश्वत आलोक में उनका अज्ञान रूप तमस का नाश हो जाता है तथा वे इस तथ्य से आश्वस्त हो जाते हैं कि आत्मा तो जन्ममरण रहित नित्य शाश्वत तत्त्व है जो कि शरीर के नष्ट होने पर भी विद्यमान रहता है। जैसा कि भगवान कृष्ण के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

न जायते म्रियते वा कदाचित्, नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

भ० गी० २/२७

अर्थात् यह आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न कभी यह हुआ, न कभी होगा न कभी वर्तमान है। यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुराण पुरुष है, शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता।

यद्यपि आत्मा के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण आयुर्वेद के ग्रन्थों से उद्धृत नहीं किया गया है तथापि यह भारतीय जन मानस की सम्पूर्ण संस्कृति की प्राणभूत है जिसे कि आयुर्वेद के व्यापक परिप्रेक्ष्य से बाहर नहीं किया जा सकता। आत्म निर्विकार वाद के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण यद्यपि इसकी व्यापकता को देखते हुए यथेष्ट नहीं है तथापि ग्रन्थ विस्तार भय से अधिक वर्णन सम्भव नहीं है, न ही प्रासंगिक। पाठकों के निदर्शनार्थ कुछ विवेचन प्रस्तुत किया गया।

त्रिदोषवाद सिद्धान्त—

त्रिदोष से आयुर्वेद वाङ्मय में वात, पित्त एवं कफ ये तीन शारीरिक दोष ग्रहण किया जाता है जो कि प्राकृतावस्था या साम्यावस्था में शरीर स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं तथा विकृतावस्था में नानाविध रोगों की उत्पत्ति में कारण हैं। आयुर्वेद के—प्राचीन आचार्यों ने शरीरगत सम्पूर्ण रचनाओं के मूल उपादानों के रूप में पंचभूतों का निर्देश किया है। अर्थात् शरीरगत सभी अंग प्रत्यंग एवं धातु उपधातुओं का निर्माण पंचभूतों से हुआ है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक निम्नोक्त उद्धरण में कहते हैं। यथा—

"सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे"—च० सू० २६।१०.

जहाँ कि रचनाशारीर के मूल उपादान—पंचभूत हैं वहीं क्रियाशारीर के मूल में त्रिदोष हैं। शरीर के रचनात्मक संगठनों में पंचभूतों की उपादानात्मक भूमिका जीवन के प्रारम्भ से लेकर जीवन के अन्त तक ही नहीं प्रत्युत मरणोत्तर काल में भी रहती है। इसी कारण मृतावस्था को पंचत्व संज्ञा से अभिहित किया जाता है। त्रिदोष की स्थिति पंचभूतों से भिन्न है। त्रिदोष की क्रिया केवल जीवन से जुड़ी है तथा इसका सम्बन्ध

प्राणी जगत से ही होता है। पंचभूतों की उपादानात्मक भूमिका संसार के सम्पूर्ण चेतन अचेतन पदार्थों में होती है। त्रिदोष की क्रियात्मक भूमिका केवल चेतन प्राणियों में उपलब्ध होती है। इस प्रकार के पंचभूतों एवं त्रिदोष की स्थिति एवं कार्य की भिन्नता को दृष्टिगत कर आयुर्वेद के प्राचीन मनीषियों ने पंचभूत सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के निमित्त त्रिदोषवाद सिद्धांत की उपस्थापना किया।

भारतीय दर्शन के प्रायः सभी आचार्यों ने किसी न किसी प्रकार सृष्टि के मूल तत्वों में पंचभूतों की भूमिका स्वीकृत किया है। आयुर्वेद में भी तदनुसार चेतन अचेतन सभी पदार्थों की उत्पत्ति में पंचभूतों को ही उपादान तत्वों के रूप में मान्यता प्राप्त है। चूंकि आयुर्वेद जीवन से सम्बन्धित समग्र दर्शन एवं विज्ञान है, अतः जीवन से सम्बन्धित सभी कार्यों की प्राणी के शरीरस्तर पर सोपपतिक तथा युक्तिसंगत व्याख्या पंचभूतों के परिप्रेक्ष्य में सम्भव नहीं थी और न तो रोगों के सन्दर्भ में ही पंचभूतों की क्रियाकारिता की प्रत्यक्ष भूमिका दृष्टिगोचर थी। इसके अतिरिक्त जगत के पोषक, शोषक एवं प्रेरक तत्वों के रूप में सोम, सूर्य तथा वायु इन्हीं तीन तत्वों की प्रधानता प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर थी। अतः आयुर्वेद के आद्य आचार्यों ने प्राणी जीवन के क्रियामूलक शक्तियों के रूप में त्रिदोषवाद—सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जिसमें सोम तत्व का प्रतिनिधिभूत कफ दोष, सूर्य तत्त्व का प्रतिनिधिभूत पित्तदोष तथा प्रेरक तत्व वायु का प्रतिनिधि वात दोष है। त्रिदोषवाद सिद्धान्त की उपस्थापना मात्र कल्पना के आधार पर ही नहीं की गई है। प्रत्युत सोम, सूर्य तथा अनिल तत्व की प्रत्यक्ष मूलक क्रिया एवं प्रभाव को प्रकृति रूपी महती प्रयोगशाला में ऋषियों ने प्रत्यक्षीकृत करके स्थिर किया है। वेदों में भी जगत के इन धारक, पालक एवं प्रेरक तत्वों का भूयशः व्याख्यान प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ सोम तत्व की महत्ता का सृष्टि के मूल तत्व के रूप में यजुर्वेद के निम्नोक्त मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है। यथा

"वाज स्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमोराजानमोषधीष्वप्सु।
ताऽअस्मभ्यमधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रेजागृयाम पुरोहिताः स्वाहा॥"

यजुर्वेद ९।२३.

उपर्युक्त मन्त्र का तात्पर्य है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम सृष्टि के आरम्भ में औषधि और जल के उपादान रूप सोम तत्व को उत्पन्न किया। सोम मूलक वे औषधि और जल हमारे लिए रसयुक्त मधुरता से सम्पन्न हों। यज्ञादि कर्मों में उन औषधियों एवं जलों से अभिषिक्त हुए हम अपने राज्य में सबका कल्याण करने वाले होते हुए सदा सावधानी पूर्वक रहें।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि वेदों में सोम तत्व की प्रधानता स्वीकारते

हुए इसे सृष्टि के क्रियाकारित्व शक्ति वाले तत्व के रूप में प्रतिपादित किया गया है जिससे कि सभी औषधियाँ तथा जलपुष्ट होते हैं। इसी प्रकार सूर्यतत्व की सृष्टि के सन्दर्भ में प्रधानता का प्रतिपादन यजुर्वेद के निम्नोक्त मंत्र से ज्ञात होता है।

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्राद्यावापृथवीऽअन्तरिक्षं सूर्यआत्माजगतस्तस्थुषश्चस्वाहा। यजुर्वेद १७।१.

प्रस्तुत मन्त्र का आशय है कि यह अद्भुत सूर्य दिव्य रश्मियों का पुन्ज है। यही मित्र, वरुण और अग्नि के चक्षु के समान प्रकाशवान् हैं। स्थावर जंगम रूप विश्व की आत्मा और संसार को प्रकाशित करने वाले थे सूर्य उदित होकर स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपने तेज से परिपूर्ण करते हैं। यह आहुति सूर्य के निमित्त स्वाहुत हो।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि सूर्य ही विश्व के समस्त केतन अचेतन पदार्थों के सृजन का मूल कारण हैं। ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों पृथ्वी, स्वर्ग, एवं अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर सूर्य ही इन्हें प्रकाशित करता है। सूर्य ही समस्त जगत का मित्र भाव से पालन वरुण भाव से आप्यायन तथा तद्गत जलीयांश का शोषण एवं सोमांश का पाचन करता है। इसी प्रकार अग्नितत्व और सोमतत्व का प्रेरक वायु तत्व है। वायु तत्व की प्रेरणा से ही अग्नितत्व एवं सोमतत्व अपने कार्यों के सम्पादन में समर्थ होते हैं। यह तथ्य यजुर्वेद के निम्नोक्त मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है। यथा—

"अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामेद्भ्ययओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो अधिसम्भृतं पयः। तां न इष भूर्जंधत्त मरुतः। यजुर्वेद १७।१.

अर्थात् हे मरूद्गणं तुम प्रसिद्ध दाता हो। तुम्हीं अपनी शक्ति से पर्वतों को आश्रित किये हुए हो तुम्हीं अपनी शक्ति से जल, औषधि एवं गौओं में रस, बल को धारण किये हो। हे मरुत अपनी शक्ति से हम लोगों में रस एवं बल का आधान करो (धारण करो)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि वायु तत्व ही प्रेरक तत्व के रूप में शरीर के रस एवं बल का धारक है।

इस प्रकार हम ज्ञान के मूल स्रोत वेदों में सोम, सूर्य एवं अनिल (वायु) इन त्रिविध तत्वों का सृष्टि के धारक, पोषक एवं प्रेरक तत्वों के रूप में उल्लेख पाते हैं।

जगत् के इन त्रिविध तत्वों की क्रियाकारित्व शक्ति को जान समझकर आयुर्वेद के मूल उपदेष्टाओं ने शरीर में इनके प्रतिनिधिभूत वात पित्त एवं कफ इन त्रिविध तत्वों को त्रिदोष के रूप में प्रतिपादित किया है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

"विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिलो यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफ पित्तानिलास्तथा ॥ सू० सू० २१/८.

अर्थात् अपने विसर्ग क्रिया (पोषण कर्म), आदानक्रिया (शोषणकर्म) तथा विक्षेपणकर्म (पोषण एवं शोषणकर्मों की प्रेरणा) से क्रमशः सोम, सूर्य एवं वायु जिस प्रकार जगत् का धारण करते हैं उसी प्रकार कफ पित्त एवं वायु, देह का धारण करते हैं। आचार्य चरक ने भी इस तथ्य को लोकगत अग्नि, सोम एवं वायु के शुभाशुभ कार्य तथा शरीरगत अग्नि, सोम एवं वायु के शुभाशुभ कार्यों का विवेचन करते हुए उल्लेख किया है । यथा—

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानिकरोति ।
सोम एवशरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानिकरोति ॥
च० सू० १२/११-१२.

अर्थात् अग्नि तत्व ही शरीर में पित्त दोष के अन्तर्गत होकर कुपिताकुपित स्थिति के अनुसार शरीर के लिए हितकर व अहितकर कार्य करता है । इसी प्रकार सोमतत्व शरीर में कफ के अन्तर्गत रहता हुआ कुपिताकुपितावस्था में शरीर के लिए हितकर व अहितकर कार्यों को सम्पादित करता है । इसी प्रकार लोकगत वायु व शरीरगत वायु के प्राकृत एवं वैकृतभाव का लक्षण विस्तार से निम्नोक्त उद्धरण में विवेचित किया गया है । यथा—

शरीरगत प्राकृत वायु के कार्य —वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेता च मनसः''' आयुषोऽनुवृत्ति प्रत्ययभूतोभवत्यकुपितः । कुपितस्तुखलुः शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपतिबलवर्णसुखायुषामुपघाताय । प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोकेचरतः कर्माणीमानिभवन्ति, तद्यथाधरणीधारणं ज्वलनोज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहणनानां सन्तान गतिविधानं, सृष्टिश्चमेघानाम् अपांविसर्गः ''''''''शस्याभिवर्धनमभिक्लेदोपशोषणे अवैकारिकविकारश्चेति । प्रकुपितस्यखल्वस्यलोकेषुचरतः कर्माणीमानिभवन्ति, तद्यथाशिखरिशिखरावमथनमुन्मथनमनोकहानाम्, उत्पीडनं सागराणामुद्वर्तनं सरसां''''''''चतुर्युगान्तकराणांमेघसूर्यानलानिलानां विसर्गः । च० सू० १२/८.

उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट है कि आचार्य चरक ने लोकगत एवं शरीरगत वायु के प्राकृतावस्था तथा वैकृतावस्था के कार्यों का विस्तृत विवेचन किया है । हम इसका विस्तारपूर्वक विवेचन आगे इसी प्रकरण में करेंगे ।

तत्व के बदले इनका दोष के रूप में प्रतिपादन भी सोद्देश्य है । तत्व से अभिप्राय होता है वे पदार्थ जो अविकृत रूप में रहते हुए अपना अस्तित्व बनाये रखें । किन्तु दोषों का यह स्वभाव है कि स्वयं विकृति भाव को प्राप्त होकर दूसरों को दूषित करते हैं । इसीलिए दोष का निरुक्ति परक अर्थ होता है :—"दूषणात् दोषः" अर्थात् जो

दूषित करें वे दोष हैं। किन्तु दोषों (त्रिदोष) की यह भी विशेषता है कि प्राकृतावस्था में ये शरीर का धारण पोषण भी करते हैं। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य विजय-रक्षित ने दोषों का निम्नोक्त निर्वचन प्रस्तुत किया है। यथा—

"प्रकृत्यानुबन्धकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्"। मधुकोश पंचनिदानप्रकरणम्

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि जो प्राकृतावस्था में जीवन को धारण करते हुए भी विकृतावस्था में शरीर में धातुओं को दूषित करते हुए रोग उत्पन्न करते हैं अतः दोष कहे जाते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने त्रिदोष को देह की उत्पत्ति में कारण बतलाते हुए जीवन का धारक माना है तथा इनके विकृत हो जाने पर अनेकविध रोगों की उत्पत्ति हो जाती है तथा मृत्यु के भी कारण हैं। इसी तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से स्पष्ट किया है। यथा—

"वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। ते एव व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। सु० सू० २१/३.

अर्थात् वात पित्त एवं कफ ही देह की उत्पत्ति में कारण हैं। ये तीनों ही अविकृत अवस्था में शरीर के अधोभाग (वातस्थान) मध्यभाग (पित्तस्थान) तथा ऊर्ध्वभाग (कफस्थान) में स्थित रहते हुए शरीर को धारण पोषण करते हैं। इस प्रकार इन तीन दोषों पर आश्रित होने के कारण शरीर को कोई-कोई आचार्य त्रिस्थूण भी कहते हैं। ये ही तीनों दोष जब विकृत हो जाते हैं तो रोग या मृत्यु के कारण होते हैं।

आचार्य चरक ने भी निम्नोक्त उद्धरण में त्रिदोष की स्वास्थ्य रक्षा में महत्ता तथा विकृति में रोगों की उत्पत्ति में हेतु बतलाया है। यथा—

"सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्ण-सुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति सम्यगेवाचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महता-पुरुषमिहचामुष्मिंश्च लोके, विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति। च० सू० १२/१३.

उपर्युक्त चरकोक्त वचन से स्पष्ट है कि वात, पित्त एवं श्लेष्मा प्राकृतावस्था में व्यक्ति के इन्द्रियों को स्वस्थ रखते हुए तथा बल, वर्ण एवं सुख युक्त जीवन से संलग्न रखते हुए महान कार्यों का सम्पादन कराते हैं। यथोचित कार्यों का सम्पादन कराते हुए ये त्रिदोष इस लोक में धर्म, अर्थ एवं काम के सदृश त्रिविध पुरुषार्थों को तथा परलोक में निःश्रेयस (मोक्ष) पुरुषार्थ की प्राप्ति कराते हैं। इस प्रकार प्रकृतिभूत त्रिदोष

पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक हैं। किन्तु ये ही त्रिदोष विकृतिभाव को प्राप्त होने पर ऋतुओं (शीत, उष्ण एवं वर्षा) की विकृतियों के समान अनेक विध हानिकारक भावों से ऋतु के पक्ष में लोक को तथा दोषों के पक्ष में शरीर का उपतप्त (पीड़ित) करते हैं।

त्रिदोष भी पंचभूतात्मक हैं—

इस सन्दर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि त्रिदोष भी पांचभौतिक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि शरीर में वायु, अग्नि एवं जल की क्रियाशीलता तथा प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से वात, पित्त एवं कफ ये तीन दोष ही वायु, अग्नि एवं जल के प्रतिनिधिभूत माने गये हैं। यद्यपि त्रिदोष भी पाँचभौतिक हैं तथापि इनमें तत्तद् भूतों के प्रकर्ष (आधिक्य) के कारण इनकी तत्तद् संज्ञा अभिहित की गई है। जैसा कि आचार्य वाग्भट के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

अम्बुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः। तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च व्यपदेशस्तु भूयसा ॥
अ० हृ० सू० ९/२.

अर्थात् सभी द्रव्य पंचभूतों के संयोग से उत्पन्न होते हैं तथापि जिस भूतविशेष की अधिकता होती है उसी के आधार पर द्रव्यविशेष की संज्ञा होती है। इसी तथ्य को आचार्य सुश्रुत ने निम्नोक्त वचन से पुष्ट किया है। यथा—

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायात् द्रव्याभिनिर्वृत्ति उत्कर्षस्त्वभिव्यंजकः इदं पार्थिवमिदमाप्यम् इत्यादि। सु० सू० ४१/३.

अर्थात् सभी द्रव्यों की उत्पत्ति सभी पंचभूतों की उपस्थिति से होती है तथापि किसी भूतविशेष का आधिक्य उस द्रव्यविशेष का अभिव्यंजक अर्थात् प्रकट करने वाला होता है जिसके कारण द्रव्यविशेष पार्थिव है, आप्य है ऐसी संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं।

यद्यपि आचार्य का उपर्युक्त विवरण औषधि द्रव्यों के सन्दर्भ में कहा गया है तथापि इसे प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से व्यवहृत किया जा सकता है। सभी आचार्यों ने शरीरगत सभी पदार्थों को पाँचभौतिक माना है। उदाहरणार्थ आचार्य चरक ने कहा है कि—

"सर्वमिदं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे" च० सू० २६/१०.

आचार्य सुश्रुत का निम्नोक्त वचन भी सभी द्रव्यों का पांचभौतिकत्व स्पष्ट करता है। यथा—

पंचभूतात्मके देहे ह्याहारः पांचभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥ सु० सू० ४६/५२४.

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर त्रिदोष का पांचभौतिकत्व सिद्ध होता है। तथापि व्यवहार की दृष्टि से वातदोष को वायु एवं आकाश के संयोग से उद्भूत, पित्त को अग्नि एवं जल के संयोग से उद्भूत तथा कफ को जल एवं पृथ्वीभूत के संयोग से उद्भूत माना जाता है। जैसा कि आचार्य वाग्भट के निम्न वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

'वाय्वाकाशाभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अम्भपृथिवीभ्यां श्लेष्मा''

अ० सं० २०/३.

अर्थात् वायु आकाश के संयोग से वायु, अग्नि के उत्कर्ष (आधिक्य) से पित्त तथा जल एवं पृथ्वी के संयोग से कफ दोष की उत्पत्ति होती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद के आद्य आचार्यों ने त्रिदोष के पंचभूतात्मक स्वरूप को तो स्वीकारा है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पाँच भूतों की पाँच संख्या को न ग्रहण कर त्रिदोष का ग्रहण किया है। व्यावहारिक दृष्टि से क्रिया शारीर तथा विकृतिशारीर के प्रतिपादन-सौकर्य के लिए हीत्रिदोष सिद्धान्त की स्थापना की गई है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी पचभूतों की अपेक्षा त्रिदोष सिद्धान्त की मान्यता का एक प्रमुख कारण यह है कि पंचभूतों में आकाश तो सर्वव्यापक है अतः उसका ग्रहण न भी किया जाय तो कोई क्षति नहीं क्योंकि कोई भी वस्तु आकाश निरपेक्ष हो ही नहीं सकती अतः त्रिदोष में आकाश की गणना नहीं की गई है। इसी प्रकार क्रियाकारित्व की दृष्टि से पृथ्वी भूत की उपयोगिता वायु, अग्नि एवं जल की अपेक्षा अत्यन्त न्यून है, क्योंकि पृथ्वी तो सभी द्रव्यों को आधार प्रदान करती है जिसमें विविध क्रियायें सम्पन्न होती हैं। अतः क्रियाशीलता की दृष्टि से पृथ्वी का विशेष महत्व नहीं है। इसी कारण त्रिदोष में पृथ्वी भूत की परिगणना नहीं की गई है। वस्तुतः त्रिदोष भी पांचभौतिक है जिसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।

त्रिदोष के गुण व कर्म —

त्रिदोष के गुणों का आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरणों में उल्लेख किया है।

वातदोष के गुण—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥ च० सू० १।५९.

रूक्ष (रूखापन), शीत, लघु(हल्का), सूक्ष्म (सभी पदार्थों में व्याप्त रहने वाला), चल (गतिशील), विशद (चिपचिपापन रहित) एव खर (खुरदुरा) ये वात के गुण हैं। इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों से वात का शमन होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि वात दोष पांचभौतिक होता है क्योंकि वायु का नैसर्गिक गुण तो स्पर्श है किन्तु उपर्युक्त जो गुण बतलाये गये हैं वे अन्य भूतों के

अन्योन्यानुप्रवेश से आ जाते हैं। इसी कारण पृथ्वी का रूक्ष तथा खर गुण, जल का शीत गुण, अग्नि का सूक्ष्म गुण तथा आकाश का विशद गुण वात में भूतान्तरानुप्रवेश से आ जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि सभी कार्य द्रव्य (व्यवहार में आने वाले पदार्थ) पांचभौतिक होते हैं क्योंकि कार्यद्रव्यों का निर्माण पंचीकृत भूतों से होता है। पंचीकृतभूत स्थूलस्वरूप के होते हैं इसी कारण स्थूल स्वरूप के भूतों से ही स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

पित्त दोष के गुण—

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥ च० सू० १।६०.

स्नेहयुक्त (चिकनाहट वाला), उष्णतीक्ष्ण (शीघ्र प्रभावकारी), द्रव (स्पन्दनशील), अम्लरसवाला, सर (गमनशील) तथा कटु (कड़ुवा) ये गुण पित्त के हैं। इन गुणों से विपरीत गुण वाले द्रव्यों से पित्त शान्त होता है।

पित्त के उपर्युक्त गुणों में भी कुछ गुण भूतान्तरानुप्रवेश (एक भूत का अन्य भूतों से संयोग) होने से इसमें आ जाते हैं। पित्त स्वरूपतः आग्नेय (अग्निगुण-प्रधान) होता है तथापि जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि त्रिदोष पांच भौतिक है अतः अन्य भूतों के गुणों का पित्तदोष में होना स्वाभाविक है। इसी कारण स्निग्धता, द्रवत्व तथा सरत्व ये गुण जल के हैं किन्तु भूतान्तरानुप्रवेश से पित्त में आ जाते हैं। पित्त के गुणों में कुछ गुण रसों से सम्बन्धित हैं। यथा—अम्ल एवं कटु। पित्त के अम्ल, कटु गुण वस्तुतः पाचक पित्त के हैं। पाचक पित्त का कार्य भोजन का पाचन होता है। अतः अपने इन गुणों से पित्त का पाचक भेद आहार के पाचन में सहायक होता है।

कफ दोष के गुण—

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमंयान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः॥ च० सू० १।६१.

गुरु (भारी), शीत, मृदु (मुलायम) स्निग्ध, मधुर, स्थिर (गतिरहित) तथा पिच्छिल (चिपचिपा) ये कफ दोष के गुण हैं। इन गुणों के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से कफ का शमन होता है।

चूंकि कफ जल एवं पृथ्वीभूत के संयोग से होता है अतः इसमें जल एवं पृथ्वी के गुणों का आना स्वाभाविक है। कफ के गुणों में शीत, मृदु, स्निग्ध एवं मधुर गुण जल-भूत के हैं तथा—गुरु, स्थिर गुण पृथ्वी भूत के हैं। पिच्छिल गुण जल एवं पृथ्वी के संयोग से उत्पन्न गुण है। उपर्युक्त कफ के गुण बिवरण से स्पष्ट है कि कफ में जल भूत

का अधिक प्रकर्ष है इसी कारण इसमें जल के अधिक गुण पाये जाते हैं। इसी कारण कफ की निरुक्ति भी "केन जलेन फलति इति कफः" अर्थात् जो जल से वृद्धि को प्राप्त हो वह कफ है, अन्वर्थक है।

त्रिदोष के कर्म—

त्रिदोष के गुणों के विवरण के अनन्तर त्रिदोष के कर्मों का विवेचन किया जा रहा है जैसा कि आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरणों में प्रस्तुत किया है।

वात के कर्म—

आचार्य चरक ने लोकगत वायु तथा शरीरगत वायु के प्राकृत तथा वैकृत कर्मों का विस्तार से विवेचन किया है। हम यहाँ पर प्रकरण विस्तार भय से केवल शरीरगत वायु के प्राकृत एवं वैकृत कर्मों का ही उल्लेख करेंगे क्योंकि त्रिदोष के प्रसंग में यही प्रासंगिक तथा अपेक्षित है। शरीरगत प्राकृत वायु के निम्नोक्त कर्म हैं। यथा—

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकचेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः। च० सू० १२।८.

अर्थात् वायु शरीर एवं शरीरगत सभी प्रणालियों यथा रक्तवह प्रणाली, पाचक संस्थान, मूत्रवह प्रणाली, प्राणवह प्रणाली आदि का धारण करने वाला है अर्थात् वायु के अनुकूल प्रभाव से ही सम्पूर्ण शरीर तथा तद्गत विविध प्रणालियाँ समुचित प्रकार से कार्यक्षम होती हैं। प्राण, उदान, समान, व्यान, एवं अपान ये वायु के पाँच प्रकार हैं जिनके माध्यम से शरीरगत विविध कार्य तथा चेष्टाएँ होती हैं। विविध प्रकार की चेष्टाओं का प्रवर्तक (प्रवृत्त कराने वाला) है। अनिष्ट कार्यों से मन को रोकने वाला तथा इष्ट कार्यों में लगाने वाला। सभी इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय) का प्रेरक है (आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार चेष्टावाही नाड़ियाँ), सभी ज्ञानेन्द्रिय के विषयों को ग्रहण कराने वाला (आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार संज्ञावादी नाड़ियाँ), शरीरगत रस-रक्तादि धातुओं का व्यूहन (उचितपरिमाण में एकत्रीकरण) आधुनिक मतानुसार शरीरगत सभी भिन्न-भिन्न ऊतकों को उनके उचित स्थान पर व्यवस्थित करना। शरीर को सर्वदा कार्य में प्रवृत्त रखने में तत्पर। वाणी (बोली) को प्रवृत्त कराने वाला, स्पर्श एवं शब्द का कारण अर्थात् वायु के माध्यम से ही स्पर्श ज्ञान देता है तथा शब्द की भी उत्पत्ति होती है। श्रोत्रेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय का आश्रय, हर्ष एवं उत्साह का कारण, अग्नि (पाचकाग्नि) का प्रेरक, दोषों को शोषितकर

नष्ट करने वाला अर्थात् वायु के माध्यम से ही शरीरगत दोष जो कि शरीर के लिए अनुपयुक्त है वे नष्ट किये जाते हैं। पुरीष, मूत्र-स्वेद आदि मलों को शरीर से बाहर निकालने वाला, बड़े एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म पोषण नलिकाओं को विभाजित करने वाला, गर्भस्थभ्रूण की आकृति (आकार) का निर्माण करने वाला, तथा आयु (जीवन) की अनुवृत्ति (सातत्य) में कारणभूत ये सभी कर्म अकुपित अर्थात् शरीरगत प्राकृत वायु के हैं।

पित्त के कर्म—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अग्नितत्त्व ही शरीर के अन्तर्गत पित्त के रूप में प्राकृत एवं वैकृत स्थिति में शुभ एवं अशुभ भावों को उत्पन्न करता है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

"अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा—पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति।" च० सू० १२।११.

अर्थात् अग्नि ही शरीर में पित्त के अन्तर्गत होकर अकुपित अर्थात् प्राकृत अवस्था तथा कुपित अवस्था में शुभ (हितकर) एवं अशुभ (अहितकर) कार्य करता है। ये कार्य हैं—आहार का पाचन करना, पाचन न करना, दर्शन क्रिया का करना न करना, शरीरगत ऊष्मा की उचित मात्रा को बनाये रखना न रखना, शरीर के प्राकृत वर्ण को रखना अथवा विकृत वर्ण को उत्पन्न करना। शौर्य (वीरता), भय, क्रोध, हर्ष (उत्साह), मोह (अनुत्साह), प्रसाद (मानसिक प्रसन्नता) आदि अन्य द्वन्द्वात्मक भावों को पित्त उत्पन्न करता है।

क्या पित्त से अतिरिक्त अग्नि है अथवा पित्त ही अग्नि है इसी जिज्ञासा को दृष्टिगत कर आचार्य सुश्रुत ने निम्न विचार प्रस्तुत किया है। यथा—

"तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति। अत्रोच्यते न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्तेऽन्नपचनादिषु अभिप्रवर्तमाने अग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति; क्षीणे हि अग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात् आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति।" सु० सू० २१।९.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य सुश्रुत ने स्वयं ही जिज्ञासा उठाकर उसके समाधान को प्रस्तुत किया है कि— इस सन्दर्भ में यह जानने योग्य है कि क्या पित्त से अतिरिक्त अग्नि अन्य है अथवा पित्त ही अग्नि है। इसका समाधान यह है कि निश्चित रूप से पित्त से अग्नि पृथक् नहीं है। इस तथ्य की पुष्टि में तीन तर्क उपस्थित किये गये हैं। (१)

पित्त आग्नेय है क्योंकि आहार के दहन एवं पाचनादि क्रियाओं में यदि दहन पाचनादि क्रियायें मन्द हैं तो उसकी वृद्धि के लिए उष्ण वीर्य वाली औषधियों का प्रयोग कर अग्नि की वृद्धि करते हैं इसलिए पित्त ही अन्तरग्नि है। (२) अग्निगुण के अधिक बढ़ने पर शीतक्रिया अर्थात् अग्नि को कम करने के लिए शीतवीर्य की औषधियों एवं शीतोपचार करते हैं, इस हेतु से भी पित्त ही अग्नि है। (३) आगम (विविधशास्त्रों एवं पुराणों) के वचनों के आधार पर भी हम पित्त से अग्नि को पृथक् नहीं जानते। अतः निश्चित रूप से पित्त से अग्नि अतिरिक्त (पृथक्) नहीं है।

कफ के कर्म —

सोम तत्त्व ही शरीर में श्लेष्मा (कफ) के अन्तर्गत रहते हुए प्राकृत एवं वैकृत अवस्थाओं में हितकर एवं अहितकर कार्यों का सम्पादन करता है। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

"सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा—दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति। च० सू० १२।१२.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि सोमतत्त्व ही शरीर में श्लेष्मा के अन्तर्गत रहता हुआ प्राकृत एवं वैकृत अवस्थाओं में हितकर एवं अहितकर कार्यों को सम्पन्न करता है। ये कार्य हैं—शरीर में दृढ़ता उत्पन्न करना या शिथिलता बढ़ाना, शरीर का पोषण करना या शरीर को कृश करना अर्थात् शरीर को दुबला पतला बनाना, उत्साह (कार्य में प्रवृत्ति) बढ़ाना या आलस्य (कार्य में सक्षम होने पर भी अप्रवृत्ति), वृषता (सन्तति उत्पादन की शक्ति) उत्पन्न करना या क्लीबता (नपुंसकता), ज्ञान उत्पन्न करना या अज्ञान, बुद्धि (किसी विषय का निश्चयात्मक ज्ञान) या मोह (विषय के ज्ञान निर्धारण में अक्षमता) आदि द्वन्द्वात्मक कार्यों को शरीरगत श्लेष्मा के प्राकृत व वैकृतरूप सम्पादित करते हैं।

दोषों के भेद तथा स्थान—

यों तो दोष तीन हैं तथा इनका कार्यस्थान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। यहाँ तक कि प्रत्येक अंग-प्रत्यंगों स्थूल-सूक्ष्म शरीरावयवों में त्रिदोष की क्रियाकारिता विद्यमान है। आधुनिक क्रियाशारीर के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाय तो त्रिदोष का कार्य शरीर के सूक्ष्मतम इकाई कोशा (सेल) में भी होता है। आयुर्वेद के आचार्यों ने शरीर के इस सूक्ष्मतम इकाई कोशा (सेल) को ही परमाणु कहा है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

"शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च।" च० शा० ७।१७.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि परमाणु भेद से शरीर के अवयवों (घटकों) की संख्या अपारसंख्येय अर्थात् असंख्य है क्योंकि ये परमाणु रूप अवयव अत्यधिक संख्या में होने से, अतिसूक्ष्म होने से तथा इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति से बाहर होने से असंख्य हैं।

त्रिदोष के सम्पूर्ण शरीर में क्रियाकारित्व के विषय में आचार्य चरक ने कहा है कि वात, पित्त एवं कफ सम्पूर्ण शरीर में गतिशील होते हुए अपने-अपने कार्यों को सम्पादित करते हैं जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

"सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माण: सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिता: शुभाशुभानि कुर्वन्ति।" च० सू० २०.९.

आचार्य चरकोक्त वचन से स्पष्ट है कि वात पित्त एवं कफ सम्पूर्ण शरीर में कार्यशील रहते हुए प्राकृतावस्था में शरीर के लिए हितकर कार्यों को तथा वैकृतावस्था में अहितकर कार्यों को करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि त्रिदोष का स्थान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। किन्तु त्रिदोष का स्थानविशेष में अधिक कार्यशीलता के कारण दोषों का स्थान निर्देश किया गया है जैसा कि आचार्य वाग्भट के निम्नोक्त वचनों से स्पष्ट होता है।

वात दोष के स्थान—

पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषत:॥ अ० हृ० सू० १२/१.

पक्वाशय, कटिप्रदेश (कमर का स्थान), सक्थि (दोनों पैर), श्रोत्र (कर्णशष्कुली एवं श्रोत्रेन्द्रिय) तथा स्पर्शनेन्द्रिय (सम्पूर्ण शरीर त्वचा) ये वात के स्थान हैं इनमें भी पक्वाशय वायु का मुख्य स्थान है।

पित्त के स्थान—

नाभिरामाशयो स्वेदोलसीका रुधिरं रस:।
दृक्स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषत:॥ अ० हृ० १२/२.

नाभि, आमाशय (आमाशय का अधोभाग), स्वेद-लसीका, रुधिर, रस (धातु), आँख व त्वचाएं पित्त के स्थान हैं। इनमें भी नाभि पित्त का मुख्य स्थान है।

कफ के स्थान—

उर: कण्ठ:शिर: क्लोमपर्वाऽण्यामाशयो रस:।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुर:॥ अ० हृ० सू० १२/३.

छाती, कण्ठ, सिर, क्लोम (शाखा प्रशाखाओं सहित प्राणवायु को वहन करने वाली श्वास नलिका) सभी संधियाँ, आमाशय (आमाशय का ऊर्ध्वभाग) रस धातु, मेदोधातु, नासिका तथा जिह्वा कफ के स्थान हैं। इनमें भी छाती कफ का मुख्य स्थान है।

वातादि दोषों के भेद, स्थान तथा उनके कर्म—

वातादि दोषों में प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद होते हैं। इस प्रकार सर्व शरीरगत त्रिदोष के पंचात्मक भेद के भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्र तथा भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार इनके नाम भी भिन्न-भिन्न दिये गये हैं। यों तो आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने त्रिदोष के पंचात्मक भेदों तथा उनके कार्यों का उल्लेख किया है तथापि जहाँ तक उनके सभी प्रभेदों के नामकरण का प्रश्न है आचार्य वाग्भट ने स्पष्टतया सभी प्रभेदों के नाम, स्थान तथा कर्मों का पृथक-पृथक् उल्लेख किया है। इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम विकासानुक्रम से सभी आचार्यों के अभिमत को पृथक्-पृथक् उलेख करेंगे।

आचार्य चरक ने वात दोष के पाँच भेदों के नाम तथा उनके कार्यों का उल्लेख किया है। पित्त के पंचविध कार्यों का उल्लेख किया है परन्तु इसके प्रभेदों का नामोल्लेख नहीं किया है। कफ के सामान्य कार्यों का विवरण आचार्य चरक ने दिया है किन्तु इसके पृथक्-पृथक् कार्यों तथा प्रभेदों का नाम नहीं दिया है। आचार्य सुश्रुत ने वात तथा पित्त के पाँचों भेदों के नाम, स्थान तथा कर्मों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। कफ के पंचविध कार्यों तथा उनके स्थान का निर्देश किया है किन्तु इसके प्रभेदों का नामकरण नहीं किया है। आचार्य वाग्भट ने त्रिदोष के पंचात्मक भेदों का नाम उनके स्थाान तथा कार्यों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। अतः हम आचार्य वाग्भट के विवरण के अनुसार ही दोषों के भेद, स्थान तथा उनके कर्मों का उल्लेख विषय को सुस्पष्ट करने की दृष्टि से करेंगे।

वातदोष के पाँच भेद —

प्राण, उदान, समान व्यान एवं अपान ये वात के पाँच भेद हैं।

प्राण वायु का स्थान व कर्म—

प्राणोऽत्र मूर्धा उरः कण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक्।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारं निःश्वासान्नप्रवेशकृर्त ॥ अ० हृ० सू० १२।४.

प्राण वायु का स्थान सिर है। यह छाती और कण्ठ में गति करती है। बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय एवं मन का धारण करती है। थूकना, छींकना, डकार आना, श्वास तथा अन्न को शरीर में प्रवेश कराती है।

उदान वायु—

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्।
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः ॥ अ० हृ० सू० १२/५.

उदान वायु का स्थान छाती है, यह नासिका, नाभि और गले में गति करती है।

वाणी की प्रवृत्ति, उत्साह, ऊर्जा (शरीर का पोषण), बल, वर्ण तथा स्मृति आदि कार्यों को संपादित करती है।

व्यान वायु—

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः।
गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकः॥
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम्। अ० हृ० सू० १२/६-७.

व्यान वायु मुखयतः हृदय में रहती है तथापि यह सम्पूर्ण शरीर में क्रियाशील होती है। प्राणादि अन्य वायु की अपेक्षा क्षिप्रगति (शीघ्रगति) वाली होती है। गति (चलना) अंगों को नीचे ले जाना, ऊपर ले जाना, आँखों का निमेष उन्मेष (बन्द करना व खोलना) आदि सब क्रियायें इसी के आधीन हैं।

उपर्युक्त विवरण में व्यान वायु का स्थान हृदय कहा गया है। यहाँ पर हृदय शब्द से उरोहृदय (हार्ट) न लेकर शिरोहृदय (मस्तिष्क) का अभिप्राय ग्रहण करना अधिक समीचीन है। क्योंकि व्यान वायु की गतिशीलता सम्पूर्ण शरीर में होती है तथा सभी क्रियाओं नाड़ियों का केन्द्र मस्तिष्क होता है। अतः यहाँ हृदय शब्द से मस्तिष्क का अभिप्राय लेना अधिक युक्ति-संगत एवं शास्त्र-संगत है।

समान वायु—

समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति॥ अ० हृ० सू० १२/८.

समान वायु मुख्यतः पाचकाग्नि के समीप अर्थात् नाभिप्रदेश में रहती है और सम्पूर्ण कोष्ठ में गतिशील रहती है। अन्न का ग्रहण, पाचन तथा विवेचन अर्थात् सार अंश और किट्ट अंश का भेद करना एवं किट्ट अंश को मल और मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकालना आदि कार्य समान वायु से सम्पन्न होता है।

अपान वायु—

अपानोऽपानगः श्रोणिवस्तिमेढ्रोरुगोचरः।
शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः॥ अ० हृ० सू० १२/९.

अपान वायु मुख्यतः गुदा में रहती है। यह श्रोणिप्रदेश (कटि के अग्रभाग), वस्ति (मूत्राशय), मेढ़ (मूत्रमार्ग) तथा उरू प्रदेश में गतिशील रहती है। शुक्र, आर्तव, मल, मूत्र एवं गर्भ को बाहर निकालती है।

पित्त के पाँच भेद—

"पित्तं पञ्चात्मकम्..............." पित्त के भी पाँच भेद हैं जो कि निम्नोक्त हैं—

पाचक पित्त—

............................तत्र पक्वामाशयमध्यगम् ।
पंचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥
त्यक्तद्रवत्वं पाकादि कर्मणाऽनलशब्दितम् ।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा ॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम् ।
करोति बलवानेव पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥ अ० हृ० सू० १२/९-१२.

पाचक पित्त का स्थान पक्वाशय तथा आमाशय का मध्यवर्ती भाग है अर्थात् आमाशय का अधोभाग है। यद्यपि यह पंचभूतात्मक है फिर भी आग्नेय गुण के आधिक्य के कारण तथा सोमतत्त्व के क्षीण होने से यह द्रवत्व भाव को छोड़कर अर्थात् जलीय गुणों को त्यागकर काठिन्य भाव को प्राप्त होने से अनल (अग्नि) संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह सभी प्रकार के आहार (अन्नद्रव्यों) का पाचन करके सार तथा किट्ट अंश को विभाजित कर देता है, जिससे कि आहार के सार भाग का शरीर के पोषण के लिए शोषण हो जाता है तथा किट्ट अंश पक्वाशय में जाकर मल के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह पाचक पित्त आमाशय के अधोभाग में स्थित रहते हुए अन्य पित्त के भेदों के कार्यों में अपने बल से सहायता प्रदान करता है।

रंजक पित्त—

आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनात् । अ० हृ० सू० १२।१३.

रंजक पित्त का स्थान आमाशय है। यह आहार रस का रंजन (रक्तता प्रदान) करता है इसी कारण इसे रंजक कहते हैं। यहाँ पर यह तथ्य विचारणीय है कि आचार्य सुश्रुत ने रंजक पित्त का स्थान यकृत् और प्लीहा बतलाया जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

"यत्तु यकृत्प्लीहोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः ।
सु० सू० ११/१०.

आचार्य वाग्भट ने रंजक पित्त का स्थान आमाशय बतलाया है। इस प्रकार दोनों आचार्यों के वचनों में विरोध आता है। इस विरोधी वचन का परिष्कार यह हो सकता है कि चूँकि यकृत् प्लीहा ये दोनों अंग आमाशय के समीप स्थित हैं अतः आचार्य वाग्भट ने यकृत् प्लीहा के बदले आमाशय ही रंजक पित्त का स्थान मान लिया हो। दूसरा यह समाधान भी हो सकता है कहीं यह लेखन-प्रमाद से यकृत् प्लीहा की जगह आमाशय ही रंजक पित्त का स्थान लिख दिया गया है। तीसरा यह भी समाधान हो सकता है कि आधुनिक क्रियाशरीर द्वारा यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है कि पांडुरोग

विरोधी (रक्ताल्पता विरोधी) कुछ तत्त्व आमाशय से निर्मित होते हैं इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में आचार्य वाग्भट ने क्लिष्ट कल्पना की होगी कि आमाशय में ही रंजक पित्त का स्थान है। कुछ भी कारण हो रंजक पित्त के स्थान के सम्बन्ध में आचार्य वाग्भट तथा अचार्य सुश्रुत के विवरण में मतभेद हैं।

साधक पित्त—

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्।
साधकं हृद्गतं पित्तं........................ ॥ अ० हृ०सू० १२/१३.

साधक पित्त हृदय में रहता है। यह बुद्धि, मेधा, अभिमान के द्वारा वांछित अर्थ का साधन करने से साधक कहलाता है। इस प्रसंग में यह तथ्य विचारणीय है कि बुद्धि, मेधा आदि तत्त्वों का आश्रय मस्तिष्क होता है। साधक पित्त का कार्य मन से सम्बन्धित होने के कारण इसका स्थान मस्तिष्क (शिरोहृदय) लेना चाहिए। आयुर्वेद में हृदय शब्द से उरोहृदय जिसे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में हार्ट कहा जाता है तथा शिरोहृदय (मस्तिष्क) दोनों का ही ग्रहण होता है। अतः इस प्रसंग में हृदय शब्द से साधक पित्त का स्थान मस्तिष्क ही लेना अधिक उचित जान पड़ता है। उन्माद रोग की सम्प्राप्ति प्रसंग में निम्न उल्लेख आया है —

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा, बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि, प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ च० चि० ९/५.

उपर्युक्त उद्धरण में हृदय को बुद्धि का निवास (आश्रय) कहा गया है तथा मनोवाही स्रोतसों के मलों द्वारा दूषित हो जाने से मनुष्य का चित्त मोहित हो जाता है जिससे कि उन्माद रोग हो जाता है। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि मनोवाही स्रोतसों का सम्बन्ध उरोहृदय से न होकर शिरोहृदय (मस्तिष्क) से होता है। क्योंकि आचार्य चरक ने स्रोतसों के विवरण प्रसंग में हृदय (उरोहृदय) को प्राणवह स्रोतसों का मूल कहा है न कि मनोवह स्रोतसों का। अतः इस प्रसंग में मनोवह स्रोतसों का आश्रय हृदय से शिरोहृदय या मस्तिष्क ही लेना चाहिए। जहाँ चेतना का आश्रय हृदय हो वहाँ उरोहृदय तथा बुद्धि का आश्रय हृदय हो वहाँ शिरोहृदय (मस्तिष्क) लेना उचित है। अतः साधक पित्त का स्थान शिरोहृदय या मस्तिष्क लेना अधिक समीचीन तथा शास्त्रसंगत है।

आलोचक पित्त :—

रूपालोचनतः स्मृतम्। दृक्स्थमालोचकं.... । अ० हृ० सू० १२/१४.

आलोचक पित्त आँखों में स्थित होता है। रूप को दिखाने वाला होने के कारण इसे आलोचक कहते हैं।

भ्राजक पित्त—

त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः । अ० हृ० सू० १२/१४.

भ्राजक पित्त त्वचा में स्थित होता है, वह पित्त त्वचा को दीप्त (चमकाना) करने के कारण भ्राजक कहलाता है। इस पित्त से त्वचा में चमक और अभ्यंग लेप आदि द्वारा उपयुक्त द्रव्यों का पाचन और शोषण भी होता है।

कफ के पाँच भेद--

श्लेष्मा तु पंचधा—कफ के पाँच भेद हैं जिनके नाम व कर्म निम्नोक्त हैं।

अवलम्बक कफ—

उरस्थः त्रिकस्य स्ववीर्यतः ।
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा ॥
कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम् ।
अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा................ ॥

अ० हृ० सू० १२/१५-१६.

अवलम्बक कफ छाती में रहता है। यह अपनी शक्ति से त्रिक को तथा अपनी एवं अन्न की शक्ति से हृदय का अवलम्बन (सहारा) करता है। छाती में रहता हुआ ही जलीय कार्यों से क्लेदन (आर्द्र करना), तर्पण (पोषण) व पूरण-पोषक तत्वों की आपूर्ति आदि शेष कफ स्थानों (कंठ, शिर, क्लोम, संधि, आमाशय, रस धातु, नासिका, जिह्वा आदि) का अवलम्बन करता है। इसीलिए इसे अवलम्बक कहते हैं।

क्लेदक कफ—

यस्त्वामाशयसंस्थितः ।
क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात् ॥ अ० हृ० सू० १२/१६.

जो कफ आमाशय में रहता है तथा अन्न के काठिन्य (कड़ापन) को क्लिन्न (शिथिल तथा मृदु) करता है उसे क्लेदक कफ कहते हैं।

बोधक कफ--

रसबोधनात् । बोधको रसनास्थायी । अ० हृ० सू० १२/१७.

जो कफ जिह्वा में रहता है तथा मधुरादि षड्रसों का ज्ञान कराता है उसे बोधक कफ कहते हैं।

तर्पक कफ—

शिरःसंस्थोऽयं तर्पणात् । तर्पकः । अ० हृ० सू० १२/१७.

जो कफ सिर में रहता हुआ सभी ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा तथा त्वचा) का तर्पण (पोषण) करता है वह तर्पक श्लेष्मा है ।

श्लेषक कफ—

संधिसंश्लेषणात् श्लेषकः सन्धिषु स्थितः । अ० हृ० सू० १२/१८.

जो कफ संधियों में स्थित रहकर संधियों का श्लेषण (स्नेहन तथा बंधन) करता है वह श्लेषक श्लेष्मा है ।

इस प्रकार पाँच-पाँच भेदों वाले वात, पित्त एवं कफ प्राकृत अवस्था में रहते हुए शरीर का धारण, पालन एवं पोषण करते हैं जिससे कि व्यक्ति स्वस्थ जीवन व्यतीत करता है । त्रिदोष के उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि शरीरगत समस्त क्रियाएं इन्हीं के द्वारा सम्पादित होती हैं ।

यदि आधुनिक क्रियाशारीर के परिप्रेक्ष्य में त्रिदोष के कार्यों की समीक्षा की जाय तो आपाततः (प्रथम दृष्टया) यह प्रतीत होता है कि त्रिदोष विज्ञान जो कि आयुर्वेदीय क्रिया शारीर का मूल है अद्यतन क्रियाशारीर की अपेक्षा कितना संक्षिप्त एवं आदिम स्वरूप (विकास की प्रारम्भिक स्थिति) का है जो कि आज के वैज्ञानिक युग में नितान्त महत्त्वहीन जाना जाने योग्य है । इसके विपरीत अद्यतन क्रियाशारीर कितना विशाल कलेवर वाला, अनेक शाखा प्रशाखाओं में विभक्त होता हुआ कालक्रमानुसार दिनानुदिन अभिवृद्धि ही को प्राप्त होता जा रहा है आज का विज्ञान शरीर के सूक्ष्मतम इकाई सेल के सम्बन्ध में ही इतनी जानकारी प्राप्त कर चुका है कि कदाचित् आयुर्वेद का सम्पूर्ण वाङ्मय इसकी परिमाणात्मक रूप में बराबरी न कर सके ।

किन्तु उपर्युक्त तथ्य पर ध्यान से विचार किया जाय तो वास्तविकता ऐसी नहीं है । प्रत्येक तथ्य की जानकारी में उस तथ्य के प्रति विचारक के दृष्टिकोण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । दृष्टिकोण भेद से किसी तथ्यविशेष की जानकारी में भी भेद हो जाता है । इसी तथ्य को भारतीय मनीषियों ने "अंधगजन्याय" की संज्ञा दिया है । जिसके अनुसार चार अंधों के बीच एक हाथी हो और हाथी के सम्बन्ध में यदि उन अंधों से पूछा जाय तो सभी अंधे उसका परिचय भिन्न-भिन्न प्रकार से देंगे । जो अंधा उसके पांव को छूकर जानकारी प्राप्त करेगा वह उसे एक स्तम्भ बतायेगा, जो उसकी सूंड़ को स्पर्श कर जानकारी देगा वह उसे किसी वृक्ष की शाखा बतायेगा । जो अंधा उसके कान को स्पर्श कर जानकारी प्राप्त करेगा वह उसे सूर्प (सूप) कहेगा तथा जो उसकी पूंछ को स्पर्श कर जानकारी देगा वह उसे एक रस्सा कहेगा । इस प्रकार दृष्टिकोण भेद से चारों की जानकारी में भी भेद होगा । किसी तथ्य की जानकारी में भी इसी प्रकार की भिन्नताएं होती हैं ।

आज का विज्ञान वस्तुगत परीक्षण के आधार पर किसी वस्तु के ज्ञान के लिए विश्लेषणात्मक (किसी वस्तु के पृथक्-पृथक् स्वरूप का ज्ञान) पद्धति को अपनाता है जिसके परिणामस्वरूप तथ्यविशेष की अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त होती है। किन्तु इसके विपरीत प्राचीन भारतीय तत्त्वद्रष्टाओं में संश्लेषणात्मक (अनेकता में एकता) पद्धति को अपनाकर जगत् के कुछ मूल तत्त्वों को जानते हुए चरम मूल तत्त्व को जानने का प्रयास किया गया है। इस तथ्य को यदि सरल रूप से प्रस्तुत किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि आधुनिक विकास एक तत्त्व से अनेक की ओर प्रवृत्त होता है जबकि भारतीय तत्त्वद्रष्टा अनेक से एक तत्त्व की जानकारी की दिशा में प्रवृत्त रहे हैं। इसी तथ्य को महर्षि वेदव्यास ने भगवान् श्रीकृष्ण के माध्यम से निम्नोक्त वचन में प्रस्तुत किया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ भ० गी० १८/१७-१८.

उपर्युक्त श्लोकों का तात्पर्य है कि –जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभाग-रहित तथा अव्यय देखता है ऐसा ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है और जिस ज्ञान से मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावों को पृथक्-पृथक् जानता है वह ज्ञान राजसिक ज्ञान है। विश्लेषणात्मक ज्ञान जो राजसिक स्वरूप का होता है वह दुःख का कारण होता है। इसके विपरीत संश्लेषणात्मक ज्ञान जो कि सात्त्विक होता है वह सुख का कारण होता है। भारतीय मनीषियों ने इसी कारण सात्त्विक ज्ञान को श्रेष्ठ माना है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में निम्नोक्त वचन कहा है। यथा—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ भ० गी० १४/१७.
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः॥ भ० गी० १४/१८.

सत्त्व गुण से ज्ञान होता है। राजस गुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद (अपराध), मोह एवं अज्ञान होता है। सत्त्व गुणी श्रेष्ठ गति प्राप्त करते हैं। राजस गुण वाले मध्यम गति प्राप्त करते हैं अर्थात् सुख-दुःख मिश्रित फल प्राप्त करते हैं। तमोगुणी अत्यन्त हीनस्थिति वाले अधोगति को प्राप्त करते हैं। उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि भारतीय मनीषियों का सदैव सात्त्विक विचारों पर ध्यान केन्द्रित रहा है जो कि जगत् के मूल तत्त्व ब्रह्म की ओर उन्हें प्रवृत्त करता रहा है। इसी कारण उनके द्वारा

प्रतिपादित ज्ञान की किसी शाखा में मूल तत्त्व की ओर प्रवृत्त करने वाली संश्लेषणात्मक वृत्ति (अनेकों में एकत्व की दृष्टि) का प्राधान्य रहा है। पुराकालीन तत्त्वद्रष्टाओं का यह लक्ष्य रहा है कि कुछेक ऐसे मूल तथ्यों का ज्ञान हो जाय जिससे कि उससे सम्बन्धित सभी विषय का ज्ञान सम्भव हो जाय। क्योंकि अलग-अलग सभी विषयों का यथेष्ट व यथार्थ ज्ञान विश्लेषणात्मक पद्धति से सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार के तथ्यों को दृष्टिगत करके आयुर्वेद के आचार्यों ने शरीरगत समस्त क्रियाओं के युक्तिसगत प्रतिपादन तथा विषय के सुखाववोध के निमित्त त्रिदोष सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिससे कि असंख्य क्रियाओं का समष्टिमूलक ज्ञान प्राप्त हो सके। आयुर्वेद का लक्ष्य रहा है कि व्यक्ति को संपूर्णतः एक मानकर स्वस्थ एवं सुखी जीवन प्रदान किया जाय। इस लक्ष्य की प्राप्ति शरीरगत असंख्य कार्यों के प्रतिपादन के लिए क्रियाशील असख्य तत्त्वों के निर्धारण से किसी प्रकार नहीं हो सकती। क्योंकि क्रियाशील असंख्य तत्त्वों के निर्धारण तथा तदनुसार व्यवहार में कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो जाता है कि मनुष्य के प्रति संपूर्ण मूलक दृष्टिकोण उपेक्षित हो जाता है। परिणामतः आयुर्वेद के लक्ष्य की प्राप्ति असंभव है। ऐसो परिस्थिति से वचने के लिए ही आयुर्वेद के आचार्यों ने शरीरगत समस्त क्रियाओं को प्रधानतः तीन समूहों में वर्गीकृत किया और इन क्रिया-समूहों के मूल में वात, पित्त एवं कफ त्रिदोष को प्रधान कारण माना। शरीरगत समस्त क्रियाओं का समावेश त्रिदोषमूलक क्रियाओं में हो जाता है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य तीसट ने अपने ग्रन्थ चिकित्साकलिका में निम्नोक्त वचन प्रस्तुत किया है—

चेष्टाऽचेतनयोस्तनौ तनुभृतां धाता तु वायुस्मृतः
यत्तापं परितो दधात्यविरतं देहे हि पित्तं तु तत्।
यश्चाश्लिष्य वपुः सदा रसयति प्रीणाति सोऽयं कफः
चेत्यं तैः प्रकृतिस्थितैरविरतं देहं हि सन्धार्यते॥

चिकित्साकलिका १७.

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य यह है कि—मनुष्य के शरीर में चेष्टा तथा चेतनता वायु से सम्पादित होती है इसी कारण इसे धाता कहा जाता है। शरीरगत ताप जो कि सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करते हुए शरीर को निरन्तर धारण करता है उसे पित्त कहते हैं। जो शरीर में स्निग्धता एवं बंधता (शरीर के सभी अंगों को बाँधकर एक रूप में रखना) क्रिया करते हुए शरीर को इस धातु से सिंचित करते हुए पोषण प्रदान कर पुष्ट करता है वह कफ है। इस प्रकार ये त्रिदोष प्रकृति भाव में स्थित रहते हुए देह को सम्यक् रूप से धारण करते हैं।

त्रिदोष के कार्यों के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि शरीर में चेतनता (प्राण धारण) तथा सभी चेष्टाएं वायु के कारण हैं इसी कारण इसकी अन्वर्थक

संज्ञा धाता अभिहित की गयी है। धाता का तात्पर्य है कि जो धारण (प्राण धारण) को निरन्तर बनाये रखे। पित्त शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहते हुए अपने दहन-पाचन गुणों से आहार द्रव्यों का पाचन एवं शरीरगत धातुओं के अनुरूप आहार रस का परिणमन करते हुए शरीर का निरन्तर धारण करता है। कफ शरीर को स्निग्ध एवं आश्लिष्ट करते हुए आहार रस से शरीरगत सभी धातुओं, अंग-प्रत्यंगों को पुष्ट करता है। शरीरगत समस्त कार्यों के प्रतिनिधिभूत त्रिदोष को प्रकारान्तर से अपनी विशिष्ट शक्ति एवं क्रिया बतलाते हुए भगवान श्रीकृष्ण निम्नोक्त उद्धरण में कहते हैं :—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमोभूत्वारसात्मकः॥
अहंवैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तोपचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ भ० गी० १५/१३-१४.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि परम ब्रह्म परमेश्वर ही अपनी सोमतत्वात्मक शक्ति को पृथ्वी में प्रविष्ट करके समस्त वनस्पति जगत् को पुष्ट करता है तथा उस सोम-तत्व से परिपुष्ट वनस्पतियों से सभी प्राणियों का शरीर धारण होता है। वही परमेश्वर वैश्वानर अग्नि के रूप में समस्त प्राणियों के शरीर में आश्रित होकर प्राण-अपान वायु से प्रेरित होकर चतुर्विध आहार (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) द्रव्यों का पाचन परिणमन करता है। इस प्रकार हमें स्पष्टतया ज्ञात होता है कि सोमतत्वात्मक कफ, अग्नितत्वात्मक पित्त तथा प्राण-अपानादि प्रेरकतत्व वायु से ही शरीर का धारण-पोषण होकर मनुष्य की जीवन यात्रा सम्पादित होती है। इसी कारण आयुर्वेद के आचार्यों ने शरीर में प्रधानतः चेष्टात्मक व प्रेरणात्मक, पाचनात्मक व परिणमनात्मक तथा पोष-णात्मक व धारणात्मक क्रियाओं के आधार पर क्रमशः वात, पित्त एवं कफ को क्रिया-शीलतत्वों के रूप में त्रिदोष सिद्धान्त का व्यवहार्य रूप दिया है। वस्तुतः वात, पित्त एवं कफ केवल एक तत्वात्मक नहीं है प्रत्युत ये एक कार्य समूह के द्योतक हैं जैसा कि हरिवंश पुराण के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

कफवर्गे भवेत् शुक्रं पित्तवर्गे तु शोणितम्।

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि वात, पित्त एवं कफ एक २ वर्ग समूह के प्रतिनिधि रूप हैं जिससे कि शरीरगत असंख्य क्रियाएँ सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित होती हैं। उपर्युक्त विवरण से इस आशंका का समाधान हो जाता है कि आधुनिक क्रिया-शारीर में शरीरगत समस्त क्रियाओं के परिचालन में कारणभूत असंख्य क्रियाशील तत्वों का समावेश है तो यह कैसे संभव है कि केवल त्रिदोष के माध्यम से ही शरीरगत समस्त क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं। जहाँ तक शरीरगत क्रियाओं के विस्तृत विवेचन का संबंध

है जो कि आयुर्वेद में त्रिदोष के माध्यम से संक्षिप्त रूप में प्राप्त होता है, इस विषय में हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि पुराकालीन ऋषिकल्प आयुर्वेद के आचार्यों ने सोच-समझकर सोद्देश्य ही शरीरगत क्रियाओं का त्रिदोष के माध्यम से संक्षिप्त वर्णन किया है। संक्षिप्त वर्णन का सर्वप्रथम कारण यह है कि प्राचीन काल में जिस किसी विषय का विवेचन किया जाता था उसे सूत्र रूप में ग्रन्थ बद्ध किया जाता था जिससे कि ग्रन्थ का कलेवर अनावश्यक विस्तार से इतना अधिक न हो जाय कि मूल विषय से जिज्ञासुओं का ध्यान हट जाय और जिस उद्देश्य से ग्रंथ प्रणयन किया गया है वही पृष्ठभूमि में जाकर महत्त्वहीन हो जाय। आयुर्वेद के प्राकृत क्रिया शरीर के परिप्रेक्ष्य में त्रिदोष का जितना वर्णन उचित और अपेक्षित था उतना यथेष्ट रूप में प्राप्त होता है। विकृति शारीर के परिप्रेक्ष्य में त्रिदोष के ६२ भेदों का निम्नोक्त वर्णन प्राप्त होता है—

द्व्युल्वणैकोल्वणैः षट्स्युर्हीनमध्याधिकैश्चषट् ।
समैश्चैकोविकारास्तेसन्निपातास्त्रयोदश ॥
संसर्गेनवषट्तेभ्यएकवृद्धचासमैस्त्रयः ।
पृथक् त्रयश्चतैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशतिः ॥
यथावृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युःपंचविंशतिः ।
वृद्धिक्षयकृतश्चान्योविकल्पउपदेक्ष्यते ॥
वृद्धिरेकस्य समताचैकस्यैकस्य संक्षयः ।
द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोक्षयः ॥ च० सू० १७/४१-४४.

आचार्य चरक के उपर्युक्त उद्धरण में दोषों के ६२, भेद की गणना रोगों के सन्दर्भ में की गयी है। प्रकरण के विस्तार भय से हम प्रस्तुत प्रसंग में इसकी व्याख्या व अलग-अलग गणना नहीं करेंगे। पाठकों के निदर्शनार्थ केवल उद्धरण को प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ आवश्यकता है वहाँ आयुर्वेद में विषय का विस्तार किया गया है किन्तु जिसे इस विषय में विस्तृत ज्ञान की आकांक्षा हो तो वह तत्तद् विषय विशिष्ट वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतिग्रन्थों एवं पुराणों से अत्यधिक विस्तृत विवरण को ज्ञात कर सकता है। उदाहरणार्थ अग्नि पुराणं में ४९ प्रकार की वायुओं का विवरण विस्तार से मिलता है। सोमतत्व का भी विस्तृत विवेचन वेदों में मिलता है। वेदोक्त सम्पूर्ण यज्ञ प्रक्रिया अग्नि और सोमतत्व पर आधारित है। वायु, अग्नि और सोमतत्व के शरीरगत त्रिदोषात्मक प्रतीक वात, पित्त, कफ का विस्तृत विवेचन संस्कृत वाङ्मय में है और आयुर्वेद में त्रिदोष का आवश्यक व व्यवहार्य विवरण प्राप्त ही होता है। अतः आयुर्वेद में इस विषय के संक्षिप्त विवरण का दोष अनावश्यक एवं अनुचित है।

त्रिदोष सिद्धान्त की उपादेयता—

उपर्युक्त प्रसंग में हमने त्रिदोष सिद्धान्त के स्वरूप का परिचय विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत प्रसंग में इस सिद्धान्त की आयुर्वेद में उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करेंगे। वस्तुतः विचार किया जाय तो आयुर्वेद का मूल प्रयोजन दोष साम्य ही है चाहे वह शरीरगत दोषों के साम्य का अनुपालन से हो अथवा रोगों से आगत दोष-वैषम्य को पुनः चिकित्सा के माध्यम से दोष साम्य स्थापित करना हो। आरोग्य या रोग के मूल उपादान त्रिदोध ही हैं। दूसरे शब्दों में सुख या दुःख के कारण भः त्रिदोष हैं जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट है। यथा—

> **विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।**
> **सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारोदुःखमेवच॥** च० सू ९/४.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि धातु वैषम्य ही विकार है और दोष साम्य ही आरोग्य है। आरोग्य ही सुख तथा विकार ही दुःख हैं। आयुर्वेद वाङ्मय कलेवर का त्रिदोष सिद्धान्त ही प्राण है यदि ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। त्रिदोष सिद्धान्त अष्टांग आयुर्वेद में इतना व्यापक और व्यवहारोपयोगी है कि इसके विना आयुर्वेद की अस्मिता की कल्पना ही असंभव है। त्रिदोष सिद्धान्त की आयुर्वेद में व्यापकता एवं महत्ता के परिप्रेक्ष्य में इसके उपादेयताओं का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि सभी का विवेचन न तो संभव है और न ही प्रासंगिक। त्रिदोष सिद्धान्त की उपादेयताओं पर ही एक स्वतन्त्र वृहत् कलेवर का ग्रन्थ उपनिबद्ध किया जा सकता हैं। किन्तु हम निम्नोक्त कुछ शीर्षकों में त्रिदोष सिद्धान्त की उपादेयता एवं महत्ता का विचार करेंगे जिससे कि जिज्ञासुओं को विषय का यथा संभव स्पष्ट अवबोध हो सके।

दोषानुसार रोगों का वर्गीकरण—

संसार में असंख्य रोग हैं जिनसे मानव समाज पीड़ित होता है। सभी रोगों का पृथक् २ नामकरण उसका निदान एवं उपचार असंभव है। अतः आयुर्वेद के आचार्यों ने संसार के समस्त रोगों को दोष के अनुसार वर्गीकृत किया है जिससे कि रोगों के निदान एवं उपचार में सरलता हो। रोगों के स्वरूप परिचय के बिना रोग का निदान असंभव है और विना रोगनिदान के चिकित्सा कैसे हो सकती है। रोग के स्वरूप परिचय के लिए रोग की संज्ञा (नाम) को अनिवार्यता होती है। क्योंकि किसी वस्तु के सम्बन्ध में कितनी ही जानकारी क्यों न हो जाय यदि उस वस्तु के नाम की जानकारी नहीं होती तो वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उसी प्रकार रोग के स्वरूप का कितना भी ज्ञान क्यों न हो यदि उसके नाम की जानकारी नहीं होती तो रोग का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और यदि रोग का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तो उसका उपचार कैसे संभव हो सकता

है। रोग असंख्य हैं सभी का नामकरण हो नहीं सकता और नामकरण के बिना उनका यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। इन्हीं सब कठिनाईयों को लक्ष्य कर आयुर्वेद में समस्त रोगों को त्रिदोष के अनुसार वर्गीकृत करके तदनुसार रोग के निदान एवं चिकित्सा की व्यवस्था का उपदेश किया गया है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में कहा है कि—

सर्वएव निजाविकारानान्यत्र वातपित्तकफेभ्योनिर्वर्तन्ते, यथाहि—शकुनिः सर्वदिवसमपिपरितन्पत्स्वां छायानातिवर्तते, तथास्ववातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वेविकारावातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते। वातपित्त श्लेष्मणां पुनः स्थानसंस्थान प्रकृति विशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः॥ च० सू० १९/५.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि सभी निज विकार अर्थात् अपने शरीर में होने वाले रोग वात, पित्त और कफ (त्रिदोष) को छोड़कर और किसी कारण से नहीं होते। जैसे कि कोई पक्षी पूरे दिन उड़ते हुए भी अपनो छाया को नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार अपने शरीर गत धातु वैषम्य के कारण होने वाले समस्त विकार वात पित्त कफ से अलग नहीं हो सकते। वात, पित्त, कफ के स्थान, स्वरूप एवं कारण के भेदों को पूर्णतः देख समझकर त्रिदोष के आधार पर बुद्धिमान लोग उसका उपदेश (निर्देश) करते हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कोई भी शरीरगत रोग त्रिदोष से सम्बन्धित होता है त्रिदोष से अतिरिक्त नहीं। इस प्रसग में यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि कितने ही रोगों का उल्लेख आचार्यों ने विशेष नाम से किया है। यथा—उदर रोग, श्वासरोग, कामला, कुष्ठ आदि। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना आवश्यक है कि उपर्युक्त रोग भी यद्यपि दोषानुसार वर्णित न होकर अपने-अपने स्थान विशेष एवं लक्षण विशेष के आधार पर अभिहित किए गये हैं तथापि ऐसे रोगों में भी दोषों का अनुवन्ध (संबंध) तो होता ही है एवं दोषानुसार ही रोगों के उपचार होते हैं। इस प्रसंग में दूसरी जिज्ञासा होती है कि जिन रोगों के सम्बन्ध में रोगों का वर्गीकरण त्रिदोष के आधार पर होता है किन्तु जो रोग वाह्य कारणों यथा अभिघात (प्रहार चोट लगना आदि), अभिषंग (काम, क्रोध आदि भावों का प्रभाव), अभिचार (व्यक्ति को लक्ष्य कर मारण, उच्चाटन आदि आथर्वण प्रयोग) एवं अभिशाप, (सिद्ध एवं आचार्य के निरादर से उद्भूत शाप आदि) आगन्तुक निमित्त जन्य होते हैं उन रोगों का त्रिदोष के अन्तर्गत कैसे वर्गीकरण हो सकता है। इसी जिज्ञासा के समाधान को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने निम्नोक्त समाधान प्रस्तुत किया है—

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं. निजस्तथागन्तुमपि प्रबृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यग्, ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत॥

च० सू० १९/७.

अर्थात् पहले उत्पन्न निज रोगों का आगन्तुक रोग (उपद्रव, उपसर्ग आदि) अनुगमन करते हैं तथा आगन्तुक रोगों (अभिचार, अभिशाप, अभिषंग एवं अभिघातादि) का निजरोग अर्थात् वात, पित्त, कफ दोष अनुगमन करते हैं। ऐसी स्थिति में पूर्वोत्पन्न प्रधान कारण कौन हैं तथा पश्चात् उत्पन्न अनुबन्ध (अप्रधान कारण) कौन हैं इसे भलीभांति जानकर चिकित्सक को उपचार कार्य करना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि आगन्तुक कारण कोई भी क्यों न हो शरीर से उनका सम्बन्ध होने पर उनमें भी त्रिदोष का सम्बन्ध हो जाता है तथा तदनुसार उनमें चिकित्सा व्यवस्था भी की जाती है। अतः सभी रोगों के वर्गीकरण में त्रिदोष सिद्धान्त की व्यापकता सिद्ध होती है ! समस्त रोगों में त्रिदोष की व्यापकता को लक्ष्य कर आचार्य सुश्रुत ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।

प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य सुश्रुत का निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

"सर्वेशां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं, तल्लिंगत्वाददृष्टफलत्वाबागमाच्च। यथाहि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेण अवस्थितं सत्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते एवमेव कृत्स्नं विकार जातं विश्वरूपेण अवस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते। दोष धातुमलसंसर्गात् आयतन विशेषात् निमित्तस्तश्चैषां विकल्पः। दोष दूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा क्रियते रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयं, अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति। सु० सू० २४/८.

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य यह है कि—सभी रोगों के मूल (कारण) वात, पित्त, श्लेष्मा, (कफ) ही हैं। आचार्य ने इस तथ्य के पुष्टि के लिए तीन हेतु प्रस्तुत किया किया है। (१) तल्लिंगत्वात् अर्थात् सभी व्याधियों में वातादि के रौक्ष्य, तैक्ष्ण्य, गौरव शीतादि लक्षणों के होने से, (२) दृष्ट फलत्वात् अर्थात् वातादि शामक औषधियों के प्रयोग से व्याधियों के शान्त होने से तथा (३) आगमाच्च अर्थात् आयुर्वेदशास्त्र में सभी व्याधियों का कारण वात, पित्त, कफ (त्रिदोष) का उल्लेख होने से। इन हेतुओं के आधार पर आचार्य ने सभी रोगों के कारण वात पित्त कफ (त्रिदोष) को ही प्रमाणित किया है। सभी रोगों में त्रिदोष क. व्यापकता को समझाने के लिए आचार्य सत्व रज एवं तम इन तीनों गुणों का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार संसार में सभी चेतन अचेतन वस्तु सत्व रज एवं तम इन तीनों गुणों के बिना नहीं हो सकते क्योंकि प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने से प्रकृति से उत्पन्न सभी पदार्थ भी त्रिगुणात्मक होंगे। उसी प्रकार संसार में जितने भी रोग व्याप्त हैं वे वात पित्त और कफ इन त्रिदोष के बिना नहीं हो सकते। रोगों के अनेक विध भेद दोषों के धातु (रसादि सप्तधातु), मल (मूत्रपुरीषादि), के संसर्ग से, भिन्न भिन्न स्थानों पर रोगों के स्थानाश्रित होने से,

तथा कारण भेद से होते हैं। दोषों के द्वारा भिन्न भिन्न धातुओं की अत्यधिक दुष्टि के कारण यह व्याधि रसज, रक्तज, मांसज, मेदोज, अस्थिज, एवं शुक्रज है ऐसा नाम दिया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार संसार के सभी वस्तुओं चेतन अचेतन की उत्पत्ति में सत्वरजतम ये त्रिगुण कारण हैं उसी प्रकार सभी रोगों की उत्पत्ति में त्रिदोष कारण हैं। रोगों के बहुसंख्यक भेद त्रिदोष का धातुओं से संसर्ग, भिन्न-भिन्न स्थानों पर रोग का स्थानाश्रय, मल के संसर्ग तथा कारण भिन्नता से होते हैं।

इस प्रसंग में यह आशंका होती है कि त्रिदोष तो देहधारण (जीवन धारण) के भी कारण हैं अर्थात् इनका क्रियाकारित्व व्यक्ति के जीवनपर्यन्त चलता रहता है तो ऐसी स्थिति में क्या इनका (दोषों का) सम्बन्ध रोगों से भी नित्य बना रहता है अथवा कभी-कभी रोगों से सम्पर्क होता है।

उपर्युक्त आशंका को लक्ष्य कर आचार्य सुश्रुत ने दोषों से रोगों के सम्बन्ध में निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत किया है। यथा —

"भूयोऽत्र जिज्ञास्यं, किं वातादीनां ज्वरादीनां च नित्यः संश्लेषः (परिच्छेदोवा) यदि नित्यः संश्लेषः स्यात्तर्हि नित्यातुराः सर्वएव प्राणिनः स्युः, अथवा वातादीनां-ज्वरादीनां च अन्यत्र वर्तमानानामन्यत्र लिंगमस्तीतिकृत्वा यदुच्यते वातादयोज्वरादीनां मूलानीति तन्न। अत्रोच्यते, दोषात् प्रत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति, अथ च न नित्यः सम्बन्धः। यथाहि विद्युत वाताशनि वर्षाणि आकाशं प्रत्याख्याय न भवन्ति, सत्यपि आकाशे कदाचित् न भवन्ति, अथ च निमित्ततस्तत एव उत्पत्तिरिति, तरंग बुद्बुदाद-यश्च उदक विशेषाः एवं वातादीनां च नापिसंश्लेषो न परिच्छेदः शाश्वतिकः। अथ च निमित्तत एवोत्पत्तिरिति"। सु० सू० १४/१२.

प्रस्तुत उद्धरण में आचार्य सुश्रुत ने स्वयं ही यह जिज्ञासा उठाई है कि—पुनः इस प्रसंग में यह जिज्ञास्य है कि क्या वातादिक दोषों का तथा ज्वरादि रोगों का नित्य अपृथक्भाव सम्बन्ध रहता है अथवा पृथक् भाव सम्बन्ध यदि दोषों का रोगों से नित्य सम्बन्ध हो तो सभी प्राणी नित्य ही रोगी रहेंगे। अथवा यह माना जाय कि वास्तविक दोषों का और रोगादिकों का अलग-अलग स्थान पर लक्षण व्यक्त होता है तो इससे इस तथ्य का विरोध होता है कि वातादिक दोष ही ज्वरादि रोगों के कारण हैं। ऐसा भी नहीं होता। ऐसी आशंका होने पर समाधान दिया जाता है कि दोषों को छोड़कर ज्वरादि रोग नहीं होते और न दोषों का रोगों से नित्य सम्बन्ध ही होता है। जिस प्रकार विद्युत, वायु, वज्र का गिरना तथा वर्षा ये सभी आकाश को छोड़कर नहीं होते। ये आकाश में होते हुए भी कभी होते हैं कभी नहीं होते। विद्युत, वायु, वर्षा आदि की

उत्पत्ति कारण विशेष से ही होती है और इससे (आकाश से) तरंग (जलधारा) तथा बूंद बूंद करके जल की वर्षा होती हैं। इसी प्रकार वातादि दोषों का और ज्वरादि रोगों का न नित्य सम्बन्ध है और न नित्य परिच्छेद (पृथक् भाव) है। रोगों की उत्पत्ति किसी कारण विशेष से ही होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि त्रिदोष ही सभी रोगों के कारण हैं तथा वे किसी कारण विशेष से ही शरीर में रोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार त्रिदोष के आधार पर ही आयुर्वेद में सभी रोगों का वर्गीकरण किया गया है तथा तदनुसार रोगोपचार की व्यवस्था प्रतिपादित की गई है। रोगों की बहुसंख्यकता के कारण रोग का निदान, लक्षण एवं उपचार अत्यन्त दुष्कर है अतः त्रिदोष के आधार पर ही रोग का निदान एवं दोषानुसार उपचार करना अपेक्षित है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरणों में रोगों की बहुसंख्यकता बतलाते हुए त्रिदोष के आधार पर रोग विनिश्चय तथा तदनुसार उपचार करने के लिए निर्दिष्ट किया है। यथा —

त एवापरिसंख्येयाभिद्यमानाभवन्तिहि।
रुजावर्ण समुत्थानस्थानसंस्थानामभिः॥
व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेसु संग्रहः।
तथाप्रकृति सामान्यं विकारेषूपदिश्यते॥
विकारनामा कुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्तिध्रुवास्थितिः॥
स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः।
स्थानान्तर गतश्चैवजनयत्यामयान् बहून्॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठान्तराणिच ।
समुत्थान विशेषांश्च बुद्ध्वाकर्मसमाचरेत्॥
च० सू० १८/४२-४७.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न विकल्पों यथा पीड़ा का स्वरूप, प्रकार, उत्पत्तिकारण, रोग का आश्रय, रोग का लक्षण तथा रोग की संज्ञा आदि से रोगों के असंख्य भेद होते हैं।

व्यवहार के लिए विविध रोगों के भेदों का संग्रह किया गया है किन्तु विविध विकारों में समानकारणता से अर्थात् वात प्रकोपक कारणों से वातिक रोग, पित्त प्रकोपक कारणों से पित्त के रोग एवं कफ प्रकोपक कारण से कफज रोग जानना चाहिए। विविध विकारों के नाम न जानने पर भी चिकित्सक को लज्जित नहीं होना चाहिए बल्कि रोगों का निदान वातादि दोषों के आधार पर करना चाहिए। सभी रोगों की

नाम से निश्चित स्थिति नहीं होती। क्योंकि एकही कुपित दोष उत्पत्ति कारण की भिन्नता, स्थानाश्रयता से अनेक व्याधियों की उत्पत्ति करता है। इसी कारण रोगों के उपचार क्रम में रोग के मूल कारण, अधिष्ठान भेद तथा उत्पत्ति कारण के आधार पर जानकारी प्राप्त करके चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिए।

उपर्युक्त चरकोक्त उद्धरण से यह तथ्य ज्ञात होता है कि असख्य रोगों का अन्तर्भाव त्रिदोष के अन्तर्गत हो सकता है तथा दोषानुसार चिकित्सा से रोग निवृत्ति हो सकती है, भलेही रोग के नाम की जानकारी न हो। क्योंकि रोग के नाम की जानकारी मूलत: चिकित्सोपकारी नहीं होती बल्कि दोषों की जानकारी चिकित्सोपकारी होती है। इसी तथ्य को चरकोक्त प्रस्तुत उद्धरण की व्याख्या प्रसंग में आचार्य चक्रपाणिदत्त ने संकेतित किया है जो कि निम्नोक्त पंक्ति में द्रष्टव्य है। यथा—

"एवं मन्यते—यद्वाताद्यारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणांचिकित्सायामुपकारि,
नामज्ञानं तु व्यवहारमात्र प्रयोजनार्थं न स्वरूपेण चिकित्सायामुपकारीति।
आयुर्वेद दीपिका (चक्रपाणि)

उपर्युक्त व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि यह मानते हैं रोगों का वातादिक दोषों से आरब्धता का ज्ञान रोगों की चिकित्सा में सहायक होता है। रोगों का नाम ज्ञान तो केवल व्यवहार के लिए होता है वस्तुत: यह चिकित्सा में सहायक नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि त्रिदोष सिद्धान्त से रोगों की दोषमूलक जानकारी प्राप्त होती है जो कि चिकित्सा कार्य में अत्यन्त उपादेय है।

त्रिदोष सिद्धान्त की रोगोपचार में उपयोगिता—

पिछले शीर्षक में हम यह विचार कर चुके हैं कि रोग अपरिसंख्येय हैं। रोगों की विविधता से रोगोंपचार में भी विविधता होना स्वाभाविक है। किन्तु विविध रोगों में विविध प्रकार के रोगियों के लिए विविध प्रकार से उत्पन्न हुए व्याधियों में रोगोपचार का विकल्प भी अपरिसख्येय हो सकता है। ऐसी स्थिति में चिकित्सा कार्य महान् दुष्कर है। इस स्थिति से बचने के एिए आयुर्वेद के आचार्यों ने भिषक्समाज को त्रिदोष सिद्धांत रूपी ऐसा मणिमय आलोक पुन्ज दिया है जिसके प्रकाश में चिकित्सा कार्य अत्यन्त सरल एवं सुसाध्य होता हे। रोगों की दोषानुसार जानकारी हो जाने पर तत्तद् दोष विशेष के उपशमनार्थ तत्तद् रस वाले द्रव्यों का उपयोग आयुर्वेद में उपदिष्ट कियां गया है। यथा—षड्रसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त व कषाय) में तीन-तीन रस एक-एक दोष को उत्पन्न करते हैं तथा तीन २ रस एक २ दोष का शमन करते हैं। कटु, तिक्त व कषाय रस वात दोष को उत्पन्न करते हैं अर्थाद प्रकुपित करते हैं तथा मधुर, अम्ल व लवण

रस इसका शमन करते हैं। कटु, अम्ल व लवण रस पित्त दोष का प्रकोप करते हैं तथा मधुर, तिक्त व कषाय रस इसका शमन करते हैं। इसी प्रकार मधुर, अम्ल व लवण रस कफ का प्रकोप करते हैं तथा कटु, तिक्त व कषाय रस इसका शमन करते हैं इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

"तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसाञ्जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशामयन्ति। तद्यथा-- कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति; कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनंशमयन्ति। च० वि० १/६.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि वात दोष का प्रकोप हो तो मधुर, अम्ल व लवण रस इसके प्रकोप का शमन करेंगे तथा यदि वात दोष की क्षीणता हो तो वात प्रकोपक कटु, तिक्त व कषाय रस वात दोष की वृद्धि करते हैं। पित्त का प्रकोप हो तो मधुर, तिक्त व कषाय रस का सेवन इसके प्रकोप को शान्त करते हैं और यदि पित्त दोष की क्षीणता हो तो कटु, अम्ल व लवण रस पित्त की वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार यकि कफ दोष का प्रकोप हो तो कटु, तिक्त व कषाय रस इसको शन्ति करते हैं तथा कफ की क्षीणता में मधुर, अम्ल व लवण रस कफ की वृद्धि करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था तो एक २ स्वतन्त्र रसों के लिए तथा एक-एक स्वतन्त्र दोष के लिए उपयुक्त होती है। किन्तु व्यवहार में केवल एक-एक रस वाले द्रव्य स्वतन्त्र रूप से मिलने में कठिनाई होती है तथा रोग भी एक दोष वाले नहीं होते ऐसी स्थिति के लिए आचार्य चरक ने यह व्यवस्था प्रतिपादित किया है कि जहाँ रस एवं दोष का सन्निपात (संयोग) हो वहाँ जो रस दोषों के समान गुण अथवा समान गुण की अधिकता वाले होते हैं वे उन दोषों को बढ़ाते हैं तथा जो रस जिन दोषों के विपरीत गुण वाले अथवा विपरीत गुण की अधिकता वाले होते हैं उनके सेवन से उन दोषों का शमन हो जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था के निमित्त ही आयुर्वेद में पृथक्-पृथक् ६ रसों की तथा पृथक्-पृथक् तीन दोषों का सिद्धान्त उपदिष्ट किया गया है। आचार्य चरक का प्रस्तुत प्रसंग में निम्नांक्रित उद्धरण द्रष्टव्य हैं। यथा —

रसदोष सन्निपाते तु ये रसायैर्दोषैः समागुणाः समानगुण भूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीत गुणाः विपरीत गुण भूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति। एतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम्। च० वि० १/७.

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि रोगों के बहुसंख्यकत्व की जटिलता से त्राण पाने के लिए त्रिदोष सिद्धान्त की स्थापना एवं तदनुसार रोगों की दोषा-

नुसार चिकित्सा के सौकर्य के निमित्त भी त्रिदोष की व्यवस्था कितनी युक्तिसंगत, समीचीन एवं सरल है। त्रिदोष सिद्धान्त के आधार पर षड्रसों का दोषानुसार उपयोग चिकित्सा को कितना सरल एवं सुसाध्य बना देता है। त्रिदोष एवं षड्रसों की इस प्रकार की सरल व्यवस्था को देखकर यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि आयुर्वेद के प्राचीन उपदेष्टाओं ने रोगों के सम्बन्ध में अथवा औषधियों के विषय में सूक्ष्म विवेचन नहीं किया है। रोगों के परिप्रेक्ष्य में दोषों का आयुर्वेद में इतना सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है कि दोषों के संसर्ग, दोषों के तरतमभेदवृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम भेद, क्षीण, क्षीणतर, क्षीणतम भेद से दोषों के ६२ भेदों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यदि इन ६२ भेदों में भी दोषों की अंशांश कल्पना के आधार पर भेद किया जाय तो असंख्य भेद हो सकते हैं। उसी प्रकार रसों का भी ६३ भेद प्राप्त होता है। अतः इस प्रकार की आशंका नितान्त निर्मूल है कि आयुर्वेद के उपदेष्टाओं ने रोगों का विवेचन केवल तीन दोषों के आधार पर करके सूक्ष्म विवेचन से विरत होकर केवल स्थूल दृष्टि से ही आयुर्वेद का उपदेश किया है। समान वर्ण, आकार, व्यवहार तथा विचार वाले दो मनुष्य नहीं मिलते। प्रकृति की भिन्नता के कारण व्यक्तियों के स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगोपचार में भी भिन्नता होती है। इसी कारण किसी रोगाक्रान्त व्यक्ति के चिकित्सा के पूर्व उसके प्रकृति निर्धारण की अनिवार्यता होती है और प्रकृति का निर्धारण दोषानुसार ही किया जाता है क्योंकि प्रकृति के निर्माण में त्रिदोष की ही मुख्य भूमिका होती है।

प्रकृति की परिभाषा—

प्रकृति का निरुक्ति परक अर्थ होता है –"प्रकर्षेण करोति इति प्रकृतिः" अर्थात् जो अपने प्रकर्ष अथवा आधिक्य से व्यक्ति में विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति करे वह प्रकृति है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि प्रकृति से मूल प्रकृति (नेचर) नहीं लेना चाहिए। प्रकृति से यहाँ देह प्रकृति अभिप्रेत है। यद्यपि मूल प्रकृति का भी यही कार्य है कि संसार के सभी अव्यक्त भावों को अपने प्रकर्ष (बल) से अभिव्यक्त कर देती है। प्रकृति की परिभाषा यों तो परिभाषा के रूप में संहिताकार आचार्यों ने नहीं दिया है तथापि प्रकृति के निर्माण तथा प्रकृति के निर्मापक मूल उपादानों का वर्णन किया है जिससे कि प्रकृति को परिभाषित करने में सहायता मिलती है। पूर्ववर्ती आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रकृति के निर्माण तथा इसके निर्मापक उपादानों के परिप्रेक्ष्य में रसवैशेषिक ग्रंथ के व्याख्याकार आचार्य नरसिंह ने प्रकृति की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से किया है जो कि एक अत्यन्त समीचीन एवं सर्वांगपूर्ण परिभाषा मानी जाती है। यथा—

"प्रकृतिर्नाम जन्ममरणान्तरालभाविनोगर्भावक्रान्तिकाले स्वकारणोद्रेकजनिता निर्विकारकारिणोस्थितिः" रसवैशेषिक—नरसिंहभाष्य।

प्रस्तुत उद्धरण का तात्पर्य है कि प्रकृति उस स्थिति को कहते हैं जो कि गर्भावक्रांति (गर्भ स्थापन) काल में अपने कारणों अर्थात् वातादि दोषों के प्रकर्ष से उत्पन्न होती है तथा जन्म से लेकर मरण पर्यन्त निर्विकार रूप (बिना परिवर्तनों) के बनी रहती है। आचार्य सुश्रुत ने प्रकृति के निर्माण के सम्बन्ध में निम्नोक्त विचार प्रस्तुत किया है। यथा—

शुक्रशोणित संयोगे योभवेद्दोष उत्कटः । प्रकृतिर्जायतेतेन…… ….

सु० शा० ४/६३.

अर्थात् शुक्रशोणित संयोग के समय वातादि जो दोष उत्कट (अधिक बलवाले) होते हैं उनके अनुसार ही प्रकृति उत्पन्न होती है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि दोषों की उत्कटता दो प्रकार की होती है प्राकृत तथा वैकृत। यहाँ पर दोषों की उत्कटता से अभिप्राय है प्राकृत उत्कटता न कि वैकृत उत्कटता। क्योंकि दोषों के वैकृत उत्कटता से तो गर्भ का नाश ही हो जाता है।

आचार्य चरक ने प्रकृति की निम्नोक्त परिभाषा प्रस्तुत किया है। यथा—

समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः ।
दृश्यन्तेवातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ।।
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः ।
दोषानुशयिताह्येषं देहप्रकृतिरुच्यते ।। च० सू० ७/३९-४०.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने गर्भ के प्रारम्भ से ही प्रकृति के निर्माण को निर्दिष्ट करते हुए बतलाया है कि कोई-कोई व्यक्ति समदोष प्रकृति वाले होते हैं। कोई व्यक्ति वातिक प्रकृति, कोई पैत्तिक प्रकृति के तथा कोई श्लैष्मिक प्रकृति के होते हैं। समदोष प्रकृतिवाले व्यक्ति स्वस्थ रहते हैं। वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक प्रकृति वाले हमेशा रुग्ण रहते हैं। इस प्रकार दोषों की उत्कटता के अनुसार देह प्रकृति होती है।

आचार्य चरकोक्त प्रकृति निर्माण—

आचार्य चरक ने विमान स्थान में प्रकृत्यारम्भक भावों का उल्लेख किया है। यद्यपि प्रकृति के निर्माण में अनेक भावों का उल्लेख किया गया है तथापि सभी भावों के मूल में त्रिदोष की ही प्रकृत्यारम्भक भाव के रूप में मुख्य भूमिका होती है। प्रकृत्यारम्भक भाव निम्नोक्त हैं। यथा—

तत्र प्रकृत्यादीन् भावाननुव्याख्यास्यामः । तद्यथा -शुक्रशोणित प्रकृति, काल-गर्भाशयप्रकृति, मातुराहारविहारप्रकृति, महाभूतविकार प्रकृतिंच गर्भ शरीरमपेक्षते । एतानिहियेन येन दोषेणाधिकेनैकेनानेकेन वा समनुबध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते ततः सा सा दोष प्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादि प्रवृत्ता। तस्माच्छ्लेष्मलाः

प्रकृत्याकेचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः केचिद्भवन्ति । तेषां हि लक्षणानि व्याख्यास्यामः । च० वि० ८/५९.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने प्रकृत्यारंभक भावों का उल्लेख करते हुए कहा है कि--शुक्रशोणित प्रकृति, कालगर्भाशय प्रकृति, माता के आहार विहार की प्रकृति तथा महाभूतों के विकार की प्रकृति ये चार भाव गर्भ के शरीर निर्माण में अपेक्षित हैं। ये सभी भाव जिस किसी एक दोष की अधिकता से सम्बद्ध होते हैं अर्थात् इन भावों में भी दोषों के प्रभाव से ही क्रियाशीलता आती है। दोष से सम्बद्ध उपर्युक्त भावों से गर्भ सम्बद्ध होता है। इस प्रकार जिस-जिस दोष की अधिकता से गर्भ सम्बद्ध होता है तदनुसार मनुष्यों की प्रकृति गर्भ के प्रारंभ से ही प्रवृत्त हो जाती है एवं सम्बन्धित व्यक्ति तत्तद् दोष प्रकृति वाला कहा जाता है। इसी कारण कोई व्यक्ति श्लेष्म प्रकृति, कोई पित्त प्रकृति, कोई वात प्रकृति, कोई द्वन्द्वज प्रकृति (दो दोषों के संयोग से उत्पन्न) तथा कोई समदोष प्रकृति वाला होता है।

उपर्युक्त बिवरण से यह अभिप्राय है कि प्रकृत्यारंभक चार भावों के मूल में भी दोषों की उत्कटता (अधिकता) ही प्रकृति निर्माण में मुख्य कारण है जैसा कि आचार्य चक्रपाणिदत्त के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा -

अत्रशुक्रशोणितो वा यादृगवस्थो दोषस्तादृग् गर्भे प्रकृतिर्भवति, तथाशुक्रशोणित मेलककाले अतुरूपे यो दोष उत्कटो भवति, स प्रकृतिमारभते, एवं गर्भाशयश्च दोषः, मातुराहार विहारौ तत्कालीनौ यद्दोषकरणस्वभावौ, साचप्रकृतिर्गर्भ शरीरे भवति । एषु च प्रकृत्यारम्भकेषुकारणेषु यद् बलवद्भवति कारणान्तर बृंहितं च तदेवप्रकृत्यारम्भकं भवति । कालादयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्तः प्रकृतिजनका भवन्तीति तन्त्रान्तरे शुक्रशोणितगतदोषेणेव प्रकृत्युत्पादो दर्शितः ।

च० वि० ८/९५ पर आयुर्वेद दीपिका - चक्रपाणि ।

उपर्युक्त व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है कि शुक्र व शोणित में दोषों की जो स्थिति होती है अर्थात् जिस दोष की अधिकता होती है तदनुसार गर्भ में प्रकृति उत्पन्न होती है। शुक्रशोणित के संयोग काल में ऋतुरूप अवस्था में जो दोष उत्कट होता है वही प्रकृत्यारंभक होता है। इसी प्रकार गर्भाशय में स्थित दोष भी प्रकृति निर्माण में योगदान करते हैं। माता के आहार विहार में तत्कालीन दोषों (गर्भावस्था में) की जैसी स्थिति होती हैं उसके अनुसार ही प्रकृति होती है। इन चारों प्रकृत्यारंभक भावों में जो भी भाव बलवान होते हैं अथवा अन्य कारणों से वृद्धि को प्राप्त होते हैं वही प्रकृति को आरंभ करने वाले होते हैं। काल गर्भाशय, माता का आहार विहार तथा महाभूत ये सभी शुक्रशोणित को ही उत्पन्न करते हैं अतः प्रकृति के उत्पादक कहे जाते

हैं। दूसरे ग्रन्थों (सुश्रुत तथा अष्टांग हृदय) में शुक्रशोणित गत दोष से ही प्रकृति की उत्पत्ति बताई गई है। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि त्रिदोष ही प्रकृत्यारंभक होते हैं तथा तदनुसार भिन्न-भिन्न दोष प्रकृति के व्यक्ति पाये जाते हैं। पृथक्-पृथक् दोषों से तीन, दो दोषों के संयोग से तीन एवं तीनों दोष से एक, इस प्रकार ७ प्रकृतियाँ होती हैं। मुख्यतः इन्हीं सात प्रकृतियों में संसार के समस्त प्राणी अन्तर्भूत हो जाते हैं।

प्रकृति के भेद, लक्षण, प्रकृति परीक्षा एवं प्रकृति से सम्बन्धित अन्य विषयों का विवेचन हम आगे आतुर दशभाव परीक्षा में करेंगे। त्रिदोष सिद्धान्त के प्रसंग में प्रकृति का विवरण अपेक्षित होने से हमने इसका संक्षिप्त विवरण प्रसंगानुसार दिया है जिससे कि त्रिदोषवाद की इस परिप्रेक्ष्य में उपादेयता स्पष्ट हो सके।

किसी भी व्यक्ति के चिकित्सा के पूर्व उसकी प्रकृति परीक्षा अनिवार्य होती है। क्योंकि प्रकृति के अनुसार ही व्यक्ति की चिकित्सा सफल होती है। प्रकृति की परीक्षा से रोग की साध्यासाध्याता का भी ज्ञान होता है। आचार्य चरक ने सुख साध्य व्याधि का विवरण देते हुए कहा है कि यदि व्याधिकाआरंभक दोष तथा प्रकृत्यारंभक दोष समान नहीं होते तो व्याधि सुख साध्य होती है। जैसा निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा : —

"न च तुल्य गुणों दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ।.......... सुखसाध्यस्यलक्षम् ॥
च० सु० १०।११-१३.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि व्याधि आरंभक दोष के समान गुण वाला दूष्य न हो तथा व्याध्यारंभक दोष के समान प्रकृत्यारंभक दोष न हो तो व्याधि सुख-साध्य (सरलता से चिकित्स्य) होती है। इसके विपरीत यदि व्याधि का आरंभक दोष तथा प्रकृति का आरंभक दोष समान हों तो व्याधि कृच्छ्र साध्य (कठिनाई से चिकित्स्य) होती है। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त निर्देश से ज्ञात होता है। यथा—

कृच्छ्र साध्यं द्विदोषजम् ॥ च० सु० १०।१४-१९

उपर्युक्त वचन से ज्ञात होता है कि—काल (व्याधि का उत्पत्ति काल), प्रकृति तथा दूष्य (रसरक्तादि सप्तधातु) इनमें से किसी की किसी से समानता होने से व्याधि कृच्छ्र साध्य (कष्ट साध्य) होती है। अर्थात् यदि व्यक्ति का प्रकृत्यारंभक दोष वात हो और यदि वह वायु के प्रकोप काल वर्षा ऋतु में रोग ग्रस्त हो जाय तो उसमें प्रकृति और काल की समानता होने से व्याधि कष्ट साध्य होगी। उसी प्रकार यदि व्यक्ति का प्रकृत्यारंभक दोष पित्त हो और व्याधि में दूष्य रक्त हो तो वह व्याधि भी कष्टसाध्य

होगी। इसी प्रकार अन्य दोषों, व्याधि प्रकोपक कालों तथा दूष्यों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि व्यक्ति की प्रकृति परीक्षा उसके उपचार तथा व्याधि की साध्यासाध्यता ज्ञान के लिए अत्यावश्यक है। प्रकृति का ज्ञान त्रिदोष सिद्धान्त के आधार पर ही होता है अत; इस तथ्य से इस सिद्धान्त की उपादेयता स्वतः सिद्ध होती है।

प्रकुपित त्रिदोष धातु मलगत रोगों के कारण—

पहले हम विचार कर चुके हैं कि सभी व्याधियों के कारण प्रकुपित त्रिदोष ही हैं। त्रिदोष वाद की उपादेयता की दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग में हम त्रिदोष का सप्त धातुओं तथा मलों से सम्बन्धित रोगों में क्या भूमिका है इसका विचार करेंगे। क्योंकि धातुओं तथा मलों में आश्रित रोगों का उपचार भी दोष साम्य सिद्धान्त पर ही आधारित है। त्रिदोष ही प्रकुपित होकर स्थान विशेष में व्याधि विशेष उत्पन्न करते हैं जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है यथा—

"त एव वातपित्तश्लेष्माणः स्थानविशेषे प्रकुपिताव्याधिविशेषानभिनिर्वर्तयन्ति।

च० सू० २८/७.

रसादि सप्त धातुओं में प्रकुपित दोष जिन-जिन स्थानों पर जो-जो व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं उन सभी का नामोल्लेख तथा लक्षण आचार्य चरक ने प्रस्तुत किया है। विषय प्रासंगिक होने से हम उनका संक्षिप्त विवेचन करेंगे जिससे त्रिदोष की इन व्याधियों की उत्पत्ति में क्या भूमिका है इसका स्पष्टीकरण हो। आचार्य चरक ने निम्नोक्त प्रकार से प्रकुपित दोषों से रसादि धातुओं, इंद्रियों, स्नायु, सिरा, कण्डरा तथा मलों को दूषित होने से भिन्न-भिन्न व्याधियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है। यथा—

तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोशाणां यस्मिन् स्थाने ये व्याधयः संभवन्तिः तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः। च० सू० २८/८.

अर्थात् रसादि सप्तधातुओं में प्रकुपित दोषों से जिस-जिस स्थान पर जिन-जिन व्याधियों की उत्पत्ति होती है उसका वर्णन करेंगे।

रस प्रदोषज रोग—

अन्न के प्रति अरुचि, मुख की निरसता, मिचली आना, शरीर में गौरव का अनुभव होना, तन्द्रा, अंगों में पीड़ा, पाण्डुता, स्रोतोरोध, शरीर की कृशता, अग्नि का नाश, शरीर में झुर्री पड़ना तथा श्वेत केश होना आदि रस प्रदोषज रोग होते हैं।

रक्त दोषज रोग—

कुष्ठ, विसर्प, पिढका, रक्तपित्त, असृग्दर, गुद, मेढ्र (मूत्र मार्ग) तथा मुख का पाक (शोध), प्लीहावृद्धि, गुल्म, विद्रधि, कामला, दद्रु, चर्मदिल, श्वित्र, पामा, और शरीर पर चकत्तों का होना आदि रक्त दोषज रोग हैं।

मांस प्रदोषज रोग—

अधिमांस (गाँठ का होना) अर्बुद, चर्मकील, मांसकोथ, गण्डमाला, आदि मांस दोषज रोग हैं।

मेद संश्रित रोग—

सभी प्रकार के प्रमेह मेद संश्रित रोग हैं।

अस्थि प्रदोषज—

दाँतों पर दाँत का होना, अस्थिपीड़ा, दन्तपीड़ा, विवर्णता, केश लोम, नख तथा श्मश्रु का गिरना आदि अस्थि दोषज रोग हैं।

मज्ज प्रदोषज—

संधियों में पीड़ा, भ्रम, मूर्च्छा, आँखों के आगे अँधेरा छा जाना, बड़े मूल वाले व्रणों का होना आदि मज्जागत व्याधियाँ हैं।

शुक्र दोषज—

क्लीबता, मैथुनेच्छा का न होना, अल्पायु संतान वाला, विकृतशरीर वाले संतान का होना, गर्भोत्पत्ति न होना अथवा गर्भस्राव हो जाना आदि शुक्रदोषज रोग हैं। प्रकुपित दोष इंद्रियों के कार्यों का नाश कर देते हैं अथवा इनमें पीड़ा उत्पन्न करते हैं। स्नायु, शिरा तथा कण्डराओं में जब प्रकुपित दोष आश्रित हो जाते हैं तो शरीर में जकड़ाहट, स्नायु कण्डरा में संकोच, खल्ली (हाथ पैर में मरोड़ का होना) गाँठों का होना, शरीर में स्फुरण (फरकना) तथा शरीर में स्पर्श ज्ञान न होना आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं।

मलों को जब आश्रित करके प्रकुपित दोष स्थित होते हैं तो मलों का अधिक उत्सर्ग (निकलना) होता है अथवा मलों का संग (अवरोध) हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी प्रकार के रोगों में कारणता त्रिदोष की ही होती है तथा उनकी चिकित्सा भी दोष साम्य स्थापित करके ही की जाती है जैसा कि चिकित्सा सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में कहा है। यथा—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति ।
समानां चानुबन्ध स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ।।
त्यागाद्विषम हेतूनां समानांचोपसेवनात् ।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ।।
च० सू० १६/३४-३६.

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट होता है कि जिन क्रियायों से शरीर में धातु साम्य होता है उसे ही चिकित्सा कहते हैं। रोगों से बचने के लिए भी धातुसाम्य को निरन्तर बनाये रखना अपेक्षित है जिससे कि शरीध में दोष वैषम्य न हो । दोष वैषम्य को उत्पन्न करने वाले कारणों के त्याग तथा धातुसाम्य को बनाये रखने वाले भावों के सेवन से दोष की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होते तथा मनुष्य स्वस्थ रहता है । इस प्रकार त्रिदोष सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में ही दोष साम्य की स्थिति सदैव बनी रह सकती है जिससे कि व्यक्ति स्वस्थ तथा सुखी रह सकता है । अतः इस सदर्भ में भी त्रिदोष सिद्धांत की उपादेयता स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

संशोधन चिकित्सा में त्रिदोष की उपादेयता—

चिकित्सा के दो प्रमुख अंग हैं । प्रथम संशोधन तथा दूसरा संशमन । पिछले पृष्ठों में हम संशमन चिकित्सा में त्रिदोष सिद्धान्त की उपादेयता का उल्लेख कर चुके हैं । इस प्रसंग में हम संशोधन चिकित्सा में त्रिदोषवाद की उपादेयता पर विचाध करेंगे । संशोधन चिकित्सा से तात्पर्य है प्रकुपित या दूषित दोषों का शरीर से निर्हरण (निकालना) । दोष संशोधन के लिए प्रमुख तीन कर्म आयुर्वेद में निर्दिष्ट किए गये हैं ये तीन कर्म वात, पित्त एवं कफ इन त्रिदोष के संशोधन के लिए किए जाते हैं । कफ दोष के संशोधनार्थ वमन कर्म तथा शिरोविरेचन, पित्त के संशोधनार्थ विरेचन कर्म एवं वात दोष के लिए वस्तिकर्म (अनुवासन तथा आस्थापन) का विधान निर्दिष्ट किया गया है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है । यथा—

"वमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणाम्, वस्तिर्वातहरणां, प्रशस्ततमम् ।
च० सू० २५/४०.

उपर्युक्त उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि श्लेष्मा के हरण या निर्हरण के लिए वमन कर्म सर्वश्रेष्ठ होता है । पित्तहरण या पित्त संशोधन के लिए विरेचन कर्म सर्वश्रेष्ठ होता है । इसी प्रकार वात संशोधन अथवा प्रकुपित वात के निर्हरण के लिए वस्तिकर्म सर्वश्रेष्ठ होता है ।

त्रिदोष सिद्धान्त के परिचय के बिना उपर्युक्त संशोधन चिकित्सान्तर्गत निर्दिष्ट पंचकर्म की क्रिया का सम्पादन असंभव है । क्योंकि त्रिदोष सिद्धान्त के ही आधार पर

पंचकर्म क्रिया की सिद्धि आश्रित है। पंचकर्म के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हम पंचकर्म सिद्धान्त के प्रकरण में करेंगे। इस प्रसंग में हम केवल त्रिदोष सिद्धान्त की संशोधन चिकित्सा में क्या भूमिका है इसी के निदर्शनार्थ कुछ विवरण प्रस्तुत करेंगे।

आचार्य चरक ने उत्तम स्वास्थ्य तथा दीर्घायु के लिए दोष संशोधन की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए संशोधन चिकित्सा के गुणों का निम्नोक्त श्लोकों में वर्णन किया है। यथा —

ऊर्ध्वं चैवानुलोमं च यथादोषं यथाबलम्।
एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते॥
व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्तते।
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति॥
बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते।
जरां कृच्छ्रेण लभते चिरंजीवत्यनामयः॥
तस्मात् संशोधनं काले युक्तियुक्तं पिबेन्नरः॥

च० सू० १६/१६-१९.

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट होता है कि दोषों के अनुसार तथा रोगी के बल के अनुरूप ऊर्ध्वभाग से (वमन से) अथवा अधोभाग (विरेचन) से संशोधन कर्म करें। प्रस्तुत प्रसंग में "यथादोषम्" यह वाक्यांश महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर "यथा दोषम्" से आचार्य का यह अभिप्राय है कि यदि कफ दोष की वृद्धि हो तथा इसका संशोधन करना हो तो "ऊर्ध्वं, अर्थात् वमन कर्म का विधान करना चाहिए। और यदि पित्त दोष की अधिकता हो तो उसके संशोधन के लिए विरेचन कर्म का विधान करे। इसी प्रकार यदि वात दोष की वृद्धि हो तो वस्ति कर्म का विधान करें। इस प्रकार दोषानुसार सशोधन कर्म से व्यक्ति का कोष्ठ शुद्ध हो जाता है तथा कायाग्नि की अभिवृद्धि होती हैं। सभी व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं और व्यक्ति का स्वास्थ्य पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है। व्यक्ति की सभी इंद्रियाँ, मन, बुद्धि एवं वर्ण प्रसन्न हो जाते हैं अर्थात् ये सभी अपने-अपने कार्यों में शीघ्रता से प्रवृत्त होने लगते हैं। व्यक्ति का बल तथा संतान की वृद्धि होती है। व्यक्ति के मैथुन सामर्थ्य की भी वृद्धि होती है। वृद्धावस्था को देर से प्राप्त करता है एवं स्वस्थ रहते हुए दीर्घायु को प्राप्त करता है। संसोधन के उपर्युक्त गुणों के होने से व्यक्ति को उचित समय उचित रीति से संशोधन द्रव्य का पान करना चाहिए।

यद्यपि दोषों के उपक्रम में लंघन पाचन का भी विधान शास्त्र में निर्दिष्ट किया गया

है तथापि संशोधन से शान्त हुए दोषों का पुनः प्रकोप नहीं होता है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥
दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति।
रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा॥ च० सू० १६/२०-२१.

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि लंघन पाचन के द्वारा जीते गए दोष पुनः कभी कुपित हो जाते हैं। किन्तु संशोधन क्रम से जीता गया दोष पुनः प्रकुपित नहीं होता जब तक कि उनके प्रकोप का कारण प्रबल न हो। वृक्षों के प्रसार को रोकने के लिए जैसे उसके मूल को पूर्णतः उच्छेद न करने से पुनः वृक्ष बढ़ जाता है उसी प्रकार यदि दोषों का संशोधन उचित रीति से नहीं किया जाता तो रोग की निश्चय ही पुन उत्पत्ति हो जाती है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि दोषों के उचित संशोधन के बिना दोषों का पुनः प्रकोप हो जाता है। इसलिए दोषों के पुनः प्रकोप से बचने के लिए उचित संशोधन का क्रम आवश्यक है। लंघन पाचन से दोषों की शान्ति अल्प काल के लिये होती है क्योंकि दोषों का निर्हरण केवल रोग को तो शान्त कर देता है किन्तु दोषों की प्रकोपकता का मूलोच्छेद नहीं होता। अतः पुनः दोष प्रकोप की संभावना बनी रहती है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि दोषों का संशोधन रोगोपचार के लिए आवश्यक है और दोष संशोधन के लिए त्रिदोष सिद्धान्त का परिचय एवं अनुसरण करना अनिवार्य है। उपर्युक्त विवरणों से दोष संशोधन में त्रिदोष सिद्धान्त की उपादेयता की स्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है।

दोषों के सप्तविध गुणों का सप्त धातुओं से सम्बन्ध—

हम पहले ही विवेचित कर चुके हैं कि त्रिदोष ही सम्पूर्ण शरीर की समस्त क्रियायों के प्रतिपादक हैं। इस प्रसंग में हम सप्त धातुओं को जिस प्रकार त्रिदोष प्रभावित करते हैं इसका संक्षिप्त परिचय देंगे। आचार्य चरक ने तीनों दोषों के ७–७ गुणों का उल्लेख किया है। इस विषय में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि आचार्य ने तीनों दोषों के ७-७ गुणों का ही क्यों उल्लेख किया है। किसी दोष का न सात गुणों से अधिक और न कम उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि दोष स्वयं दूषित होकर दूष्यों (सप्त धातुओं) को दूषित करते हैं आखिर ये दोष दूष्यों को किस प्रकार दूषित करते हैं यदि इस प्रश्न का समाधान खोजा जाय तो यह प्रतीत होता है कि दोष अपने-अपने सात गुणों के माध्यम से ही दूष्यों को दूषित करते हैं। जब भी किसी दोष का प्रकोप

होता है तो उसके सभी गुणों का प्रकर्ष (आधिक्य) हो जाता है। दोषों के यही प्रकृष्ट गुण दूष्यों को प्रभावित कर रोग की उत्पत्ति करते हैं। उदाहरणार्थ :—वात दोष के रूक्ष, लघु, शीत, सूक्ष्म, चल, विशद एवं खर ये सात गुण हैं। वात प्रकोप होने से इन सभी गुणों का प्रकर्ष हो जाता है तथा प्रकृष्ट गुण रसादि सप्त धातुओं को दूषित कर रोग उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार पित्त, एवं कफ के भी ७-७ गुण पित्त एवं कफ के प्रकुपित होने पर प्रकर्ष भाव को प्राप्त हो जाते हैं जो कि रसादि सप्त धातुओं को अपने-अपने प्रकृष्ट गुणों से दूषित करके रोगों की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इस विषय का विशेष विवेचन हम आगे "त्रिदोषसप्तविधगुणवाद" शीर्षक में करेंगे। विषय के निदर्शनार्थ इस प्रसंग में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया जिससे कि इस विषय का स्पष्टीकरण हो सके।

उपर्युक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि त्रिदोष के सप्तविध गुण की धातुसाम्य एवं धातुवैषम्य में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सप्त धातुओं की समता के लिए दोष साम्य की अनिवार्यता होती है। दोष साम्य के बिना सप्त धातुओं की समता असंभव है। त्रिदोष सिद्धान्त के परिचय तथा अनुसरण के बिना दोषों के गुणों की जानकारी नहीं हो सकती और दोषों के सप्तविध गुणों की जानकारी नहीं होगी तो रसादि सप्त धातुओं की समता की कल्पना ही नहीं हो सकती। और सप्तधातुओं की समता के बिना व्यक्तिस्वस्थ नहीं रह सकता है। अतः दोषसाम्य एवं धातुसाम्य के निमित्त त्रिदोष सिद्धान्त की महती उपादेयता है।

उपर्युक्त कुछ शीर्षकों में हमने त्रिदोष सिद्धान्त की उपादेयता के सम्बन्ध में विचार किया है। यद्यपि त्रिदोषवाद की उपादेयता पर यह विवरण पर्याप्त नहीं है तथापि ग्रंथ के विस्तार भय से हमें अपने विचारों को सीमित करना पड़ रहा है। त्रिदोष का सम्बन्ध आयुर्वेद के अष्टांगों से है यदि इस पर विशद विचार किया जाय तो इसका एक स्वतन्त्र वृहत् कलेवर वाला ग्रंथ उपनिबद्ध किया जा सकता है।

पंचभूत सिद्धान्त

पंचभूत सिद्धान्त एक सर्वदर्शन सम्मत अविरुद्ध सिद्धान्त है, जो द्रव्यों के विभिन्न गुण, कर्म, स्वभाव, एवं अवस्था आदि को देखकर, सृष्टि विकास की स्वभाव सिद्ध परम्परा का सतत निरीक्षणकर, लोकानुमत सूक्ष्म भूतों के विविध कार्यों का अवलोकन कर सूक्ष्म स्तर पर व्याख्यायित पंचपंचक के युक्ति संगत तर्क बल द्वारा भारत के पुराकालीन मनीषियों ने प्रतिपादित किया है। आधुनिक तत्ववाद, परमाणुवाद द्रव्यों के विविध अवस्थावाद, तथा सृष्टि विकास के नीहारिकावाद आदि से इस सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है, अपितु इनके साथ सर्वथा सामंजस्य रखने की इसमें क्षमता ही ज्ञात

होती है। आयुर्वेद के गर्भविकासवाद, देह संघटन, त्रिदोषवाद, इन्द्रियों की नियतार्थ ग्रहणशीलता, द्रव्यों का रसवाद, गुण कर्मवाद, द्रव्यों की विविधता तथा उनका वर्गीकरण आदि विषयों का तो यह सिद्धान्त आधारभूमि ही बनाता है।

संसार के विविध पदार्थ पंचभूतों से ही निर्मित होते हैं चाहे वे चेतन हों अथवा अचेतन। जगत के चेतन या अचेतन सभी स्थूल पदार्थों अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रचनाओं का कलेवर पंचीकृत (पंचभूतों की समष्टि) भूतों या एक दूसरे में प्रविष्ट पाँच भूतों का अथवा उनके ही विकारों (स्थूल रूपों) का बना होता है, क्योंकि उनमें हम सर्वत्र पंचभूतों के शब्दादि वैशेषिक एवं गुर्वादि सामान्य व्यक्त गुणों को विद्यमान पाते हैं। आत्म सम्बन्ध से जहाँ हम इन्द्रिय व्यापार देखते हैं उसे चेतन पदार्थ तथा जहाँ इन्द्रिय व्यापार नहीं है उसे जड़ पदार्थ कहते हैं। इसी तथ्य को इंगित करते हुए आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में कहा है। यथा—

"सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे तच्चेतनावदचेतनं च।
तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः" ॥ च० सू० २६/१०

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरीन्द्रियमचेतनम्"। च० सू० १/४८.

जड़ चेतन के भेद प्रतिपादक समस्त आधुनिक विज्ञान के लक्षण आचार्य चरक के— उपर्युक्त सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय पद में स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ घट निर्जीव पदार्थ है, उसका पृथ्वी (मृत्तिका), जल, तेज, (अग्नि), वायु और आकाश सभी के सहयोग से निर्माण सम्भव है। इसी प्रकार बीज से अंकुरोत्पत्ति में भी इन्हीं पाँचों भूतों का सहयोग देखा जाता है। अंकुरोत्पत्ति की क्रिया में मिट्टी, जल, ऊष्मा (गर्मी) व प्रकाश, प्राणभूत वायु और अवकाश रूप सुषिरता (सूक्ष्म छिद्रों की उपस्थिति) कारक आकाश का कारण रूप में महत्व जन-साधारण से भी छिपा नहीं है। मानव गर्भ के निर्माण और विकास में भी यही प्रक्रिया देखी जाती है। आचार्य सुश्रुत ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए निम्नोक्त उद्धरण में कहा है कि— यथा—

"तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति"। सु० शा० ५/३.

अर्थात् चेतनावस्थित शुक्रशोणित संयोग में विभजन क्रिया वायु से, पाक क्रिया तेज से, क्लेदनक्रिया (आर्द्र रहने की) जल से, संहनन क्रिया (ठोस होना) पृथिवी से और संवर्धनक्रिया (बढ़ने की क्रिया) आकाश से होती है।

समस्त कार्य द्रव्यों का भौतिक और रासायनिक गुण कर्म वैचित्र्य यानी उनकी असंख्य विविधता कारण रूप त्रिगुणात्मक महाभूतों के न्यूनातिरेक विशेष (अल्पता या

अधिकता होना) या उत्कर्षापकर्ष विशेष (वृद्धि या ह्रास होना), सन्निवेश विशेष (रचना प्रकार की विभिन्नता), प्रकृति समवाय (सदृश परिणाम) और अभिभाव्याभिभावकता (एक दूसरे के प्रभाव से प्रभावित होना) या उपमर्द्योपमर्दकता (एक दूसरे से निष्प्रभावी होना) आदि भावों पर निर्भर है। इन भावों की कारणता आधुनिक विज्ञान से भी सम्मत है।

पंच महाभूत जो कि समुदाय रूप से भौतिक सृष्टि के आधारभूत तत्व हैं न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु रूप में नित्य एवं द्वयणुक, त्रसरेणु आदि सूक्ष्म व स्थूल कार्य के रूप में सावयव (अवयववाला) एवं जन्य होने के कारण अनित्य कारण-भूत द्रव्य हैं। गुणकर्म के आश्रय और समवायि कारण (अविच्छिन्न सम्बन्ध) होने की योग्यता के कारण द्रव्य का लक्षण पंचभूतों में भी घटित हो जाता है। आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पाँचों को पंचभूत या महाभूत कहते हैं। इनकी दो अवस्था होती है प्रथम परमाणु रूप या कारण रूप तथा द्वितीय कार्यरूप स्थूल अवस्था। परमाणु रूप में वे नित्य माने गये हैं तथा कारण द्रव्य कहलाते हैं) ईश्वरेच्छा से इन परमाणुओं में आरम्भक संयोग होकर उनके द्वारा द्वयणुकादि क्रम से सृष्टि के सूक्ष्म और स्थूल कार्यरूप महाभूत बना करते हैं। सृष्टि के असंख्य विकार द्रव्य (स्थूल-द्रव्य) इन कार्यरूप महाभूतों के मेल से बनते हैं जो कि एक-दो महाभूतों की अधिकता से पार्थिव आदि पांच वर्गों में विभाजित किये जाते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार इनमें जो प्रधान भूत होता है वह समवायि कारण या उपादान कारण (आश्रय भूत) और शेष चार भूत उपष्टम्भक (सहायक) कारण माने जाते हैं। इस दर्शन में भूतों का पंचीकरण (सभी भूतों में सभी भूतों का न्यूनाधिक रूप में होना) नहीं माना जाता। किन्तु जो दर्शन भूतों के परस्परानुप्रवेश (एक दूसरे में मिलना) से पंचीकरण सिद्धान्त को मानते हैं उनके अनुसार पांचों ही महाभूत भौतिक द्रव्यों के समवायिकारण हो सकते हैं और प्रत्येक कार्य द्रव्य पांचभौतिक माना जा सकता है। आयुर्वेद का भी यही सिद्धान्त है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच इन्द्रिय ग्राह्य गुण क्रमशः इनके विशेष गुण हैं। शब्द आकाश का, स्पर्श वायु का, रूप तेज या अग्नि का, रस जल का तथा गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण माना जाता है। गुर्वादि २० सामान्य गुण भी जो पांचभौतिक द्रव्यों में प्राप्त होते हैं, अव्यक्त रूप में कारण रूप भूतों में भी माने जाते हैं। अवस्था विशेष यानि भूतान्तर संसर्ग के कारण कुछ अव्यक्त गुण भी कार्य में व्यक्त हो जाते हैं। क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार रासायनिक संयोग से भी असत् (अविद्यमान) पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

तत्वरूप भूतों का पृथ्वी आदि नामकरण लोक में इन नामों से विख्यात पदार्थों के

ऊपर, जो कि संगठन की दृष्टि से स्वयं भौतिक हैं, सुविधा के लिए किया गया है। इससे यह समझना कि इन दृश्य लौकिक महाभूतों को ही ऋषिकल्प आचार्य तत्व समझते थे, एक भ्रान्ति है। हाँ जन साधारण का काम इस स्थूल अर्थ से भी चलता आया है। स्थूल जगत में भौतिक कार्यों के प्रति इन लोक भूतों की कारणता भी सर्वदा देखी जाती है। इसलिए यदि तत्व शब्द का पारिभाषिक अर्थ न लेकर कारणभूत यौगिक द्रव्यों को भी सामान्य लोक व्यवहार में तत्व कह दिया जाता है तो कोई विशेष आपत्ति नहीं आती। जो पदार्थ सभी कार्य द्रव्यों में ताने-बाने के रूप में व्याप्त रहते हैं, तत्व या कारण द्रव्य कहलाते हैं। "तनोति सर्वान् व्याप्य आस्ते इति तत्वम्" अर्थात् सभी पदार्थों को व्याप्त करके जो अवस्थित हो वह तत्व है। तत्व की उपर्युक्त निरुक्ति परक परिभाषा जितनी महाभूतों के विषय में सटीक घटती है उतनी आधुनिक तत्वों के विषय में नहीं, क्योंकि विभिन्न कार्य द्रव्यों में सबके सब आधुनिक विज्ञान प्रतिपादित तत्व कहीं एकत्र नहीं मिलते, महाभूत मिलते हैं। किसी पदार्थ में कम तो किसी में अधिक। उद्भूत शब्दादि और गुर्वादि गुणों के कारण प्रत्येक भौतिक कार्य द्रव्य में इनका आभास स्पष्ट होता है।

आधुनिक तत्व संज्ञक द्रव्य (एलिमेन्ट) भी अनेक इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होने के कारण तथा अनेक गुणों के आश्रय होने के कारण, पंचभूतों के विकार ही दृष्टिगत होते हैं। प्रत्येक तत्व की तत्व विनिश्चयता तो वैज्ञानिकों को आज भी नहीं है। वे पूर्णतः यह सम्भावना करते हैं कि न जाने कब इनमें से कुछ तत्व आगे चलकर विभिन्न पदार्थों में विश्लिष्ट (टूटकर) यौगिक न सिद्ध हो जायँ। तत्व की आधुनिक परिभाषा भी तर्क की कसौटी पर कसने से महाभूतों पर जितनी खरी उतरती है उतनी आधुनिक विज्ञान के तत्वों पर नहीं। जो विजातीय पदार्थों के योग से निर्मित न सिद्ध हुआ हो ऐसे विशुद्धतम पदार्थ विशेष को ही आजकल तत्व माना जाता है। एक इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्यता को यदि विशुद्धतमत्वकी इकाई मान लिया जाय, जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने महाभूतों के विषय में माना है, तो आधुनिक विज्ञान सम्मत तत्व, तत्व न होकर महाभूतों के विकार ही कहे जायेंगे। जैसे एक इन्द्रिय से ग्राह्य गुण विशिष्ट गुण कहा जाता है, उसी तरह एकेन्द्रियार्थाश्रय को ही विशिष्ट द्रव्य कहना चाहिए।

यह तो एक मान्य तथ्य है कि कार्य द्रव्यों की अपेक्षा कारण द्रव्यों की संख्या कम होती है, और जब तक हम किसी एक मूल कारण तक नहीं पहुँच जाते तब तक अपने को मूल स्तर तक पहुँचा हुआ नहीं मान सकते। एक मूल कारण तक पहुँच जाने पर उसके आगे तो कार्य कारण भाव की शृङ्खला स्वयं रुक जाती है और मूल कारण को अकारण (जिसका कोई कारण नहीं) मानना पड़ता है। "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" मूल कारण में मूल का अभाव होता है इसलिए मूल का मूल नहीं होता। इस

सांख्य सिद्धान्त का भी यही अभिप्राय है फिर चाहे हम इस मूल द्रव्य को सांख्य की प्रकृति कहें या वेदान्त की माया। कोई अन्तर नहीं पड़ता। सारे जड़ प्रपंच इसी एक मूल तत्व से प्रकट हुए हैं।

आधुनिक विज्ञान में भी द्रव्य और शक्ति का अभेद, द्रव्य का शक्ति में और शक्ति का द्रव्य में परिवर्तन एवं विभिन्न शक्तियों का एक दूसरे में परिवर्तन माना जाता है। इस तथ्य से इन सबकी अभिन्नकारणता और भौतिक एकता सिद्ध होती है। आंग्ल भाषा का यूनिवर्स शब्द भी जगत की मौलिक एकता ही सूचित करता है। प्रोफेसर ह्वाइट ने अपनी पुस्तक "साइन्स एण्ड ह्यूमन अण्डर स्टेंडिंग" में इसी तथ्य को अत्यन्त सुन्दर रीति से निम्नोक्त वचन से कहा है कि--"यह सत्य है कि हम मूल स्तर तक पहुँच गये हैं तब उस मूल रचना के स्वरूप और नियमों का सभी वस्तुओं से तादात्म्य सम्बन्ध अवश्य ही स्थापित होना चाहिए जो कि विश्व में घटित होते हैं। यह सम्बन्ध केवल भौतिक जगत से नहीं अपितु प्राण तथा मन से भी स्थापित होना चाहिए"।

-- प्रोफेसर ह्वाइट

चूँकि यह मूल तत्व दुर्विज्ञेय और लोक व्यवहार के अयोग्य है, अतः व्यवहार सुगमता के लिए उससे विकसित हुए अन्य कारण द्रव्यों को ही हम व्यावहारिक तत्व मान लेते हैं। मूल कारण द्रव्य और स्थूल कार्य द्रव्यों के बीच कार्यकारण भाव की एक शृंखला बँधी हुई है। प्रस्थान भेद से हम इसकी किसी भी एक कड़ी के अवयवों को व्यावहारिक तत्व मान सकते हैं। हमने ज्ञानेन्द्रियों की संख्या और उनकी नियतार्थ ग्रहण की योग्यता के आधार पर पंचभूतों को तत्व माना है। हमें ज्ञान साधन के रूप में प्रकृति प्रदत्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय प्राप्त हैं जो शरीर के पाँच इन्द्रियाधिष्ठानों में रहती है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में से एक-एक नियत शब्दादि विषयों का यानी गुणों का ग्रहण कर पांच प्रकार की इन्द्रिय बुद्धियाँ या ज्ञान विशेष उत्पन्न करती हैं। जब गुण रूप शब्दादि इन्द्रियों के विषय पाँच हैं तो उनके आश्रयभूत द्रव्य भी पाँच ही होने चाहिए। आचार्य चरक ने उपर्युक्त पांच के पांच वर्गो को पंच पंचक कहा है जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

"तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि। पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति। पंचेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। पंचेन्द्रिय बुद्धयश्चक्षुर्बुद्धयादिकाः। पंचेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापोभूरिति। इत्येतत् पंचपंचकम्।" च० सू० ८/७-११

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण रसना एवं स्पर्श ये पांच इन्द्रियाँ हैं। आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा ये पाँच इन्द्रियों के अधिष्ठान या

आश्रय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये पाँच इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय हैं। चक्षुबुद्धि (देखना), श्रोत्र बुद्धि (सुनना), घ्राण बुद्धि (सूँघना), रासन बुद्धि रस या स्वाद का ग्रहण करना) तथा स्पर्श बुद्धि (स्पर्श ज्ञान) ये पाँच इन्द्रिय बुद्धियाँ हैं। आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी ये पाँच इन्द्रियों के द्रव्य हैं। इन्हीं पाँच-पाँच के वर्गों को पंचपंचक कहते हैं।

"ज्ञानेन्द्रियों की संख्या तथा नियतार्थ ग्रहणता (निर्धारित विषयों की ही ग्रहण योग्यता) को लेकर आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी अब महत्त्वपूर्ण विचार करना प्रारम्भ कर दिया है। जैसा कि ए. एन. बी. नॉट और रॉबिन कैलेण्डर के इलस्ट्रेटेड फिजियोलाजी के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

ज्ञानेन्द्रियों का पदार्थों से समन्वय का महत्त्व आधुनिक वैज्ञानिक जगत में भी प्रारम्भ हो गया है। कुछ वैज्ञानिकों का यह विचार है कि हो सकता है कि सृष्टि में ऐसी अनेक घटनायें हमारे चारों ओर हो रही हों जिनका ज्ञान हमें इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा न होता हो क्योंकि मनुष्य को उनकी जानकारी के लिए इन्द्रियाँ नहीं हैं। प्रत्येक उत्प्रेरणाओं को ग्रहण करने के लिए इन्द्रियाँ विशिष्ट रूप से निर्मित होती है।" इलस्ट्रेटेड फिजियोलॉजी द्वारा ए. एन्. बी. नॉट तथा रॉबिन कैलेण्डर।

उपर्युक्त उद्धरण के परिप्रेक्ष्य में यह उदाहरण दिया जा सकता है कि अनेक योगी कितने ही इन्द्रियातीत विषयों के ज्ञान में समर्थ हैं। आचार्य चरक ने भी ऐसे इन्द्रिय विशेष की ओर संकेत करते हुए "ऐन्द्रं चक्षुः" इस संज्ञा का उल्लेख किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा :—

अपि च सर्वचक्षुषामेतत् परं यदैन्द्रं चक्षुः। च॰ वि॰ ३/३६.

प्राचीन काल के तत्वद्रष्टाओं का यह सिद्धान्त कितना समीचीन और तर्कसंगत है कि सभी कार्य द्रव्य पांचभौतिक हैं। आज के वैज्ञानिक युग में तो आधुनिकों द्वारा प्रतिपादित परमाणु भी अत्यन्त सूक्ष्म कणिकाओं का समूह माना जाता है जिसका गुण तथा कार्य पृथक्-पृथक् है। वस्तुतः देखा जाय तो आधुनिकों का परमाणु भी सावयव होने के कारण प्राचीनों की परमाणु परिभाषा में परमाणु नहीं कहा जा सकता। सावयव होने के कारण यह परमाणु जन्य माना जाएगा और अनित्य होगा। इसी कारण तो इसका विखण्डन संभव होता है। अतः तथाकथित परमाणु द्रव्य की कोई अन्तिम अवस्था नहीं है। किन्तु आधुनिकों के परमाणु घटक इलेक्ट्रान, प्रोटान और पोजिट्रान आदि परमाणु का स्थान ले सकते हैं। अतः परमाणु भी पंचमहाभूत से निर्मित होते हैं। परमाणु की प्राचीन परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो परमाणुओं के घटक विभिन्न गुणधर्म

वाले कण विशेष ही परमाणु कहे जा सकते हैं और इनको पार्थिवादि परमाणु चतुष्टय में वर्गीकृत कर सकते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि महदर्थकारी या सर्वविकार व्यापी होने के कारण भूतों को ही महाभूत कहा जाता है। इससे प्राणीवाचक भूत शब्द से व्यावृत्ति (पृथकता) भी हो जाती है। सत्वादि गुणत्रय को भी इसी कारण महागुण कहते हैं।

दूसरे पक्ष का कहना है कि सृष्टि के पूर्व महाप्रलयावस्था में जब कि कोई अनित्य द्रव्य नहीं रहते, परमाणु रूप में नित्य और वियुक्त (पृथक्-पृथक्) भूत रहा करते हैं। इनको भूत या सूक्ष्म भूत कहा जाता है। सर्गारम्भ में इन भूतों के उत्तरोत्तरानु प्रवेश (परवर्तीभूतों में पूर्ववर्ती भूतों के अनुप्रवेश (संयोग) से क्रमशः गुणवृद्धि वाले पांच महाभूत या स्थूलभूत बन जाते हैं। भूतावस्था में गुण अव्यक्त और महाभूतावस्था में व्यक्त हो जाते हैं। इसीलिए सांख्य दर्शन में तन्मात्र रूप भूतों को अविशेष और महाभूतों को विशेष कहा जाता है। इसके पश्चात् ये महाभूत परस्पर मिश्रित या अन्योन्यानुप्रविष्ट (एक दूसरे में मिलकर) होकर पंचीकृत हो जाते हैं। जगत के कार्यद्रव्यों की सृष्टि इन पंचीकृत भूतों से हुई है। आयुर्वेद का यह एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है जो वेदान्त दर्शन सम्मत भी है। अन्य दर्शनकार तो स्थूल पदार्थों की सृष्टि उत्तरोत्तरानुप्रवेश से ही मानते हैं।

पांचभौतिक कार्य द्रव्यों का निर्माण पंचीकृत भूतों से होता है और रासायनिक विश्लेषण के द्वारा इनकी पृथक् उपलब्धि किसी कार्यद्रव्य में पृथक् नहीं दिखलाई जा सकती है। महाभूतों के गुणधर्मो को देखकर ही इनका अनुमान संभव है। प्रत्येक कार्य-द्रव्यों में सभी महाभूतों के होते हुए भी कारणवश कुछ भूतों के गुण प्रकट रूप ले लेते हैं और कुछ अप्रकट ही रह जाते हैं। इसीलिए स्थूल द्रव्यों के गुण धर्मों में भिन्नता देखी जाती है!

दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि किसी भी द्रव्य का पांचभौतिक विश्लेषण वस्तुगत नहीं है वरन् आत्मगत है जो कि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विभिन्न ग्राह्य द्रव्यों के सम्पर्क होने से परिणामस्वरूप ज्ञात होता है। दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार आत्मगत विश्लेषण का यह एक बहुत बड़ा लाभ है कि इसके द्वारा उपपादित विश्लेषण पूर्णतः संतोष युक्त होते हुए सर्वदा के लिए औचित्यपूर्ण होता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के वस्तुगत विश्लेषण में हमें यह एक बड़ी त्रुटि ज्ञात होती है कि इस दृष्टिकोण पर आधारित तथ्य प्रायः परिवर्तनशील होते हैं जिस कारण हमें तत्त्व की परिगणना में नित्य ही नये-नये तत्त्वों का समावेश करते जाना पड़ता है जो कि वैज्ञानिक शोधों के कारण प्रायः नित्य ही प्रकाश में आया करते हैं। और दूसरी ओर हमारे प्राच्य आत्मगत

विश्लेषण के अनुसार केवल पाँच ही नित्य तत्त्व हैं तथा यह पांचभौतिक अवधारणा सर्वथा अपरिवर्त्य तथा निर्दुष्ट है। क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ से ही पंचमहाभूतों को सृष्टि का उपादान (आधारभूत) कारण माना गया है जो अद्यावधि भी भारतीय मनीषियों को मान्य है। पांचभौतिक परिकल्पना ही सारे भारतीय शास्त्रों की सुदृढ़ आधारशिला है जिससे कि सारी व्यावहारिक मान्यतायें उपपादित होती हैं जो सदैव निर्दोष एवं अकाट्य रहा है तथा भविष्य में भी रहेगा। आयुर्वेद के अनुसार पंचभूत सिद्धान्त के द्वारा ही त्रिदोषवाद, रसगुण वीर्यविपाकादि सिद्धान्त तथा और भी अनेक सिद्धान्त उपपादित होते हैं।

अस्तु हम देखते हैं कि प्राचीन आचार्यों का तत्त्व वर्गीकरण जो कि पंचमहाभूतों पर आधारित है वह वैदिक काल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त समीचीन है और भविष्य में भी यथावत् रहेगा। क्योंकि जितनी भी वस्तुयें अतीतकाल में थीं तथा वर्तमान काल में हैं एवं जो भी भविष्य में उत्पन्न होंगी वे सभी पंचमहाभूत के विस्तृत परिसीमा क्षेत्र में अपना अनुकूल स्थान प्राप्त करती हैं जैसे कि मालूम पड़ता है सभी वस्तुओं का इस विस्तृत पांचभौतिक परिसीमा में स्थान पूर्व निर्धारित हो।

पंचभूत सिद्धान्त की इस पूर्व पीठिका के पश्चात् हम इस सिद्धान्त के यथा संभव स्पष्टीकरण के निमित्त तथा इसके विविध व्याहारिक उपादेयताओं पर सुस्पष्ट विचार की दृष्टि से निम्नोक्त शीर्षकों में इसका विचार करेंगे जिससे कि इस विषय से सम्बन्धित कोई भी आवश्यक तथ्य विचार सरणि से छूट न जाय।

(१) भूत की परिभाषा।
(२) क्या भूत और महाभूत भिन्न है ?
(३) भूतों की द्रव्यरूपता, भूतों के गुण कर्म एवं समवायिकारणता।
(४) भूतों की तत्त्वरूपता।
(५) भूतों का उत्तरोत्तर एवं अन्योन्यानुप्रवेश।
(६) कार्य द्रव्यों की पांचभौतिकता।
(७) पंचभूत और कार्य द्रव्यों की विविधता।
(८) कार्य द्रव्यों का भौतिक वर्गीकरण।
(९) महाभूतों का विशेष वर्णन।
(१०) पंचभूतवाद की आयुर्वेद में विविध उपादेयतायें।

भूत की परिभाषा :—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच भूत या महाभूत के नाम से प्रसिद्ध हैं। असाधारण धर्म के आधार पर भूत का लक्षण प्रतिपादित करते हुए आचार्यों ने यद्यपि विभिन्न शब्दावली का प्रयोग किया है तथापि उन पर

तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर कोई मौलिक भिन्नता नहीं मिलती। भूत का मुक्तावली कार ने निम्नोक्त लक्षण प्रस्तुत किया है।

बाह्येन्द्रियों (पांचज्ञानेन्द्रियों) यथा चक्षु, श्रोत्र, रसना, घ्राण तथा त्वचा के द्वारा गृहीत हो सकने वाले रूपादि विशेष गुण जिनमें हो वे भूत हैं। मूल उद्धरण इस प्रकार है :—"बहिरिन्द्रिय ग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् भूतत्वम्"—मुक्तावली।

जो गुण अपने आश्रय को दूसरों से पृथक् कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं, विशेष या वैशेषिक गुण कहलाते हैं और अन्य गुण सामान्य गुण कहे जाते हैं। विशेष गुण १६ माने गये हैं। यथा : बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सांसिद्धिक द्रवत्व, धर्म, अधर्म और भावना। इनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द ये पांच भूतों के विशेष गुण हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना ये नौ आत्मा के विशेष गुण हैं। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि गुण अवश्य ही किसी द्रव्य विशेष में आश्रित रहते हैं क्योंकि गुण एवं कर्म किसी आश्रय के बिना स्वतन्त्र नहीं रह सकते। गुण, कर्म आधेय हैं और द्रव्य उनका आधार। द्रव्य के लक्षण में भी कहा गया है कि जिसमें कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध (अविच्छिन्न रूप से) से आश्रित रहते हैं तथा जो कार्य का समवायिकारण हो उसे द्रव्य कहते हैं।

चूंकि वाह्य जगत के ज्ञान के लिए केवल पांच ही ज्ञानेन्द्रियां हैं जिनसे मनुष्य को समस्त पदार्थों का यथाविध ज्ञान होता है। ये ज्ञानेन्द्रियां केवल एक-एक विशेष गुण को ग्रहण करती हैं। यथा :—श्रोत्रेन्द्रिय शब्द गुण का ग्रहण करती है एवं स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श गुण को। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियां भी अपने-अपने विशिष्ट गुण को ग्रहण करती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन पांच विशेष गुणों के आश्रयभूत द्रव्य भी पांच ही हैं, जिन्हें भूत कहते हैं। यथा शब्द का आश्रय आकाश-भूत, स्पर्श का वायु, रूप का तेज या अग्नि रस का जल तथा गन्ध गुण का आश्रय पृथ्वी भूत है। आचार्य चरक ने उपर्युक्त तथ्य का संकेत करते हुए निम्नोक्त वचन में कहा है। यथा :—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापःक्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धश्चद्गुणाः॥ च० शा० १/२७.

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पांच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध क्रमशः इनके गुण हैं।

उपर्युक्त विशेष गुणों के आधार पर भूतों के पृथक्-पृथक लक्षण भी बनते हैं यथा — "शब्दगुणकमाकाशम्" शब्द गुणवाला आकाश होता है। "स्पर्शवान् वायुः" स्पर्शगुण-

वाला वायु होता है। "रूपस्तेजः" तेज रूपवान होता है "रसवत्य आपः" जल रस गुण-वाला होता है। "गन्धवती पृथिवी" पृथ्वी गन्ध गुणवाली होती है।

क्या भूत और महाभूत भिन्न हैं—जैसा कि शीर्षक से ज्ञात होता है इस प्रकरण में हम भूतों एव महाभूतों में ऐक्य या भेद इस विषय का विवेचन करेंगे। इस विषय में यह तथ्य विचारणीय है कि भूत और महाभूत ये दोनों ही शब्द समानार्थक हैं। किसी भी आयुर्वेदीय संहिता अथवा अन्य भी दार्शनिक ग्रन्थों में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि भूत महाभूत से भिन्न होते हैं। प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से कुछ उद्धरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा, जहाँ ये दोनों शब्द समानार्थक ही माने गये हैं। यथा :—

(१) (क)—तत्रानुमानगम्यानां पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणाम् तेजश्चक्षुषि ''' विशेषेणोपपद्यते। च० सू० ८/१४.

(ख) तत्र प्रकृत्यादीन् भावाननुव्याख्यास्यामः।
तद्यथा शुक्रशोणितप्रकृतिमहाभूतविकार प्रकृतिं च गर्भशरीर-मपेक्षते। च० वि० ८/९५.

(ग) एवमनया युक्त्या पंचमहाभूत विकार समुदायात्मको गर्भश्चेतना-धिष्ठानभूतः। च० शा० ४/६.

(घ) महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धश्चतद्गुणाः॥ च० शा० १/२७.

(ङ) तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि। च० शा० ६/४.

(च) भूतैश्चतुर्भिः सहितैः सुसूक्ष्मैर्मनोजवोदेहमुपैति देहात्। च० शा. २।३१.

(२) (क)—तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषां तत्त्वचतुर्विंशति-र्व्याख्याताः। सु. शा १।४.

(ख)—तन्मात्राण्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नोभूतग्रामो व्यजायत॥ सु. शा. १/१२.

(ग)—भूतेभ्यो हि परं तस्मान्नास्ति चिन्ताचिकित्सिते। सु. शा. १/१३.

(घ)—स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते। सु.सू.४२/३.

(ङ)—यतोऽभिहितं पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः इति। सु.शा.१/१६.

उपर्युक्त उद्धरणों में भूत और महाभूत शब्दों का समान अर्थों में प्रयोग किया गया

है। आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों द्वारा उल्लिखित उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि भूत और महाभूत शब्द एक ही समान अर्थ में विभिन्न संहिताओं में व्यवहृत किए गये हैं। भूत और महाभूत शब्द गुण एवं महागुण शब्द के समान एकार्थवाची हैं।

महर्षि व्यास द्वारा रचित ग्रन्थ महाभारत में भी भूत और महाभूत शब्द का व्यवहार समान अर्थ में प्राप्त होता है। यथा :—

(क)—पृथिवी वायुराकाशमापोज्योतिश्च पंचमम्।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ॥

(ख)—महाभूतानि पंचैव सर्वभूतेषु भूतकृत्।
अकरोत् तेषु वैषम्यं तत्तु जीवो न पश्यति॥

(ग)—धातवः पंचभूतेषु खं वायुर्ज्योतिषो धरा।
ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुज्यन्ते स्वभावतः॥

महाभारत शान्तिपर्व

वेदान्त दर्शन के आचार्य विद्यारण्य स्वामी द्वारा रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ "पंचदशी" में भी पंचभूतों के सम्बध में पर्याप्त विचार प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में भी भूत और महाभूत शब्द का भिन्न अर्थों में प्रयोग नहीं प्राप्त होता है। इसमें केवल भूत शब्द का ही प्रयोग मिलता है। इन सभी आधिकारिक एवं विश्वसनीय वर्णन से स्पष्ट होता है कि पुराकाल में ये दोनों शब्द समान अर्थों में प्रयुक्त होते थे तथा एकार्थवाची माने जाते थे। एक समीचीन निष्कर्ष इस प्रसंग में यह भी निकाला जा सकता है कि भूतों का सृष्टि क्रम में महान् भूमिका निर्वाह करने के कारण प्राचीन तत्वद्रष्टाओं ने इनको महाभूत शब्द से अभिहित किया हो।

किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानों ने भूत और महाभूत शब्दों में भिन्नता माना है तथा भूत महाभूत शब्दों को एकार्थवाची नहीं माना है। आधुनिक विद्वानों ने भूतों को सूक्ष्म रूप का अर्थात् तन्मात्रावस्था वाला माना है और महाभूतों को भूतों के मिश्रण से बना हुआ। अतएव महाभूत को स्थूल भूत माना जाता है। इस सन्दर्भ में पंचभूत चर्चा-परिषद् का इस विषय पर अभिमत का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। इस विषय का सारांश निम्नांकित है। यथा—

"बहिरिन्द्रियग्राह्यविषयत्वम् भूतत्वम्।
बहिरिन्द्रियग्राह्यविषयवत्वम् महाभूतत्वम्"॥
रुद्रदत्तशर्मा, पंचभूतचर्चापरिषद्। पृष्ठ १२

बाह्येन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषयों को भूत कहते हैं। बाह्येन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य

शब्दादि गुण विशेष जिनमें रहते हों वे महाभूत कहे जाते हैं। इसी प्रकार की भूतों एवं महाभूतों की भिन्नता "वाचस्पत्यम्" शब्द कोश में भी उल्लिखित की गई है। यथा—

सर्वेषां पंचात्मकता प्राप्त स्थूलताध्मनेषु बृहत्सु पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशेषु महाभूत इति संज्ञा भवति।

वाचस्पत्यम् पृ० ४७४३.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि महाभूत सूक्ष्म भूतों के स्थूल रूप हैं।

उपर्युक्त सभी तथ्यों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन तत्वद्रष्टाओं के अनुसार भूत और महाभूत में भिन्नता नहीं है और दोनों ही शब्द एकार्थवाची है। कतिपय विद्वानों का यह सुझाव है कि भूत शब्द को सूक्ष्म अपंचीकृत भूतों के लिए और महाभूत शब्द को पंचीकृत स्थूल भूतों के लिए आरक्षित रखना चाहिए। किन्तु यह सुझाव व्यावहारिक नहीं है। इससे प्राचीन शास्त्रीय वाक्यों में एक प्रकार की अव्यवस्था ही उत्पन्न हो जायेगी।

भूतों की द्रव्यरूपता और उनकी गुणकर्म एवं समवायिकारणता

भूतों की द्रव्यरूपता—जिसमें गुणकर्म समवाय सम्बन्ध से रहें तथा जो कार्य का समवायि कारण बनता हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य की यह परिभाषा भूतों में घटित होती है, अतः ये द्रव्य हैं। द्रव्य की यह परिभाषा अधिक व्यापक है, क्योंकि मूर्त (सीमित) परिमाण वाला हो या अमूर्त (असीमित परिमाण वाला) द्रव्य मात्र में यह परिभाषा समन्वित हो जाती है। जबकि आधुनिकों की यह परिभाषा कि जो स्थान घेरता हो, जिसका कोई आकार हो तथा जिसमें गुरुत्व (भार) हो वह द्रव्य (मैटर) है। मैटर केवल मूर्त द्रव्यों तक ही सीमित रह जाने से अव्याप्ति दुष्ट (यथोचित व्यापक क्षेत्र में न घटने वाला) है। इस प्रसंग में हम भूतों के गुण, कर्म और कारणता का विचार करेंगे।

भूतों के गुण—भूतों के व्यावर्तक (पृथक् करने वाला) विशेष व सामान्य नैसर्गिक गुणों का परिभाषा प्रकरण में निर्देश किया जा चुका है। अब हम उनके सांसर्गिक और न्याय वैशेषिकोक्त गुणों का विवेचन करेंगे। पंचभूतों की दो अवस्था होती है। एक वह असंसृष्ट अवस्था जिनमें भूतों का उत्तरोत्तर या अन्योन्य अनुप्रवेश नहीं हुआ करता। दूसरी वह संसृष्ट अवस्था जिसमें कि भूतों का उत्तरोत्तर या अन्योन्य अनुप्रवेश होता है। भूतों की सूक्ष्म असंसृष्ट (एक दूसरे से असंसर्ग) अवस्था में प्रत्येक भूत में केवल एक विशिष्ट गुण निसर्गतः रहता है। और जब भूत स्थूल संसृष्ट (संसर्गवाला) अवस्था में आते हैं तो पूर्व-पूर्व भूतों के परवर्ती भूतों में उत्तरोत्तर अनुप्रवेश के कारण भूतों में सांसर्गिक गुणों के आ जाने से क्रमशः गुणातिरेक भी होता जाता है। उदाहरणार्थ—

आकाश में केवल शब्द गुण, वायुभूत में शब्द और स्पर्श दो गुण, तेज या अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप तीन गुण, जल में शब्द, स्पर्श, रूप रस ये चार गुण एवं पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच गुण पाये जाते हैं। जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

"आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथा संख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। सु॰ सू॰ ४२/३.

इस स्थूल भूतों के उत्तरोत्तर गुण वृद्धि को देखकर ही उत्तरोत्तरानुप्रवेश की परिकल्पना की गयी है।

आयुर्वेद में जो परत्वादि गुणों का भूत या भौतिक द्रव्यों के गुण प्रसंग में निर्देश नहीं मिलता, उसका कारण चिकित्सा में उनकी अप्रधानता है। और यदि युक्ति, संयोग, परिमाण, संस्कार, अभ्यास आदि चिकित्सोपयोगी हैं भी तो वे शब्दादि की तरह सांसिद्धिक नहीं अपितु आधेय या नैमेत्तिक हैं। अतः नैसर्गिक गुण प्रसंग में उनका उल्लेख नहीं किया गया जैसा कि आचार्य चक्रपाणि ने महर्षि चरक के—

सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नार्थे तच्चेतनावदचेतनं च। तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः। कर्म पंचविधमुक्तं वमनादि। च॰ सू॰ २६ ११,

इस उद्धरण की व्याख्या में निम्नोक्त उद्धरण में कहा गया है कि—

अत्र च परत्वापरत्वादीनामिहानभिधानमेव चिकित्सायां परत्वादीनामप्राधान्यं दर्शयति, येऽपि तत्रापि युक्तिसंयोगपरिमाणसंस्काराभ्यासा अत्यर्थंचिकित्सोपयोगिनोऽपि न ते पार्थिवादि द्रव्याणां शब्दादिवत् सांसिद्धिकाः किंतर्हि' आधेयाः, अत इह नैसर्गिकगुणकथने नोक्ताः। च॰ सू॰ २६/१० पर आयुर्वेद दीपिका व्याख्या

उत्तरोत्तरानुप्रवेश के अतिरिक्त आचार्य सुश्रुत ने भूतों के अन्योन्यानुप्रवेश का भी उल्लेख किया है जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

अन्योन्यानु प्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते॥ सु॰ शा॰ १/२१.

अर्थात ये सभी भूत एक दूसरे में प्रविष्ट होते हैं। सभी द्रव्यों में उद्‌भूत लक्षण वाले भूतों का लक्षण व्यक्त होता है तथा अनुद्‌भूत भूतों का लक्षण अव्यक्त रहता है।

एक अन्य प्रसंग में आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि भूतों के परस्पर संसर्ग, परस्पर अनुग्रह (एक दूसरे की गुण वृद्धि करना) तथा परस्पर अनुप्रवेश (एक दूसरे में प्रविष्ट होना) इन तीन हेतुओं से सभी पदार्थों में सभी भूतों की उपस्थिति होती है। उस

पदार्थ विशेष की संज्ञा तत्तद् भूतों के उत्कर्ष (आधिक्य) से होती है। जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से ज्ञात होता है। यथा—

परस्परसंसर्गाद् परस्परानुग्रहाद् परस्परानुप्रवेशाश्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। सु० सू० ४२|३.

न्यायवैशेषिकोक्तभूत गुण—न्याय वैशेशिक दर्शन में गुणों की संख्या २४ मानी गयी है। इन्हीं के अवान्तर भेद और विपर्यय बढ़ाकर आयुर्वेद में भी गुणों की संख्या ४१ है। मुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ पंचानन ने अपनी कारिकाओं में भूत-विशेष में पाये जाने वाले इन गुणों को निम्नोक्त रीति से व्यवस्थित किया है। यथा वायु में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेगाख्यव संस्कार ये नौ गुण होते हैं। इनमें से पूर्व के आठ गुण स्पर्शाष्टक और संख्या से विभाग पर्यन्त गुण संख्यादि पंचक कहे जाते हैं। तेज में स्पर्शादि आठ, रूप, वेग और नैमित्तिक द्रवत्व ये ११ गुण होते हैं। जल में स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, सांसिद्धिक द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह ये १४ गुण पाये जाते हैं। पृथ्वी में भी जल की तरह ही १४ गुण रहते हैं, इसमें स्नेह को छोड़कर गन्ध गुण होता है। आकाश में संख्यादि पाँच और शब्द ये ६ गुण पाये जाते हैं। मूल उद्धरण निम्नोक्त है।

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्व तेजसोगुणाः॥
स्पर्शाद्यष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथास्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
संख्यादि पंचकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे॥

मुक्तावली कारिका ३० से ३३.

कार्य द्रव्यों का भूतोल्वणता के आधार पर जो आकाशीय, वायव्य, तेजस, आप्य और पार्थिव ये पाँच विभाग किये गये हैं, और उनकी गुण बहुलता दिखलाई गयी है, उससे आयुर्वेदोक्त कुछ गुण विशेषों तथा भूत विशेष के सम्बन्ध पर भी प्रकाश पड़ता है। यथा—खर, कठिन, विशद (स्पर्श विशेष), स्थूल, मन्द और सान्द्र एवं स्थिर पृथ्वी से, मृदु, शीत, पिच्छिल और वेग विशेष मन्द जल से, उष्ण, रूप, विशद, सूक्ष्म, तीक्ष्ण और गुरु विपर्यय लघु तेज से, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म और लघु वायु से और मृदु, श्लक्ष्ण, सूक्ष्म और लघु आकाश से सम्बद्ध गुण बतलाये गये हैं। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशद-
सान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि।

उष्णतीक्ष्ण सूक्ष्म लघु रूक्ष विशद रूप गुण बहुलानि आग्नेयानि ।
द्रव स्निग्ध शीत मन्द मृदु पिच्छिल रस गुण बहुलानि आप्यानि ।
लघुशीत रूक्ष खर विशद सूक्ष्म स्पर्श गुण बहुलानि वायव्यानि ।
मृदुलघुसूक्ष्म श्लक्ष्ण शब्द गुण बहुलानि आकाशात्मकानि ।
च० सू० २६/११/१-५.

यदि हम गुणों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि कुछ गुण तो अनेक वर्गों में समान हैं, तथा कुछ वर्ग विशेष से ही सम्बद्ध हैं । उदाहरणार्थ—विशद गुण पार्थिव, आग्नेय और वायव्य पदार्थों में सामान्य रूप से पाया जाना है । सूक्ष्मता गुण आग्नेय, वायव्य और आकाशीय द्रव्यों में सामान्य रूप से पाया जाता है । लघुता गुण आग्नेय, वायव्य और आकाशीय द्रव्यों में समान रूप से उपलब्ध होता है । खरत्व-गुण वायव्य तथा पार्थिव द्रव्यों में पाया जाता है । रूक्षत्व आग्नेय तथा वायव्य पदार्थों में होता है । मृदुत्व आप्य एवं आकाशीय द्रव्यों में, शैत्य आप्य तथा वायव्य पदार्थों में तथा मन्दत्व पार्थिव तथा आप्य द्रव्यों में पाया जाता है । कुछ गुण किसी वर्ग विशेष में ही पाये जाते हैं । यथा—गुरुत्व, कठिनत्व, स्थिरत्व, संहतत्व, खरत्व एवं स्थूलत्व केवल पार्थिव द्रव्यों में पाया जाता है । सांसिद्धिक द्रवत्व, शैत्य, स्निग्धता एवं पिच्छिलत्व गुण केवल आप्य पदार्थों में पाया जाता है । उष्णत्व और तीक्ष्णत्व केवल तैजस पदार्थों में, रूक्षत्व वायव्य पदार्थों में एवं श्लक्ष्णता केवल आकाशीय पदार्थों में पाया जाता है ।

आचार्य सुश्रुत ने भी पांच भौतिक द्रव्यों के गुणों का उल्लेख किया है जिनमें प्रत्येक भूतों की बहुलता प्राप्त होती है । पार्थिव आदि द्रव्यों के गुणों की परिगणना आचार्य सुश्रुत ने भी महर्षि चरक के समान ही बतलाया है केवल विशद गुण का उल्लेख नहीं किया है । आप्य द्रव्यों में चरकोक्त गुणों के अतिरिक्त स्तैमित्य,, गुरुत्व एवं सान्द्रत्व गुण का भी उल्लेख मिलता हैं । आकाशीय द्रव्यों में व्यवायि (विस्तृत होने वाला) और विविक्तता (छिद्रयुक्तता) गुण अधिक मिलता है ।

महाभारत में भूतों के गुणों का निर्देश निम्न प्रकार का मिलता है । यथा—

भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता ।
गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापनाधृतिः ।।
अपांस्नेहो रसःक्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता ।
जिह्वा विष्यन्दनं चापि भौमानांश्रयणं तथा ।।
अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम् ।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततंचोर्ध्वगामिता ।।

वायोरनियम स्पर्शोशब्दस्थान स्वतन्त्रता ।
बलं शैघ्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टात्मतामयः ।।
आकाशस्य गुणः शब्दोव्यापित्वंछिद्रताऽपिच ।
अनाश्रयमनालम्बमव्यक्तमविकारिता ।
अप्रतिघातिता चैव भूतनां विकृतीनिच ।।

—महाभारत शान्तिपर्वअध्याय २५५

उपर्युक्त उद्धरण में भौतिक गुणों के साथ कुछ मानसिक गुणों का भी उल्लेख किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि चूंकि भूतों के द्वारा ही शरीर का निर्माण होता है अतः जिस व्यक्ति में पृथ्वीभूत की अधिकता होगी उसमें धैर्य अधिक होगा। जिसमें जल-भूत की अधिकता होगी वह सौम्य होगा। जिसमें अग्नि भूत की अधिकता होगी उसमें शोक तथा राग अधिक होगा। वायु की अधिकता वाले व्यक्ति में बल तथा स्वातंत्र्य अधिक होगा।

इस संदर्भ में एक शंका उठती है कि ये उपर्युक्त गुण अमिश्र (शुद्ध) भूतों के हैं या मिश्र भूतों के। आचार्य गंगाधर कविराज ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि गुर्वादि गुण जो कि प्रत्येक भूत में अव्यक्तावस्था में रहते हैं, पाँचभौतिक द्रव्यों में व्यक्त हो जाते हैं। ये गुण भूतान्तरानुप्रवेश के पश्चात् मिश्रित भूतों में प्राप्त होते हैं। जिससे कि प्रत्येक भूतों का लक्षण पृथक्-पृथक् ज्ञात होता है, अमिश्र भूतों का खरत्वादि गुण भी भूतों की शुद्धावस्था अथवा अमिश्रितावस्था के कारण अव्यक्त होते हैं और इस कारण उन्हें अमिश्रभूतों का ज्ञापक लक्षण नहीं कहा जा सकता। किन्तु आकाशादिक जब कारणावस्था में रहते हैं अथवा यों कहा जाय कि अमिश्रितावस्था में तो उनमें शब्दादि गुण का निर्देश किया जाता है। यद्यपि ये गुण प्रत्येक भूतों के विशिष्ट गुण अव्यक्तावस्था में होने के कारण इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य नहीं है तथापि प्राचीन ऋषियों के आप्तोपदेश द्वारा निर्णीत होने से उन्हें प्रत्येक भूतों का ज्ञापक गुण मानने का विश्वसनीयता प्राप्त होती है।

भूतों के कर्म : आयुर्वेदीय आचार्यों ने पंचभूतों के कर्मों का भी उल्लेख किया है। कर्म से तात्पर्य वैद्यकीय कर्मों से है, जिसका स्वरूप बतलाते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि "यत्कुर्वन्ति तत्कर्म" अर्थात् जो क्रियायें की जाती हैं वह कर्म हैं। आयुर्वेद में भूत विशेष के कर्म विशेष स्वतंत्रतया तथा पार्थिवादि द्रव्य भेदों में भूतोत्कटता (भूत विशेष की अधिकता) के आधार पर किये गए कर्म विशेषों के रूप में दिखलाए गये हैं। यथा—गर्भावक्रान्ति में वायु द्वारा विभजन, तेज का पाचन कर्म, जल द्वारा क्लेदन कर्म, पृथिवी का संहनन तथा आकाश द्वारा विवर्धन।

पार्थिव द्रव्यों के कर्म : शरीर को उपचित करना, दृढ़ता प्रदान करना, गुरुता उत्पन्न करना तथा स्थिरता प्रदान करना आदि कर्म पार्थिव द्रव्यों के कहे गये हैं।

आप्य द्रव्यों के कर्म : शरीर में क्लिन्नता (आर्द्रता), स्नेहन (चिकनापन), सभी धातुओं को सम्बद्ध करना, पोषक द्रव्यों का यथा स्थान विष्यन्दन (शनैः २ सिंचन), मृदुता एवं सभी अवयवों का तर्पण (पोषित करना) आदि आप्य द्रव्यों के कर्म हैं।

आग्नेय द्रव्यों के कर्मः—शरीर में आहार द्रव्यों का दहन, आहार का पाक (रूपान्तरण), प्रभाजनन (कान्ति), चक्षुरिन्द्रिय में रूप ग्रहण की शक्ति उत्पन्न करना तथा विभिन्न वर्णों (श्याम गौर आदि) की उत्पत्ति आग्नेय द्रव्यों के कर्म हैं।

वायव्य द्रव्यों के कर्म :—शरीर में रूक्षता (रूखापन) दौर्बल्य, गति, स्वच्छता एवं लघुता (हल्कापन) उत्पन्न करना आदि कर्म वायव्य द्रव्यों के हैं।

आकाशीय द्रव्यों के कर्म :—मृदुता (कोमलता) उत्पन्न करना, सुषिरता (सभी धातुओं के पोषणार्थ स्रोतस् के रूप में आहार रसआपूर्ति के लिए सूक्ष्म रंध्रों को उत्पन्न करना) एवं लघुता उत्पन्न करना आकाशीय द्रव्यों के कर्म हैं। आचार्य चरक तथा सुश्रुत द्वारा उल्लिखित मूल उद्धरण निम्न हैं। यथा :—

तानि (पार्थिवानि) उपचय संघात गौरव स्थैर्यकराणि, तानि (आप्यानि) उपक्लेदस्नेह बन्ध विष्यन्द मार्दव प्रह्लादकराणि, तानि (आग्नेयानि) दाह पाक प्रभा प्रकाश वर्ण कराणि, तानि (वायव्यानि) रौक्ष्यग्लानि विचार वैशद्यलाघवकराणि, तानि (आकाशात्मकानि) मार्दव सौषिर्यलाघवकराणि। च० सू० २६।११.

तत् (पार्थिवं) स्थैर्य बल गौरव संघातोपचयकरं, विशेषतश्चाधोगति स्वभावमिति, तत् (आप्यं) स्नेहनाह्लादन क्लेदन बन्धन विष्यन्दनकरमिति, विशेषतश्चोर्ध्वगति स्वभावमिति, तैजसम्, तत् दहन पचन दारण तापन प्रकाशन प्रभावर्णकरमिति, तत् (वायवीयं) वैशद्यलाघवग्लपन विरूक्षण विचारण करमिति, तत् (आकाशीयं) मार्दवं सौषिर्यं लाघवकरमिति। सु० सू० ४१।३-७.

वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति पृथिवी संहन्ति आकाशं विवर्धयति। सु० शा० ५।२.

विशेष ज्ञातव्य :—भूत और भौतिक द्रव्यों के जो गुण वर्णित किए गये हैं, उनमें कुछ तो प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ अनुमेय (अनुमान करने योग्य)। उन गुणों का अनुमान द्रव्यों के कर्म विशेषों को देखकर किया जाता है जैसा कि आचार्य के निम्न वचन से ज्ञात होता है। यथा :—

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रया गुणाः। सु० सू० ४६/५१४

भूतों की समवायि कारणता– पंचभूत भौतिक जगत के सभी कार्य द्रव्यों (प्रयोज्य पदार्थों) के समवायि कारण (आश्रय भूत) होते हैं। समवायि कारण को ही वेदान्त दर्शन में उपादान कारण कहते हैं। न्याय वैशेषिक मतानुसार सभी कार्यों (स्थूल द्रव्यों) की उत्पत्ति में तीन प्रकार के कारण होते हैं। प्रथम समवायि कारण, द्वितीय असमवायि-कारण तथा तृतीय निमित्त कारण। इसमें भी एक व्यवस्था है कि द्रव्य ही समवायि कारण बन सकता है। गुण कर्म सर्वदा असमवायिकरण ही होते हैं। निमित्त कारणता भी द्रव्य की ही होती है। चूँकि पंचभूत द्रव्यरूप हैं अतः इनकी भौतिक कार्यों के प्रति समवायिकारणता सिद्ध होती है।

आयुर्वेद तथा वेदान्त दर्शन पंचभूतों को शरीरोत्पत्ति में समवायिकारण मानता है जैसा कि आचार्य सुश्रुत व चरक के निम्न वचनों से स्पष्ट होता है।—

(१) अस्मिन्शास्त्रे पंचमहाभूत शरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते। सु०सू०१।१.

(२) तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः। सु. सू. ४१।२०

(३) सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे। च० सू० २६।१०.

इस प्रकार आयुर्वेदानुसार पांचभौतिक द्रव्यों के प्रति पंचभूतों की समवायिकारणता सिद्ध होती है।

भूतों की तत्त्वरूपता—तत्व शब्द "तनुविस्तारे" धातु से व्युत्पन्न हुआ है जो कि विस्तार या निर्माण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए तत्त्व शब्द की निरुक्ति परक व्याख्या होगी -'तनोतिसर्वान् (कार्यद्रव्यान्) व्याप्य आस्ते इति तत्त्वम्, अर्थात् जो सभी कार्य द्रव्यों को व्याप्त करके स्थित हो अथवा जो सभी कार्य द्रव्यों का उपादान कारण बनें वे तत्त्व कहलाते हैं। पांचभौतिक कार्यद्रव्यों के मूल में इनकी कारणता के कारण इन्हें मूलतत्त्व कहना असंगत नहीं है। प्राचीन काल से ही भूतों को तत्त्व माना जाता रहा है। सामान्य रूप से कार्य द्रव्यों के मुलभूत कारण रूप उपादान द्रव्यों को तत्त्वा कहते हैं क्योंकि सभी कार्य द्रव्य भौतिक या पांचभौतिक होते हैं। अतः उनके कारण रूप भूतों को तत्व कहना उचित ही है।

सभी प्रकार के मूर्त (स्थूल) कार्य द्रव्य चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल पांच भूतों के द्वारा ही निर्मित हैं। न्यायवैशेषिक मत में तो आकाश एवं चतुर्विध भूत परमाणुओं के नित्य होने से इनकी भौतिक तत्त्वरूपता पारमार्थिकहै ही, सांख्य और वेदान्त मत से भी मूल-तत्व रूप प्रकृति एवं ब्रह्म के बाद भूतों की व्यावहारिक तत्त्वरूपता पर कोई आंच नहीं आती।

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित एलिमेण्ट्स (रासायनिक तत्वों) को भी

सच्चे अर्थ में तत्त्व नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्येक एलिमेन्ट के परमाणुतक में भी कितने ही सूक्ष्म कण, एक दूसरे से विपरीत स्वभाव वाले पाये जाते हैं। अतः सावयव (अनेक अवयव वाले) होने के कारण जन्य, किसी अन्य कारण से उत्पन्न होने से, विजातीय (एक दूसरे से भिन्न जाति वाले) द्रव्यारब्ध होने से, अनेकेन्द्रियार्थश्रय अनेक इंद्रियों द्वारा ग्राह्य) होने से तथा प्रत्येक कार्य द्रव्य में सबकी कारणता न होने से तत्त्व की कोई भी परिभाषा उनमें संगत नहीं होती और वे भूतों के ही कार्य सिद्ध होते हैं न कि तत्त्व।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने एलिमेन्ट्स की परिभाषा निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा:—"रासायनिक तत्त्व द्रव्य की वे विशिष्ट जातियाँ हैं जो अब तक दो या दो से अधिक जाति के द्रव्यों से निर्मित न सिद्ध हों"। —शेरवुडटेलर

इस परिभाषा को नैयायिक भाषा में निम्न प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। यथा: —"विजातीयानारब्धत्वम् तत्त्वम्" अर्थात् जो समान जाति के पदार्थों से उत्पन्न हो वह तत्त्व है। इस परिभाषा में तत्त्वों की अविजातीयता पर बल दिया गया है।

आधुनिक विज्ञान से मिलती जुलती तथा उससे भी उत्कृष्ट तत्त्व की परिभाषा आचार्य चरक के निम्नोक्त तथ्य के आधार पर की जा सकती है। वह है "एकेन्द्रियाश्रयत्वम् तत्त्वत्वम्" जो द्रव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में से एक ही इन्द्रियार्थ का अधिष्ठान हो वही विशुद्ध अवस्था का द्रव्य है और ऐसे विशुद्धतम द्रव्य को ही जिसकी रचना में किसी विजातीय द्रव्य का मेल न प्रतीत हो उसे ही तत्त्व कहा जाना चाहिए। यदि आचार्य चरक संकेतित उपर्युक्त परिभाषा की कसौटी पर आधुनिकों के तत्त्वों को परखा जाय तो उनकी तत्त्वता खरी नहीं उतरती। क्योंकि वे एक इन्द्रियार्थ के आश्रय न होकर अनेक इन्द्रियार्थों के आश्रय हैं और प्रत्यक्ष ही विजातीय द्रव्यारब्ध प्रतीत होते हैं एवं सावयव होने से अनित्य भी सिद्ध होते हैं। आधुनिकों के एलिमेन्ट संज्ञक तत्त्व अनेकेन्द्रियार्थाश्रयत्व होने से पांचभौतिक कार्यद्रव्य ही प्रतीत होते हैं। आचार्य चरक ने क्षार को रस न मानकर एक कार्यद्रव्य माना और उसकी सिद्धि में "अनेकेन्द्रियार्थाश्रयत्व" को हेतु रूप से निर्दिष्ट किया है। यही उपर्युक्त नवीन परिभाषा का शास्त्रीय आधार है। आचार्य चरक का निम्नोक्त वचन इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। यथा—

"क्षरणात्क्षारः, नासौरसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठम् अनेकेन्द्रियार्थं समन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्"। च० सू० २६/९.

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि —शरीर में क्षरण कार्य उत्पन्न करने से क्षार

होता है, यह रस नहीं कहा जा सकता, द्रव्य में अनेक रस होता है जो कि कटुलवण रस भूयिष्ठ (आधिक्य) होता है तथा अनेक इन्द्रियार्थाश्रय होता है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है एकेन्द्रियार्थाश्रयत्व अर्थात् एक-एक ही इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण पंचभूत ही तत्व के रूप में गृहीत हो सकते हैं आधुनिकों द्वारा प्रतिपादित एलिमेन्ट नहीं। पंचभूत चर्चापरिषद् में भी ऐसा ही निर्णय किया गया था। जैसा कि निम्न उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा :—

"अन्येष्वपि एलिमेंट संज्ञकेषु पंचभूत गुणाः पंचेन्द्रियाणां उपलभ्यन्तेतस्मात् पांचभौतिकान्येव तत्वानि न वा मूलतत्वानि"। पंचभूत चर्चा परिषद् पृ० ३०

उपर्युक्त उद्धरण का यह आशय है कि— आधुनिकों द्वारा प्रतिपादित एलिमेन्ट संज्ञक तत्व में पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय पंचभूतों के गुण उपलब्ध होते हैं अतः एलिमेन्ट पांचभौतिक तत्त्व ही हैं न कि मूल तत्त्व।

पंचभूतों का जब मूलतत्वों के रूप में विचार किया जाता है तो उनका तात्पर्य आकाश (नभ), वायु (समीर), अग्नि (वह्नि) अप् (वारि) और पृथ्वी (धरा) आदि दृश्वभूतों से नहीं होता, क्योंकि आकाश के अतिरिक्त ये सभी दृश्यभूत अनित्य एवं मिश्रित होने के कारण एक से अधिक गुणों से युक्त तथा पांचभौतिक स्वरूप के होते हैं। आधुनिक विज्ञान से भी ये सब विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा एलिमेंट्स से बने सिद्ध हो चुके हैं। इसीलिए यद्यपि पृथ्वी, अप्, अग्नि आदि का आंग्ल अनुवाद अर्थ, वाटर, फायर आदि करना भ्रामक ही है तथा पंचभूतवाद की समस्त अवधारणा चूंकि स्थूल भूतों के सामान्य स्तर से ही उद्भूत हुई, इसलिए तत्वस्तर पर भी पचभूतों के लिए भी वही नामावली अक्षुण्ण रखी गई है।

न्याय वैशेषिक दर्शन स्थूल पदार्थों का विवेचन ऐसे नैसर्गिक रूप में करता है कि सर्व साधारण की सामान्य बुद्धि भी सन्तुष्ट हो सके एवं उनकी वैज्ञानिक वास्तविकता तथा सामान्य व्यावहारिकता से तालमेल भी बैठ सके।

यद्यपि स्थूलभूतों को भी साधारण बोलचाल की भाषा में तत्व कहा जाता है जिसका कारण स्थूल कार्यों के प्रति उनकी कारणता है न कि सूक्ष्मस्तर की वास्तविकता। कविराज उपेन्द्रनाथदास एवं महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने पंचभूत चर्चापरिषद में ऐसा ही अभिप्राय प्रकट किया है जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

दृश्यानां पृथिव्यादीनां बहिरिन्द्रिय ग्राह्य विशेष गुणवत्व रूप भूत लक्षण समन्वयाद् च भूतत्वम्, संकीर्णत्वाद् पांचभौतिकत्वम्।

न हि पृथिव्याद्याः पंचानादयः इतरेतरासम्मिलितानि मौलिकानि तत्वानि चेत्यस्माकं दर्शनानामभिप्रायः। एषां सृष्टेः परस्य पूर्वाविष्टतायाश्च, श्रुतत्वात्। एषां यौगिकत्वं जन्यत्वं परस्परानुप्रविष्टत्वं चशास्त्र सम्मतम्।

—पंचभूत चर्चा परिषद्

उपर्युक्त उद्धरण का आशय यह है कि—दृश्य पृथ्वी आदि भूत बाह्य इन्द्रियों के ग्राह्य विषय होने के कारण भूत कहे जाते हैं, इन सभी भूतों के समवेत से स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति होती है अतः पदार्थ पांचभौतिक होते हैं। पृथ्वी आदि पाँच स्थूल भूत अनादि तथा परस्पर एक दूसरे से अमिलित मौलिक तत्व नहीं है यही हमारे दर्शनों का अभिप्राय है। इन सभी स्थूल भूतों का परस्पर एक दूसरे में प्रवेश सृष्टि के पश्चात् होता है ऐसा श्रुति (वेद) का वचन है। इन सभी स्थूल भूतों की यौगिकता, जन्यता (मूल कारण से उत्पन्न होना) तथा परस्पर एक दूसरे में अनुप्रवेश शास्त्र के वचनानुकूल है।

सुश्रुत आदि आचार्यों ने भी पृथ्वी की पांचभौतिकता स्वीकार करते हुए भूतोल्वणता (भूतविशेष का आधिक्य) के आधार पर भूमि के ५ भेद और विभिन्न गुण कर्म वाले औषधियों की उत्तमता से उनका सम्बन्ध प्रतिपादित किया है, जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

विशेषतस्तु तत्र अश्मवती स्थिरागुर्वीश्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठाः, स्निग्धा शीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धशस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाम्बुगुणभूयिष्ठाः, नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रविरलाल्प पापांडुवृक्षप्ररोहाऽग्नि गुण भूयिष्ठा, रूक्षा भस्मरासभवर्णातनुवृक्षाल्परसकोटरवृक्षप्रायाऽनिल गुणभूयिष्ठा, मृद्वी समा श्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षामहापर्वतवृक्षप्राया श्यामाचाकाशगुण भूयिष्ठा। सु० सू० ३६/४

तत्रपृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्यादवीत, अग्न्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभय गुण भूयिष्ठायामुभयतोभागानि, आकाश गुण भूयिष्ठायां संशमनानि एवं बलवत्तराणि भवन्ति। सु० सू० ४१/६

उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता हैं कि प्राचीन आचार्यों को यह पूर्णतः स्पष्ट था कि भूत नाम से प्रसिद्ध स्थूल पृथ्वी, जल आदि पांचभौतिक कार्यद्रव्य हैं न कि तत्व रूप के कारण द्रव्य। पांचभौतिक होते हुए भी इसका भूत शब्द से जो व्यवहार किया जाता है वह कार्य और कारण में अभेद मानकर किया जाता। इसी तथ्य को संकेत करके अष्टांग हृदय के व्याख्याकार आचार्य हेमाद्रि ने कहा है कि—"कार्यकारणयोरभेदोपचारात् भूतशब्देन भौतिकमुच्यते।" आयुर्वेद रसायन अ० हृ० सू० ९१ श्लोक पर

इसके अतिरिक्त बहिरिन्द्रिय ग्राह्य विशेष गुणत्व का मूल लक्षण जैसे कारण रूप भूतों में मिलता है वैसे कार्यरूप पाँच भौतिक दृश्यभूतों में भी।

सृष्टि के विकास एवं वैचित्र्य में तथा लोक व्यवहार में भी कार्यकारणभावों की एक परम्परा सी चलती है। एक ओर कारण यदि कार्यावस्था में आकर विश्रान्त होता है तो दूसरी ओर वह कार्य भी कार्यान्तर को उत्पन्न करके कारण कोटि में आ जाता है। किन्तु यह एक ध्रुव सत्य है कि कार्यापेक्षया कारणों की संख्या कम होगी और पारमार्थिकता भी उत्तरोत्तर पूर्व पूर्व कारणों की ही ओर बढ़ती जायेगी और तदनुसार उनकी तत्वरूपता भी। अन्तिम अथवा वास्तविक कारणों के अन्वेषण में जब कोई प्रतिलोम क्रम से इस कार्य कारण शृंखला का विश्लेषण करते हुए पूर्व पूर्व कारणों के विनिश्चय में नीचे तल की ओर उतरता है तो ऐसा ज्ञात होता है कि कारणों की संख्या क्रमशः कम होती जा रही है तथा उन कारणों की सूक्ष्मता बढ़ती जा रही है और एक स्थिति ऐसी भी आती है कि हम उन मूलभूत कारणों का जो स्वयं अकारण है, ज्ञान भौतिक एवं रासायनिक पद्धति के साधनों से नहीं कर सकते तथा उनमें लौकिक प्रत्यक्ष योग्यता नहीं रहती। यदि इसके विपरीत कोई अनुलोम क्रम में ऊपर पृष्ठस्तर की ओर चलें तो यह भलीभाँति प्रतीत होगा कि कारण द्रव्यों की संख्या और शृंखला क्रमशः बढ़ती जा रही है तथा वे भौतिक और रासायनिक पद्धति के साधनों के कार्यक्षेत्र की सीमा में आ जाते हैं एवं इनकी लौकिक प्रत्यक्ष योग्यता बढ़ जाती है और स्वयं सकारण होने से उनमें मौलिकता नहीं रहती। सम्भवतः इन्हीं कारणों के आधार पर जड़चेतन की सोपपत्तिक व्याख्या के लिए बहुत्ववादी नैयायिकों ने मूल में नौ नित्य कारण द्रव्यों को, द्वैतवादी सांख्यों ने प्रकृति और पुरुष इन दो कारण द्रव्यों को एवं अद्वैतवादी वेदान्तियों ने एक ब्रह्म तत्व को सृष्टि के मूल कारण रूप में प्रतिपादित किया है। किन्तु व्यवहार दिशा में सृष्टि के जड़ात्मक अंग के विवेचन के लिए पंचभूत तत्वों की जैसी उपादेयता है वैसी प्रकृति पुरुष आदि की नहीं। आयुर्वेद में तो इनकी व्यावहारिक उपादेयता और भी अधिक है जैसा कि आगे हम इसका विवेचन करेंगे। पंचभूतों से अधिक सूक्ष्म तत्वों का विचार आयुर्वेद को अभीष्ट भी नहीं है जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्न वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

"भूतेभ्योहि परंतस्मान्नास्तिचिन्ता चिकित्सिते।" सु० शा० १/१३.

अर्थात् भूतों से अधिक सूक्ष्म तत्वों का विचार चिकित्सा शास्त्र में अपेक्षित नहीं है।

भूतों का उत्तरोत्तर एवं अन्योन्यानुप्रवेश—मूल कारणभूत असंसृष्ट पंचमहाभूत पाँचभौतिक कार्यद्रव्यों के निर्माण में भाग लें इसके पूर्व ये उत्तरोत्तरानुप्रवेश या अन्योन्यानुप्रवेश के द्वारा संसृष्ट हो जाते हैं।

उत्तरोत्तरानुप्रवेश– उत्तरोत्तरानुप्रवेश में पूर्व पूर्व के भूत उत्तर उत्तर के भूतों में अनुप्रविष्ट (प्रवेश कर जाना) होते हैं, इस कारण उत्तर उत्तर भूतों में अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अतिरिक्त पूर्व पूर्व भूतों के सांसर्गिक गुण भी आ जाते हैं। उदाहरणार्थ आकाश भूत में केवल शब्द गुण होता है, वायु में इसके स्वाभाविक गुण स्पर्श के साथ ही इसके पूर्वभूत आकाश का सांसर्गिक गुण शब्द भी होता है। अग्नि या तेज भूत में इसके स्वाभाविक गुण रूप के अतिरिक्त पूर्व पूर्व भूतों के सांसर्गिक गुण शब्द और स्पर्श भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य भूतों जल एवं पृथ्वी में भी क्रमशः गुणों की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार परवर्ती भूतों में पूर्ववर्ती भूतों की अपेक्षा क्रमशः गुण वृद्धि पाई जाती है। जैसा कि न्याय दर्शन के सूत्रकार आचार्य गौतम के निम्न सूत्र से स्पष्ट होता है। यथा—

विष्टं ह्यपरं परेण। न्याय सूत्र ३/१/६६.

अर्थात् परवर्ती भूत पूर्ववर्ती भूत से विष्ट या व्याप्त होता है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने और स्पष्ट करते हुए निम्न उद्धरण में कहा है कि—

तेषामेक गुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषुस्मृतः॥ च० शा० १/२८

अर्थात् पूर्व के भूत यथा आकाश में एक गुण होता है तथा बाद के भूतों में पूर्व पूर्व भूतों के गुणों का अनुगमन होने से बाद के भूतों में क्रमशः गुणों की वृद्धि होती है। चरक संहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त चरकोक्त वचन की व्याख्या करते हुए उल्लिखित किया है कि —

"शब्दादयो यथा संख्यंआकाशादीनां नैसर्गिका गुणाज्ञेयाः। यस्तु गुणोत्कर्षोऽभिधानतः सहि अनुप्रविष्टभूत संबधादेव। तेन पृथिव्यां चतुर्भूत प्रवेशात् पंचगुणत्वम् एवं जलादावपि चतुर्गुणत्वादिज्ञेयम्"। —चक्रपाणि

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—शब्दादि क्रमानुसार आकाशादि के नैसर्गिक गुण हैं। भूतों में गुणों की जो वृद्धि होती है वह अनुप्रविष्ट भूत के सम्बन्ध से होती है। भूतों के परस्पर अनुप्रवेश से पृथ्वी में चार भूतों के प्रवेश से पाँच गण होते हैं, इसी प्रकार अपभूत में तीन भूतों के प्रवेश से चार गुण जानना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने भी भूतों के उत्तरोत्तरानुप्रवेश का उल्लेख करते हुए निम्न वचन प्रस्तुत किया है। यथा :—

आकाश पवन दहनतोयभूमिषु यथा संख्यमेकोत्तर परिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूप रस गन्धाः। —सु० सु० ४२/३.

अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल तथा भूमि में यथाक्रम शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध गुणों की एक-एक करके वृद्धि होती है यथा आकाश में एक गुण, वायु में दो तथा तेज में तीन गुण आदि क्रम से।

अन्योन्यानुप्रवेश :—तद्विद्यों का एक पक्ष अन्योन्यानुप्रवेश को उत्तरोत्तरानुप्रवेश के रूप में ग्रहण करता है और दूसरा पक्ष पाँचों भूतों के परस्परानुप्रवेश के क्रम में अथवा पंचीकरण के क्रम में इसे लेता है। इस दूसरे पक्ष में सभी भूतपरस्पर अनुप्रविष्ट होते हैं जिससे कि परस्पर संयुक्त होकर एक दूसरे का अनुग्रह और उपकार कर सकें तथा भूत-जन्य कार्यद्रव्यों में पाँचभौतिकता ला सकें। यही वेदान्त दर्शन का पंचीकरण सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पाँचों ही भूत पार्थिवादि भेद से भिन्न तत्तद् कार्य द्रव्यों के उपादान कारण या समवायिकारण बन जाते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार इन कार्य द्रव्यों की भौतिकता कुछ भिन्न स्वरूप की होती है, कार्य द्रव्यों के पार्थिवादि भेदों में तत्तद् पृथिवी आदि भूत ही समवायिकारण माने जाते हैं और शेष भूतों की वहाँ निमित्तकारणता या उपष्टम्भकता (सहायकता) मानी जाती है। इस परस्परानुप्रविष्टि में सभी भूत परस्पर एक दूसरे से सयुक्त होकर विजातीयता को छोड़ देते हैं तथा निर्विरोधभाव से कार्य में एक दूसरे पर अनुग्रह करते हैं जिससे कि कार्य-द्रव्यों के मूलकणों में एक प्रकार की एकात्मता आ जाती है। आयुर्वेद में इस प्रक्रिया विशेष को निम्नोक्त वचनों से स्पष्ट किया जा सकता है। यथा :—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तलक्षणमिष्यते॥ —सु० शा० १/२१.

परस्पर संसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्य-मस्ति। उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। —सु० सू० ४२/३.

उपर्युक्त उद्धरणों का तात्पर्य है कि—सभी भूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होते हैं तथा तत्तद् द्रव्यों में भूतविशेष के उत्कर्ष (आधिक्य) से उनमें लक्षण व्यक्त होते हैं। सभी भूतों का एक दूसरे के संसर्ग से, अनुग्रह से तथा अनुप्रवेश से सभी द्रव्यों में सभी भूतों का सान्निध्य (अवस्थिति) होता है। भूत विशेष का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष (हीनता) तत्तद् द्रव्यों को पार्थिवादि भेदों में प्रकट करता है।

निबन्ध संग्रहकार आचार्य डल्हण ने उपर्युक्त प्रसंग को व्याख्यायित करते हुए स्पष्ट किया है कि— यथा —

शब्द गुण वाला आकाश स्पर्शवान् वायु भूत में प्रविष्ट होता है, पुनः आकाशवायु तेज में प्रविष्ट होते हैं अतः तेज शब्द, स्पर्श एवं रूप गुण वाला होता है। आकाश वायु

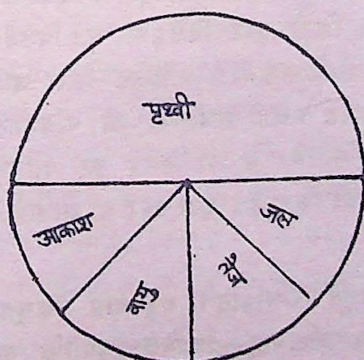
एवं तेज जल भूत में प्रविष्ट होते हैं जिससे जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस गुण होते हैं। और फिर आकाश, वायु, तेज एवं जल पृथ्वी भूत में प्रविष्ट होते हैं अतः पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण होते हैं।

उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि अन्योन्यानुप्रवेश के कारण प्रत्येक भूत सभी अन्य भूतों के गुणों से युक्त होते हैं। अन्योन्यानुप्रवेश में सभी भूत परस्पर संयुक्त होते हैं एवं परस्पर सभी भूत एक दूसरे को उपकृत (सहायता) करते हैं तथा सभी एक दूसरे से आवद्ध हो जाते हैं जिससे कि भूतोत्पन्न सभी कार्यद्रव्य सभी भूतों के के गुणों से युक्त हो जाते हैं। भौतिक कार्य द्रव्यों की यह स्थिति देखकर ही अन्योन्यानुप्रवेश सिद्धान्त की उपस्थापना की गई है। इसी अन्योन्यानुप्रवेश को वेदान्ती पंचीकरण सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करते हैं इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक विशिष्ट भूत में उसका अपना आधा भाग होता है और शेष आधे भाग में चारों भूतों का चतुर्थांश २ होता है। जैसा कि निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा

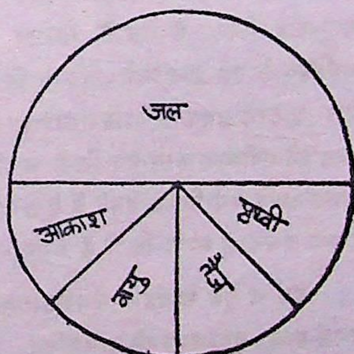
द्विधाविधायचैकैकं चतुर्धाप्रथमं पुनः।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पंचपंचते ॥ —पंचदर्शी (पंचभूतविवेक)

अर्थात् किसी भूतविशेष में अपना आधा भाग होता है तथा दूसरे आधे भाग में शेषभूतों का एक-एक चतुर्थांश भाग जैसा कि निम्न रेखाचित्र में दर्शाया गया है—

पंचीकृत पृथ्वीभूत



पंचीकृत जलभूत



उपरिनिर्दिष्ट रेखाचित्रों के अनुसार ही अन्य भूत विशेषों की भी स्थिति होती है।

कार्य द्रव्य और उनकी पांच भौतिकता—जगत् के सृष्टिक्रम में कारणवाद का नियम होता है, अतएव प्रत्येक जन्य पदार्थ चाहे सजीव या निर्जीव, दृश्य अथवा अदृश्य, सामान्य अथवा जटिल जैसा भी हो उनकी भौतिक संरचना पंचमहाभूतों एवं उसके स्थूल अथवा सूक्ष्म रूपों से संपन्न होती है क्योंकि प्रत्येक कार्यद्रव्य का अनुमान उद्भूतानुद्भूत रूप में भूतों के शब्दादि विशिष्ट गुण एवं गुर्वादि सामान्य गुणों के द्वारा

ही होता है और यही तथ्य इन द्रव्यों के पांचभौतिक होने का संकेत करता है। आकाशादि पांच भूतों के अतिरिक्त चार और भी कारणद्रव्य हैं—काल, दिक्, आत्मा और मन। इस प्रकार पंचभूत तथा काल, दिक्, आत्मा और मन इन नौ द्रव्यों को कारणद्रव्य माना जाता है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

खादीन्यात्मा मनः कालोदिशश्च द्रव्यसंग्रहः। —च० सू० १/४८.

सभी यौगिक पदार्थों को कार्यद्रव्य कहा जाता है और सभी कार्यद्रव्य पंचभूतों से बने हैं, अतः पांचभौतिक कहे जाते हैं। जो पांचभौतिक होगा वह अवश्य ही कार्यद्रव्य होगा मूल कारण अकारण होते हैं अर्थात् उनका कोई कारण नहीं होता, अतः मूल कारण किसी के कार्य नहीं हो सकते और न पांचभौतिक ही। निम्न उद्धरणों में प्रयुक्त द्रव्य पद से कार्यद्रव्य ही अभिप्रेत है न कि कारण द्रव्य। यथा—

(१) सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नार्थे। —च० सू० २६/१०.

(२) तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद्द्रव्याभिनिर्वृत्तिः।

—सु० सू० ४१/३.

(३) पंचभूतात्मकं तत्तुक्ष्मामधिष्ठाय जायते।
अम्बुयोन्यग्निपवन नभसां समवायतः॥ —अ० हृ० सू० ९/४.

सभी पांचभौतिक कार्यद्रव्य पृथ्वी को आधार बनाकर जल की सहायता एवं तेज, वायु और आकाश के मेल से निर्मित होते हैं। किसी द्रव्य विशेष में भूत विशेष के आधिक्य से उस द्रव्य विशेष को पार्थिव, आप्य आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। अष्टांग हृदय के व्याख्याकार आचार्य अरुणदत्त ने सभी कार्यद्रव्यों की पांचभौतिकता को स्वीकार करते हुए किसी भूत विशेष की अधिकता से द्रव्य विशेष का पार्थिव-आप्य आदि वर्ग विशेष बनते हैं ऐसा अभिमत प्रकट किया है। इसी तथ्य को आचार्य ने निम्न वचन से स्पष्ट किया है। यथा—

एवं च पूर्वं कार्यद्रव्यं पंचभूतात्मकं पंचभिर्भूतैरारब्धत्वात्। ननु यदि पंचभूतात्मकं द्रव्यं तत्कथमुच्यते पार्थिवमिदं द्रव्यमिदमाप्यमित्याह—व्यपदेशस्तुभूयसेति यत् द्रव्यं यद्भूतभूयिष्ठं तस्यव्यपदेशसंज्ञा भवति। यथा पृथिव्याधिक्योत्पादितं द्रव्यं पार्थिवम्। एवमाप्यं तैजसंज्ञेयम्। तदेवं सर्वं द्रव्यं पंचभूतात्मकं स्थितम्।

—सर्वाङ्गसुन्दराख्याख्या अ० हृ०सू० ९/२. श्लोकम्

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य अरुणदत्त ने स्पष्ट किया है कि—सभी कार्यद्रव्य पंचभूतात्मक हैं क्योंकि पांचभूतों से उनकी उत्पत्ति हुई है। ऐसी आशंका होती है कि यदि सभी कार्य द्रव्यपंचभूतात्मक हैं तो क्यों किसी द्रव्य विशेष को पार्थिव, आप्य आदि

संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। इस आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी द्रव्य विशेष में किसी भूत विशेष के आधिक्य होने से उसे पार्थिव, आप्य आदि नामों से कहा जाता है। यथा पृथ्वी भूत की अधिकता होने से उसे पार्थिव कहा जाता है। जल भूत की अधिकता से आप्य द्रव्य कहा जाता है। इसी प्रकार तैजस और आकाशीय द्रव्य के वर्ग विभाजित किए गये हैं। इस प्रकार सभी द्रव्य पांचभौतिक कहे जाते हैं।

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने सृष्टि के प्रारम्भ में नौ मूल कारण द्रव्यों के अस्तित्व को माना है। इन नौ में, पंचभूतों में आकाश के अतिरिक्त चार भूतों के भूत परमाणु अपने सजातीय स्थूल भूतों के उत्पत्ति कर्ता होते हैं। आकाश भूत का परमाणु नहीं माना जाता क्योंकि आकाशभूत व्यापक होता हैं एवं उसमें मूर्तत्व (सीमित परिमाण) नहीं होता। सृष्टि के चेतन व अचेतन दो विभाग होते हैं। भौतिकत्व इन दोनों में होता है चेतनता का कारण आत्मा और मन है। काल और दिक् (दिशा) सभी पदार्थों के उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं। काल और दिशा की कारण द्रव्यों में गणना आधुनिक विज्ञान में भी टाइम और स्पेस से किया जाता है।

पंचभूत और कार्यद्रव्यों की विविधता—पिछले प्रकरण में हम कार्यद्रव्यों के पांचभौतिकत्व के सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। इस प्रसंग में एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि भूतों की पाँच ही सीमित संख्या है तथा इनके गुण भी सीमित ही हैं फिर भी इनसे विभिन्न गुण कर्मवाले असंख्य पदार्थों की उत्पत्ति कैसे होती है। इसका सहज उत्तर यह है कि भूत परस्पर अपने विविध प्रकार के अंशांश भागों में मिश्रित होकर असंख्य प्रकार के विविध गुण कर्म वाले पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। भूत विशेष की इस उत्कर्षापकर्ष की विषमता के कारण पदार्थों में तथा उनके गुणधर्मों में विविधता होती है जैसा कि प्रसिद्ध रसायनाचार्य नागार्जुन ने अपनी रचना रस वैशेषिक में स्पष्ट उल्लिखित किया है। यथा—

"भूतोत्कर्षापकर्षाद् द्रव्यवैषम्यम्" रस वैशेषिकं २/९८.

भूतों के उत्कर्ष (अधिकता) तथा अपकर्ष (न्यूनता) से द्रव्यों में वैषम्य या वैविध्य होता है। कार्यद्रव्यों की विविधता का एक दूसरा कारण भूतों का सन्निवेश विशेष (पदार्थ विशेष में भूतों का स्थान विशेष में अवस्थिति) भी होता है। इस प्रसंग में अंकों का प्रसिद्ध उदाहरण विषय को स्पष्ट करने के निमित्त प्रस्तुत किया जा सकता है। गणित शास्त्र का विशाल क्षेत्र एवं विषय केवल नौ अंकों पर ही निर्भर है। केवल अंकों के पूर्वापरक्रम या किसी भी अन्य क्रम में रखने से अंकों के स्थानीय मान में परिवर्तन हो जाता है। अंकों के केवल स्थान परिवर्तन से असंख्य संख्यायें बन सकती हैं। इसी

प्रकार इष्टिकाओं का भी एक सुन्दर उदाहरण इस प्रसंग में दिया जा सकता है। पंचभूत विविध आकार प्रकार के इष्टिकाओं के समान हैं। भवन निर्माण में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार से जोड़ने से जैसे विभिन्न प्रकार के भवन का निर्माण होता है उसी प्रकार पंचभूत भी सन्निवेश विशेष से विभिन्न कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होते हैं। एक तीसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है कि जैसे तन्तुओं के सन्निवेश विशेष से पट (वस्त्र) के अनेक स्वरूप भेद हो जाते हैं उसी प्रकार भूतों के न्यूनातिरेक विशेष तथा सन्निवेश विशेष से कार्य द्रव्यों में विविधता हो जाती है। उपर्युक्त तथ्य को आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों के निम्नोक्त वचनों से भी पुष्ट किया जा सकता है।

(१) एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेक विशेषात् महाभूतानाम्, भूतानामिव स्थावर जंगमानां नानावर्णाकृति विशेषाः। च० सू० २६/४०

(२) भूतानामेव अनेकस्माद्द सन्निवेशविशेषात् अतिबहुप्रकारं निष्पद्यते।
अ० एं० शा० ५/४.

दशवीं शती के महान् दार्शनिक आचार्य वाचस्पति मिश्र का अभिमत यह है कि सत्वादि गुणों के परस्पर उपमर्द्योपमर्दक या अभिभाव्याभिभावक भाव के बिना द्रव्यों की विविधता सम्भव नहीं है। द्रव्यों की विविधता गुणों के परस्पर उपमर्द्योपमर्दक भाव (गुण विशेष के प्रभावहीनशीलता तथा गुण विशेष की प्रभावोत्पादकता) या अभिभाव्य अभिभावकता (गुण विशेष की दबने की प्रवृत्ति तथा गुण विशेष की दबाने की प्रवृत्ति) सम्बन्ध के कारण होती है। यह सिद्धान्त जैसे गुणों के विषय में लागू होता हैं उसी तरह भूतों के विषय में भी लगाया जा सकता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र का उपर्युक्त तथ्य से सम्बन्धित वचन निम्नोक्त है। यथा—

"न च वैषम्यगुणमर्द्योपमर्दकभावावृते, तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावक भावान्नानात्वं। —वाचस्पति मिश्र सांख्यकारिका १६/२७.

पुनः यह प्रश्न उठता है कि पाँच भूतों से उत्पन्न हुए पदार्थों में गुणधर्म की विरोधी सी दिखाई पड़ने वाली विभिन्नता कैसे उत्पन्न हो जाती है ?

विरोधित्व कहने से तात्पर्य यह है कि बहुधा कार्यद्रव्यों में ऐसे गुण धर्म भी आ जाते हैं जो उनके कारण में नहीं होते किन्तु कार्य में दिखाई पड़ते हैं और "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते', इस सामान्य नियम के अपवाद हैं यथा पीतहरिद्राचूर्ण और श्वेत सुधा चूर्ण के मेल से उत्पन्न द्रव्यान्तर में वर्ण की लालिमा।

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान निम्न प्रकार से किया जा सकता है। कार्य में कारण द्रव्यों का संयोग दो प्रकार से होता है। एक प्रकृतिसमसमवाय रूप में तथा द्वितीय

विकृति विषम समवाय रूप में। इन्हीं दो प्रकार के संयोग के आधार पर क्रमशः द्रव्यों के गुण धर्म में कारणानुरूपता (कारण के समान गुणधर्म) या कारणाननुरूपता (कारण से विपरीत गुणधर्मों का होना) होती है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए चरक संहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणि अपनी आयुर्वेद दीपिका व्याख्या में कहते हैं कि— कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति में कारण द्रव्यों का संयोग दो प्रकार का होता है। एक प्रकृति (कारण) के अनुगुण (अनुरूप) अर्थात् कारणानुरूप दूसरा प्रकृति के अननुगुण (अननुरूप) अर्थात् कारणाननुरूप इन दोनों प्रकार के संयोग को क्रमशः प्रकृति सम समवाय और विकृति विषम समवाय कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इन्हें भौतिक मिश्रण और रासायनिक मिश्रण कह सकते हैं। प्रथम प्रकार के संयोग में कारण द्रव्यों का जैसा गुण होता है वैसा ही गुण कार्यद्रव्यों में भी आता है। अर्थात् प्राकृत गुणों का उपमर्द (उपशमन) नहीं होता। द्वितीय प्रकार में प्राकृत गुणों का उपमर्द होकर कारण द्रव्यों के गुणों से कुछ विपरीत गुणों का भी कार्यद्रव्यों में प्रादुर्भाव हो जाता है। यथा हरिद्राचूर्ण (हल्दी और चूना) संयोग से लोहित वर्ण (लाल रग) की उत्पत्ति। आचार्य चक्रपाणि का मूल वचन निम्नोक्त है। यथा—

"द्विविधो मेलको भवति प्रकृत्यनुगुणः प्रकृत्यननुगुणश्च। तत्र योमिलितानां प्राकृत गुणानुपमर्देन मेलको भवति स प्रकृतिसम समवाय शब्देनोच्यते। यस्तुप्राकृत गुणोपमर्देनभवति स विकृति विषम समवायोऽभिधीयते। विकृत्याहेतुभूतया विषमः प्रकृत्यननुगुणः समवायो विकृति विषम समवाय इति।

—चक्रपाणि च० वि० १/१० गद्योपरि

इस प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि—क्या पुराकाल में रासायनिक विश्लेषण के साधन तथा उपकरणों का आविष्कार हो गया था जिससे कि विभिन्न द्रव्यों के भौतिक संगठन ज्ञात हो सके। इसका समाधान यह दिया जा सकता है कि प्राचीन काल में यद्यपि आधुनिक काल की तरह वस्तु परीक्षणात्मक साधनों का संभवतः अभाव ही था तथापि तत्वद्रष्टाओं के द्वारा अन्तर्ज्ञान युक्त विश्लेषण एवं द्रव्यों के गुण कर्म (स्वभाव) के आधार पर आप्तोपदिष्ट भौतिक संगठन की अनुमान से पुष्टि कर ली जाती थी, जैसा कि आचार्य चक्रपाणि के निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

"अयं च भूतानां सन्निवेशो दृष्टप्रभावकृत एव, स च सन्निवेशः कार्यदर्शनोन्नेयः। तेन यत्र कार्यं दृश्यते तत्र कल्प्यते, यथा लवणे उष्णत्वादग्निर्विष्यन्दित्वाच्च जलमनुमीयते। आगमवेदनीयत्वाचायमर्थो नात्रास्मद्विधानां कल्पनाः प्रसरन्ति।"

—आयुर्वेद दीपिका चक्रपाणि च० सु० २६/४० गद्योपरि,

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—भूतों का यह सन्निवेश विशेष दृष्टप्रभाव कृत

(प्रभाव देखकर अनुमान) है। स्थूल पदार्थों के कार्यों को देखकर ही भूतों का सन्निवेश अनुमान करने योग्य है। इस तथ्य के आधार पर स्थूल पदार्थ में जैसा गुण कर्म देखा जाता है उसी प्रकार उसके भूत सन्निवेश की कल्पना की जाती है। जैसे कि लवण में उष्णता तथा जल चूने के गुण कर्म से अग्नि और जल भूत का अनुमान किया जाता है। शास्त्रों के वचनों से ज्ञेय यह ज्ञान हम जैसे लोगों की कल्पनाशक्ति से बाहर हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भूतों के सन्निवेश विशेष का ज्ञान द्रव्यों के गुणधर्म आदि को देखकर अनुमान के आधार पर किया जाता है। इसलिए जहाँ जैसा कार्य देखा जाता है उसकी उत्पत्ति के लिए वैसा ही भूतों का उत्कर्षापकर्ष, सन्निवेश विशेष, सम समवाय या विषम समवाय आदि की कल्पना की जाती है। जिस प्रकार लवण में उष्णता होने से अग्नि एवं विष्यन्दित्व (जल चूने की प्रवृत्ति) से जल की कल्पना की जाती है।

आचार्य सुश्रुत ने भी कार्यदर्शन से कारण के अनुमान के सिद्धान्त के आधार पर कार्यद्रव्यों के भौतिक संगठन का सहेतुक अनुमान करते हुए निम्नांकित विचार प्रस्तुत किया है। यथा—

'तत्र विरेचन द्रव्याणि पृथिव्यम्बुभूयिष्ठानि, पृथिव्यापोगुर्व्यस्ता गुरुत्वादधोगच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्। वमन द्रव्याण्यग्निवायुगुण भूयिष्ठानि, अग्निवायु हिलघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ती, तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुण भूयिष्ठम्। उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्। आकाश गुणभूयिष्ठम् संशमनम्। सांग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम् अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्। दीपनं अग्नि गुणभूयिष्ठम्। लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठम्, बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्।'' —सु० सू० ४१/९.

उपर्युक्त उद्धरण पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि आचार्य सुश्रुत ने द्रव्यों के प्रत्यक्ष दृष्ट नियत गुणधर्मों के आधार पर उनके भौतिक संगठन की सोपपत्तिक कल्पना की है। विरेचन गुण वाले द्रव्य प्रधानतः पृथ्वी और जल भूत बहुल होते हैं। और चूंकि पृथ्वी और जल गुरु (अधिक भार युक्त) हैं अतः स्वभावतः ही गुरु होने के कारण निम्न तल की ओर पतनशील होते हैं। अतएव इस प्रत्यक्ष तथ्य के आधार पर विरेचन द्रव्यों की पृथ्वी और जल बहुल गुणकर्म वाला अनुमित किया जा सकता है क्योंकि गुरुता गुण के कारण विरेचन द्रव्य पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र की ओर अधिक शक्ति से आकर्षित होते हैं।

वमन द्रव्य आग्नेय एवं वायव्य गुण प्रधान होते हैं जो कि अग्नि एवं वायुभूत के बहुलता से होता है। अग्नि एवं वायु लघु होने के कारण स्वभावतः ऊर्ध्वगामी होते हैं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वमन द्रव्य प्रभूत रूप से ऊर्ध्वगामी गुणों से

सम्बन्धित होते हैं। जो द्रव्य वामक एवं रेचक दोनों गुणों से युक्त हैं वे अग्नि और पृथ्वी भूत की बहुलता वाले होते हैं, जो द्रव्य शरीरगत विकृतियों पर संशामक प्रभाव वाले होते हैं वे आकाशतत्व बहुल होते हैं। संग्राहक द्रव्य वायुभूत बहुल होते हैं क्योंकि वायु में शोषक गुण होने के कारण द्रवांश को शुष्क करते हैं तथा उनमें ग्राही गुण उत्पन्न करने की क्षमता होती है। दीपन द्रव्य मुख्यत: अग्नितत्वबहुल होते हैं। लेखन द्रव्य अग्निवायु बहुल होते हैं। बृंहण द्रव्य मुख्यतया जल तथा पृथ्वी भूत बहुल होते हैं अत: शरीर में उपचय तथा संघात उत्पन्न करते हैं। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार केवल पांच भूतों से ही सृष्टि के विभिन्न गुणधर्म वाले नानाविध कार्यद्रव्य उत्पन्न हो सकते हैं।

कार्य द्रव्यों का भौतिक वर्गीकरण :– यद्यपि जगत के सभी कार्यद्रव्य पांचभौतिक हैं तथा सभी भूतों के लक्षणों से समन्वित होते हैं, तथापि उनमें किन्हीं किन्हीं भूतों के उत्कर्ष से द्रव्यों में विविध गुणधर्मों की अभिव्यक्ति होती है तथा सभी द्रव्य गुणकर्मों की विविधता से परस्पर एक दूसरे से पृथक्-पृथक् वर्ग में विभाजित किये जा सकते हैं। भूतविशेष के उत्कर्ष के कारण कार्यद्रव्यों के निम्नोक्त पांचवर्ग किये जाते हैं। यथा—

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यंजको भवति, इदं पार्थिवं, इदमाप्यं, इदं वायव्यं, इदमाकाशीयमिति।

—सु० सू० ४१/३.

कार्य द्रव्यों का पांच भौतिक वर्गों में वर्गीकरण एवं उनके गुण कर्मों को स्पष्ट करने के निमित्त उन्हें निम्नांकित तालिकाओं में प्रस्तुत किया जा रहा है। विभिन्न वर्गों के गुण कर्म से सम्बन्धित शास्त्रीय वचन पिछले प्रकरण में प्रस्तुत किया जा चुका है।

सारिणी संख्या—१

द्रव्यों का भौतिक वर्गीकरण और भौतिक वर्गों के गुण :

पार्थिव	आप्य	तैजस	वायव्य	आकाशीय
१. गन्धबहुल	रसबहुल	रूपबहुल	स्पर्शबहुल	शब्द बहुल
२. इषत्कषाय	इषत्कषाय अम्ल और लवण	इषत् अम्ल और लवण	इषत् तिक्त	अव्यक्त रस
३. मधुर प्राय	मधुर प्राय	कटुप्राय	कषाय प्राय	——

४. खर, रूक्ष	स्निग्ध	खर रूक्ष	खर, रूक्ष	श्लक्ष्ण
५. कठिन	मृदु	———	———	मृदु
६. विशद	पिच्छिल	विशद	विशद	विशद
७. अनुष्णाशीत	शीतस्तिमित	उष्ण	शीतशिशिर	———
८. गुरु	गुरु	लघु	लघु	लघु
९. मन्द	मन्द	तीक्ष्ण	———	———
१०. स्थिर	सर	———	———	———
११. सान्द्र	द्रव	———	———	विविक्त
१२. स्थूल	———	सूक्ष्म	सूक्ष्म	सूक्ष्म
१३. अधोगामी	———	ऊर्ध्वगामी	व्यवायि विकासी	व्यवायि

सारिणी संख्या—२

विभिन्न कार्यद्रव्यों के भौतिक वर्गों की जैविक, यौगिक एवं रासायनिक अनुक्रियायें

पार्थिव	आप्य	तैजस	वायव्य	आकाशीय
१. उपचय	उपक्लेद	दाह	रौक्ष्य	मार्दव
२. संघात	स्नेहबन्ध	पाक	ग्लानि	सौषिर्य
३. गौरव	विष्यन्द	प्रभाप्रकाश	विचार	लाघव
४. स्थैर्य	मार्दव	वर्ण	वैशद्य	अवकाशावदान (स्थानप्रदान)
५. बल	प्रह्लाद (तृप्ति)	ताप	लाघव	———
६. धारण	संहनन	दारण (फाड़ना)	व्यूहन (समुहन)	———
७. ———	———	परिणाम	———	———

पंचभूत सिद्धान्त की उपादेयता - पिछले प्रकरणों में हम पंचभूतों का विभिन्न पहलुओं से विचार कर चुके हैं जिससे कि पंचभूत सिद्धान्त की एक बोधगम्य स्पष्ट अवधारणा ज्ञात हो सके। आगे हम पंचभूत सिद्धान्त का आयुर्वेद शास्त्र में प्राप्त व्यावहारिक पक्ष पर विचार करेंगे जिससे कि आयुर्वेद के अनेक सैद्धान्तिक पहलुओं की सोपपत्तिक व्याख्या स्पष्ट हो सके। किसी सिद्धान्त की मान्यता उसकी सोपपत्तिक साधना पर ही निर्भर करती है जैसा कि महान् दार्शनिक काण्ट का अभिमत है कि "अवधारणायें बिना प्रत्यक्ष व्यवहार के खोखली हैं और प्रत्यक्ष ज्ञान या व्यवहार बिना अवधारणाओं के नेत्रहीन हैं"। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सिद्धान्त तथा व्यवहार ये दोनों

ही एक ही तथ्य के दो पृष्ठतल हैं जो कि एक दूसरे के पूरक तथा अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर आधारित) हैं। किसी सिद्धान्त की निकषशिला (कसौटी) उसकी बुद्धिगम्य एवं तर्कसंगत व्यावहारिकता ही है। पंचभूत सिद्धान्त आयुर्वेद के समग्र तथ्यों की आधारशिला है। इस सिद्धान्त के आश्रयण से ही आयुर्वेद के सभी मूल सिद्धान्तों की सोपपत्तिक व्याख्या की जा सकती है।

पंचभूत सिद्धान्तों की उपादेयताओं को हम निम्न शीर्षकों के माध्यम से विवेचित करेंगे जिससे कि प्रस्तुत विषय का स्पष्ट अवबोध हो सके। विवेच्य शीर्षक निम्नांकित हैं—

(१) कार्यद्रव्यों का पांचभौतिकत्व और पार्थिवादि भेद।
(२) शरीर के विभिन्न धातुओं और अवयवों का पांचभौतिक संगठन।
(३) ज्ञानेन्द्रियों की पांचभौतिकता।
(४) त्रिदोष और उनका पांचभौतिक संगठन।
(५) पंचभूत सिद्धान्त और मर्मों का विकल्प वैशिष्टच।
(६) भूत विशेष के उत्कर्षापकर्ष से षड्रसों की अभिव्यक्ति।
(७) भूताग्नि सिद्धान्त और पंचभूतवाद।
(८) भूतों का भ्रूण और देहप्रकृति के निर्माण में योगदान।
(९) चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त और पंचभूतवाद।

कार्यद्रव्यों की पांचभौतिकता और पार्थिवादि भेद :—कार्यद्रव्यों में भूतों के गुण-विशेषों की उपलब्धि देखकर "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" इस नियम के अनुसार उनकी पांचभौतिकता तथा गुण विशेषों की उत्कर्षता देखकर "व्यवदेशस्तुभूयसा" के अनुसार कार्यदव्यों के पार्थिवादि भेदों की व्यवस्था की जाती है।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर व उसके विभिन्न अंग प्रत्यंग, पाँचों ज्ञानेन्दियाँ आदि सभी अवयव पांचभौतिक हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण आहार द्रव्य भी पांचभौतिक हैं। जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

पंचभूतात्मके देहे ह्याहारः पांचभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥ सु० सू० ४६/५२६

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि देह पंचभूतात्मक होता है तथा सभी आहार द्रव्य भी पांचभौतिक हैं और सभी आहार द्रव्य भी पंचभूताग्नियों द्वारा सम्यक् रूप से पचकर पंचभूत के सूक्ष्म अंशों में परिणत होकर पंचभूतात्मक देह को वर्धित करते हैं। सम्पूर्ण भेषज द्रव्य भी पांचभौतिक हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक

है कि आयुर्वेद के अनुसरण करने वाले सभी को पंचभूत सिद्धान्त का व्यावहारिक ज्ञान हो जिससे कि मनुष्यों का जीवन स्वस्थ एवं सुखी रहे।

जब हम कार्यद्रव्यों के भौतिक संगठन पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि सभी कार्य द्रव्य जिनमें शरीर और भेषज भी सम्मिलित हैं, पंचभूतों से ही निर्मित हैं इसी कारण इन्हें पांचभौतिक कहते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि पंचभूत सिद्धान्त भौतिक जगत का एक आधारभूत सिद्धान्त है जो कि आयुर्वेद के मूल प्रयोजन की पूर्ति में अपनी उपादेयता को मानव जीवन में प्रतिक्षण जाने अनजाने व्याप्त किए हुये हैं जो कि आचार्य सुश्रुत के उपर्युक्त उद्धरण से भली-भांति पुष्ट होता है। आचार्य सुश्रुत द्वारा प्रस्तुत श्लोक --

पंचभूतात्मके देहे ह्याहारः पाँचभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक्गुणाम् स्वानभिवर्धयेत् ॥

अपने में पंचभूत सिद्धान्त के चार महत्त्वपूर्ण तथ्यों को समेटे हुए है। प्रथम तथ्य यह है कि देह पंचभूतात्मक है, द्वितीय आहार द्रव्य भी पांचभौतिक हैं, तृतीय ये सभी पांचभौतिक आहार द्रव्य भी अपनी-अपनी भूताग्नियों से पाचित होकर अपने-अपने सूक्ष्म तत्वों में परिणत हो जाते हैं और चतुर्थ तथ्य यह प्रकट होता है कि पांचभौतिक शरीर अपने-अपने परिणत सूक्ष्म अंशों से वृद्धि को प्राप्त होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि पंचभूत सिद्धान्त की आयुर्वेद में कितनी महत्ता एवं उपादेयता परिलक्षित होती है।

यदि हम आलोच्य शीर्षक पर ध्यान दें तो ज्ञात होता है कि कार्यद्रव्यों की पांचभौतिकता का मानव जीवन के समग्र पहलुओं से अविच्छिन्न व्यावहारिक संबंध है भले ही सामान्य जन इसे जाने या न जाने।

इस सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष का ही यह सार्थक परिणाम दृष्टिगोचर होता है कि हम उन्हीं पदार्थों का सेवन करते हैं अथवा उन्ही पदार्थों का सेवन हमारे लिए हितकर होता है जो कि शरीर धातुओं के समान गुण, कर्म एवं संगठन करने वाले हैं। समान गुण, कर्म, संगठन वाले द्रव्यों के सेवन से शरीर की वृद्धि तथा असमान गुण, कर्म संगठन वाले द्रव्यों से शरीर का ह्रास (अपचय) होता है। उदाहरणार्थ मांस के समान गुण, कर्म तथा संगठन वाले पदार्थों के सेवन से मांस बढ़ता है तथा रक्त के समान गुण, कर्म तथा संगठन वाले द्रव्यों के सेवन से रक्त बढ़ता है। इसी प्रकार अन्य धातुओं की भी अभिवृद्धि होती है। इसके विपरीत मांस के असमान गुण, कर्म तथा सगठन वाले पदार्थों के सेवन से मांस का ह्रास होता है। अतः यह सिद्धान्त पुष्ट होता है कि सामान्य वृद्धि का कारण है और विशेष (असमान) ह्रास का कारण है। इसी

सिद्धान्त के आधार पर क्षीण धातुओं की वृद्धि के लिए तत्समान या तत्समान गुण भूयिष्ठ द्रव्यों का एवं बढ़े हुए धातुओं के ह्रास के लिए तद्विपरीत या तद्विपरीत गुण भूयिष्ठ द्रव्यों का चिकित्सा में प्रयोग कर आरोग्यप्रद धातुसाम्य की स्थापना का प्रयत्न किया जाता है। आयुर्वेद में इस तथ्य के पोषक वचन निम्नोक्त है। यथा—

"धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहार विकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धि प्राप्नुवन्ति, ह्रासंतु विपरीतगुणैर्विपरीत गुण भूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्यमानैः"।
—च० शा० ६/९.

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य यह है कि शारीरिक धातुएँ समान गुण वाले अथवा समान गुण की अधिकता वाले आहार द्रव्य के परिणामिभावों के अभ्यास (सेवन) से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत शारीरिक धातुओं के विपरीत गुण वाले अथवा विपरीत गुण की अधिकता वाले आहार द्रव्यों के सेवन से ह्रास को प्राप्त होते हैं। सामान्य विशेष का उपर्युक्त सिद्धान्त पंचभूत सिद्धान्त के कार्यद्रव्यों की पांचभौतिकता के तथ्य पर ही आधारित हैं। त्रिदोष के प्रकोप एवं प्रशम के सन्दर्भ में आचार्य सुश्रुत ने पांचभौतिक कार्यद्रव्यों के क्रियाकारिता को निम्नांकित वचन से प्रस्तुत किया है जो कि इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। यथा—

भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः साम्यं याति समीरणः।
भूम्यम्बु वायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम्॥
खतेजोऽनिलजैः श्लेष्मा॰ शममेतिशरीरिणाम्।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धि प्राप्नोति मारुतः॥
आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते॥
एवमेतद्गुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम्।
द्विशोवा वहुशो वाऽपिज्ञात्वादोषेषु चाचरेत्॥
—सु॰ सु॰ ४१/७-१०.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि—पृथ्वी, अग्नि और जल भूत से उत्पन्न द्रव्यों से वातदोष का शमन होता है, पृथ्वी, जल तथा वायुभूत से उत्पन्न द्रव्यों से पित्त दोषशान्त होता हे। आकाश अग्नि तथा वायु भूत से उत्पन्न द्रव्यों से कफ दोष का शमन होता है। आकाश तथा वायु भूत से उत्पन्न द्रव्यों से वातदोष की वृद्धि होती है, अग्नि भूत प्रधान द्रव्यों से पित्त की वृद्धि होतो है तथा पृथ्वी एवं जल से उत्पन्न द्रव्यों से कफ की वृद्धि होती है। इस प्रकार सभी द्रव्यों में भिन्न-भिन्न भूतों के गुण का आधिक्य होता है। विभिन्न द्रव्यों में दो भूतों की अधिकता है या अधिक भूतों को इस तथ्य को यथावत् जानकर दोषों का शमन या वृद्धि का उपाय करना चाहिए।

इस प्रकार आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक द्रव्यों के भौतिक संगठन पर विचार करते हुए उनके भिन्न-भिन्न गुणों का निश्चय किया है, जिसे कि चिकित्सकों को पृथक्-पृथक् दोषों, द्वन्द्वज एवं सन्निपातज दोषों के शमन हेतु यथोचित रीति से उपयोग करते हुए स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने विभिन्न भौतिक संगठन वाले द्रव्यों के प्रयोग का उपदेश वृद्धि प्राप्त दोषों व धातुओं को कम करने के लिए तथा ह्रास प्राप्त दोषादि की वृद्धि के निमित्त किया है ताकि शरीर में दोषों एवं धातुओं की साम्यावस्था बनी रहे। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन भी यही है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। च० सू० १/५३.

शरीर के विभिन्न धातु और अवयवों का पांचभौतिक संगठन—

शरीर के सभी धातुओं का निर्माण पंचभूतों से होता है। भूतविशेष के प्रकर्ष (आधिक्य) तथा न्यूनता से धातुओं की रचना, गुण एवं कर्म में भिन्नता होती है। धातुओं की रचना, गुण एवं कर्म की भिन्नता के आधार पर उन्हें पार्थिवादि पाँच वर्गों में विभाजित किया जाता है। आचार्य चरक एवं सुश्रुत ने निम्नोक्त रीति से धातुओं का भौतिक वर्गीकरण किया है। यथा--

(१) तत्र यद्विशेषतः स्थूलंस्थिरं मूर्तिमद्गुरुखर, कठिनमङ्गं नखास्थि दन्त मांस चर्मवर्चः केशश्मश्रु लोमकण्डरादि तत् पार्थिवंगन्धोघ्राणं च, यद्द्रवसरमन्दस्निग्ध-मृदुपिच्छिलंरसरुधिरवसाकफपित्तमूत्र स्वेदादि तदाप्यं रसो रसनंच, यत् पित्तमूष्मा च यो या च भाः शरीरे तत् सर्वमाग्नेयं रूपं दर्शनं च, यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेष-निमेषाकुंचनप्रसारणगमनप्रेरणधारणादि तद्वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च, यद्विविक्तं यदुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि तदान्तरीक्षं शब्दः श्रोत्रं च।

च० शा० ७/१६.

(२) आन्तरिक्षास्तु—शब्द शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च, वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियं सर्वचेष्टा-समूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च, तैजसास्तुरूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च, आप्यास्तु रसोरसनेन्द्रियं सर्व-द्रवसमूहो गुरुताशैत्यंस्नेहोरेतश्च, पार्थिवास्तु गन्धोगन्धेन्द्रियं सर्वमूर्त समूहोगुरुता-चेति। — सु शा० १/१९.

उपर्युक्त आचार्य चरकोक्त तथा सुश्रुतोक्त उद्धरण में वर्णित तथ्यों के सुखावबोध के लिए हम शारीरिक धातुओं एवं अवयवों के भौतिक संगठन को सारणी में प्रस्तुत करते हैं।

विभिन्न अवयवों, धातुओं एवं मलों की भौतिक संगठन दर्शक सारिणी —

"चरकोक्त"

पार्थिव	आप्य	तैजस	वायव्य	आकाशीय
स्थूल, स्थिर मूर्तिमान् गुरु, खर तथा कठिन अवयव यथा-नख, अस्थि, दन्त, मांस और चर्म, मल यथा केश, श्मश्रु, रोम, कंडरा आदि एवं गन्ध और घ्राणेन्द्रिय।	द्रव, सर मन्द, स्निग्ध मृदु एवं पिच्छिल गुणवाले अवयव यथा-रस, रुधिर, वसा, कफ, पित्त मूत्र स्वेदादि तथा रसगुण एवं रसनेन्द्रिय।	पित्त की ऊष्मा शरीर की समग्र प्रभा, रूप एवं चक्षुरिन्द्रिय।	उच्छ्वास, प्रश्वास उन्मेष निमेष—(आँख के पलकों का खुलना एवं झपकना) आकुंचन प्रसारण, गमन प्रेरण एवं धारण आदि कर्म स्पर्श तथा त्वगिन्द्रिय	विविक्त अवयव (अवकाश वाले अवयव) महान् एवं अणु स्रोतस बड़े एवं सूक्ष्म पोषक रसवाही नलिकाएँ आकाशीय गुण शब्द एवं श्रोत्रेन्द्रिय

"सुश्रुतोक्त"

पार्थिव	आप्य	तैजस	वायव्य	आकाशीय
गन्ध, गन्धेन्द्रिय, सर्वमूर्त समूह एवं गुरुता	रस, रसनेन्द्रिय, सर्व द्रव्यसमूह, गुरुता, शैत्य स्नेह तथा रेत	रूप, रूपेन्द्रिय, वर्ण, सन्ताप, भ्राजिष्णुता, पक्ति (पाचन-क्रिया), अमर्ष (क्रोध) तैक्ष्ण्य तथा शौर्य	स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय सर्वचेष्टा समूह, सर्वशरीर-स्पन्दन एवं लघुता	शब्द, शब्देन्द्रिय सर्वच्छिद्र समूह तथा विविक्तता (खोखले अवयव)

उपर्युक्त सारिणियों पर विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि शरीर के सभी धातु उपधातु, अवयव तथा इन्द्रियाँ पांचभौतिक हैं अर्थात् किसी न किसी भूत विशेष के प्रकर्ष (आधिक्य) से निर्मित हैं। यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यद्यपि किन्हीं भूत विशेष के प्रकर्ष के कारण रचना विशेष को पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य एवं आकाशीय वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है तथापि सभी रचना विशेष में सभी भूतों का समावेश होता है। यहाँ तक कि शरीर की प्रत्येक कोशाएँ भी पांचभौतिक हैं। व्यवहार के लिए भूतविशेष के उत्कर्ष (आधिक्य) के कारण रचना विशेष को पार्थिवादि वर्गों में विभाजित किया जाता है। इस तथ्य की जानकारी से हमें स्पष्ट होता है कि शारीरिक अवयवों का पंचभूतों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। शारीरिक अवयवों एवं

धातुओं की अभिवृद्धि के लिए आहार द्रव्य जो कि पांचभौतिक ही हैं, उनका सेवन अपेक्षित है। कौन धातु अथवा कौन अवयव ह्रास को प्राप्त हो रहा है अथवा वृद्धि को तदनुसार तत्तद् धातुओं व अवयवों की वृद्धि के लिए अपेक्षित भूतविशेष वाले द्रव्यों का सेवन तथा वृद्धि प्राप्त धातुओं व अवयवों के ह्रास के लिए तत्तद् धातु व अवयव के विपरीत गुणकर्म वाले भूतविशेष युक्त द्रव्यों का सेवन उचित है। चिकित्सा के उपर्युक्त महत्वपूर्ण कार्य के प्रतिपादन के लिए पंचभूत सिद्धांत के अन्तर्भूत "कार्य द्रव्यों का पांचभौतिकत्व" प्रतिपादक तथ्य की कितनी उपादेयता है छिपी नहीं है।

ज्ञानेन्द्रियों की पांचभौतिकता—यद्यपि ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा तथा घ्राण सभी संघटन की दृष्टि से पांचभौतिक ही हैं, तथापि ज्ञानेन्द्रियविशेष में किन्हीं-किन्हीं भूत विशेष की उल्वणता (अधिकता) होती है। अतः भूतोल्वणता के आधार पर ही पांच भूतों से सम्बन्धित पांच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। ज्ञानेन्द्रियों में भूत विशेष की उल्वणता होने के कारण ही इनमें किसी विषय विशेष अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इनमें किसी एक खास विषय को ग्रहण करने की क्षमता होती है जिसे आयुर्वेद में "नियतार्थ ग्रहण शीलता" कहते हैं। उपर्युक्त तथ्य को ही प्रतिपादित करने के निमित्त आचार्य चरक ने अपने ग्रंथ के इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय में "पंचपंचक" सिद्धान्त की अवतारणा किया है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से आचार्य चरक का निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

"तत्रानुमानगम्यानां पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खंश्रोत्रे, घ्राणेक्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते, तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च।

—च० सू० ८/१४

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—अनुमान से जाने योग्य पंचमहाभूत के विकार से उत्पन्न ज्ञानेन्द्रियों के होने पर भी भूत विशेष की उल्वणता के कारण तेज (अग्नि) चक्षुरिन्द्रिय (आँख में), आकाश श्रोत्रेन्द्रिय (कान में), पृथ्वी घ्राण (नासिका) में जल रसना (जिह्वा) में तथा वायु त्वगिन्द्रिय (त्वचा) में विशेष रूप से स्थित होते हैं। इसी कारण जो ज्ञानेन्द्रिय जिस भूत विशेष आधिक्य से बनी होती है वह उसी भूत विशेष के गुण को ग्रहण करती है। इस तथ्य का कारण है इन्द्रिय विशेष का अपने नैसर्गिक गुण को ग्रहण का सहज स्वभाव तथा उस गुण विशेष को ग्रहण करने की सामर्थ्य होने के कारण। उदाहरणार्थ चक्षुरिन्द्रिय में तेज भूत की अधिकता होती है, अतः तेज भूत का नैसर्गिक गुण रूप ही आँख से ग्रहण किया जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय में

आकाश भूत की अधिकता होती है, अतः आकाश का नैसर्गिक गुण शब्द ही कान से ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की भी स्थिति है।

आचार्य सुश्रुत ने भी ज्ञानेन्द्रियों का पांचभौतिकत्व स्वीकार करते हुए भूत विशेष की अधिकता के कारण इन्द्रियों एवं विषय का तुल्य योनित्व प्रतिपादित किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमितिस्थितिः॥ —सु० शा० १/१५.

अर्थात् इन्द्रिय विशेष से मनुष्य अपने-अपने अर्थ विशेष (विषय) को ग्रहण करता है। क्योंकि इन्द्रिय विशेष तथा अर्थ विशेष की उत्पत्ति समान कारण से होती है अतः अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नहीं किया जा सकता। यहाँ पर आचार्य सुश्रुत ने इन्द्रियों की नियतार्थ ग्रहणता (निश्चित विषय का ग्रहण में तुल्ययोनित्व को कारण बतलाया है। उदाहरण स्वरूप चक्षुरिन्द्रिय तथा रूप गुण दोनों का कारण तेज भूत है अतः चक्षु तथा रूप तुल्य योनि हुए इसी कारण चक्षु केवल रूप का ही ग्रहण करती है न कि अन्य शब्दादि विषयों का।

इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि यद्यपि इन्द्रियाँ पांचभौतिक हैं तथापि भूत विशेष की अधिकता से इन्द्रियविशेष में अपने-अपने विषयों को ही ग्रहण करने की क्षमता होती है। इस प्रकार पंचभूत सिद्धांत के इन्द्रियों के पांचभौतिकत्व तथा नियतार्थ ग्राहिता तथ्य से स्पष्ट ही यह उपादेयता ज्ञात होती है कि इन्द्रियों का पंचभूतों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है अतः इनको प्राकृतभाव में रखने के लिए पांचभौतिक आहार द्रव्यों का इस प्रकार सेवन करें जिससे कि शरीर में इनका सन्तुलन बना रहे। इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यातव्य है कि शरीर में पंचभूतों की क्रिया शीलता दो प्रकार से होती है। एक तो शारीरिक धातुओं व विभिन्न अवयवों की रचना की जो कि पंचभूतों के सूक्ष्मांशों से होती है। दूसरी त्रिदोष के माध्यम से होती है जिससे कि शरीर के सभी प्राकृत कार्य अबाधित रूप से सम्पादित होते रहते हैं। त्रिदोष के मूल उपादान भी पंचभूत ही होते हैं। त्रिदोष के विषय में हम पिछले प्रकरण में विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। पंचभूतों का त्रिदोष से क्या सम्बन्ध है और त्रिदोष के रूप में पंचभूत की क्या उपादेयता है इस पर हम आगे के प्रकरण में विचार करेंगे।

पंचभूतवाद और मर्मों का विकल्प वैशिष्ट्य —

आचार्य सुश्रुत ने मर्मों के विकल्पों की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए पंचभूतों से उनका सम्बन्ध स्थापित किया है तथा उनकी साध्यासाध्यता की उत्पत्ति भी पंचभूतों

के आधार पर ही स्थिर किया है। पाँच प्रकार के मर्मों का उल्लेख किया गया है वे हैं—(१) सद्यः प्राणहर, (२) कालान्तर प्राणहर, ३) विशल्य प्राणहर, (४) वैकल्यकर एवं (५) रुजाकर। इनमें सद्यः प्राणहर वर्ग के मर्म आग्नेय स्वभाव के होते हैं अतः इनके क्षत होने पर शीघ्र ही मारक होते हैं। कालान्तर प्राणहर वर्ग के मर्म सौम्य एवं आग्नेय स्वभाव के होते हैं, आग्नेय होने के कारण शीघ्र ही क्षीण होकर क्रम के साथ में सौम्य भी होने से मारकता में अधिक समय लेते हैं, अतः इस वर्ग के कर्म कालान्तर (कुछ समय पश्चात) में प्राणहर होते हैं। विशल्यघ्न वर्ग के मर्म वायव्य स्वभाव के होते हैं अतः जब तक शल्य (विद्धवस्तु) मर्मस्थल को निरुद्ध (रोके रहना) रखता है तब तक उस स्थल की वायु शरीर के भीतर ही स्थित रहने के कारण रोगी जीवित रहता है और ज्योंही शल्य निकाल लिया जाता है अन्तः स्थित वायु के निकल जाने से रोगीका प्राण भी निकल जाता है। वैकल्यकर मर्म सौम्य स्वभाव के होते हैं। अतः ये सोमतत्व के स्थिर एवं शैत्य गुण से प्राण धारण में समर्थ होते हैं। रुजाकर मर्म अग्निवायु भूयिष्ठ होते हैं अतः विशेष पीड़ाकर होते हैं। आचार्य सुश्रुतोक्त मूल उद्धरण निम्नोक्त है। यथा—

तत्र सद्यः प्राणहराणि आग्नेयानि, अग्निगुणेषु आशुक्षीणेषु क्षपयन्ति, कालान्तर प्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्नि गुणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षययन्ति, विशल्य प्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखनिरुद्धोयावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति उद्धृतमात्रेतुशल्ये मर्मस्थानाश्रितोवायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्योजीवति उद्धृतशल्योम्रियते। वैकल्यकराणि सौम्यानिसोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणावलम्बनं करोति, रुजाकराणि अग्निवायु गुणभूयिष्ठानि, विशेषतश्च तौरुजाकरौ, पाँचभौतिकी च रुजामाहुरेके।

—सु० शा० ६/१७.

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से ज्ञात होता है कि पंचभूतों का संबंध शरीर के सभी स्थानों एवं अवयवों से होता है क्योंकि शरीर पाँचभौतिक होता है। यद्यपि शरीर के सभी अवयव व अंग-प्रत्यंग पाँचभौतिक हैं तथापि किन्हीं-किन्हीं स्थल विशेष में किसी भूत विशेष की अधिकता होती है इसी कारण मर्मों के विविध विकल्प होते हैं। जैसा कि मर्मों के विवरण से ज्ञात होता है कि कुछ मर्म आग्नेय स्वभाव होने के कारण शीघ्र मारक होते हैं क्योंकि अग्नि तीक्ष्ण और आशुप्रभावकारी होती है तदनुरूप इस मर्म पर आघात होने से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। कालान्तर प्राणहर मर्म आग्नेय और सौम्य दोनों स्वभाव के होते हैं अतः अग्नि के समान आशुकारी तथा तीक्ष्ण प्रभाव वाले एवं सोम के समान मन्द तथा शीत स्वभाव के होते हैं अतः कुछ काल बीतने पर प्राणनाशक होते हैं। विशल्यघ्न मर्म वायु के स्वभाव वाले होते हैं अतः

जब तक शल्य (आघातकर वस्तु) शरीर में स्थित होती है तब तक वायु रुद्ध होती है अतः मनुष्य जीवित रहता है लेकिन शल्य के निकलने से वायु भी निकल जाती है जिससे कि मनुष्य की मृत्यु हो जाती। वैकल्यकर मर्म सौम्य स्वभाव के होते हैं क्योंकि इस मर्म स्थल पर जल तथा पृथ्वी भूत की अधिकता होती है अतः ये मर्म जल के समान शीत गुण वाले तथा पृथ्वी के समान स्थिर स्वभाव के होते हैं अतः इन मर्मों के आघात वाला व्यक्ति अपने प्राण धारण में समर्थ होता है। रुजाकर मर्म अग्नि और वायु भूत की अधिकता वाला होता है अतः अग्नि और वायु के समान तीक्ष्ण एवं चल स्वभाव का होता है जिससे कि मनुष्य को पीड़ा होती है।

इस प्रकार पंचभूतों से सम्बन्धित मर्मों के विकल्पज्ञान से मनुष्य विभिन्न शारीरिक मर्मस्थलों की रक्षा करता है जिससे मर्म स्थल पर आघात न हो। पुराकाल में इसी कारण विभिन्न मर्म स्थलों को आघात से बचाने के लिए योद्धा लोग विभिन्न प्रकार के कवच को धारण करते थे जिससे कि मर्मस्थल की रक्षा हो सके। मर्मों को आघात की दृष्टि से तथा उनमें कौन मर्म किस-किस परिणाम को उत्पन्न करने वाला है इस विचार से मर्मों का पंचभूतों के आधार पर साध्यासाध्यता युक्त ज्ञान की उपादेयता इस सन्दर्भ में भलीभाँति जानी जा सकती है।

त्रिदोष का पचभूत से सम्बन्ध एवं भौतिक संगठन :—

आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति की स्वास्थ्य रक्षा तथा आतुर का रोग प्रशमन है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में त्रिदोष और भेषज द्रव्यों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यद्यपि पंचभूत समग्र चेतन और अचेतन सृष्टि के उपादान कारण बनकर समस्त वस्तुओं को मूर्तरूप देते हैं, तथापि चेतन प्राणियों की क्रियाओं में पंचभूतों में अधिक सक्रिय तीन भूतों अर्थात् वायु, तेज और जल की ही प्रमुख भूमिका देखकर आयुर्वेद के प्राचीन तत्त्वद्रष्टाओं ने त्रिदोष सिद्धान्त की स्थापना किया है। कार्यद्रव्य होने से यद्यपि त्रिदोष भी पांचभौतिक हैं तथापि इनमें वात वायुभूत प्रधान, पित्त तेजोभूत प्रधान और कफ जलभूत प्रधान हैं। संसार में सूर्य, चन्द्रमा और वायु जैसे जीवन के लिए अनिवार्य हैं, उसी प्रकार शरीर में पित्त, कफ और वायु क्रिया की दृष्टि से इनका प्रतिनिधित्व करते हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने लोक एवं पुरुष का साम्य दिखलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार सोम, सूर्य तथा अनिल तत्त्व जगत् का क्रमशः अपनी पोषण, शोषण और शीतोष्ण प्रसारण रूप कर्मों से धारण करते हैं, उसी प्रकार प्राणी शरीर में कफ, पित्त और वात क्रमशः अपने बलदान, अग्निकर्म व विविध चेष्टाकर्मों से अनुग्रह करते हैं। इस प्रसंग में आचार्य सुश्रुत का निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

विसर्गादान विक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ —सु० सू० २१/८

उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या में आचार्य डल्हण कहते हैं कि विसर्ग से तात्पर्य बल की सर्जना करना अर्थात् उत्पन्न करना, आदान का तात्पर्य है बल का शोषण या ग्रहण करना, विक्षेप का तात्पर्य है शीत तथा उष्ण भावों का प्रसारण करना। मूल उद्धरण निम्नांकित है।—

"विसर्गः सर्जनं बलस्येतिशेषः, आदानं ग्रहणं बलस्यैव, विक्षेपः शीतोष्णादीनां विविध प्रकारेण प्रेरणम्।

डल्हण सु० सू० २१/८. श्लोकोपरि

आचार्य चरक ने भी उपर्युक्त तथ्य की ओर संकेत करते हुए लोक के वायु, सूर्य एवं सोम के प्रतिनिधि भूत अध्यात्म वात, पित्त एवं कफ की देह धारकता का उल्लेख किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से ज्ञात होता है। यथा :—

अध्यात्म लोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः।
पीड्यतेधार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा॥ —च० चि० २६/२९२.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने लोकगत वायु, सूर्य एवं चन्द्रमा की तुलना अध्यात्मगत (शरीरगत) वात, पित्त एवं कफ से करते हुए उल्लिखित किया है कि जैसे लोक में प्राकृत भाव से रहते हुए वायु, सूर्य एवं चंद्रमा लोक का धारण करते हैं तथा विकृति होने पर लोक में पीड़ा के कारण होते हैं उसी प्रकार शरीरगत वात, पित्त एवं कफ प्राकृत अवस्था में शरीर का धारण करते हैं तथा विकृत होने पर शरीर में पीड़ा उत्पन्न करते हैं।

आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त उद्धरण को व्याख्यायित करते हुए स्पष्ट किया है कि :—

वातादीनामेव विकृताविकृतानां देहपीडकधारकत्वं सदृष्टान्तमाह-अध्यात्मेत्यादि। अध्यात्मलोकः चेतनलोकः। लोकइतिजगत्। अत्र दृष्टान्ते इन्दुस्थानीयः श्लेष्मा, रविस्थानीयंपित्तम्। विकृतैः पीड्यते, अविकृतैर्धार्यते इतिव्यवस्था।

—चक्रपाणि, च० चि० २६/२९२ श्लोकोपरि

इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि धातु, दोष एवं मल पांच-भौतिक होते हैं तथापि जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि गुण कर्म की प्रधानता के कारण तद् तद् भूत के उत्कर्ष से तत्तद् दोष, धातु एवं मलों की उत्पत्ति मानी जाती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार वात दोष में वायु और आकाशभूत का प्राधान्य होता है। पित्त अग्निबहुल होने के कारण आग्नेय कहा जाता है तथा श्लेष्मा अप् एवं पृथ्वी बहुल होने से सौम्य माना जाता है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी विचारणीय है कि पंचभूतों में से वायु, अग्नि और अप्भूत की क्रियाशीलता अन्य दो भूतों आकाश और पृथिवी की अपेक्षा अधिक होती है। अतः इन तीनों भूतों की उत्कृष्ट क्रियाकारित्व को देखकर तीन ही

दोषों की गणना त्रिदोष के रूप में शरीरगत सभी कार्यों के सम्पादन की सोपपत्तिक व्याख्या के निमित्त प्राचीन आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा की गई है। वस्तुतः त्रिदोष भी पाँचभौतिक हैं तथापि वात दोष में वायु और आकाशभूत का आधिक्य, पित्त में अग्नि-भूत की प्रधानता तथा कफ में जल और पृथ्वी भूत की प्रधानता होती है जैसा कि आचार्य वाग्भट के निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा :—

"वाय्वाकाशाभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अम्भ पृथिवीभ्यां श्लेष्मा"

—अ॰ संग्रह सूत्र स्थान अध्याय २०.

वात, पित्त एवं कफ त्रिदोष के लिए अभिहित ये संज्ञायें अपने निरुक्ति परक अर्थ से भी भूत विशेषों से सम्बन्द का संकेत करती है। यथा वात शब्द- "वा गतिगन्धनयोः" वा धातु से तन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया जाता है। गति और गन्धन (गंध प्रसारण) कार्य वायु से सम्पन्न होता है अतः वात शब्द का अभिधान किया जाता है। इसी प्रकार पित्त शब्द "तप सन्तापे" धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है ताप करना या दहन कार्य करना जो कि अग्निभूत का कार्य होता है। इसी प्रकार श्लेष्मा शब्द "श्लिष् आलिंगने" धातु से बनता है जो कि जलभूत के श्लेषण (स्नेहन) कार्य को द्योतित करता है। "केन जलेन फलति इति कफः" कफ शब्द की इस निरुक्ति से भी कफ का सम्बन्ध जलभूत से ज्ञात होता है।

पंचभूत सिद्धान्त पर आधारित त्रिदोष सिद्धान्त की महत्ता एवं उपादेयता आयुर्वेद में प्रतिक्षण दृष्टिगोचर होती है। आयुर्वेद में त्रिदोष सिद्धान्त के ज्ञान बिना कुछ भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। यदि आयुर्वेद का आश्रय लेना है तो इसमें त्रिदोष सिद्धान्त की व्यापकता का सहज ही ग्रहण करना पड़ेगा। त्रिदोष ही प्राकृतावस्था में शरीर का धारण करते हुए जीवन को अनुप्राणित करते हैं तथा इन्हीं की विकृति से शरीर विविध रोगों से ग्रस्त हो जाता है। इसी तथ्य को जान कर आयुर्वेद के मनीषियों ने आयुर्वेद में व्यावहारिक एवं अत्यन्त उपादेय त्रिदोष सिद्धान्त की पंचभूत सिद्धांत के आधार पर सोपपत्तिक व्याख्या प्रस्तुत किया है जिससे कि सर्व साधारण स्वस्थ एवं सुखी जीवन का लाभ प्राप्त करे।

पंचभूत सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में यदि त्रिदोष सिद्धान्त की उपादेयता को संक्षेप में प्रस्तुत करना हो तो यह कहा जा सकता कि पंचभूत सिद्धांत का ही अत्यन्त स्पष्ट व व्यावहारिक पक्ष त्रिदोष सिद्धान्त है जिसे कि आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने सर्वसाधारण के लाभार्थ अत्यन्त सरल एवं स्पष्ठ रूप में प्रतिपादित किया है। प्राणी जगत के रचना मूलक उपादानों की सोपपत्तिक व्याख्या तो प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने पंचभूत सिद्धान्त के माध्यम से किया है जो कि सामान्य जन को भी तर्कसंगत एवं बुद्धि ग्राह्य हो सकता

है। किन्तु प्राणी के शरीरगत सम्पूर्ण क्रियाओं की सोपपत्तिक एवं बुद्धिग्राह्य व्याख्या पंचभूत सिद्धान्त के माध्यम से जटिल एवं अतवर्य है क्योंकि मुख्यत: तीन ही क्रियायें शरीर में सर्वसाधारण को दृष्टिगोचर होती हैं। इन तीन प्रमुख क्रियाओं में प्रथम है शरीरगत सम्पूर्ण चेष्टाएँ तथा गति जिसका प्रतिनिधित्व वात दोष करता है। दूसरी प्रमुख क्रिया है आहार द्रव्यों का पाचन, उनका विविध रूपान्तर तथा शरीरगत ऊष्मा जिसका प्रतिनिधित्व पित्त दोष करता है। तृतीय प्रमुख क्रिया है शरीरगत सभी धातुओं एव अवयवों की पुष्टि तथा उनकी स्थिरता, इसका प्रतिनिधित्व कफ दोष करता इस प्रकार त्रिदोष सिद्धान्त के माध्यम से शरीरगत सम्पूर्ण क्रियाओं की युक्ति संगत बोधगम्य एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। त्रिदोष के विषय में विशेष विवरण हम त्रिदोष सिद्धांत शीर्षक में कर चुके हैं अत: इस प्रसंग में अधिक विवेचन पिष्ट पेषण ही होगा। पंचभूत सिद्धांत की यही महत्ता है कि पंचभूत सिद्धांत का ही व्यावहारिक, युक्त संगत सर्वसाधारण बुद्धि ग्राह्य सिद्धांत त्रिदोषवाद है जो कि आयुर्वेद शास्त्र की अमूल्य निधि है। त्रिदोष सिद्धांत का आयुर्वेद में व्यापक प्रचार, प्रसार एवं प्रभाव है कि यह सर्वजनग्राह्य होता हुआ सभी आयुर्वेदीय सिद्धांतों को पृष्ठ भूमि में डाल दिया है जिससे कि इस सिद्धांत की उपादेयता ज्ञात होती है। किन्तु त्रिदोष के आधार पंचभूत ही हैं क्योंकि प्राणी के जीवन के प्रारम्भ में पंचभूतों की उपादान कारणता होती है तथा जीवन के अन्त में भी पंचभूतों का ही विकार शेष रहता है, दोष तो केवल जीवनकाल पर्यन्त ही रहते हैं अत: त्रिदोष सिद्धांत की प्राणी जगत के लिए महत्ता होते हुए भी पंचभूत सिद्धांत की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि वस्तुत: विचार किया जाय तो त्रिदोष भी पंचभूत के ही समष्टिगत रूप हैं।

भूत विशेष के उत्कर्ष से षड्रसों की अभिव्यक्ति –

कार्य द्रव्यों में प्रधानतः ६ रस पाये जाते हैं। ये हैं – (१) मधुर, (२) अम्ल, (३) लवण, (४) कटु, (५) तिक्त एवं (६) कषाय। रसों के माध्यम से कार्यद्रव्यों की दोष प्रकोपकता और दोष शामकता आयुर्वेद में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और उनकी सहेतुक व्याख्या रस दोषों के पांचभौतिक संगठन विशेष के आधार पर ही की जा सकती है। दोषों की प्रकोपकता रस एवं दोषों में तुल्ययोनिता (समान कारणता) के कारण प्राप्त समानता और शामकता अतुल्ययोनिता (असमान कारणता) के कारण प्राप्त विपरीतता से होती है। इस प्रसंग में आचार्य चरक का निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा –

रसदोष सन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समान गुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीत गुणा विपरीत गुण भूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः।

— च० वि० /१७.

रस दोष के इस सम्बन्ध विशेष को देखते हुए भौतिक संघटन के आधार पर उनकी तुल्य योनिता व अतुल्ययोनिता के विषय में विचार करना आवश्यक है। दोषों की भौतिकता हम पिछले प्रकरण में दिखा चुके हैं, इस प्रकरण में रसों की भौतिक विशेषता का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि सभी रस सामान्यतः पंचभूतों से उत्पन्न होते हैं किन्तु रस विशेष में भूत विशेष का उत्कर्ष होने से उनके मधुर, अम्ल आदि के रूप में ६ भेद होते हैं। उदाहरणार्थ— मधुर रस पृथ्वी तथा अप्‌भूत के उत्कर्ष से, अम्ल रस पृथ्वी तथा अग्निभूत के उत्कर्ष से, लवण रस अप्‌भूत तथा अग्नि के उत्कर्ष से, कटु रस वायु और अग्नि के आधिक्य से, तिक्त रस वायु और आकाश के बाहुल्य से तथा कषाय रस की अभिव्यक्ति वायु और पृथ्वी भूत के प्रकर्ष से होती है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

"तत्र भूयम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः, तोयाग्निगुणबाहुल्लवणः, वाय्वग्नि गुणबाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यातकषायः। सु० सू० ४२/३.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि रस विशेष में भूत विशेषों का उत्कर्ष होता है। इसी प्रकार दोष विशेष में भी भूत विशेष का उत्कर्ष होता है जैसा कि हम पिछले प्रकरण में विचार कर चुके हैं। इस प्रकार हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि रसों एवं दोषों का सम्बन्ध भूतों से होता है। अतः रस और दोष की कारणता समान है। इसलिए तीन तीन रस जो कि दोष के समान गुण वाले होते हैं वे दोष विशेष को बढ़ाते हैं और तीन-तीन रस जो कि दोष विशेष में गुणों से विपरीत गुण वाले होते हैं वे दोष विशेष का शमन करते हैं जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

"तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसाजनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा— कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्तत्वेनं शमयन्ति, कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायस्त्वेनच्छमयन्ति, मधुराम्ल लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति। —च० वि० १/६.

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि तीन-तीन रस एक-एक दोष को उत्पन्न करते हैं तथा तीन-तीन रस एक-एक दोष का प्रशमन करते हैं। यथा कटु, तिक्त कषाय वात के उत्पत्तिकर्ता या प्रकोपक हैं तथा ये तीनों ही कफ दोष के शामक हैं। मधुर, अम्ल और लवण कफ के प्रकोपक तथा वात के शामक हैं। कटु, अम्ल, लवण पित्त के प्रकोपक तथा मधुर, तिक्त कषाय पित्त के शामक हैं। इस प्रकार के प्रत्यक्ष सिद्ध व्यावहारिक सत्य की उपपत्ति (यथार्थता) के लिए आचार्य सुश्रुत रस दोषों की तुल्य

योनि गुणता एवं योनि गुण विपरीतता को हेतु रूप में उपस्थापित करते हैं जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा—

"तत्र शैत्य रौक्ष्यलाघववैशद्य वैष्टम्भ्य गुण लक्षणो वायुः, तस्य समान योनिः कषायो रसः, सोऽस्य शैत्याच्छैत्यंवर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं वैशद्याद्वैशद्यं वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति।

—सुश्रुत सू॰ ४२/८/१.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य सुश्रुत ने निदर्शनार्थ वात दोष तथा वात प्रकोपक कषाय रस की तुल्ययोनिता व समान गुण के आधार पर क्रिया कर्तृत्व का औचित्य प्रतिपादित किया है - वायु का शैत्य, रूक्ष, लघु, विशद एवं विष्टम्भि गुण होता है। इसी प्रकार वायु के समान योनि एवं समान गुण अर्थात् समानकारण व गुण होने से कषाय रस अपने शैत्यगुण से वायु के शीतांश भाव को बढ़ाता है, रूक्षांश रूक्ष भाव को, लघ्वंश लघु भाव को, विशदांश विशद भाव को तथा विष्टम्भी अंश विष्टम्भ भाव को बढ़ाता है।

इसी प्रकार उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, लघु, विशद गुण धर्मवाला पित्त और इसका समान कारण एवं गुणवाला कटु रस पित्त की उष्णता, तीक्ष्णता, रूक्षता, लघुता एवं विशदता गुण बढ़ता है। प्रासंगिक उद्धरण निम्नोक्त है। यथा

औष्ण्यतैक्ष्ण्य रौक्ष्य लाधव वैशद्य गुण लक्षणं पित्तं तस्य समान योनिः कटुको रसः, सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाधवं, वैशद्याद्वैशद्यमिति।

—सु॰ सू॰ ४२/८–२.

मधुर, रस एवं कफ दोष की समानकारणता एवं गुण समानता के कारण मधुर, स्नेह, गौरव, शीत, पिच्छिल गुणवाला कफ का मधुर भाव से माधुर्यांश, स्नेह भाव से, स्नेहांश, गौरव भाव से गुर्वंश, शैत्य भाव से शीतांश तथा पैच्छिल्य भाव से पिच्छिलांश बढ़ाता है। वचन निम्नोक्त है। यथा—

"माधुर्य स्नेह गौरव शैत्य पैच्छिल्य गुण लक्षणः श्लेष्मा, तस्य समान योनिर्मधुरो रसः, सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवात् गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति।

—सु॰ सू॰ ४२/८–३.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य सुश्रुत ने प्रस्तुत उदाहरण के द्वारा यह निर्देशित किया किया है कि रसों का दोषों पर क्रियाकर्तृत्व या प्रभाव रसों एवं दोषों दोनों का ही पंचभूतों से सम्बन्ध के कारण होता है। अतः त्रिदोष के प्रकोप एवं प्रशम परिप्रेक्ष्य में पंचभूत सिद्धान्त की यह उपादेयता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

भिन्न-भिन्न रसों की दोषों की प्रकोपता तथा शामकता से क्या सम्बन्ध है – इसको सुस्पष्ट करने एवं पाठकों के सुखावबोध के लिए हम प्रस्तुत विषय को निम्न सारणी के रूप में प्रस्तुत कर रहें हैं।

विभिन्न रसों की उपपत्तिपरक दोष प्रकोपकता एवं दोष शामकता दिग्दर्शक सारिणी

क्रमांक	रस	रसयोनि	रसगुण	दोष	दोषयोनि	दोषगुण	प्रकोप	प्रशम
१.	मधुर	भू + जल	गुरु, स्निग्ध शीत, पिच्छिल	कफ	भू + जल	गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर, पिच्छिल	कफ प्रकोप + + +	
	,, ,,	,, ,, ,,	,, ,, ,,	वात	आकाश + वायु	शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, चल एवं लघु		वातशम +++
	,, ,,	,, ,, ,,	,, ,, ,,	पित्त	अग्नि + जल	स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर, कटु		पित्त शमन +++
२.	अम्ल	भू + अग्नि	लघु, उष्ण, स्निग्ध	पित्त	अग्नि + जल	तथैव	पित्त प्रकोप +++ कफ प्रकोप ++	वात शमन ++
३.	लवण	तोय + अग्नि	गुरु, स्निग्ध, उष्ण	पित्त	अग्नि + जल	तथैव	पित्त प्रकोप + +	वात शमन + +
४.	कटु	वायु + अग्नि	लघु, उष्ण, रूक्ष	वात	आकाश + वायु	शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, चल, लघु	पित्त प्रकोप + + वात प्रकोप +++	कफ शमन +++

क्रमांक	रस	रसयोनि	रसगुण	दोष	दोषयोनि	दोषगुण	प्रकोप	प्रशम
५.	तिक्त	वायु+आकाश	रूक्ष, शीत, लघु	वात	आकाश+वायु	रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर	वात प्रकोप +++	कफ शमन ++ पित्त शमन +
६.	कषाय	पृथ्वी+वायु	रूक्ष, शीत, लघु	वात	वायु+पृथ्वी	तथैव	वात प्रकोप ++	पित्त शमन ++ कफ शमन +

चिह्न निर्देश— + अवरशामक, प्रकोपक
++ मध्यशामक, प्रकोपक
+++ परम शामक, प्रकोपक

भूताग्नि सिद्धान्त और पंचभूतवाद :—

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर के अनुसार पांचभूताग्नियां पांचभौतिक आहार के अवस्थापाक में जाठराग्नि का और निष्ठापाक में धात्वग्नियों का बल पाकर आहार के पार्थिवादि अंशों का क्रमशः पाक तथा विपाक करती है, जिससे खाए हुये आहार के तत्तद् अंश ग्रहण योग्य बनकर शरीर धातुओं के पार्थिवादि अंशों व गुणों की अभिवृद्धि कर सकें। इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में किया है। यथा—

भौमाप्याग्नेय वायव्याः पंचोष्माणः सनाभसः।
पंचाहार गुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन्पचन्तिहि ॥
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्य गुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥

—च० चि० १५/१२-१४.

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि —जाठराग्नि से पहले आहार द्रव्य का संघात भेद होता है जिससे वह पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और नाभस इन पांच भौतिक अंशों में विभक्त हो जाता है और पंच भूताग्नियाँ—पार्थिवाग्नि, आप्यग्नि, तैजसाग्नि, वायव्याग्नि और आकाशाग्नि क्रमशः अपने अपने पार्थिवादि अंशों का पाचन करती हैं। इसके पश्चात् आगे चलकर उन उन पाचित पार्थिवादि अंशों का सप्त धातुओं में स्थित अपने-अपने धात्वग्नियों द्वारा विपाक होता है। जिससे कि भुक्त आहार के अंशों का भिन्न-भिन्न धातुओं में रूपान्तरण हो सके। धात्वग्निपाक के पश्चात् भी धातुओं में भूताग्नियों का व्यापार होता है जिससे कि आहार रस के पार्थिवादि अंश स्थायी धातुओं के पार्थिवादि अंशों में परिणत हो जाते हैं।

आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान में भी महास्रोतस में आहार द्रव्यों के पाचन का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि आहार द्रव्य जो कि शारीरिक दृष्टि से विजातीय होते हैं उन्हें पाक क्रिया द्वारा विजातीय से सजातीय बनाकर शरीर के पोषण व बलवर्द्धन के योग्य बनाना है। उदाहरणार्थ वानस्पतिक स्टार्च पहले पचकर ग्लूकोज का रूप लेकर शरीर में बल प्रदान करता है। और रक्त परिभ्रमण में अधिक ग्लूकोज होने पर ग्लाइकोजन के रूप में यकृत और मांस पेशियों में संचित होता है। इसी प्रकार घी, तेल आदि स्नेह द्रव्य पहले पचकर सूक्ष्म अंश फैटीएसिड एवं ग्लिसरोल में विभक्त हो जाते हैं पुनः वे शरीर के सजातीय मेदोद्रव्य लिपिड का रूप धारण कर शरीर में संचित रहते हैं। इसी तरह वनस्पतियों से प्राप्त होने वाला प्रोटीन पहले जाठराग्निपाक द्वारा संघात भेद होकर अमीनों एसिड का रूप ले लेता है। तापश्चात् तत्तद् धातुओं में उनका अल्ब्यूमिन, फाइब्रिनोजेन, ग्लोबलीन आदि सजातीय प्रोटीन के रूप में रूपान्तरण होकर शरीर का पोषण कार्य सम्पन्न होता है।

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर में यद्यपि पाचन क्रिया का विवरण विस्तार से नहीं प्राप्त होता तथापि पाचन कार्य तथा आहार रस के रूपान्तरित होकर तत्तद् धातुओं के पोषण कार्य के प्रमुख तथ्यों का संकेत प्राप्त होता है जैसा कि आचार्यचरक के निम्नोक्त मूल वचन तथा उस पर व्याख्यायित आचार्य चक्रपाणि की टीका से स्पष्ट होता हैं। यथा—

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्य गुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्चकृत्स्नशः ।।

—च० चि० १५/१४.

अर्थात् शरीर के अपने अपने समान द्रव्यों तथा गुणों का पोषण आहार द्रव्य में स्थित अपनी-अपनी भूताग्नियों द्वारा जाठराग्नि द्वारा प्रेरित होकर पाचन तथा तत्तद् धातुओं में रूपान्तरण होकर होता है।

आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त उद्धरण की स्पष्टव्याख्या करते हुए लिखा है कि--

यथास्वमिति यद्यस्यात्मीयं सजातीया द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति । तेन द्रव्याणि पार्थिवादि द्रव्य रूपाणि देहधातुदोषमलाख्यानि पुष्णन्ति, गुणस्तु पाकस्थितगन्ध स्नेहौष्ण्यगौरवादीन् पुष्णन्ति । यथास्वमित्यादि शब्दार्थं स्फोरयति—पार्थिवा इत्यादि । पार्थिवा आहारद्रव्यगुणा देहगतान् पार्थिवानेव द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति । आहारद्रव्यगुणा इत्यत्र द्रव्यगतगुणा एव उच्यन्ते । द्रव्यपोषणं तु गुणपोषणेन लभ्यते, गुणपोषणं द्रव्य पोषणमन्तरा कर्तुमशक्यत्वात् ।

—चक्रपाणि च० चि० १५/१४. श्लोकोपरि

चक्रपाणि कृत उपर्युक्त व्याख्या का तात्पर्य है कि—जिस-जिस आहार द्रव्य का जो जो अपना सजातीय द्रव्य गुण होता है वह अपने-अपने सजातीय धातुओं के द्रव्य गुणों का पोषण करते हैं। अर्थात् पार्थिवादि द्रव्यों के द्रव्य गुण द्रव्य रूप शरीर के धातु, दोष एवं मलों के सजातीय अंशों को पोषण करते हैं। गुण अपने-अपने सजातीय गन्ध, स्नेह उष्णता एवं गौरवादि भावों का पोषण करते हैं। पार्थिव आहार द्रव्य गुण से देहगत पार्थिव द्रव्य गुण पोषित होते हैं। इसी प्रकार आप्य, तैजस, वायव्य एवं आकाशीय द्रव्य गुणों से देहगत आप्य, तैजस, वायव्य एवं आकाशीय द्रव्य गुण पोषित होते हैं। आहार द्रव्य गुण से द्रव्यगत गुण ही कहे जाते हैं। द्रव्यपोषण गुण पोषण से ही होता है क्योंकि गुण पोषण द्रव्य पोषण के बिना होना अशक्य है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि पंचभूत सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में भूताग्नि सिद्धान्त को कितनी उपादेयता है। भूताग्नि सिद्धान्त के माध्यम से ही शरीरगत समस्त आहार-

द्रव्यों का रूपान्तरण एवं उनका धातुओं के रूप में एकीकरण की क्रियाओं की सोपत्तिक व्याख्या की जा सकती है।

पंचभूतों का भ्रूण के विकास तथा देह प्रकृति के निर्माण में योगदान—

प्राणियों का शरीर आरम्भ से ही पांचभौतिक होता है। गर्भ के उत्पादक शुक्र-शोणित भी पांचभौतिक हैं। लिंग शरीर में भी पंचभूत अपनी-अपनी सूक्ष्मावस्था में रहते हैं। माता के आहार रस के माध्यम से भी पंचभूत गर्भ में सदा पहुँचते रहते हैं। इस प्रकार गर्भ में भूतों के आगमन के चार माध्यम बन जाते हैं जैसा कि आचार्य वाग्भट के निम्न उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा :—

बीजात्मकर्ममहाभूतैः सूक्ष्मैः सत्वानुगैश्च यः।
मातुश्चाहार रसजैः क्रमात्कुक्षौ विवर्धते॥ —अ० हृ० शा० १/२.

गर्भावस्था में भ्रूण का विकास पचभूतों के साक्षात् कर्मों से सम्पादित होता है। वायुभूत से शरीर में निर्मित होने वाली भिन्न-भिन्न धातुओं की कोशाओं में विभजन कार्य, तेज, (अग्नि) भूत से गर्भ में गए माता के रक्त द्वारा आहार रस का पाचन कार्य एवं भिन्न-भिन्न धातुओं के पोषणार्थ आहार रस का भिन्न-भिन्न धातुओं के सूक्ष्म अंशों में रूपान्तरण, जल भूत से गर्भ में क्लिन्नता (गीलापन या आर्द्रता) होकर शरीरगत तत्तदंशों का पोषण, पृथ्वी भूत से शरीर के विभिन्न अवयवों व अंगों का संघात (रचना विशेष का निर्माण) एवं उनमें स्थिरता तथा आकाश भूत से सभी अंगों व अवयवों को बढ़ने का अवकाश (स्थान) प्रदान किया जाता है। इस प्रकार पंचभूतों के सतत कार्य द्वारा कालक्रम से गर्भ में सर्वांगाभिनिर्वृत्ति (सभी अंगों का विकास) होकर इसकी शरीर संज्ञा होती है। इस तथ्य को आचार्य सुश्रुत के निम्न उद्धरण में देखा जा सकता है। यथा—

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं "गर्भ"—इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादि भिरङ्गैरुपेतस्तदा "शरीर" इति संज्ञां लभते। सु० शा० ५/३.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भ्रूण के विकास में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् कार्य है तथा यह विचार आधुनिक भ्रूणविज्ञान के विचारों से कितना साम्य रखता है। दोनों का तुलनात्मक रूप से विचार करेंगे तो शुक्रशोणित रूप पुं स्त्री बीजों की संसृष्टावस्था (फर्टिलाइज्ड ओवम) का अनेक कोशिकाओं में विभक्त होना, उनका स्वरूपान्तरण, कुछ कोशिकाओं का क्लेदीभवन (कोशिकाओं का गलकर आर्द्रीकरण करना) से गर्भद्रव (अमिनियोटिक फ्लूइड) का निर्माण, शेष कोशिकाओं के संहनन

विशेष से त्रिदोष के प्रतिनिधिभूत तीन जनन स्तरों (जर्मिनल लेयर्स) का निर्माण, गर्भाकाश का आविर्भाव तथा जनन स्तरों से विविध अंग प्रत्यंग एवं धातुओं का निर्माण होकर गर्भ का पूर्ण विकास होना आचार्य सुश्रुतोक्त भूत व्यापार की नूतन व्याख्या विशेष कही जा सकती है।

इसी सन्दर्भ में देह प्रकृति के निर्माण में भी पंचभूतों के योगदान पर भी विचार अपेक्षित है। गर्भ में ही पंचमहाभूतों द्वारा व्यक्ति विशेष की भौतिक प्रकृति बनती है। वातादि दोष प्रकृतियों में भी तीनों वायु, तेज और जलभूत की प्रधानता होती है। प्रकृति को परिभाषित करते हुए रस वैशेषिक ग्रन्थ के व्याख्याकार आचार्य नृसिह ने निम्नोक्त विचार प्रस्तुत किया है। यथा –

प्रकृतिर्नाम जन्ममरणान्तराल भाविनी गर्भावक्रान्ति काले स्वकारणोद्रेक जनिता निर्विकारकारिणी स्थितिः। – रसवैशेषिक १/७ नृसिहभाष्य

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—जन्म से मरण पर्यन्त तक व्याप्त रहने वाली, गर्भ के प्रारम्भकाल में अपने-अपने कारणों के उत्कर्ष से उत्पन्न होने वाली, सम्बन्धित व्यक्ति में निर्विकारकारी स्थिति प्रकृति के नाम से अभिहित की जाती है।

आचार्य चरक ने प्रकृति की उत्पत्ति में निम्नोक्त चार कारणों का उल्लेख किया है। यथा

तत्र प्रकृत्यादीन्भावाननुव्याख्यास्यामः। तद्यथा शुक्रशोणित प्रकृति, महाभूत विकार प्रकृति, मातुराहारविहारप्रकृति, कालगर्भाशयप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एतानिहियेनयेनदोषेणाधिकेनैकेनानेकेनवा समनुबध्यन्ते तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यचते ततः सा सा दोष प्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ताः। — च० वि० ८/९५.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने प्रकृति निर्माण में चार कारणों का उल्लेख किया है। यथा—शुक्रशोणित प्रकृति, कालगर्भाशय प्रकृति, मातुराहार विहार प्रकृति-तथा महाभूत विकार प्रकृति। उपर्युक्त चार कारणों में पंचमहाभूतों को भी प्रकृति निर्माण में मुख्य कारण वर्णित किया गया है। इन पंचमहाभूतों में जिस किसी एक महाभूत की अधिकता अथवा दो या तीन महाभूतों की अधिकता होती है तदनुसार दोषवाली प्रकृति का निर्माण होता है। यद्यपि पंचमहाभूतों के अतिरिक्त भी अन्य कारणों का प्रकृति निर्माण में उल्लेख किया गया है तथापि उनमें भी प्रकारान्तर से पंचमहाभूतों का ही प्रमुख योगदान रहता है। क्योंकि शुक्रशोणित, माता का आहार विहार तथा गर्भ-काल में गर्भाशय की स्थिति इन सब कारणों में भी पंचमहाभूतों का ही प्रभाव रहता है। इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यद्यपि प्रकृति निर्माण में पंचमहाभूतों की कारणता का उल्लेख किया गया है क्योंकि चेतन अचेतन सृष्टि के निर्माण में पंचमहाभूतों की ही

प्रमुखता है, तथापि पंचमहाभूतों के द्वारा ही उत्पन्न त्रिदोष के आधार पर ही प्रकृति की संज्ञा निर्धारण किया जाता है। पंचभूतों का त्रिदोष में किस प्रकार रूपान्तरण होता है इसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है।

इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के ही प्रतिनिधिस्वरूप त्रिदोष के आधार पर सात प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं। एक-एक दोषों की अधिकता से वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक तीन प्रकृति, दो-दो दोषों की उल्वणता से तीन द्वन्द्वज प्रकृतियाँ वात पैत्तिक, पित्त श्लैष्मिक तथा वातश्लैष्मिक और तीनों दोषों के समान रूप होने से एक समप्रकृति होती है। आचार्य सुश्रुत ने दोष प्रकृति के साथ भौतिक प्रकृति का भी उल्लेख किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से ज्ञात होता है। यथा—

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः।
पवन दहन तोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः॥
स्थिर विपुल शरीरः पार्थिवश्चक्षमावान्।
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥ —सु० शा० ४/७२.

इस प्रकार प्रकृति निर्माण में पञ्चमहाभूतों का प्रमुख योगदान होता है ऐसा विचार आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने किया है। प्रकृति का विचार रोगों से प्रतिकार तथा रोगों के उपशमनार्थ आयुर्वेद में चिकित्सा सौकर्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अस्तु पञ्चभूतों की इस सन्दर्भ में व्यावहारिक उपादेयता भलीभाँति ज्ञात होती है।

चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त तथा पंचभूतवाद :—

रोगों की चिकित्सा आयुर्वेदानुसार मुख्यतः दो विधियों से सम्पादित की जाती है। प्रथम संशोधन चिकित्सा जिसमें प्रकुपित दोषों का संशोधन विधि से शरीर से निर्हरण किया जाता है। द्वितीय संशमन चिकित्सा जिसमें प्रकुपित दोषों के संशमनार्थ विविध औषध द्रव्यों के उपयोग से प्रकुपित दोषों का शमन कर रोग की शान्ति की जात है। इन दोनों चिकित्सा विधियों का उपयोग रोगों की अवस्था के अनुसार किया जाता है। किसी रोग में केवल संशोधन चिकित्सा से ही दोषों का निर्हरण कर देने से रोगी को स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हो जाता है। किसी रोग में सशोधन एवं संशमन दोनों चिकित्सा विधियों का आश्रय लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त किसी रोगी में केवल संशमन चिकित्सा का ही आश्रय लेना पड़ता है। इन दोनों ही चिकित्सा विधियों में पञ्चभूत सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

आचार्य सुश्रुत ने विरेचन, वमन, संशमनादि द्रव्यों के क्रियाकर्तृत्व की उपपत्ति (संगति) द्रव्यों में स्थित पञ्चभूतों की उल्वणता के आधार पर ही होती है ऐसा निर्दिष्ट किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

तत्र, विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्यस्ताः गुरुत्वादधो गच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्, वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुण भूयिष्ठानि, अग्निवायूहिलघू लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुण भूयिष्ठम्, उभयगुण भूयिष्ठमुभयतोभागम्, आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनम्, सांग्राहकमनिलगुण-भूयिठम्, अनिलस्य शोषणात्मकखात्वात्, दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं तत्समानत्वात्, लेखन-मनिलानलगुणभूयिष्ठम्, बृंहणं पृथिव्यम्बुगुण भूयिष्ठम्, एवमौषधकर्माण्यनुमानात् साधयेत् । —सु० सू० ४१/६.

विरेचन द्रव्य पृथिवी तथा जल गुण की अधिकता वाले होते हैं। पृथिवी, जल, गुरु (भारी) होते हैं अतः भारीपन के कारण अधोगामी होते हैं इस कारण विरेचन द्रव्य अधोगामी बहुल होते हैं ऐसा अनुमान से ज्ञात होता है। वमन द्रव्य अग्नि वायु गुण बहुल होते हैं। अग्नि तथा वायु लघु स्वभाव के हैं, लघुत्व के कारण ये ऊर्ध्वगामी होते हैं, इस कारण वमन कर्म भी उर्ध्वगामी गुण बहुल होता है। विरेचन तथा वमन दोनों कर्म वाले द्रव्य विरेचन तथा वमन बहुल गुण वाले होते हैं। संशमन द्रव्य आकाश गुण बहुल होते हैं, संग्राहक (ग्राही) द्रव्य वायु गुण बहुल होते हैं क्योंकि वायु का शोषण गुण होता है अतः द्रवांश का शोषण कर मल का अवरोध करते हैं। दीपन (अग्नि-वर्धक) द्रव्य अग्नि गुण बहुल होते हैं, दीपन कर्म अग्नि के समान कर्म वाला होने से अग्नि बहुल द्रव्य दीपन कर्म में सक्षम होते हैं। लेखन (मलों को काटकर निकालना) द्रव्य वायु तथा अग्नि गुण बहुल होते हैं। वायु के शोषण कर्म तथा अग्नि के तीक्ष्णता गुण से लेखन द्रव्य मलों को काटकर बाहर निकालने में सक्षम होते हैं। बृंहण द्रव्य पृथिवी तथा जल गुण बहुल होते हैं। पृथिवी तथा जल के क्रमशः गुरुत्व तथा शैत्य गुण के कारण शरीर पुष्ट होकर वर्धित होता है। इस प्रकार औषधियों के कर्मों का अनुमान से उनमें क्रियाकर्तृत्व की सिद्धि की संगति करनी चाहिए।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि विरेचनादि कर्म कुपित त्रिदोष के शमनार्थ विहित किए गये हैं। उदाहरणार्थ विरेचन कर्म का विधान पित्त निर्हरण के लिए किया जाता जैसा कि शास्त्र में निर्देश है

"विरेचनं पित्तहराणां, ।" —च० सू० २५/४०.

अर्थात् विरेचन कर्म पित्त हरण में सर्वोत्तम है। इसी प्रकार कफ निर्हरण तथा वातहरण के निमित्त वमन तथा वस्तिकर्म का विधान आयुर्वेद में निर्दिष्ट किया गया है। आचार्य चरक ने कफ निर्हरण तथा वातहरण के लिए वमन तथा वस्तिकर्म को सर्वोत्तम निर्दिष्ट किया है जैसा कि निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

"वमनं श्लेष्महराणां, वस्तिर्वातहराणां।" —च० सू० २५/४०.

इस प्रकार दोष संशोधन के निमित्त विहित विरेचन, वमनादि कर्मों के लिए प्रयुक्त औषध द्रव्यों के क्रियाकर्तृत्व की उपपत्ति पञ्चभूत सिद्धान्त के प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर ही होती है। अतः पञ्चभूत सिद्धान्त की चिकित्सा में महत्वपूर्ण उपादेयता का हमें उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट अवबोध होता है।

चिकित्सा के संशोधन पक्ष के उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त आचार्य सुश्रुत ने संशमन चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में भी पंचभूतों के क्रियाकर्तृत्व का निम्नोक्त वचन से उल्लेख किया है। यथा—

भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं यातिसमीरणः।
भूयम्बु वायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम्॥
खतेजोऽनिलजैः श्लेष्माशममेतिशरीरिणाम्।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमाप्नोतिमारुतः॥
आग्नेयमेवयद्द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते॥

—सु० सू० ४१/७-९.

पृथ्वी तेज एवं जल भूत की अधिकता वाले द्रव्यों से वात दोष शान्त होता है। पृथ्वी, जल तथा वायु बहुल द्रव्यों से पित्त शीघ्र ही शान्त हो जाता है। आकाश, तेज एवं वायु की बहुलता वाले द्रव्यों से कफ का शमन होता है। यह तो दोषों के संशमन के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत किया गया। इसके अतिरिक्त दोषों के प्रकोप में भी पंचभूतों की प्रमुखता को उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य सुश्रुत ने निर्दिष्ट किया है। आकाश वायु की बहुलता वाले द्रव्यों से वात की वृद्धि होती है, अग्नि बहुल द्रव्यों से पित्त का प्रकोप होता है। पृथ्वी तथा जल से उत्पन्न द्रव्यों से कफ की वृद्धि होती है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि चिकित्सा के दोनों ही संशोधन एवं संशमन पक्षों के कार्य सम्पादन में प्रयुक्त द्रव्यों के प्रयोग में क्रियाकर्तृत्व के फलितार्थ सार्थक उपपत्ति पंचभूत सिद्धांत के ही द्वारा हो सकती है। यद्यपि उपर्युक्त विवरण में चिकित्सा के संशोधन एवं संशमन पक्ष की सिद्धि में त्रिदोष को ही लक्ष्य कर औषध द्रव्यों का उल्लेख किया गया है तथापि त्रिदोष के मूल में भी पंचभूतों की ही प्रमुख भूमिका है। अतः त्रिदोष के आधार पर वर्णित उपक्रम विधि प्रकारान्तर से पंचभूत पर ही आधारित है। इस प्रकार चिकित्सा में पंचभूत सिद्धांत की उपादेयता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हमने यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत विषय को निदर्शनार्थ विवेचन किया है। इसका विस्तृत विचार तो आयुर्वेद वाङ्मय में भरा पड़ा है। विस्तार भय से हम उसका उल्लेख करना उचित नहीं समझते।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार हम आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त उद्धरण से करना चाहेंगे जिसमें प्रकारान्तर से चिकित्सा में पंचभूतों की ही प्रमुख भूमिका का संकेत प्राप्त होता है।

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥ —सु० सू० ४१/१२.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि—द्रव्यों में जो विविध गुण कहे गये हैं शरीर में स्थित धातुओं एवं अन्य रचनाओं में भी वहीं गुण होते हैं। अतः शरीरधारियों के धातुओं, अवयवों के साम्यावस्था, वृद्धि तथा क्षय में कारण द्रव्यगत विविध गुण ही होते हैं। द्रव्यगत विविध गुणों का अनुमान पंचभूत सिद्धांत के ही माध्यम से सम्भव है। इन तथ्यों के आधार पर पंचभूत सिद्धान्त की उपादेयता का भलीभाँति परिचय प्राप्त होता है।

द्विविध मानस दोषवाद

आयु (जीवन) के चार घटकों में मन या मानस एक मुख्य घटक है। आयुर्वेद के आचार्यों ने जिस प्रकार शारीरिक रोगों में शारीरिक दोषों (त्रिदोष) की प्रमुख भूमिका का उल्लेख किया है, उसी प्रकार मानसिक दोषों की प्रमुखता का उल्लेख मिलता है। यद्यपि शारीरिक रोगों का मन पर प्रभाव पड़ता है तथा मानसिक रोगों का शरीर पर प्रभाव पड़ता है तथापि मानसिक दोष शारीरिक दोषों से स्वतन्त्र होते हैं तथा मानसिक रोगों की उत्पत्ति में उनकी भूमिका भी शारीरिक दोषों से पृथक् होती है। इसी कारण आचार्य चरक ने शारीरिक तथा मानसिक दोषों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है जैसा कि निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा —

वायुः पित्तं कफश्चोक्ताः शारीरो दोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ —च० सू० १/५७.

उपर्युक्त उद्धरण में वात, पित्त एव कफ इन तीन को शारीरिक दोष तथा रज एवं तम को मानसिक दोष कहा गया है। सत्व, रज एवं तम ये तीन गुण मूल प्रकृति के नैसर्गिक गुण कहे जाते हैं। इन्हीं तीनों की सहायता से प्रकृति विविध प्रकार की सृष्टि रचना में प्रवृत्त होती है। इनमें सत्व गुण प्रकाशक एवं ज्ञान स्वरूप होता है। तमोगुण आवरणात्मक तथा अज्ञान मोह स्वरूप होता है। रजोगुण दोनों गुणों का प्रेरक तथा गतिशील होता है। जैसा कि सांख्यकारिका के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा -

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपस्टम्भकं चलं च रजः।
गुरू वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ —सांख्यकारिका १३.

अर्थात् सत्व गुण लघु एवं प्रकाशक होता है, रजोगुण गतिशील तथा दोनों सत्व तथा तम को प्रेरित करने वाला होता है, तमोगुण आवरणात्मक अर्थात् मोहरूप होता है। रजोगुण के बिना न सत्वगुण की प्रवृत्ति होती है न तो तमोगुण की। मूल प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने के कारण इससे उत्पन्न समस्त चेतन अचेतन पदार्थों में इन त्रिगुणों की उपस्थिति होती है।

उपर्युक्त त्रिगुणों में सत्वगुण निर्विकार होता तथा ज्ञानरूप होता है। इससे कोई मानसिक विकार नहीं होता है बल्कि सत्व गुण वाला मनुष्य सुखी, विचारवान एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति का होता है। इसी कारण सत्वगुण को मानसिक दोषों में नहीं परिगणित किया गया है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

त्रिविधं खलु सत्वं—शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्। तेषां तु त्रयाणामपि सत्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनि विशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च। —च० शा० ४/३६.

उपर्युक्त उद्धरण का आशय है कि—तीन प्रकार के सत्व होते हैं। शुद्धं (सत्व), राजस एवं तामस। इन तीनों में भी शुद्ध (सत्व) अदोष होता है क्योंकि यह कल्याणांश होता है। राजस सत्व सदोष (दोषवाला) कहा जाता है क्योंकि इसमें रोषांश (क्रोध का अंश) होता है। तामस सत्व भी सदोष कहा जाता है क्योंकि इसमें मोहांश होता है। इन तीनों सत्वों के तर, तम भेद से असंख्य प्रकार के सत्व हो जाते हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने मुख्यतः १६ प्रकार के सत्वों का उल्लेख किया है। जिनमें शुद्ध सत्व के सात भेद राजस के ६ भेद तथा तामस सत्व के तीन भेद कहे गये हैं। विस्तार भय से इन सभी भेदों का लक्षण तथा परिचय प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। रजो गुण प्रेरक होने के कारण यदि इसकी प्रवृत्ति सत्व गुण की ओर हुई तो व्यक्ति ज्ञानवान् विवेकशील एवं धार्मिक होता है। यदि रजोगुण की प्रवृत्ति तमोगुण की ओर हुई तो मनुष्य आवरणात्मक अज्ञान के वशीभूत होकर कर्तव्याकर्तव्य शून्य होकर अनेक विध त्याज्य प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हो जाता है। तमोगुण आवरणात्मक होने के कारण मोह स्वरूप का होता है अतः रजो गुण के सहयोग के बिना निष्क्रिय ही रहता है। अतः मानसिक दोषों में रजोगुण की प्रमुखता होती है। रजोगुण की विकारकारिता में प्रकृष्टता को लक्ष्यकर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में रजोगुण समुद्भूत काम एवं क्रोध को महापातक का कारण प्रतिपादित करते हुए इन्हें मनुष्य का महान शत्रु बतलाया है जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा —

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिहवैरिणम् ।।

—श्री मद्भागवत गीता ३/३७.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रजोगुण से उत्पन्न काम एवं क्रोध अत्यधिक भोगों से भी तृप्त न होने वाला तथा महापाप स्वरूप है, ये ही मनुष्य के बहुत बड़े वैरी हैं।

आचार्य चरक ने रज एवं तम को मानसिक दोष बतलाते हुए इनके विकारों का निम्नोक्त उद्धरण में उल्लेख किया है। यथा —

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ । तयोर्विकाराः कामक्रोध लोभमोहेर्ष्या मानमद शोक चित्तोद्वेगभयहर्षादयः ।

—च० वि० ६/५.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रज एवं तम मानसिक दोष हैं। इनके द्वारा उत्पन्न विकार हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान (अभिमान), मद (अहंकार), शोक, चित्तोद्वेग (मन की विह्वलता), भय तथा हर्ष । रज एवं तम से उत्पन्न उपर्युक्त विकारों में मनुष्य अपनी विचार शक्ति तथा नैतिकता को खो देता है परिणामस्वरूप विविध प्रकार के पाप कर्मों में लिप्त होकर अपना सर्वनाश कर लेता है। भगवद्-गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने रजोगुण को रागात्मक कहा है तथा उससे व्यक्ति में कामना (किसी वस्तु की इच्छा) तथा वस्तु के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। किसी वस्तु में आसक्ति होने से उसको प्राप्त करने की इच्छा होती है। वस्तु की इच्छा पूर्ति में बाधा होने से व्यक्ति को क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध होने से उसमें अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है अर्थात कर्तव्याकर्तव्य का बोध नहीं रहता। मूढ़भाव होने से अपने बारे में स्मृति नहीं रहती कि वह कौन है क्या कर रहा है। स्मृति नाश होने से व्यक्ति की बुद्धि अर्थात ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश होने से व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है अर्थात वह अपने स्थिति तथा मर्यादा से गिर जाता है। भगवान कृष्णोक्त वचन निमांकित हैं। यथा—

रजोरागात्मकं विद्धितृष्णा संगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।। श्रीमद्भ० गी० १४/७.
ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। श्री० भ० गी०२/६२-६३.

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि रजोगुण किस प्रकार की आसक्ति उत्पन्न कर

मनुष्य में मानसिक विकार शृङ्खलाओं को क्रमिक रूप से बढ़ाते हुए उसका विनाश करा देता है। प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने के लिए श्रीमद्भगवत्गीता में वर्णित आसुरी सम्पत्ति का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। आसुरी सम्पत्ति अथवा भौतिक समृद्धि का सीधा सम्बबन्ध रजतम मानसिक दोषों से है। आसुरी सम्पत्ति से ठीक विपरीत सत्वगुण के उत्कर्ष से उत्पन्न दैवी सम्पत्ति होती है जो कि व्यक्ति को ज्ञान, सुख, आत्मिक ऊन्नति प्रदान करने वाली एवं अज्ञान व मोहजन्य दुःखों से मुक्त करने वाली होती है। आसुरी सम्पत्ति (प्रकृति) के मूल में मुख्यतः रजतम मानसिक दोषों से उत्पन्न काम, क्रोध एवं लोभ ही होते हैं जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ भ० गी० १६/२१.

काम, क्रोध एवं लोभ ये तीनों नरक के द्वार (मनुष्य के पतन) के कारण हैं अतः इन तीनों को त्याग दें। आसुरी प्रकृति के मनुष्यों का निम्न लक्षण बतलाया गया है। यथा—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापिचाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्पर संभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्प बुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दूष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचि व्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोग परमा एतावदिति निश्चिता॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान्॥
इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौमयाहतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहंअहंभोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया ।
यक्ष्येदास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिता ।।
अनेकचित्त विभ्रान्ता मोहजाल समावृताः ।
प्रसक्ता कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।
आत्म संभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्तु दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।
अहंकारंबलंदर्पं कामंक्रोधं च संश्रिताः ।
भामात्म परदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकः ।।
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषुनराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्येव कौन्तेय ततो यान्त्यधनां गतिम् ।।

श्री० भ० गी० १६/७–२०,

आसुर स्वभाव (भौतिक समृद्धि की कामना) वाले मनुष्य प्रवृत्ति (उपादेय कर्म) और निवृत्ति (निषिद्धकर्म) दोनों को नहीं जानते । इसलिए उनमें न तो बाहर भीतर की शुद्धि होती है न श्रेष्ठ आचरण और न सत्य का ही आश्रय लेते हैं । आसुरी प्रकृति वाले कहा करते हैं कि जगत आश्रय रहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वर के अपने-आप केवल स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न है । अतएव केवल काम ही जगत की उत्पत्ति में कारण है । इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान का आश्रय लेने से जिनका सहज भाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सब अपकार करने वाले क्रूर कर्मा मनुष्य जगत के नाश करने में तत्पर रहते हैं । वे दम्भ (कपट आचरण) मान (अभिमान, मद अहंकार) से युक्त किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके, भ्रष्ट आचरण करते हुए संसार में विचरते हैं । वे मृत्यु पर्यन्त रहने वाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले, विषय भोगों के भोगने में तत्पर रहने वाले और जो सुख वे भोगते हैं उसी को श्रेष्ठ सुख मानते हैं । वे आशा की सैकड़ों पाशों (बन्धनों) से बंधे हुए मनुष्य काम क्रोध के वशीभूत होकर विषय भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं । वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को पूरा करूँगा । मेरे पास इतना धन है और फिर इतना हो जायगा । यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मार डालूँगा । मैं ही शासनकर्ता हूँ, मैं ही ऐश्वर्य भोगने वाला हूं । मैं सब सफलताओं से पूर्ण हूँ और बलवान तथा सुखी हूँ । मैं

बड़ा धनी हूँ और बड़े कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और आमोद-प्रमोद करूंगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित होकर रहने वाले तथा अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले मोहरूप जाल से घिरे और विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त आसुरी स्वभाव के लोग महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं। वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि परायण, दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा से द्वेष करने वाले होते हैं। उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को सर्वशक्तिमान् परमेश्वर बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता है। हे अर्जुन। वे मूढ़ मुझको न प्राप्त कर प्रत्येक जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं तथा पुनः पुनः उससे भी अति नीच से नीच गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकों में पड़ते हैं।

उपर्युक्त विवरण में मानसिक दोष रजोदोष उद्भूत काम क्रोध तथा लोभादि से मनुष्य किन-किन मानसिक विकृतियों में लिप्त होकर अधःपतन का भागी होता है, उसका विचार किया गया। अब हम तम जो कि दूसरा मानसिक दोष है उस पर विचार करेंगे। तमोगुण के विषय में भगवान श्रीकृष्ण ने निम्नोक्त उद्धरण में विवेचित किया है कि तम अज्ञान से उत्पन्न मोहस्वरूप होता है तथा मनुष्य को प्रमाद आलस्य तथा निद्रा के द्वारा बांधता है जिससे कि वह और भी अज्ञान एवं मोह में पड़ जाता है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए निम्न उद्धरण द्रष्टव्य हैं। यथा—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धिमोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ भ० गी० १४/८.

तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश (अज्ञान), कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद (व्यर्थचेष्टा) और निद्रा, आलस्य आदि मोह में डालने वाली प्रवृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता हैं। यथा :—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोहएव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ भ० गी० १४/१३.

तमोगुण के विषय में उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि यह आवणात्मक (ज्ञान को ढंकने वाला) होने के कारण मनुष्य में निष्क्रियता, आलस्य तथा निद्रा आदि मोहरूप भावों को उत्पन्न करता है जिससे कि वह कर्तव्याकर्तव्य को जानने में असमर्थ होता है। परिणामस्वरूप कर्तव्य कर्मों में प्रमाद (शिथिलता) करता है तथा अकर्तव्य कर्मों में अज्ञानवश प्रवृत्त हो जाता है।

सत्त्व, रज एवं तम त्रिगुण प्रकृति के नित्य नैसर्गिक गुण हैं अतः सृष्टि के समस्त चेतन, अचेतन पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं, भले ही किसी पदार्थ में सत्त्व गुण का उत्कर्ष हो या रजोगुण का अथवा तमोगुण का। चेतन पदार्थों में सत्य एवं रजोगुण का उत्कर्ष होता है तथा अचेतन पदार्थों में तमोगुण का उत्कर्ष होता है। इसी कारण अचेतन पदार्थों में तमोगुण के अनुरूप जड़ता होती है। त्रिगुण की न्यूनाधिकता से ही पदार्थों में गुण कर्म की विविधता होती है। मनुष्य मात्र में तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में होने से उनके स्वभाव, विचार एवं कर्म में भिन्नता होती है। कोई भी प्राणी त्रिगुण के प्रभाव क्षेत्र से बाहर नहीं हैं क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न सभी प्राणी त्रिगुण से बंधे होते हैं। "गुण आमन्त्रणे" धातु के अनुसार गुण का अभिप्राय आकर्षित करने से हैं जिसका फलितार्थ बाँधने से ही है। भगवान कृष्ण ने तीनों गुण को बाँधने वाला कहा है जैसा कि निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ भ० गी० १४/५.

सत्व, रज एवं तम ये तीन गुण प्रकृति (मूलप्रकृति) से उत्पन्न हैं। ये तीनों गुण अविनाशी आत्मा को शरीर में बाँधते हैं। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि अविनाशी आत्मा निर्गुण होता है किन्तु अपने कर्मवश नानाविध योनियों में उत्पन्न होता है। आत्मा का सम्बन्ध ज्योंही शरीर से होता है वह गुणों से बँध जाता है। इन तीन गुणों में सत्व गुण निर्मल एवं बिकार रहित होने के कारण जीवात्मा को प्रकाश अथवा ज्ञानयुक्त रखता है। यह जीव को सुख एवं ज्ञान से बाँधता है। रजोगुण रागात्मक होने के कारण कामना और आसक्ति को उत्पन्न करता है तथा मनुष्य की कर्म तथा कर्मफल से बाँधता है। तमोगुण अज्ञानजन्य होने के कारण मनुष्य को प्रमाद (इन्द्रियों और अन्तःकरण की निरर्थक चेष्टा), आलस्य (कर्तव्य कर्म में अप्रवृत्ति) और निद्रा के द्वारा बाँधता है। उपर्युक्त कारणों से सत्व गुण मनुष्य को सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में प्रवृत्त करता है तथा तमोगुण ज्ञान को आच्छादित कर प्रमाद से ग्रस्त करता है जैसा कि गीतोक्त निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा :—

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणिभारत।
ज्ञानभावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ श्री० भ० गी० १४/९.

तीनों गुण सभी प्राणियों में होते हैं किन्तु अपने-अपने संस्कार, वातावरण, संगति तथा आहार विहार के कारण किसी में सत्व गुण की अधिकता किसी में रजोगुण की तथा किसी में तमोगुण की अधिकता होती है तदनुसार उनका आचरण, व्यवहार एवं कर्तव्य भिन्न-भिन्न होता है।

रजोगुण तथा तमोगुण को दबाकर सत्वगुण, सत्व तथा तमोगुण को दबाकर रजोगुण एवं सत्व तथा रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है जैसा कि गीतोक्त निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है। यथा—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वंभवति भारतः।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा॥ भ० गी० १४/१०.

सत्व गुण के बढ़ने पर मनुष्य के अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में चेतनता और विवेक-शक्ति उत्पन्न होती है। रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, स्वार्थ बुद्धि से कर्मों की फलाकांक्षा से कार्य में प्रवृत्ति अशान्ति और विषय भोगों की इच्छा आदि उत्पन्न होते हैं। तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में ज्ञान का अभाव, कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति, प्रमाद और निद्रा, तन्द्रा आदि अन्तःकरण को मोह में डालने वाली वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रसंग में निम्न गीतोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरूनन्दन॥ भ० गी०१४/११-१३.

तीन गुणों के आधार पर कर्ता, कर्म तथा ज्ञान तीन-तीन प्रकार के बतलाए गये हैं जैसा कि गीता के निम्नोक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है। यथा—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धिसात्विकम्॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथक्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥
यत्तुकृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ भ० गी० १८/२०-२२.

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों (प्राणियों) में एक अविनाशी परमात्म-भाव को विभागरहित स्वभाव से स्थित देखता हैं वह ज्ञान सात्विक है। किन्तु जो ज्ञान सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों) में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग-अलग जानता है वह ज्ञान राजस है। परन्तु जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर में ही सम्पूर्ण प्राणियों के

समान आसक्त है तथा जो बिना युक्ति का तात्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है— वह ज्ञान तामस कहा जाता है। इसी प्रकार त्रिविध कर्मों का भी भेद किया गया है। जो कर्म शास्त्रविधि से निश्चित किया गया है तथा कर्तापन के अभिमान से रहित हो और फल की आकांक्षा न करने वाले पुरुष द्वारा बिना रागद्वेष के किया गया हो वह सात्विक कहा जाता है। परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा अहंकार पूर्वक किया जाता है वह कर्म राजस कहा जाता है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को बिना विचारे केवल अज्ञानवश आरम्भ किया जाता है वह तामस कर्म कहलाता है, निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥
यत्तुकामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ भ० गी० १८/२३-२५.

इसी प्रकार त्रिगुण के ही आधार पर तीन प्रकार के कर्ता का उल्लेख प्राप्त होता है। जो कर्ता आसक्ति रहित (कर्मफल की आकांक्षा न करने वाला) अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने या न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है, वह सात्विक है, जो कर्ता आसक्ति से युक्त, कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने वाला, अशुद्ध आचरण करने वाला और हर्ष-शोक से लिप्त है वह राजस कहा गया है। जो कर्ता अयुक्त (अनुचित कार्य में प्रवृत्त), शिक्षारहित, घमंडी, धूर्त और दूसरों की जीविका को नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी, और दीर्घ सूत्री (कार्य को दूसरे दिन के लिए टालते रहने वाला) वह तामस है। इस विषय से सम्बन्धित उद्धरण निम्नोक्त है। यथा--

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्तासात्विकउच्यते ॥
रागीकर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धोहिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धःशठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ भ० गी० १८/२६-२८.

इसी प्रकार गुणों के आधार पर ही बुद्धि, धैर्य, सुख तथा आहार आदि के भी तीन-तीन भेद किए गये हैं। विस्तारभय से हम उनका विवेचन करना उचित नहीं सम-

समझते। किन्तु इस सन्दर्भ में यह तथ्य अवश्य ही उल्लिखित करना चाहेंगे कि समस्त भूमण्डल पर आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके अतिरिक्त भी जो कोई वस्तु या प्राणी हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो जैसा कि भगवान कृष्ण ने निम्न उद्धरण के माध्यम से उद्‌बोधित किया है। यथा—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ भ० गी० १८/४०.

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि त्रिविध सत्वों में शुद्धसत्व (सत्वगुण) अविकारी है अतः इसे दोष नहीं कहा जाता है। रज एवं तम सत्व ही विकारकारक हैं अतः इन्हें ही मानस दोष कहा जाता है। जिस प्रकार शारीरिक दोषों (त्रिदोष) के प्रकोपक कारण असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम होते हैं उसी प्रकार मानस दोष भी इन्हीं कारणों से प्रकुपित होते हैं जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा :—

तत्र खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम्, तद्यथा—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति। च० वि० ६/६.

प्रकुपित मानस दोष अपने प्रकोपक कारणों तथा शरीर के दूषित भावों की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न असंख्य विकारों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रसंग में आचार्य चरक का निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

प्रकुपितास्तु खलु ते प्रकोपणविशेषाद्दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसंख्येयान्। ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च। च० वि० ६/७-८

शारीरिक विकार तथा मानसिक विकार परस्पर एक दूसरे को बढ़ाते हैं। शारीरिक विकारों का अनुबन्ध (संसर्ग) मानसिक विकारों से तथा मानसिक विकारों का संसर्ग शारीरिक विकारों से हो जाता है। मानसिक विकार काम, शोक आदि से शारीरिक विकार ज्वर, अतिसार आदि हो जाते हैं। इसी प्रकार शारीरिक विकारों से चिन्ता, उद्वेग (चित्तोद्वेग), भय शोकादि मानसिक विकार हो जाते हैं। रज एवं तम मानसिक दोष भी परस्पर एक दूसरे का अनुगमन करते हैं। तम दोष तो बिना रज दोष के प्रवृत्त ही नहीं हो सकता जैसा कि आचार्य चरक के निम्न वचन से ज्ञात होता है। यथा :—

नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परं, न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते।
च० वि० ६/९.

रज एवं तम इन मानसिक दोषों का अधिष्ठान (आश्रयस्थल) मन है, अतः इस सन्दर्भ में मन के विषय में कुछ विवेचन करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

मन का लक्षण—

ज्ञान का होना (ज्ञान भाव) अथवा ज्ञान का न होना (ज्ञानाभाव) यही मन का लक्षण है अर्थात् इसी के द्वारा मन के अस्तित्व का निर्धारण किया जाता है। इन्द्रियों का मन से सम्बन्ध होता है तभी किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है। यदि इन्द्रियों का मन से सम्बन्ध नहीं हो तो बाह्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता। मन का आत्मा तथा इन्द्रियों का मन के साथ सम्बन्ध होने पर ही बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है तथा मन से सम्बन्ध न होने पर ज्ञान नहीं होता इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट किया है। यथा :—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावोभाव एव च।
सतिह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते। च० शा० १/१८-१.

मन के गुण —

जब एक साथ अनेक विषयों का सम्पर्क इन्द्रियों से होता है तो किसी विषय का ज्ञान होता है और किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस तथ्य से यह ज्ञात होता है कि ज्ञान के होने और न होने में कोई अन्य कारण होता है और वह अन्य कारण मन होता है। इस मनरूप ज्ञान के कारण को आत्मा के समान यदि व्यापक माना जाय तो एक साथ ही अनेक विषयों का ज्ञान होना चाहिए और यदि मन को भी इन्द्रियों के समान अनेक माना जाय तो भी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का एक साथ ही ज्ञान होना चाहिए किन्तु एक साथ अनेक विषयों का ज्ञान नहीं होता। उपर्युक्त युक्तियों अर्थात् युगपत् ज्ञानानुदय के लक्षण (एक साथ विषयों का ज्ञान नहीं होना) से मन का एकत्व और अणुत्व गुण सिद्ध होता है। आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से स्पष्ट किया है कि मन के दो गुण एकत्व तथा अणुत्व है अर्थात् मन एक है तथा अल्प स्थान व्यापी है।

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ। च० शा० १/१९.

मन के विषय :—

मन के विषयों का उल्लेख करते हुए आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण प्रस्तुत किया है। यथा :—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थ संज्ञकम्॥ च० शा० १/२०.

चिन्तन एवं विचार करना, तर्क द्वारा किसी विषय का निर्धारण करना, ध्यान योग्य विषयों का ध्यान करना, संकल्प करना अर्थात् गुण दोष के आधार पर किसी विषय का निश्चय करना। इस प्रकार जो भी विषय मन के द्वारा जानने योग्य हैं सभी मन के विषय हैं।

मन के कर्म :—

आचार्य चरक ने मन के कर्मों का निम्नोक्त उद्धरण में उल्लेख किया है जो द्रष्टव्य है। यथा :—

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहोविचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥ च० शा० १/२१.

इन्द्रियों को आश्रय देना तथा उन्हे नियन्त्रित करना, स्वयं अपने को नियन्त्रित करना, तर्क वितर्क करना, स्वयं अपने का विचार करना आदि मन के कर्म हैं। मन के तर्क वितर्क एवं विचार करने के पश्चात् बुद्धि अपना निश्चयात्मक कार्य करती हैं। बुद्धि यह ग्राह्य है अतः ग्रहण करना चाहिए अथवा अहितकर है अतः त्याग करने योग्य है ऐसा निश्चित करती है। बुद्धि के कार्य के पश्चाद अहंकार (व्यक्ति का स्व) यह करूँगा अथवा यह नहीं करूँगा ऐसा स्थिर करता है।

एक ही पुरुष में उपाधि भेद से अनेक प्रकार के मन :—

एक ही पुरुष में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अनेक प्रकार के मन उपाधियों के भेद से होते हैं। वस्तुतः मन एक ही होता है किन्तु भिन्न-भिन्न विषयों से सम्पर्क होने के कारण, संकल्पों की भिन्नता के कारण तथा रज, तम, एवं सत्व गुण के संयोग से अनेक प्रकार का ज्ञात होता है। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि एक ही मन जब धर्म के विषय में चिन्तन करता है तब धर्मचिन्तक, जब काम के विषय में चिन्तन करता है तब काम चिन्तक कहा जाता है। इसी प्रकार चिन्तन भेद से अभिन्न (एक) मन भिन्न-भिन्न कहा जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करने के कारण भो भिन्न-भिन्न कहा जाता है। उदाहरणार्थ जब रूप का ग्रहण करता है तब रूप ग्राहक गन्ध का ग्रहण करता है तब गन्ध ग्राहक तथा स्पर्श का ग्रहण करता है तब स्पर्श ग्राहक आदि भिन्न-भिन्न विषयों का ग्राहक कहा जाता है। इसी प्रकार संकल्पों की भिन्नता से भी मन के विविध प्रकार होते हैं। यथा—गुणों व दोषों के आधार पर किसी विषय पर विचार करता हुआ कभी गुण कल्पक तथा कभी दोष कल्पक मन का भेद किया जाता है। ऐसे ही एक ही पुरुष में जब मन रजोबहुल होता है तो क्रोधादि भावों वाला, जब तमोबहुल होता है तो अज्ञान, भयादि युक्त तथा जब सत्व बहुल होता है तो सत्य, शौचादि भावों से युक्त होता है। विविध उपाधियों से युक्त विविध मन के

भेद अनेक प्रकार का प्रतिभासित होते हुए भी वस्तुतः एक ही होता है। उपर्युक्त तथ्यों को ही आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से स्पष्ट किया है। यथा—

स्वार्थेन्द्रियार्थ संकल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरूषेसत्वं, रजस्तमसत्व गुणयोगाच्च, न चानेकत्वं नह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रिय प्रवृत्तिः। च० सू० ८/५.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि एक ही पुरुष में अनेक विध उपाधियों के कारण अनेक प्रकार के मन का आभास होता है। किन्तु परमार्थतः मन में अनेकता अर्थात् एक ही पुरुष में अनेक मन नहीं होता क्योंकि एक ही मन का एक ही समय में सभी इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति अथवा सम्पर्क नहीं होता।

पुरुष में किसी विशेष गुण की बहुलता से तदनुसार सत्व की उपस्थिति : किसी विशेष गुण की बार-बार प्रवृत्ति होने से पुरुष विशेष में उसी गुण की बहुलता होती है तदनुसार पुरुष विशेष को विशेष गुण की अधिकता के कारण तत्तद् गुण वाला यथा सात्विक राजस तथा तामस ऐसा कहा जाता है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट किया है। यथा—

यद् गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात्। च० सू० ८/६.

आचार्य चरकोक्त वचन को स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणि कहते हैं कि—यदि एक ही पुरुष में कभी रजोयुक्त, कभी तमोयुक्त तथा कभी सत्वयुक्त मन होता है तो यह सात्विक है, राजस है, या तामस है कैसे कहा जाता है। इसी आशंका का समाधान करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि जिस गुण से जिस पुरुष का मन युक्त होता है उसी गुण का बार-बार अनुसरण करने से गुण विशेष से अधिक सम्बन्ध होने से उस पुरुष के मन को सात्विक, राजस या तामस कहा जाता है। अर्थात् यदि मन सत्व गुण का पुनः पुनः अनुसरण करता है तो सात्विक, रजो गुण का पुनः-पुनः अनुसरण करता है तो राजस इसी प्रकार यदि तमोगुण का अनुसरण करता है तो तामस कहा जाता है। पुरुष विशेष में अन्य दूसरे गुणों से सम्बन्ध होने पर भी सत्व गुण की अधिकता से वह पुरुष सत्य शौचादि सात्विक कार्यों को करता है अतः सात्विक कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य गुणों वाले पुरुषों को भी जानना चाहिए।

मन के ही अनुसार इन्द्रियों की प्रवृत्ति—

मन के ही आश्रय भूत इन्द्रियाँ होती हैं अतः जैसी मन की स्थिति होती है तदनुसार इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। अर्थात् यदि मन

सात्विक है तो इन्द्रियां सात्विक विषयों का ही ग्रहण करती हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों की विषयाभिमुखता में मन की ही प्रमुखता होती है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्न वचन से संकेतित किया है। यथा :--

मनः पुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। च० सू० ८/७

अर्थात् मन के ही आश्रित होकर इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करने में सक्षम होती हैं।

बन्धन एवं मोक्ष का कारण मन है :—

मन ही मनुष्यों के सांसारिक बन्धन एवं इस बन्धन से मुक्ति का कारण है जैसा कि निम्न स्मृति वचन से ज्ञात होता है। यथा :---

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।

इस प्रकार मन ही मनुष्यों को समस्त दुःखों में ग्रस्त करने वाला तथा उन दुःखों से मुक्त करने वाला होता है। और मन को दूषित करते वाले रज व तम ये मानसिक दोष ही हैं। यदि मन रज व तम दोषों से दूषित नहीं होता तो मनुष्य किसी प्रकार के प्रज्ञापराध से ग्रस्त न होकर सुखी एवं स्वस्थ रहता है। जिस प्रकार शारीरिक दोषों के प्रकोपक कारणों का अतियोग, अयोग व मिथ्या योग शारीरिक व्याधियों की उत्पत्ति में कारण होता है उसी प्रकार मानसिक दोष भी मानसिक दोषों के प्रकोपक कारणों के अतियोग, अयोग व मिथ्या योग से विविध मानसिक व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा :—

तदर्थातियोगायोग मिथ्या योगात् समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथा स्वं बुद्धयुपघाताय संपद्यते, सामर्थ्य योगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथा स्वं बुद्धि-माप्यायति। च० सू० ८/१५.

विविध विषयों (रूप, रस, गंधादि) के अतियोग अयाग व मिथ्यायोग से मन सहित इन्द्रियां विकृति को प्राप्त होती हुई बुद्धि का नाश करती हैं। विषयों के सम्यक् योग मन सहित इन्द्रियों को प्राकृत भाव में रखते हुए बुद्धि की वृद्धि करते हैं। इस प्रसंग में यद्यपि रज व तम दोषों के अतियोग, अयोग व मिथ्या योग का विवरण नहीं प्राप्त होता है तथापि सिद्धान्ततः रज व तम का अतियोग, अयोग मिथ्यायोग मानसिक व्याधियों को उत्पन्न करते हैं ऐसा समझना चाहिए।

द्विविध मानस दोषवाद की उपादेयता :—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है, अतः इस तथ्य से भलीभांति ज्ञात होता है कि स्वस्थ एवं सुखी जीवन के लिए मन का

स्वस्थ रहना अनिवार्य है। यद्यपि मनुष्य के बन्धन मोक्ष की कारणता मन से होती है यह तथ्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कहा गया है तथापि इस तथ्य की महत्ता सांसारिक दृष्टि से भी कम नहीं है। अतः मन की बंधन मोक्ष में कारणता के तथ्य की सांसारिक सम्बन्धों में अव्याप्तिदोष का प्रसंग नहीं उपस्थित होता। जिस प्रकार शारीरिक दोषों की समता स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक दोषों की साम्यावस्था भी अपेक्षित है। यहाँ पर मानसिक दोषों की साम्यावस्था से अभिप्राय यह है कि रज एवं तम इस परिमाण में रहें जिससे कि सत्व गुण इनके प्रभाव से अभिभूत (प्रभावित) न हो। मानसिक दोषों की साम्यावस्था यही है कि रज व तम को अभिभूत (दबाकर) करके सत्व गुण रहे न कि सत्व को दबाकर रज एवं तम रहें। चूँकि समस्त जगत त्रिगुणात्मक है अतः स्वल्प प्रमाण में रज व तम भी रहते ही हैं। किंतु सत्व गुण के उत्कर्ष से उनका प्रभाव नहीं होता। इस प्रसंग में यह आशंका उपस्थित होती है कि शारीरिक दोषों में तो तीनों ही दोष वात, पित्त कफ दोष कहे जाते हैं तो मानसिक दोषों में केवल रज तम इन दो की ही क्यों गणना होती है, सत्व की क्यों नहीं।

इस आशंका का समाधान यह है कि सत्व गुण प्रकाशक व ज्ञानस्वरूप होता है अतः सत्व गुण की वृद्धि होने पर मनुष्यों में ज्ञान की वृद्धि होती है जिससे कि उनकी सद-सद्विवेचनी बुद्धि बनी रहती है। अतः सत्वगुण वाला व्यक्ति कभी भी असद्विचारों से ग्रस्त नहीं होता है, परिणाम स्वरूप उसे कोई मानसिक विकार नहीं होता। इसी कारण सत्व गुण शुद्ध अथवा निर्दोष होता है तथा व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी भी। इसी कारण गीता में सत्व गुण को दैवी सम्पत् कहा गया है। दैवी सम्पत् को सांसारिक बंधनों से मुक्त करने वाला तथा आसुरी सम्पत् को सांसारिक बंधनों में बाँधने वाला कहा गया है, जैसा कि गीता के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता। भ० गी० १६/५.

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि द्विविध मानस दोषवाद के ज्ञान से मनुष्य रज तम दोषों के वृद्धि कारण काम, क्रोध लोभादि मानसिक विकारों से अपने को अलग रखते हुए स्वस्थ एवं सुखी रह सकता है। रज व तम से अभिभूत न होने के लिए सद्वृत्तों का पालन करता है जिससे कि मन सन्मार्ग का ही अनुसरण करता है तथा कुमार्ग में जाने से बचता है। इसी तथ्य को लक्ष्य करते हुए आचार्य चरक ने सद्वृत्त पालन करने का निम्नांकित उद्धरण में निर्देश किया है। यथा :—

तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यमेभिर्हे-

तुभिः । तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थ संयोगेन बुद्धया सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक् प्रतिपादनेन, देशकालात्मगुणविपरीतोपासनेन चेति । तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम् । च० सू० ८ १७.

अर्थात् अनुपतप्त (स्वस्थ) मन सहित इन्द्रियों के अनुपताप (स्वास्थ्य) के लिए तथा इन्हें निर्विकार रखने के निमित्त निम्न कारणों से प्रयत्न करना चाहिए । इन्द्रियों के विषयों के समयोग से बुद्धि के द्वारा सम्यक् प्रकार से हित अहित को जानकर सम्यक् प्रकार से कार्यों के प्रतिपादन से अर्थात् जो हितकर कर्म हो उसे करने से तथा अहित कार्यों के परित्याग से व्यक्ति स्वस्थ एवं सुखी रहता है। इस प्रकार के कर्म प्रतिपादन से मनुष्य असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग एवं प्रज्ञापराध जन्य अनागत व्याधि का प्रतिकार कर सकता है। उत्पन्न हुए व्याधि के प्रतिकार के लिए भी देश, काल एवं आत्म गुण (प्रकृति विकार) के विपरीत कर्मों का परिपालन अपेक्षित है। अर्थात् जिस देश में व्याधि हुई है, जिस काल में हुई तथा जिस प्रकृति के विकारों (वस्तुओं) से हुई है उनके गुणों के विपरीत गुणों के सेवन से उत्पन्न व्याधि का प्रतिकार होता है। इन सब उपर्युक्त कारणों से अपने हित की इच्छा से सभी को सदैव स्मरण रखते हुए (आत्महित का) सभी सद्वृत्तों का पालन करना चाहिए ।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से आचार्य चरक ने व्यक्ति को स्वस्थ एवं सुखी रहने के निमित्त सद्वृत्त पालन का निर्देश किया है । यहाँ पर यह तथ्य विचारणीय है कि जिस प्रकार शारीरिक व्याधियों से बचने के लिए स्वस्थवृत्त का पालन आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक व्याधियों के प्रतिकार के लिए सद्वृत्त का पालन अपेक्षित है । सद्वृत्त से क्या लाभ होता है इसका निर्देश करते हुए आचार्य चरक निम्न उद्धरण में उल्लेख करते हैं कि :—

तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् संपादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति ।
च० सू० ८/१८.

अर्थात् सद्वृत्त के पालन से व्यक्ति दो प्रयोजन की उपलब्धि करता है प्रथम आरोग्य तथा द्वितीय जितेन्द्रियता ।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि द्विविध मानस दोषवाद के परिचय से मनुष्य सद्वृत्तों के पालन की महत्ता तथा उनकी अनिवार्यता जानकर तदनुसार आचरण व व्यवहार करता है जिससे कि उसे भौतिक समृद्धि की साधन भूत जितेन्द्रियता प्राप्त होती है । सद्वृत्तों के पालन से केवल आरोग्य ही नहीं बलिक इन्द्रिय विजय की भी प्राप्ति होती है । अर्थात् सद्वृत्त पालन भौतिक समृद्धि एवं आध्यात्मिक समृद्धि इन उभयविध

लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक है। यदि मानस दोष रज एवं तम का ज्ञान न हो तो मनुष्य असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग एवं प्रज्ञापराध जन्य अनेक व्याधियों से ग्रस्त होकर दुःखी जीवन व्यतीत करता है एवं किसी भी पुरुषार्थ के सम्पादन में असमर्थ होता है। इस प्रकार आयुर्वेदीय आचार्यों तथा स्मृतिशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट सद्वृत्त केवल वर्णन सौन्दर्य का ही विषय नहीं है प्रत्युत सोचा समझा हुआ, व्यवहारोपयोगी हितकर प्रत्यक्ष सिद्ध वचनामृत है जिसके परिपालन से मनुष्य को ऐहिक (भौतिक समृद्धि) तथा आमुष्मिक उन्नति (अध्यात्मिक समृद्धि) दोनों ही लक्ष्यों की प्राप्ति संभव होती है। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन धातुसाम्य के माध्यम से आरोग्य प्राप्ति है और आरोग्य प्राप्ति के लिए शारीरिक धातुसाम्य के साथ-साथ मानसिक दोषों का साम्य भी अपेक्षित है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रज तम इन उभयविध मानसिक दोषों का पूर्ण विवरण का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि यदि मानसिक दोषों की अभिवृद्धि क्यों होती है तथा मानसिक दोषों के प्रतिकार के उपाय क्या हैं इन सब विषयों के विषय में जानकारी नहीं होती तो व्यक्ति मानसिक दोष व उनके विकृतियों से कैसे बच सकता है। एतदर्थ द्विविध मानस दोषवाद सिद्धान्त की समुचित जानकारी अत्यावश्यक है। इस सिद्धान्त के जानकारी के बिना मनुष्य प्रज्ञापराध से विहित कर्मों का पालन तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग नहीं कर सकता जिससे कि वह नानाविध शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से ग्रस्त होता हुआ दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। ऐसे मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ होकर आत्महंता (स्वयं अपने को मारने वाला) गति को प्राप्त करते हैं तथा अज्ञानवश व्यर्थ ही कभी काल को दोष देते हैं, कभी अपने पूर्वकर्मों को दोष देते हैं तथा कभी ईश्वर को ही अपने दुःखों का कारण मानते हैं। इसी तथ्य को लक्ष्य करके महाकवि संत तुलसीदास कहते हैं कि :—

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथह्नि गावा ॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइन जेहि परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुःख पावई सिरधुनि धुनि पछिताई।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्यादोष लगाई ॥

रामचरित मानस उत्तर काण्ड दोहा ४३.

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरण ईश्वर भक्ति के सन्दर्भ में कहा गया है किन्तु इसके फलितार्थ पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि मानव शरीर अत्यन्त दुर्लभ होता है और इसे प्राप्त कर जो सद्वृतों का आचरण नहीं करता वह अपने ही हाथों अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि को ठुकरा देता है तथा चिरकाल तक दुःखित होता हुआ सिर पीट पीट कर पछताता है तथा मिथ्या ही काल, कर्म एवं ईश्वर को अपने दुःखों के लिए दोष लगाता है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि सद्वृत्त में ईश्वरभक्ति भी अन्त-

भूत होता है, अतः यह नहीं समझना चाहिए कि ईशभक्ति प्रसंग में आए हुये वचनों का आयुर्वेद विषयक तथ्यों में उल्लेख अप्रासंगिक है। आयुर्वेद सर्वपारिषद्शास्त्र है अतः जो भी मनुष्य के आरोग्य एवं सुखी जीवन के निमित्त हितकर है उसे आयुर्वेद में ग्रहण किया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से द्विविध मानस दोषवाद की उपादेयता का सम्यक् ज्ञान होता है। इस प्रकरण का उपसंहार हम भगवान श्रीकृष्ण के निम्नोक्त वचन से करना चाहेंगे जिसमें कि प्रकारान्तर से मानसिक दोषों के परित्याग से मनुष्य को श्रेय गति की प्राप्ति होती है इस तथ्य का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जो कि मानस दोषवाद सिद्धान्त की उपादेयता का द्योतक है। यथा—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
श्रीमद्भगवद् गीता १६/२.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि अज्ञान का द्वार अर्थात् अज्ञान का कारण तीन मानसिक दोष काम, क्रोध एवं लोभ हैं जो कि रज एवं तम से ही उत्पन्न होते हैं। यदि इन तीनों मानसिक दोषों का, प्रकारान्तर से रज एवं तम का परित्याग कर दिया जाय तो व्यक्ति आत्मकल्याणार्थ सदाचरण करता हुआ श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।

त्रिदोष सप्तविध गुणवाद

उपर्युक्त शीर्षक सम्बन्धी सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि त्रिदोष (वात पित्त एवं कफ) के प्रत्येक दोष के समान संख्या वाले गुणों का उल्लेख आयुर्वेद के प्रायः सभी पुरातन आचार्यों ने समान रूप से किया है जिसका कि शरीर के दोष धातु साम्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विशेषकर आचार्य चरक ने वात पित्त व कफ प्रत्येक दोष के सात सात गुणों का उल्लेख किया है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से हम आचार्य चरक द्वारा वर्णित त्रिदोष के गुणों का इस प्रसंग में उल्लेख करना चाहेंगे तथा तदनुसार शीर्षक गत तथ्यों की महत्ता का विवेचन प्रस्तुत करेंगे। आचार्य चरकोक्त वात पित्त एवं कफ के निम्नांकित गुण द्रष्टव्य हैं। यथा :—

रूक्षः शीतोलघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीत गुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति॥
संस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लंसरं कटु।
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥
गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुर स्थिरविच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः॥
च० सू० १/५९-६१

वात दोष के गुण :— रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर ये सात गुण वात के हैं। इन गुणों से विपरीत गुण वाले द्रव्यों से प्रकुपित वात शान्त हो जाता है।

पित्त दोष के गुण :— ईषत्स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल सर एवं कटु ये पित्त के गुण हैं। इन गुणों से विपरीत गुण वाले द्रव्यों से पित्त शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है।

कफ दोष के गुण :—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर एवं पिच्छिल ये कफ के गुण हैं। इन गुणों के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से कफ शान्त हो जाता है।

वात दोष के उपर्युक्त गुणों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि चूँकि वात दोष का सम्बन्ध पंचभूतों से होता है, अतः पंचभूतों के ही गुण न्यूनाधिक परिमाण में वात दोष में भी आ जाते हैं। उदाहणार्थ रूक्ष और चल गुण वायुभूत के हैं, शीत गुण जलभूत का, सूक्ष्म एवं लघु गुण अग्नि का, विशद गुण आकाश का तथा खर गुण पृथ्वी का है।

इसी प्रकार पित्त के भी पांचभौतिक होने से पित्त के भी सात गुण पंचभूतों के ही कारण होते हैं। यथा :—पित्त का स्नेह, द्रव एवं सर गुण जलभूत के, उष्ण, तीक्ष्ण गुण अग्नि के, कटु गुण वायु भूत के एवं अम्ल गुण पृथ्वी तथा जल भूत की बहुलता के कारण होते हैं।

कफ के भी गुरू, स्थिर गुण पृथ्वी भूत के तथा शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर एवं पिच्छिल गुण जलभूत के कारण होते हैं। इस प्रकार पाँच भौतिक शरीर में पंचभूतों के समान गुण वाले वातादि त्रिदोष से ही पाँच भौतिक सप्त धातुओं की भिन्न-भिन्न क्रियायें होती हैं। यद्यपि सप्त धातुओं के कार्यों का त्रिदोष से साक्षात सम्बन्ध आयुर्वेद संहिताओं में नहीं निर्देशित किया गया है तथापि ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिससे कि दोषों का धातुओं के कार्यों तथा रचनाओं से सम्बन्ध स्पष्ट रूप से विवेचित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ चरक संहिता में आहार द्रव्यों का पाक के पश्चात् रसादि सप्तधातुओं में परिणमन प्रसंग में आचार्य अग्निवेश के इस प्रश्न का कि रस से असमान रूप गुण वाला रक्त कैसे उत्पन्न होता है। द्रव रक्त से स्थिर मांस की उत्पत्ति कैसे होती है। इसी प्रकार मांस से मेद कैसे होता है। श्लक्ष्ण स्वरूप वाले मांस मेद से अस्थि में खरता कैसे उत्पन्न होती है। खर अस्थि में स्निग्ध एवं मृदु मज्जा कैसे उत्पन्न होती है। इसी प्रकार मज्जा से सर्व देहगत शुक्र की उत्पत्ति कैसे होती है। इन सभी उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान पुनर्वसु आत्रेय ने जैसा उपदेश किया है उसका उल्लेख करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि :— रस में निहित तेज (रसाग्नि) जो कि मनुष्यों में उपस्थित होती

है वहीं रसाग्नि पित्त की ऊष्मा से मिलकर रस को रक्त धातु में परिणत कर देतो है। वायु एवं जल का तेज (वायु तथा जल की अग्नि) रक्ताग्नि से मिलकर द्रवरूप रक्त को स्थिरता प्रदान करता है तथा उसका मांसाग्नि से पाक होने के अनन्तर वही मांस रूप हो जाता है। परिणम्यमान अस्थायी धातु रूप रस अपने अग्नि तथा जलीयांश की स्निग्धता से मेद धातु में परिणत हो जाता है। पृथ्वी, वायु एवं अग्नि भूत के संघात से तथा इनकी अग्नियों से अस्थियों में खरत्व गुण उत्पन्न हो जाता है। अस्थियों (बड़ी बड़ी एवं लम्बी अस्थियों) में वायु भूत के द्वारा सुषिरता (खोखलापन) उत्पन्न होता है और उन खोखले अवकाशों में मेदस का स्नेहभाग मज्जा भर जाता है। पुनः मज्जा के स्नेह से शुक्र उत्पन्न होता है। वायु व आकाश से अस्थियों में सुषिरता (छिद्रमयता) उत्पन्न होती हैं और उन्हीं छिद्रों से जिस प्रकार नये घड़े से पानी छन-छन करके बाहर आता है उसी प्रकार अस्थियों के सूक्ष्म छिद्रों से चू चू कर शुक्र देह के सभी शुक्र वाहिनी नलिकाओं में एकत्रित होता है जो कि कामोत्तेजना की स्थिति में मानसिक काम वासना के संकल्प से वेग के साथ बाहर क्षरित होता है। इस प्रसंग में आचार्य अग्निवेश द्वारा उत्थापित प्रश्नों एवं भगवान पुनर्वसु आत्रेय द्वारा उपदिष्ट समाधान निम्न उद्धरण में द्रष्टव्य हैं। यथा :—

रसाद्रक्तं विसदृशात् कथंदेहेऽभिजायते।
रसस्य च न रागोऽस्तिसकथं यातिरक्तताम्॥
द्रवाद्रक्तात्स्थिरं मांसं कथं तज्जायतेनृणाम्।
द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः संभवः कथम्॥
श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु।
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा॥
मज्ज्ञश्च परिणामेन यदिशुक्रं प्रवर्तते।
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
तथाऽस्थि मध्यमज्ज्ञश्च शुक्रंभवति देहिनाम्।
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थनां च तन्निःसरति वा कथम्॥
एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम्।
तेजोरसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते॥
पित्तोष्मणः सरागेण रसोरक्तत्वमृच्छति।
वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणाचाभिसंयुतम्॥
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्वोष्मणापक्वमेवतत्।
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते॥
पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणाकृतः।
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्॥

करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः ।
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः ॥
तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः ।
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु ॥
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम् ।
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः ॥
हर्षेणोदीरितं वेगात् संकल्पाच्चमनोभवात् ॥

च० चि० १५/२२-३४

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है सप्त धातुओं के निर्माण तथा उनके अनेक विध कार्यों में त्रिदोष का महत्वपूर्ण योगदान है। जैसे कि रस धातु पित्त दोष की ऊष्मा से रक्त धातु में परिणत हो जाता है। वात के शोषण कार्य, जल भूत के प्रतिनिधि कफ से स्थैर्य तथा पित्त की ऊष्मा इन सभी से रक्त मांस में परिणत होता है। इस प्रकार मांस धातु के निर्माण तथा उसकी क्रिया में तीनों दोषों की भूमिका होती है। कफ दोष के जलीयांश की स्निग्धता तथा पित्त की ऊष्मा से मांस धातु से स्रवित स्नेह मेद धातु का रूप लेता है। इसमें भी पित्त तथा कफ दोष की क्रिया की भूमिका होती है। पृथ्वी भूत का प्रतिनिधि रूप कफ दोष, अग्नि भूत का प्रतिनिधि पित्त तथा वायु का प्रतिनिधि वात दोष से ही अस्थियों में सुषिरता आती है। कफ दोष की स्निग्धता से मेद धातु से मज्जा बनकर बड़ी बड़ी अस्थियों के सुषिर भाग—(खोखले) में भर जाता है। पुनः मज्जा का स्नेहांश ही कफ दोष के प्रभाव से शुक्र धातु का रूप प्राप्त करता है तथा वात दोष के व्यापकता से कामोत्तेजना की स्थिति में बाहर स्रवित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सप्तधातुओं के निर्माण तथा क्रियायों में त्रिदोष की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यदि वातादि त्रिविध दोषों के गुणों पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होता है कि वातादि दोष अपने-अपने सात-सात गुणों के माध्यम से सातों धातुओं पर कार्य करते हैं। त्रिदोष के सप्तविध गुण दोषों की साम्यावस्था में धातुओं पर यथोचित कार्य करते हुए व्यक्ति के स्वास्थ्य को बनाए रखते हैं। किन्तु दोषों की विषमता होने पर इन सप्तविध गुणों में न्यूनाधिकता होने से सप्त धातुओं की दुष्टि हो जाती है। जिससे व्यक्ति में विविध रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। जिस प्रकार त्रिदोष के सप्तविध गुण धातुओं को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार इनका प्रभाव शरीर के मलों (स्वेद, मूत्र एवं पुरीषादि) पर भी होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यदि त्रिदोष में प्रत्येक दोष के सात-सात गुणों पर

विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वातादि दोषों के गुणों का प्रभाव सप्त धातुओं पर पड़ता है।

उदाहरणार्थ वात दोष के रूक्ष एवं खर गुण का प्रभाव अस्थि धातु पर पड़ता है जिससे कि अस्थि में रूक्षता एवं खरता होती है। वात के शीत गुण का प्रभाव रस तथा शुक्रधातु पर पड़ता है जिसके कारण रस एवं शुक्र धातु सौम्य गुण कर्म वाले होते हैं। विशद गुण मांस को प्रभावित करता है जिससे कि मांस धातु में विशदता होकर शरीर का अवष्टम्भन (एक निश्चित आकार में अवस्थिति) होता है। चल गुण रक्त धातु को प्रभावित करता है जिससे कि रक्त शरीर में सदा प्रवहमान होता हुआ गतिशील रहता है। सूक्ष्म गुण शुक्र को प्रभावित करता है जिससे कि सर्वशरीरगत शुक्रधातु कामोत्तेजना की चरम स्थिति में सूक्ष्म रूप से व्याप्त सम्पूर्ण शरीर से उद्रिक्त होकर शुक्रवह नलिकाओं से होकर बाहर स्रवित होता है। लघु गुण मेद धातु को प्रभावित करता है जिससे कि मेद शरीर के विविध अंगों में सचित होकर शरीर को मृदु एवं स्निग्ध बनाए रखता है। इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि वात दोष अपने सात गुणों से शरीरगत सातों धातुओं को प्रभावित करता है।

इसी प्रकार पित्त दोष के भी सात गुणों का उल्लेख आचार्य चरक ने किया है जो कि निम्नोक्त हैं।

सस्नेहमुष्णंतीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटुः।
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥

च० सू० १/६०

ईषद्स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर एवं कटु ये पित्त के सात गुण हैं। इन गुणों के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से पित्त शीघ्र ही शान्त हो जाता है। यदि पित्त के उपर्युक्त गुणों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इन गुणों से पित्त दोष भी शरीरगत सप्त धातुओं को प्रभावित करता है। यथा :—

पित्त का स्नेह गुण मज्जा तथा मांस धातु को प्रभावित करता है जिससे कि इनमें स्निग्धता बनी रहती है। पित्त का तीक्ष्ण एवं उष्ण गुण रक्त धातु को प्रभावित करता है। इसी कारण रक्त में तीक्ष्णता एवं उष्णता होती है जिससे कि शरीर में उष्णता बनी रहती है तथा इसकी तीक्ष्णता से शरीरगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में भी रक्त की गति प्रवहमान होती रहती है। पित्त का सर एवं द्रव गुण रस एवं शुक्रधातुको प्रभावित करता है। जिससे कि रस धातु समग्र शरीर का पोषण करता है तथा शुक्रधातु कामोत्तेजना की स्थिति में सम्पूर्ण शरीर से उद्रिक्त होकर शुक्रवाहिनियों से स्रवित होता है। पित्त का अम्ल गुण मेद धातु को प्रभावित करता है जिससे कि शरीर में मेदाग्नि की

उत्पत्ति होती है जो कि आहारगत स्नेह का पाचन करके उसे मेद के रूप में शरीर में परिवर्तित कर देता है। पित्त का कटु गुण अस्थिधातु को प्रभावित करता है जिससे कि शरीरगत अस्थियों में कठोरता आती है।

इसी प्रकार कफ के भी गुण सप्त धातुओं को प्रभावित करते हैं। कफ के सात गुण निम्नोक्त हैं :—

गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमंयान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः॥ च० सू० १/६१.

गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर एवं पिच्छिल (चिपचिपापन) ये कफ के सात गुण हैं। इन गुणों से विपरीत गुण वाले द्रव्यों से कफ का प्रशमन (शांति) होता है। कफ के उपर्युक्त गुणों पर विचार करने से यह तथ्य ज्ञात होता है कि इसका गुरु (भारीपन) तथा मधुर गुण मांस धातु को प्रभावित करता है जिससे कि शरीरगत मांस में गुरुत्व (भारीपन) तथा बल की अवस्थिति होती है क्योंकि मधुर गुण बलकारक होता है। कफ का शीत गुण शरीरगत रस एवं शुक्र धातु को प्रभावित करता है जिससे कि रस तथा शुक्र धातुसौम्य होते हैं जो कि शरीर के पोषण एवं धारण के लिए आवश्यक हैं। कफ का स्निग्ध गुण शरीरगत मज्जा, मांस एवं रक्त धातु को प्रभावित करता है जिससे कि इन उपर्युक्त धातुओं में स्नेह की पुष्टि होकर शरीर में स्निग्धता बनी रहती है। कफ का स्थिर गुण अस्थि को प्रभावित करता है जिससे कि अस्थियों में स्थिरता तथा दृढ़ता बनी रहती है। पिच्छिल गुण शुक्रधातु में पिच्छिलता रखता है जिससे कि शुक्रकीट (बीज) आपस में संश्लिष्ट रहते हैं। कफ का मृदु गुण मेद धातु को प्रभावित करता है जिससे कि शरीर में मृदुता (कोमलता) बनी रहती है।

इस प्रकार हमें स्पष्ट होता है कि वातादि त्रिदोष अपने-अपने सात-तात गुणों के माध्यम से शरीर के सप्त धातुओं रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र को प्रभावित करते हुए प्राकृतावस्था में शरीर के आरोग्य को बनाए रखते हैं। विकृतावस्था में त्रिदोष अपने-अपने गुणों के माध्यम से ही सप्त धातुओं को दूषित कर विविध रोगों की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

उपर्युक्त त्रिदोष के सात-सात गुण शरीर के सातों धातुओं को प्रभावित करने के अतिरिक्त परस्पर अपने गुणों के माध्यम से ही दोष विशेष की प्रकोपावस्था में शामक प्रभाव भी रखते हैं जिससे कि शरीर में दोषों का अधिक वैषम्य नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ वात दोष प्रकोपक गुणों को कफ दोष के स्निग्ध, गुरु, स्थिर, पिच्छिल गुण एवं पित्त दोष का उष्ण गुण प्रशमित करते हैं। इसी प्रकार पित्त के प्रकोपक स्नेह, तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल, सर, द्रव एवं कटु गुणों को वात के रूक्ष, तिक्त, तथा कफ के मन्द, स्थिर

एवं मधुर गुण शान्त करते हैं। कफ के भी प्रकोपक गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर एवं पिच्छिल गुण वात के रूक्ष, विशद, लघु गुण तथा पित्त के उष्ण, कटु एवं सर गुण से शान्त होते हैं।

इस प्रकार तीनों दोषों के गुण परस्पर एक दूसरे के प्रकोपक गुणों का प्रशमन करते हैं जिससे कि शरीर में धातु साम्य (दोषसाम्य) की अवस्था बनी रहती है एवं व्यक्ति स्वस्थ रहता है। किन्तु ऐसी स्थिति त्रिदोष के प्राकृतावस्था में ही रहती है। यदि किसी कारण विशेष से अर्थात् असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, प्रज्ञापराध या परिणाम से दोषों का वैषम्य हो जाता है तो दोषों की परस्पर में संतुलित रहने की स्थिति बिगड़ जाती है और व्यक्ति विविध रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

त्रिदोष के सप्तविध गुणों का शरीरगत सप्त धातुओं पर प्रभाव तथा त्रिदोष के सप्तविध गुण परस्पर एक दूसरे दोष के गुणों को कैसे प्रशमित करते हैं, इसके स्पष्ट दिग्दर्शनार्थ हम उक्त तथ्यों को निम्नांकित सारिणी के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे कि विषय का एक झलक मात्र से बोध हो सके।

त्रिदोष के सप्त विध गुणों का सप्त धातुओं पर प्रभाव दिग्दर्शक सारिणी

दोष	गुण	प्रभावित धातु
वात	रूक्ष, खर	अस्थि
	शीत	रस एवं शुक्र
	विशद	मांस
	चल	रक्त
	सूक्ष्म	शुक्र
	लघु	मेद
पित्त	स्नेह	मज्जा एवं मांस
	अम्ल	मेद
	तीक्ष्ण, उष्ण	रक्त
	सर, द्रव	रस एवं शुक्र
	कटु	अस्थि
कफ	गुरू, मधुर,	मांस
	शीत	रस एवं शुक्र
	स्निग्ध	मज्जा, मांस एवं रक्त
	स्थिर	अस्थि
	पिच्छिल	शुक्र
	मृदु	मेद

त्रिदोष के सप्तविध गुणों की परस्परोपशामकता दिग्दर्शक सारिणी—

दोष	गुण	उपशामक गुण
वात	रूक्ष, शीत, लघु सूक्ष्म, चल विशद एवं खर	स्निग्ध, उष्ण गुरू स्थूल, स्थिर, पिच्छिल एवं श्लक्ष्ण
पित्त	स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव अम्ल, सर एवं कटु	रूक्ष, शीत, मन्द, सान्द्र, तिक्त, स्थिर एवं मधुर
कफ	गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर एवं पिच्छिल	लघु, उष्ण, कठिन, रूक्ष, कटु, सर एवं विशद

त्रिदोष के सप्तविध गुणों के उपर्युक्त विवरण के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों ने कितनी कुशलता तथा युक्तिसंगत रीति से प्रकृति गत सोम, सूर्य एवं अनिल तत्वों की लोक में सतत निरीक्षण एवं चिन्तन से वात, पित्त कफ इन त्रिदोष रूप तत्वों का शरीर के परिप्रेक्ष्य में क्रियाशील तत्वों के रूप में निर्धारग किया था। त्रिदोष के गुणों का निर्धारण भी कितनी कुशलता से प्रतिपादित किया है कि सामान्यतया सर्वदा ही सरीर में इनका समुचित सन्तुलन बना रहे। यदि सामान्य स्थिति में विविध ऋतुओं, अहोरात्र (दिन) के विविध प्रहरों एवं आहार की विविध स्थितियों (भोजनकाल, भोजन पचना काल एवं भोजन के पचनान्तकाल) में दोषों का प्रकोप भी होता है तो त्रिदोष के सप्तविध गुण परस्पर इतने संतुलित हैं कि यदि वात का प्रकोप होता है तो पित्त एवं कफ के गुण उसकी प्रकोपकता का शमन करते हैं। यदि पित्त का प्रकोप होता है तो वात एवं कफ के गुण उसका शमन करते हैं। यदि कफ का प्रकोप होता है तो वात एवं पित्त के गुण कफ का शमन करते हैं। इस प्रकार शरीर में दोषों का सन्तुलन बना रहता है। बशर्ते कि व्यक्ति स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करता है। दोषों की विषमावस्था में जब व्यक्ति रोग ग्रस्त हो जाता है तब भी त्रिदोष के सप्तविध गुणों के आधार पर दोष विशेष की प्रकोपावस्था में तद्दोष विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से दोष का शमन हो जाता है परिणामस्वरूप व्याधि की भी शान्ति हो जाती है।

त्रिदोष सप्तविध गुणवाद की उपादेयता :—

हम इस सिद्धान्त का विवेचन पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। इस प्रकरण में हम इस सिद्धान्त की उपादेयता पर विचार करेंगे जिससे कि आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों द्वारा निर्धारित त्रिदोष में प्रत्येक दोष के सात-सात गुणों के उल्लेख का क्या रहस्य तथा उपयोगिता है इस विषय का पाठकों को स्पष्ट अवबोध हो सके।

जैसा कि शीर्षक की संज्ञा से ही स्पष्ट ज्ञात होता है कि वात, पित्त व कफ इन तीनों दोषों में प्रत्येक के सात-सात गुण होते हैं जिनके माध्यम से त्रिदोष शरीर का धारण पालन करते हैं। प्रत्येक दोष के सात गुण सप्त धातुओं से सम्बन्धित हैं जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है। प्रत्येक दोष के सात गुणों के परिचय से व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि विविध गुण वाले द्रव्यों में कौन-कौन रस एवं गुण वाले द्रव्य हैं जिनका सेवन करते हुए शरीर में त्रिदोष की साम्यावस्था बनाए रखी जा सकती है। साथ में व्यक्ति विशेष की प्रकृति के अनुसार कौन-कौन गुण वाले पदार्थों का सेवन हितकर है। दोषों के विविध गुणों का परिचय स्वस्थावस्था में स्वास्थ्य रक्षा के लिए आवश्यक है। क्योंकि त्रिदोष के गुणों की अज्ञानता से विविध गुण वाले द्रव्यों का किस परिमाण में लेना हितकर है यह जानकारी नहीं हो पाती परिणामस्वरूप दोषसाम्य की स्थिति बिगड़ जाती है। वातादि प्रत्येक दोष का शरीरगत सप्तधातुओं पर प्रभाव इनके सात गुणों के माध्यम से ही होता है। अतः सप्त धातुओं में भी सन्तुलन रखने के लिए त्रिदोष के सप्तविध गुणों का परिचय अत्यन्त लाभकारी है। व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा त्रिदोष के सप्तविध गुणों के अनुसार आहार विहार के यथोचित परिमाण के व्यवहार से होती है। शरीर के तीन मूल धारक दोष, धातु एवं मल हैं जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा—

दोष धातु मल मूलं हि शरीरम्। सु० सू० १५/३.

चूंकि धातु एवं मल दोषों की विषमता से ही दूषित होते हैं अतः शरीर को व्याधि ग्रस्त बनाने में त्रिदोष की ही मुख्य भूमिका होती है। अतः व्याधि के शमनार्थ भी त्रिदोष की विषमता को मिटाकर दोष साम्य की अवस्था में लाना ही चिकित्सक का मुख्य कर्तव्य होता है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा :—

साभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥ च० सू० १६/३४.

शरीर के धातुओं एवं मलों को साम्यावस्था में लाने के लिए त्रिदोष का ही आश्रय लेना पड़ता है और त्रिदोष पर प्रभाव डालने के लिए त्रिदोष के सप्तविध गुणों के अनुसार ही दोष विशेष के शामक या दोष विशेष के वर्धक गुणों को ही दोष विपरीत गुण

वाले द्रव्यों या दोषानुरूप गुण वाले द्रव्यों के सेवन की व्यवस्था करनी पड़ती है। उपर्युक्त परिस्थितियों में त्रिदोष के सप्तविध गुणवाद की उपादेयता भलीभांति ज्ञात होती है। त्रिदोष के सप्त विध गुण इस प्रकार से सन्तुलित हैं कि किसी दोष विशेष के प्रकुपित होने पर शेष दो दोष के गुण उसके विपरीत होते हैं। अतः दोष विशेष प्रकुपित भी हो जाय तो शेष दोषों के विपरीत गुण उस दोष की उग्रता का शमन करते हैं, जिससे कि शरीर में किसी दोष विशेष की अत्यधिक उग्रता नहीं होने पाती। प्रकृति प्रदत्त त्रिदोष के सप्तविध नैसर्गिक गुणों का, शरीर में सतत निरीक्षण चिन्तन मनन से आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों द्वारा निर्धारण, लोकहित के निमित्त स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगोपशमन के लिए अमृतोपम है। प्रकृति ने लोकस्वास्थ्य रक्षा हित शरीर में निसर्गतः ही यथासंभव त्रिदोष सप्तविध गुण जैसे सार्थक उपाय का विधान कर दिया है जिससे कि मानव समाज यदि अपने स्वास्थ्य के प्रति अन्याय व अनाचार नहीं करता तो अनायास ही उनके स्वास्थ्य की रक्षा होती रहती है। प्रकृति के सभी कार्य सोद्‌देश्य होते हैं। त्रिदोष के सप्तविध गुण भी उसी शृङ्खला की एक कड़ी है जो कि शरीर में त्रिदोष के सन्तुलन को यथासंभव बनाए रखते हैं जिससे कि व्यक्ति स्वस्थ रहता है। प्रकृति के इस सूक्ष्म रहस्य को आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों ने भलीभांति समझा और अनुभूत किया था। और अपने उसी अमृतोपम ज्ञान और अनुभव का उन्होंने लोक हितार्थ उपदेश किया। आधुनिक विज्ञान प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य का तलभेदन कर प्रकृति पर विजय पाना चाहता है जो कि मात्र आकाश कुसुमवत् असंभव प्रयास है। मानव अपने सीमित सामर्थ्य एवं सीमित जीवन से असीम एवं अनन्त प्रकृति पर कैसे विजय पा सकता है। पुराकाल के भारतीय मनीषियों ने प्रकृति पर विजय पाने के बजाय उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों को प्रकृति के अनुरूप होकर इसकी अतिमहती प्रयोगशाला रूप लोकगत अनुमेय एवं दृश्यमान क्रियाशील समस्त तत्वों का सतत अवधान परक निरीक्षण तथा तदनुरूप चिन्तन मनन द्वारा तथ्यों को जानने का प्रयास किया था। यही कारण है कि आर्ष आचार्यों द्वारा उपदिष्ट आयुर्वेद के सिद्धान्त प्रकृति के नैसर्गिक नियमों के अनुरूप हैं। प्रकृति के नैसर्गिक नियमों के अनुरूप होने से आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त पद्धति एवं रोगोपचार पद्धति भी मानव जाति के लिए अत्यन्त सात्म्य एवं कल्याणकारी है। ऐसे ही अनेक सिद्धान्तों में त्रिदोष सप्तविध गुणवाद सिद्धान्त भी है।

आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आतुर का रोगोपशमन इन दोनों ही लक्ष्यों की प्राप्ति "त्रिदोष सप्तविध गुणवाद" से हो सकती है। स्वास्थ्य रक्षा एवं रोगोपचार इन दोनों ही आयुर्वेद के प्रमुख विषयों का मुख्य आधार त्रिदोष ही हैं। और जहां भी त्रिदोष का विषय क्षेत्र आता है वहां उनके गुणों का विचार अनिवार्य है। अतः इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो "त्रिदोष सप्तविध गुणवाद" आयुर्वेद का प्राणभूत सिद्धान्त प्रतीत होता है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आयुर्वेद के सभी ग्रंथों में त्रिदोष के गुणों का उल्लेख मिलता है तथा तदनुसार दोषों के उपशमनार्थ विपरीत गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग प्रतिपादित किया गया है। किन्तु आयुर्वेद वाङ्मय में अत्यधिक विषय होने के कारण त्रिदोष के सप्तविध गुणवाद जैसे सिद्धान्त का अलग से स्वतन्त्र प्रकरण के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है तथापि प्रकीर्ण रूप से इस विषय का उल्लेख बहुशः प्राप्त होता है। त्रिदोष के सप्तविध गुणवाद की आयुर्वेद में अत्यन्त उपादेयता होने के कारण हमने इसे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में विवेचित किया है। हो सकता है कि कुछ आयुर्वेदज्ञों को यह प्रसंग अटपटा लगे किन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आयुर्वेद के सभी प्राचीन आर्ष आचार्यों ने त्रिदोष के गुणों व कार्यों का उल्लेख किया है तो उनका यह विवरण अवश्य ही सोद्देश्य रहा होगा। इसी पृष्ठभूमि में हमने आचार्य चरक द्वारा उल्लिखित त्रिदोष के समानसंख्यक सप्तविध गुणों का सम्बन्ध सप्तधातुओं से घटित करने का प्रयत्न किया है जो कि आयुर्वेद में एक महती उपादेयता का विषय है।

षड्सवाद

चरक संहिता सूत्र स्थान के २६वें अध्याय में रसों की संख्या निर्धारण विषयक संगोष्ठी का उल्लेख मिलता है जिसमें कि विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने अभिमत प्रकट किए हैं तथा निष्कर्ष रूप में भगवान आत्रेय पुनर्वसु ने रसों की मधुरादि ६ संख्या का निर्धारण किया है। इसके अतिरिक्त भगवान पुनर्वसु आत्रेय ने सभी आचार्यों द्वारा उपस्थापित अभिमत का तर्क संगत समीचीन समाधान भी निर्दिष्ट किया है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से हम रसों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों द्वारा उपस्थापित अभिमत का उल्लेख करेंगे तथा महर्षि आत्रेय द्वारा प्रतिपादित समाधान का भी विवेचन करेंगे।

आचार्य भद्रकाप्य के अनुसार एक ही रस होता है जो कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय में एक जिह्वा का विषय होता है। वह एक ही रस जल से अभिन्न है। आचार्य शाकुन्तेय ब्राह्मण ने छेदनीय (अपतर्पणकारक) तथा उपशमनीय (बृहंण) इन दो रसों का प्रतिपादन किया। आचार्य पूर्णाक्ष मौद्गल्य ने छेदनीय, उपशकनीय तथा साधारण इन तीन रसों से अपना अभिमत प्रकट किया। आचार्य हिरण्याक्ष कौशिक के मतानुसार स्वादुहित, स्वादुअहित, अस्वादुहित और अस्वादुअहित ये ४ रस हैं। आचार्य कुमारशिरा भरद्वाज ने भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य और आन्तरिक्ष इन पाँच रसों का मत उपस्थापित किया। राजर्षि वार्योविद ने गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष इन ६ रसों से अपनी सहमति प्रकट किया। आचार्य निमिवैदेह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय एवं क्षार ये सात रस हैं ऐसा अभिमत प्रकट

किया। आचार्य बडिशधामार्गव ने मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और अव्यक्त इन आठ रसों का प्रतिपादन किया। बाह्लीक भिषक् कांकायन ने आश्रय, गुण, कर्म एवं स्वाद के विभिन्नताओं के कारण रसों की संख्या अपरिसंख्येय (असंख्य) है ऐसा अभिमत प्रकट किया। महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने ६ ही रस मधुर, अम्ल, लवण कटु, तिक्त एवं कषाय हैं ऐसा निष्कर्ष सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत किया। पूर्वोक्त सभी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसों की संख्या निर्धारण का युक्ति संगत समाधान प्रस्तुत करते हुए महर्षि आत्रेय ने प्रतिपादित किया कि मधुरादि ६ रसों का जल ही कारण है अर्थात् जल से ही रस की निष्पत्ति (व्यक्तिभाव) होती है। छेदन तथा उपशमन ये कर्म हैं, इन दोनों के मिश्रण से साधारण कर्म होता है। स्वादु (स्वादिष्ट) तथा अस्वादु (अस्वादिष्ट) लोगों को अभिरुचि हैं अतः रस नहीं हो सकते। भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य एवं आकाशीय पे पंचभूत के विकार हैं जो कि रसों के आश्रय हैं न कि रस। उन आश्रभूत द्रव्यों में गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्षादि गुण आश्रित रहते हैं। क्षरण स्वभाव (अधोगमन) के कारण क्षार रस नहीं हैं। क्षार द्रव्य है जो अनेक रसों के मिश्रण से उत्पन्न, कटु लवण के अधिकता वाला अनेक रस वाला होता है तथा जिह्वा वैषयिक रस के विपरीत अनेक इन्द्रियों से ग्राह्य है। अव्यक्त भी रस नहीं क्योंकि मधुरादि रस जल में अव्यक्त ही होते हैं, द्रव्य में समन्वित रसों के अनुरस भी अव्यक्त ही रहते हैं। रसों के कारण जल में भी रस अव्यक्त भाव में ही रहते हैं अतः अव्यक्त की गणना रसों में नहीं हो सकती। रसों को अपरिसंख्येयेय (असंख्य) भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि रसों के आश्रय द्रव्यों की विभिन्नता अपरिसंख्येयेय है यह उचित नहीं हैं। एक-एक रस का भी उनके आश्रयभूत द्रव्यों की विभिन्नता से अपरिसंख्येयता हो सकती है। अर्थात् एक ही रस नानाविध आश्रयों के कारण विभिन्न हो सकता है किन्तु उन्हें अन्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, दुग्ध, फल एवं इक्षु में मधुर रस होता है और इनकी मधुरता में भिन्नता होती है किन्तु इन्हें मधुर रस वाला ही अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार आम, इमली, नींबू आदि में अम्ल रस रहता है और इनकी अम्लता में भी अन्तर होता है किन्तु ये सभी अम्ल रस वाले ही कहे जाते हैं। द्रव्यों में भूतों के विभिन्न परिमाणों में परस्पर मेल से अत्यधिक प्रकार के रस हो सकते हैं किन्तु इनकी अभिव्यक्ति से रसों के गुण व कर्मों में अपरिसंख्येयत्व नहीं होता। रसों के परस्पर संसर्ग से भी रसों को अपरिसंख्येयता उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार तीन दोषों के नानाविध न्यूनाधिक परिमाणों में परस्पर संयोग होने पर भी दोषों की संख्या तीन ही होती है। इसी कारण मनीषी आचार्यों ने भी परस्पर संसृष्ट रसों के गुण कर्मों का निर्देश नहीं किया है। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसों की भिन्न-भिन्न संख्या निर्धारण का समाधान करते हुए

महर्षि आत्रेय ने ६ ही रस हैं ऐसा निष्कर्ष प्रतिपादित किया। महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने उपर्युक्त प्रकार से रसों की संख्या सम्बन्धी प्रस्तुत अनेक आचार्यों के विविध मतों का समाधान करके मधुर, अम्ल लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय ये ६ प्रकार के ही रस हैं ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया। तदनन्तर महर्षि आत्रेय ने छओं रसों की उत्पत्ति पंचभूतों के उत्कर्षापकर्ष संयोग से होती है और उसमें जल तत्त्व प्रधान आधार बनता है ऐसा प्रतिपादित किया है जैसा कि निम्मोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है।

षड्विभक्तिः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम्।
षट् पंचभूत प्रभवाः संख्याताश्च यथा रसः॥ च० सू० २६ ३८.

महर्षि आत्रेय ने जल को रसों का आदिकारण कहा है अर्थात् जल के सान्निध्य से ही रसों की अभिव्यक्ति होती है तथा पंचभूतों के उत्कर्षापकर्ष (न्यूनाधिक्य) से उनमें मधुरादि षड्भावों की विशेष अभिव्यक्ति होती है। रसों की उत्पत्ति में वस्तुतः जल ही आदिकारण है अतः आचार्य ने रस निष्पत्ति में जल की भूमिका का उल्लेख करते हुए इसकी महत्ता निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा :—

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृति शीता लघ्वव्यक्त रसाश्च, तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पंचमहाभूतगुण समन्विता जङ्गम स्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः। च० सू० २६/३९.

अर्थात् जल सौम्य होता है। आकाश में उत्पन्न जल नैसर्गिक रूप से शीत, लघु एवं अव्यक्त रस वाला होता है। वही जल जब आकाश से गिरता है तो पृथ्वी पर आते हुए पृथिव्यादि विभिन्न परमाणुओं के संयोग से तथा पंचभूतों से समन्वित होकर सभी जंगम एवं स्थावर प्राणियों को तृप्त करता है। एवं सभी स्थावर जंगम द्रव्यों में मधुरादि ६ रसों को व्यक्त करता है। इस प्रकार रसों की अभिव्यक्ति पंचभूतों के सम्पर्क से होती है। यों तो सभी रसों की उत्पत्ति में जल ही प्रधान कारण है तथापि शेष चतुर्भूतों आकाश वायु, तेज एवं पृथ्वी के सम्पर्क से ही मधुरादि ६ रसों की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति होती है। रस द्रव्याश्रित ही होते हैं और द्रव्य पाँचभौतिक, तथापि रस आप्य ही (जलोद्भूत) कहा जाता है। उक्त तथ्य को आचार्य सुश्रुत ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रतिपादित किया है। यथा—

तस्मादाप्यो रसः, परस्पर संसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषांसान्निध्यमस्त्युत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। स खल्वाप्यो रसः शेषभूत संसर्गाद्विधः षोढा विभज्यते। सु० सू० ४२ ३

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य सुश्रुतने स्पष्ट किया गया है कि—रस प्रधानतः जल संभूत ही है। भूतों के परस्पर एक दूसरे के उपकार करने से अर्थात् सहयोगी होने से,

एक दूसरे में परस्पर मिलने से तथा परस्पर एक दूसरे से सूक्ष्मतम रूप से (आणविक स्तर पर) मिलने से सभी रसों में सभी भूतों की उपस्थिति होती है, किसी भूत विशेष के उत्कर्ष तथा किसी भूत विशेष के अपकर्ष से द्रव्य विशेष मधुर, अम्ल, लवण रस आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। इसी कारण रस आप्य (जल प्रधान) कहा जाता है। यह आप्य रस शेष भूतों आकाश, वायु, तेज तथा पृथिवी भूतों एवं काल के संसर्ग से परिपाक होकर मधुरादि ६ रसों में अभिव्यक्त होकर एक आप्य रस ही ६ रसों में विभाजित किया जाता है।

इन ६ रसों में किन किन भूतों का उत्कर्ष होता है इसका विवरण आचार्य चरक महर्षि आत्रेय के निम्नोक्त उद्धरण के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। यथा :—

"तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्नि भूयिष्ठात्वात्कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति"। च० सू० २६/४०.

मधुरादि ६ओं रसों में सोम गुण (पोषणात्मक) के आधिक्य से मधुर रस, पृथिवी तथा अग्निभूत से अम्ल रस, जल और अग्निभूत की अधिकता से लवण रस, वायु तथा पृथिवीभूत की अधिकता से कषाय रस की अभिव्यक्ति होती है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि सभी रसों में सभी भूतों की उपस्थिति होती है जैसा कि आचार्य सुश्रुत के पूर्वोक्त उद्धरण में भी कहा गया है।

इस प्रकार पंचभूतों के न्यूनातिरेक विशेष से ६ रसों की उत्पत्ति युक्ति संगत लगती है। सौम गुण के अतिरेक (आधिक्य) तथा पंचभूतों के आधिक्य इन ६ कारणों से ६ रस रूप कार्यों की अभिव्यक्ति, इस प्रकार यह सिद्धान्त अत्यन्त समीचीन है। जिस प्रकार पंचभूतों के न्यूनातिरेक विशेष से संसार के समस्तचेतन अचेतन वस्तुओं के वर्णों एवं आकृतियों में नानाविध (अनेकविध) विभिन्नताएँ होती हैं उसी प्रकार रसों में भी पंचभूतों के न्यूनातिरेक विशेष से नानाविध विभिन्नताएँ होती हैं। पंचभूतों के अल्प व आधिक्य का कारण षड्ऋतुओं वाला काल होता है। उक्त तथ्य निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा :—

"एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेक विशेषान्महाभूतानां भूतानामिव स्थावर जंगमानां नानावर्णाकृति विशेषाः, षडृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेक विशेषः।"

च० सू० २६/४०.

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न ऋतुओं में सूर्य और चन्द्रमा के बलाबल के अनुसार जगत में पंचभूतों की न्यूनाधिक मात्रा होती रहती है जिसका प्रभाव

स्थावर जंगम प्राणियों पर होता है। परिणामस्वरूप रसों पर भी पंचभूतों के न्यूनाधिक मात्रा का प्रभाव पड़ता है। इसी तथ्य को एक अन्य प्रसंग में आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रतिपादित किया है। यथा :—

"तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं, वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसांस्तिक्त कषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तोनृणां दौर्बल्यमावहन्ति।" च० सू० ६६

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने शिशिर वसन्त ग्रीष्म ऋतुओं में सूर्य के प्रखर रश्मियों से किस प्रकार रस प्रभावित होते हैं इसका युक्ति संगत समाधान प्रस्तुत किया है। आदान काल अर्थात् शिशिर वसन्त ग्रीष्म ऋतुओं में क्रमशः प्रखर होती हुई सूर्य की किरणों से वायु तीव्र एवं रूक्ष हो जाती है तथा जगत के स्नेहांश को क्रमशः शोषित करते हुए रूक्षता उत्पन्न करती है तथा तिक्त कषाय एवं कटु रसों की वृद्धि करते हुए मनुष्यों में दुर्बलता उत्पन्न करती है। इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋतुओं के कारण ही पंचभूतों में न्यूनातिरेक हो जाता है जिसका प्रभाव रसों की अभिवृद्धि तथा ह्रास पर पड़ता है। इसी प्रकार वर्षा, शरद, एवं हेमन्त ऋतुओं में जब कि मेघ वर्षा तथा वात के प्रभाव से सूर्य का प्रभाव कम हो जाता हैं तथा चन्द्रमा का बल या प्रभाव अबाधित रहता है एवं वर्षा के जल से पृथ्वी का ताप शान्त हो जाता है तो जगत में अरूक्ष (रूक्षविपरीतस्नेह) रसों अम्ल, लवण, मधुर की अभिवृद्धि होती है तथा क्रमशः मनुष्यों में बल की पुष्टि होती है। उक्त तथ्यों से सम्बन्धित निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा :—

वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापेशशिनिचाव्याहतबले, माहेन्द्रसलिलप्रशान्त सन्तापे जगति, अरूक्षाः रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति।" च० सू० ६/७

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि रसों की अभिव्यक्ति व वृद्धि में षड्ऋतुक काल प्रमुख कारण होता है जिससे कि पंचभूतों का न्यूनातिरेक होता है जो द्रव्यों में मधुरादि षड्रसों को प्रभावित करता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि रस पांचभौतिक होते हैं तथापि भूतविशेष की अधिकता होने से उसमें भूत विशेष के ही विशेष गुण कर्म उद्भूत होते हैं तथा शेष भूतों के गुणकर्म अनुद्भूत होते हैं। इसी कारण अग्नि वायु की बहुलता (अधिकता) से होने वाले रस प्रायः ऊर्ध्वगामी स्वभाव के होते हैं क्योंकि वायु का स्वभाव लघु एवं ऊर्ध्वगति वाला होता है तथा अग्नि का भी ऊर्ध्वगामी तथा ज्वलनशील (ऊपर की ओर लहरों का उठना) स्वभाव होता है। जल पृथिवी बहुलता वाले रस प्रायः

अधोगामी स्वभाव के होते हैं क्योंकि पृथिवी में गुरुता होती है तथा जल का स्वभाव निम्नगामी होता है। मिश्रभूतों वाले रस ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी दोनों ही स्वभाव वाले होते हैं। उक्त तथ्य निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा :—

"तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः लाघवादुत्प्लवनत्वाच्चवायोरुर्ध्व-ज्वलनत्वाच्च वह्नेः। सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्न-गत्वाच्चोदकस्य, व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः। च० सू० २६ ४१

मधुरादिषड्रसों का गुण कर्म :—

षड्रसों के गुण कर्म का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नोक्त प्रकार से किया है :—

मधुर रस के गुण कर्म :—

मधुर रस शरीर के लिए हितकर होने के कारण रसादि सप्त धातुओं की वृद्धि करता है। यह आयु (जीवन) के लिए लाभदायक, मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों को तृप्ति करने वाला, बलवर्धक एवं शरीर वर्ण को कान्तिमान बनाता है। पित्त, विष एवं वातनाशक होता है तथा तृष्णा दाह को शान्त करता है। त्वचा, केश, कण्ठ, आदि के लिए हितकर, बलकारक, प्रीतिकर, शरीर को स्थिरता प्रदान करने वाला, शरीरगतक्षीण धातुओं एवं क्षतों को ठीक करने वाला, नासा, मुख, कण्ठ, ओष्ठ एवं जिह्वा के लिए आनन्ददायक, दाहमूर्च्छा को शान्त करने वाला, भ्रमर एवं पिपीलिका का सबसे प्रिय, स्निग्ध, शीत एवं गुरु गुण वाला होता है। इसके अत्यधिक सेवन से स्थूलता, शरीर में मृदुता, आलस्य, अति निद्रा, शरीरगौरव, अन्न से अरुचि, मंदाग्नि मुख और कण्ठ में मांसवृद्धि, श्वास. कास, प्रतिश्याय, अलसक, शीतज्वर, आनाह, मुख माधुर्य, वमन. संज्ञा तथा स्वर का नाश, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गलशोफ, वस्ति, धमनी तथा गले में उपलेप का होना, आँख के रोग तथा अभिष्यन्द आदि कफ विकार होते हैं।

च० सू० २६/४३/१.

अम्ल रस के गुण कर्म—

अम्ल रस भोजन को रुचिकर बनाता है, अग्नि (पाचनशक्ति) को दीप्त करता है, देह की वृद्धि करता है तथा शक्ति प्रदान करता है, मन को प्रबुद्ध करता है, इन्द्रियों को दृढ़ बनाता है, बल की वृद्धि करता है, वात का अनुलोमन (प्राकृतिकगति) करता है, हृदय को तृप्त करता है, मुख में स्राव उत्पन्न करता है, आहार को पाचन काल में आन्त्र में गतिशील बनाता है, भोजन को आर्द्र बनाता है तथा पचाता है। यह लघु, उष्ण एवं स्निग्ध गुण वाला होता है। इसके अत्यधिक सेवन से दाँत में सिह-रन उत्पन्न हो जाता है शरीर में तृषाधिक्य हो जाता है, आँखें मूँद जाती हैं, रोंगटे

खड़े हो जाते हैं, कफ के स्नेहांश को तरल करता है, पित्त को बढाता है, रक्त को दूषित करता है, मांस में विदाह (जलन) उत्पन्न करता है, शरीर शैथिल्य उत्पन्न करता है, क्षीण, क्षत, कृश, एवं दुर्बल, व्यक्तियों में शोथ उत्पन्न करता है, मार खाये, काटे हुए, जले हुए, टूटे हुए, शोथ वाले, खिसके हुए, चोट लगने, मूत्र विष के जन्तुओं से युक्त, किसी वस्तु के स्पर्श से उत्पन्न हुए, मर्दन से उत्पन्न, कटे हुए, दबकर टूटे हुए, दबाव से अलग हुए, नुकीले वस्तु से विंधे हुए तथा सांधातिक चोट से टूटे हुए अंगों को आग्नेय स्वभाव होने के कारण पका देता है अर्थात् पूय युक्त कर देता है। कण्ठ, छाती तथा हृदय प्रदेश में जलन उत्पन्न करता है। च० सू० २६/४३-२.

लवण रस के गुण कर्म—

लवण रस पाचन, क्लेदन (गीलापन उत्पन्न करने वाला), दीपन (अग्नि को दीप्त करने वाला, दोषों को बाहर निकालने वाला, छेदन (काटने वाला), भेदन (संचित मल को निकालने वाला), तीक्ष्ण, सर (मल को गतिशील करने वाला), विकासी (क्लिन्नकर मल को काटने वाला). अधःस्रंसी (मल को अधोभाग से सुखपूर्वक निकालने वाला), अवकाश कर (दोषों से आवृत्त मार्ग अवरोध हटाकर दोषों को प्राकृत मार्ग देने वाला), वातहर, स्तम्भ (जकड़ाहट) संघात (दोषों का व्यूहन) बन्ध (दोषों का बन्धन) आदि को दूर करने वाला, सर्व रस प्रत्यनीकभूत (सभी रसों का विरोधी), मुख से स्राव कराने वाला कफ को निकालने वाला, दोष एवं मलों के मार्ग का शोधन करता है, शरीर के सभी अवयवों को मृदु करता है, आहार को रुचिकर क़रने वाला, विविध आहार द्रव्यों में व्यवहृत होने वाला, अल्पगुरु, अल्प स्निग्ध तथा अल्प उष्ण होता है। इन गुणों वाले लवण रस का अत्यधिक सेवन पित्त को प्रकुपित करता है, रक्त को बढाता है, तृषा उत्पन्न करता है, मूर्च्छा उत्पन्न करता है, शरीर की ताप वृद्धि करता है, शरीर को पीड़ित करता है, शरीर गत मांस में पाक क्रिया उत्पन्न करता है, कुष्ठ के गाँठों को गलाता है, शरीरगत विषों की शक्ति बढ़ाता है, शोष उत्पन्न करता है, दाँतों को गिराता है, पुंस्त्व शक्ति नष्ट करता है, इन्द्रियों द्वारा गृहीत किए जाने वाले विषयों को अवरुद्ध करता है, शरीर में झुर्रियाँ उत्पन्न करता है, सिर के केश को पका देता है तथा गिरा देता है। इसके अतिरिक्त रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त आदि विकारों को उत्पन्न करता है। च० सू० २६/४३/३.

कटु रस के गुण कर्म—

कटु रस मुख का शोधन करता है, अग्नि को दीप्त करता है, भुक्त (खाए हुये) आहार को सुखाता है, नासिका से स्राव तथा आँखों से अश्रु स्राव कराता है, शरीरगत

अलसक, शोध, उपचय (मल का संचय) उदर्द, अभिष्यन्द, स्नेह, स्वेद एवं क्लेद के मलों को नष्ट करता है, भोजन को रुचिकर बनाता है, कफ को नष्ट करता है, व्रणों को पीड़ित करता है, कृमियों को मारता है, मांस को धीरे-धीरे काटता है, रक्त संघात (थक्कों) को तोड़ता है, बन्धनों को काटता है अर्थात् बँधे हुए मलों को काटता है, शरीर के स्रोतसों को खोलता है, कफ को शान्त करता है तथा यह लघु उष्ण एवं रूक्ष गुण वाला होता है। इन गुणों वाले कटु रस का अत्यधिक सेवन अपने विपाक प्रभाव से पुंस्त्व शक्ति को नष्ट कर देता है, अपने रस, वीर्य और प्रभाव से इन्द्रियों में मोह उत्पन्न करता है अर्थात् उनके कार्यों में प्रमाद उत्पन्न करता है, प्रसन्नता को नष्ट करता है, अवसाद उत्पन्न करता है, कृशता उत्पन्न करता है, मूर्च्छा उत्पन्न करता है, शारीरिक कार्यों में अप्रवृत्ति उत्पन्न करता है, आँखों के आगे अंधकार उत्पन्न करता है, सिर में चक्कर उत्पन्न करता है, कण्ठ में जलन पैदा करता है, शरीर में ताप उत्पन्न करता है, बल को क्षीण करता है तथा तृष्णा उत्पन्न करता है। वायु और अग्नि के गुणों की बहुलता से कटु रस भ्रम (चक्कर आना) शरीर में जलन, कम्पन, पीड़ा आदि भेदों से पाँव, बाँह, पार्श्व (बगल) पीठ आदि अंगों में वातज विकारों को उत्पन्न करता है। च० सू० २६/४३–४.

तिक्त रस के गुण कर्म—

तिक्त रस स्वयं अरुचिकर होता है तथापि अरुचि को नष्ट करता है, शरीरगत विषों को नष्ट करता है, क्रिमिघ्न, मूर्च्छा, दाह, कण्डू, कुष्ठ और तृष्णा को शान्त करता है, त्वचा एवं मांस को स्थिर करता है, ज्वर को नष्ट करता है, दीपन, पाचन, स्तन्य शोधन एवं दोषों का लेखन करता है। शरीरगत क्लेद (आर्द्रता), मेद, वसा, मज्जा, लसीका, पूय, स्वेद, मूत्र, पुरीष, पित्त तथा कफ का शोषण करता है तथा रूक्ष, शीत, एवं लघु गुण वाला होता है। इन गुणों वाले तिक्त रस का अधिक सेवन इसके रूक्षता, विशद तथा खर स्वभाव के कारण रसादि सप्त धातुओं को शोषित कर देता है, स्रोतसों में खरत्व (रूखापन) उत्पन्न करता है, बल को क्षीण करता है, कृशता उत्पन्न करता है, प्रसन्नता को नष्ट करता है, मोह उत्पन्न करता है, सिर में भ्रम (चक्कर) उत्पन्न करता है, मुख को सुखा देता है और दूसरे वात विकारों को उत्पन्न करता है। च० सू० २६/४३–५.

कषाय रस के गुण कर्म—

कषाय रस संशामक होता है, मलों के अतिसरण (अतिप्रवृत्ति) को रोकता है, शरीरगत दोषों को समुचित कर्म में प्रवृत्त करता है, व्रणों में पीड़ा उत्पन्न करता है, व्रणों का रोपण अर्थात् व्रण को भरता है, शरीरगत आर्द्रता को सुखाता है, शरीरगत अतिसरण प्रवृत्ति को रोकता है, श्लेष्मा तथा रक्तपित्त को प्रशमित करता है, शरीर-

गत आर्द्रता का समुचित उपयोग करता है तथा रूक्ष, शीत एवं अल्प लघु गुण वाला होता है। इन गुणों वाले कषाय रस का अधिक सेवन मुख को सुखाता है, हृदय को पीड़ित करता है, उदर का आध्मापन (फूलाना) करता है, वाणी को नियन्त्रित करता है, शरीरगत स्रोतसों का अवबंधन (अवरोध) करता है, शरीर में श्यावता (साँवला वर्ण) उत्पन्न करता है, पुंस्त्व शक्ति को नष्ट करता है, उदर में कोष्ठबद्धता उत्पन्न कर आहार को पचाता है। वात, मूत्र, पुरीष एवं शुक्रादि के प्रवृत्त वेग को रोकता है, शरीर में कृषता उत्पन्न करता है, प्रसन्नता का नाश करता है, तृषा उत्पन्न करता है, शरीरगत अतिसरण को रोकता है तथा खर, विशद एवं रूक्ष होने के कारण पक्षपध, अंतस्संकोच, अपतानक तथा अर्दित आदि वात विकारों को उत्पन्न करता है। च० सू० २६/४३.

इस प्रकार ये ६ रस अलग-अलग अथवा एक साथ मात्रा (शरीर के लिए उचित परिमाण) के अनुसार उचित प्रकार से उपयोग किए जाने पर शरीर के लिए हितकर होते हैं। यदि ये मात्रा के प्रतिकूल अथवा अनुचित रीति से व्यवहृत किये जाते हैं तो शरीर के लिए अहितकर होते हैं। अतः बुद्धिमान को चाहिए कि वह रसों का उपयोग मात्रा के अनुसार उचित रीति से करे।

द्रव्य, देश एवं काल प्रभाव से षड्सों के ६३ भेद :—

रस द्रव्याश्रित होते हैं तथा द्रव्यों पर देश एवं काल का प्रभाव होता है। अतः विभिन्न द्रव्यों में आश्रित रस का द्रव्य विशेष के कारण तथा द्रव्य प्रभाव से अनेक भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ इक्षु, क्षीर, मधु, तथा द्राक्षा की मधुरता में भेद होता है। रसों का यह भेद द्रव्य प्रभाव से होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रदेशों में होने वाले द्रव्यों पर देश का प्रभाव पड़ता है परिणामतः द्रव्य गत रस भी प्रभावित होते हैं अतः देश प्रभाव से भी रसों के अनेक भेद हो जाते हैं। उदाहरणार्थ हिमालय प्रदेश में होने वाले द्राक्षा, दाडिम मधुर रस वाले होते हैं तथा अन्यत्र के अम्ल रस वाले। रस का यह भेद देश प्रभाव से होता है। पुनः काल प्रभाव से भी रसों की भिन्नता होती है। उदाहरणार्थ छोटे व कच्चे आम्रफल कषाय रस, बड़े कच्चे आम्रफल अम्ल रस तथा पके हुए आम्रफल मधुर रस वाले होते हैं। रसों का यह भेद काल प्रभाव से होता है। इसी प्रकार षड्ऋतुओं में उत्पन्न द्रव्यों के रसों में भी ऋतु के अनुसार भेद होता है। इन सभी उपर्युक्त कारणों से रसों का ६३ भेद हो जाता है। उक्त तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा :—

"भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्य देश काल प्रभावाद्भवति तानुपवेक्ष्यामः ॥
च० सू० २६/१४.

इस प्रकार द्रव्य प्रभाव, देश प्रभाव तथा काल प्रभाव से अभिव्यक्त हुए ६३ रसों का परिगणन आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरणों में किया है। यहाँ पर यह तथ्य ध्यातव्य है कि रसों के जो निम्नोक्त ६३ भेद होते हैं वे पंचभूतों के ही द्रव्यों में परस्पर अनेक प्रकार के न्यूनातिरेक परिमाण में द्रव्यों में अवस्थान, द्रव्य प्रभाव, देश प्रभाव तथा काल प्रभाव से होता है जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। मधुर अम्ल आदि के योग से द्विरस के १५ भेद होते हैं। जैसा नि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा :—

स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक्।
यांति पंचदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु ॥ च० सू० २६ १५.

अर्थात् मधुर अम्ल, मधुर लवण, मधुर कटु, मधुर तिक्त तथा मधुर कषाय इन दो-दो रसों के योग से एवम् इसी प्रकार अम्ल, लवण, कटु, तिक्त आदि दो-दो रसों के योग से द्विरस के १५ भेद होते हैं। इसी प्रकार मधुरादि रसों का अम्लादि तीन-तीन रसों के योग से त्रिरसों के २० भेद होते हैं। यथा—मधुर अम्ल लपण, मधुर अम्ल कटु, मधुर अम्ल तिक्त, मधुर अम्ल कषाय, मधुर लवण कटु, मधुर लवण तिक्त, मधुर लवण कषाय, मधुर कटु तिक्त, मधुर कटु कषाय तथा मधुर तिक्त कषाय। इस प्रकार मधुर अम्लादि त्रिरसों के १० भेद होते हैं। अम्ल लवणादि तीन-तीन रसों के योग से अम्ल, लवण कटु, अम्ल लवण तिक्त, अम्ल लवण कषाय, अम्ल कटु तिक्त, अम्ल कटु कषाय तथा अम्ल तिक्त कषाय भेद से त्रिरसों के ६ भेद होते हैं।

लवण कट्वादि तीन-तीन रसों के योग से लवण कटु तिक्त तथा लवण कटु कषाय त्रिरसों के दो भेद होते हैं। लवण तिक्तादि तीन रसों के योग से लवण तिक्त कषाय त्रिरस का एक भेद होता है। कटु तिक्त कषाय इन तीन रसों के योग से एक भेद। इस प्रकार त्रिरसों के २० भेद होते हैं। त्रिरसों के २० भेदों का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में किया है। यथा :—

पृथगम्लादि युक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत्।
मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ॥
त्रिरसानि यथा संख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः।
च० सू० २६/१६–१७.

चार रसों के योग से चतुर्रसों के १५ भेद होते हैं। यथा :—मधुराम्ल लवण कटु, मधुराम्ल लवण तिक्त, मधुराम्ल लवण कषाय, मधुराम्ल कटु तिक्त, मधुराम्ल कटु कषाय, मधुराम्लतिक्त कषाम, मधुर लवण कटु तिक्त, मधुर लवण कटु कषाय, मधुर लवण तिक्त कषाय, मधुर तिक्त कटु कषाय, अम्ल लवण कटु तिक्त, अम्ल

लवण तिक्त कषाय, अम्ल लवण कटु कषाय, अम्ल कटु तिक्त कषाय एवं लवण कटु तिक्त कषाय।

आचार्य चरकोक्त वचन निम्नांकित है। यथा:—

वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च।
स्वाद्वम्लौ सहितौयोगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ॥
योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससंख्यया।
सहितौस्वादुलवणौतद्वत् कट्वादिभिः पृथक्॥
युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा।
कट्वाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक्॥
यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटूतथा।
युज्यते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ॥

च० सू० २६/११–२१.

मधुरादि ६ रसों में एक-एक रस को छोड़ने से पंचरस के ६ भेद होते हैं। यथा— अम्ल लवण कटु तिक्त कषाय, मधुर लवण कटु तिक्त कषाय, मधुर अम्ल तिक्त कटु कषाय, मधुर अम्ल लवण तिक्त कषाय, मधुर अम्ल लवण कटु कषाय, तथा मधुर अम्ल लवण कटु तिक्त। एक-एक रस के ६ भेद तथा षड्रस का एक भेद। इस प्रकार रसों के ६३ भेद होते हैं। निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है।

षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात्।
षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्समेवतु॥
इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रस संख्यया।

च० सू० २६/२१–२३.

उपर्युक्त रसों के ६३ भेदों को सुखावबोधार्थ सारिणी रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

रस भेद दिग्दर्शक सारिणी

एक रस	द्विरस	त्रिरस	चतुर्रस	पंचरस	षड्रस
१. मधुर	१. मधुर अम्ल	मधुर अम्ललवण	१. मधुर अम्ल लवण कटु	१. अम्ल लवण कटु तिक्त कषाय	१. मधुर अम्ललवण कटु तिक्त कषाय
२. अम्ल	२. मधुरलवण	मधुरअम्ल कटु	२. मधुरअम्ललवण तिक्त	मधुरलवणकटु तिक्त कषाय	१ भेद.

३. लवण	३. मधुर कटु	३. मधुर अम्ल तिक्त	३. मधुरअम्ल लवणकषाय	३. मधुर अम्ल कटु तिक्त कषाय
४. कटु	४. मधुर तिक्त	४. मधुरअम्ल कषाय	मधुरअम्ल कटु तिक्त	४. मधुरअम्ल लवणतिक्त कषाय
५. तिक्त	५. मधुरकषाय	५. मधुरलवणकटु	मधुरअम्लकटु कषाय	५. मधुरअम्ल लवण कटु कषाय
६. कषाय	६. अम्ललवण	६. मधुरलवण तिक्त	मधुरअम्ल तिक्त कषाय	६. मधुरअम्ललवण कटु तिक्त
६ भेद				
	७. अम्ल कटु	७. मधुर लवण कषाय	मधुर लवण कटु तिक्त	६ भेद
	८. अम्ल तिक्त	८. मधुर कटुतिक्त	मधुरलवण कटुकषाय	
	९. अम्लकषाय	९. मधुरकटुकषाय	मधुर लवणतिक्तकषाय	
	१०. लवण कटु	१०. मधुरतिक्तकषाय	१०. मधुरकटुतिक्तकषाय	
	११. लवणतिक्त	११. अम्ललवणकटु	११. अम्ललवणकटुतिक्त	
	१२. लवणकषाय	१२. अम्ललवणतिक्त	१२. अम्ललवणकटुकषाय	
	१३. कटु तिक्त	१३. अम्ललवणकषाय	१३. अम्ललवणतिक्तकषाय	
	१४. कटु कषाय	१४. अम्लकटुतिक्त	१४. अम्लकटुतिक्तकषाय	
	१५. तिक्तकषाय	१५. अम्लकटुकषाय	१५. लवणकटुतिक्तकषाय	
	१५ भेद	१६. अम्लतिक्तकषाय	१५ भेद	
		१७. लवणकटुतिक्त		
		१८. लवणकटुकषाय		
		१९. लवणतिक्तकषाय		
		२०. कटु तिक्त कषाय		
		२० भेद		

रसों के उपर्युक्त ६३ भेदों के अनुरस एवं रसों के तरतम कल्पना यथा मधुर, मधुरतर मधुरतम आदि के आधार पर असंख्य भेद हो सकते हैं जैसा कि आचार्य चरक के निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है :—

त्रिषष्टिः स्यात्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात् ।
रसस्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्तिहि ।। च० सू० २६/२३.

इस प्रकार हमने षड्रसवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत रसों की संख्या उसके गुण कर्म रसों के संयोग से उनके ६३ भेद आदि विषयों पर विचार किया । आगे हम षड्रसवाद सिद्धान्त की उपादेयता एवं महत्ता पर विचार करेंगे ।

षड्रसवाद सिद्धान्त की उपादेयता :—

प्राणियों के जीवन का आधार आहार होता है। प्राणियों की उत्पत्ति में भी आहार ही कारण होता है क्योंकि शुक्र शोणित जो कि गर्भजनक तत्व हैं आहार से ही उत्पन्न होते हैं। बल, वर्ण एवं ओज का भी आधार आहार ही होता है। और आहार षड्रसों के अधीन हैं क्योंकि कोई भी आहार द्रव्य रसों तथा तद्‌गत वीर्य, विपाक, प्रभावादि के माध्यम से ही प्राणियों के बल, वर्ण, ओज एवं जीवन की रक्षा में समर्थ होते हैं। उक्त तथ्य आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त उद्धरण से पुष्ट होता है। यथा :—

"प्राणिनां पुनर्मूलमाहारोबलवर्णौजसां च, स षट्सुरसेष्वायत्तः"। सु० सू० १/२७.

उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि रसों का प्राणियों के जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य योगदान है। षड्रसवाद सिद्धान्त का सामान्य परिचय तथा तदनुसार व्यवहार व्यक्ति को स्वस्थ रखने में सक्षम होता है। भारतीय समाज में षड्रससिद्धान्त इतना प्रचारित एवं लोकप्रिय है कि भोजन के प्रसंग में षड्रस भोजन का विधान अनिवार्य कहा जाता है। इसी तथ्य को लक्ष्यकर आचार्य चरक ने कहा है कि भोजन में सभी रसों का अभ्यास (नित्यसेवन) स्वास्थ्य कारणों में सर्वोत्तम है तथा एक रस का अभ्यास दौबल्य कारणों में सर्वाधिक है। उक्त प्रसंग में निम्नोक्त उद्धरण ध्यातव्य है।

"सर्व रसाभ्यासो स्वास्थ्यकराणां, एक रसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्। च० सू० २५/४०.

षड्रस सिद्धान्त की उपर्युक्त महत्ता के परिप्रेक्ष्य में हम इसके प्रमुख व्यावहारिक उपादेयताओं का विवेचन करेंगे जिससे कि आलोच्य विषय का स्पष्ट अवबोध हो।

षड्रस सिद्धान्त का त्रिदोष से सम्बन्ध :—

त्रिदोष की साम्यावस्था का शरीर के स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है। अर्थात् यदि त्रिदोष साम्यावस्था में रहे तो व्यक्ति स्वस्थ रहता है। त्रिदोष की साम्यावस्था के लिए विविध आहार-द्रव्यों के माध्यम से षड्रसों का उचित परिमाण में उपयोग आवश्यक है। उपशय के प्रसंग में आचार्य चरक ने सुखानुवन्ध (स्वास्थ्य की निरन्तरता) के निमित्त आहार की उपयोगिता का उल्लेख किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा :—

उपशयः पुनर्हेतु व्याधि विपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहार विहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः"। च० नि० १/१०.

उचित आहार का महत्त्व स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगनिवृत्ति दोनों ही उद्‌देश्यों की

प्राप्ति में हैं। उचित आहार का निर्धारण आहार द्रव्यगत रसों के आधार पर ही हो सकता है। अतः उचित आहार के लिए षड्रस सिद्धान्त का अनुसरण अपरिहार्य है।

तीन-तीन रस एक-एक दोष को उत्पन्न करते हैं तथा तीन-तीन रस एक-एक दोष को शान्त भी करते हैं। यथा—कटु तिक्त कषाय ये तीन रस वात दोष को उत्पन्न करते हैं तथा मधुर अम्ल लवण ये तीन रस वात का शमन करते हैं। कटु अम्ल लवण रस पित्त दोष को उत्पन्न करते हैं तथा मधुर तिक्त कषाय रस पित्त को शान्त करते हैं। मधुर अम्ल लवण रस कफ को उत्पन्न करते हैं तथा कटु तिक्त कषाय रस कफ को प्रशमित करते हैं। उक्त तथ्य विषयक निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा :—

"तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति, कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्त कषायास्त्वेनच्छमयन्ति, मधुराम्लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति।" च० वि० १/६.

शरीर में विशेष रस किस प्रकार विशेष दोष को उत्पन्न करते हैं तथा शमन करते हैं इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—रस और दोष का शरीर में सम्पर्क होने पर जो रस जिस दोष के समान गुण वाले अथवा समान गुणों की अधिकता वाले होते हैं वे उस दोष को बढ़ाते हैं तथा जो रस जिस दोष के विपरीत गुण वाले अथवा विपरीत गुणों की अधिकता वाले होते हैं वे उस दोष का शमन करते हैं। दोषों की वृद्धि अथवा दोषों का शमन क्रमशः दोष समान गुण वाले रसों के अभ्यास तथा दोष विपरीत गुण वाले रसों के अभ्यास (सतत सेवन) से होता है। दोषों की रसों के माध्यम से शमन की उक्त व्यवस्था को प्रवर्तित करने के निमित्त ही पृथक्-पृथक् ६ रसों का तथा पृथक्-पृथक् तीन दोषों का आचार्यों द्वारा उपदेश (निर्देश) किया जाता है।

ग्रन्थोक्त निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है :—

"रसदोषसन्निपाते ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुण भूयिष्ठा वा भवन्ति तेतानभिवर्धयन्ति, विपरीत गुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति। एतद् व्यवस्था हेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंभृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम्।" च० वि० १/७.

इस प्रकार षड्सवाद सिद्धान्त से हमें ज्ञात होता है कि किन किन रसों के उपयोग से किस दोष की अभिवृद्धि होती है तथा किन किन रसों के सेवन से दोष विशेष का शमन होता है। इस सिद्धान्त की उपादेयता स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगोपचार

दोनों ही स्थितियों में होती है। दोषों के सामान्य स्थिति में अर्थात् जहाँ एक ही दोष के सामान्य लक्षण प्राप्त होते हैं उसमें तो षड्रसों का उपयोग दोष विशेष की वृद्धि अथवा शमन के लिए यथावश्यक किया जाता है। किन्तु जहाँ दोष विशेष किसी दूसरे दोष से मिश्रित हो जाता है तथा उस स्थिति में जब किसी दोष विशेष के कुछ लक्षण तथा दूसरे दोष विशेष के कुछ लक्षण मिलते हैं तो उसमें संयुक्त रसों का उपयोग आवश्यक होता है। जैसे विविध रोगों में दोषों की अंशांश कल्पना रोग निदान के लिए आवश्यक है उसी प्रकार से मिश्रित दोषों से उत्पन्न रोगों के उपचार में रसों के विविध संयोग युक्त द्रव्यों का व्यवहार उपादेय होता है। इसी कारण त्रिदोष के ६२ भेद तथा षड्रसों के ६३ भेद का उल्लेख आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों ने किया है। रोगों में दोषों की स्थिति समझकर ही षड्रसों के संयोग विशेष वाले रसों का उपयोग हितकर होता है। इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में अपना अभिमत प्रकट किया है। यथा—

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।
दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः।
रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति॥ च०सू० २६/२५–२६.

अर्थात् सफलता की इच्छा वाला वैद्य दोष की स्थिति का विचारकर कहीं एक रस का, कहीं संयुक्त रसों का विधान करे। द्विरस, त्रिरस, चतुर्रस, पंचरस या षड्रस वाले संयुक्त रसों के द्रव्यों का तथा एक रस वाले द्रव्यों का बुद्धिमान वैद्य रोगों के दोषानुसार विधान करते हैं।

आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या में कहा है कि दोष औषधादि का विचार करने से अभिप्राय है कि देश, काल एवं रोगी का बल आदि अनुक्त वस्तुओं का ग्रहण करना, संयुक्त अथवा असंयुक्त रस का विधान भिन्न-भिन्न रसों वाले द्रव्यों के मिश्रण से अनेक रस वाले एक द्रव्य से अथवा एक रस प्रधान द्रव्य से किया जाना चाहिए। द्विरस, त्रिरस, चर्तुरस, पंचरस एवं षड्रस वाले विविध द्रव्यों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य चक्रपाणि आगे कहते हैं कि—मुद्ग (मूँग) कषाय और मधुर इन दो रसों वाला (द्विरस) होता है। भव्य का फल (आडू) मधुर, अम्ल और कषाय इन तीन रसों वाला होता है। मधुर, तिक्त कषाय तथा कटु इन चार रसों वाला तिल होता है जैसाकि आचार्य चरक का वचन है—

"स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः।" च० सू० २७/३०.

आमलकी तथा हरीतकी पंचरस वाले होते हैं। षड्रस वाले द्रव्य का यहाँ

उल्लेक्ष नहीं मिलता किन्तु हारीत संहिता में एण (मृग) मांस को षड्रस संयुक्त कहा गया है। उद्धरण में आए "गदान्–प्रति" इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि एक रस, द्विरस त्रिरसादि द्रव्यों का उपयोग रोगों के अनुसार रुग्णावस्था में करते हैं। स्वस्थावस्था में तो सभी रसों का उपयोग विहित है जैसा कि निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा—

विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः।
समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ॥ च० सू० ७/४१.

उपर्युक्त उद्धरण में आये समसर्वरस से सभी रसों का तुल्यमान नहीं ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि स्वस्थ आहार के लिए जितने परिमाण में मधुर रस का सेवन होता है उतने परिमाण में कटु तिक्तादि रसों का नहीं किया जाता। समत्व से यहाँ अभिप्राय है शरीर के अनुसार उचित परिमाण, सर्वरस का उपयोग धातु की समता तथा ऋतु के अनुसार करना चाहिए। इसी तथ्य को आचार्य वाग्भट ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

"नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्य ऋतावृतौ ॥ अ० हृ० सू० अ० ३.

वैद्य के लिए षड्रसवाद सिद्धान्त के परिचय के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—जो वैद्य दोष के विकल्पों (भेदों) को जानने के साथ रस के विकल्पों को जानता है वह रोगों के कारण तथा लक्षणों को शान्त करने में मोहित (प्रमादयुक्त) नहीं होता। आचार्योक्त उद्धरण निम्नांकित है—

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित्।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतु लिंगोपशान्तिषु ॥ च०सू० २६/२७.

इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैद्य के लिए व्यक्ति की स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगोपचार इन दोनों ही पक्षों के लक्ष्यपूर्ति के निमित्त षड्रसवाद सिद्धान्त का समुचित ज्ञान अपरिहार्य है। धातुसाम्य स्थिति का अनुपालन तथा धातु वैषम्य जनित दोषों व रोगों का उपचार षड्रसवाद सिद्धान्त के अनुसार ही समुचित रूप से हो सकता है।

संशोधन कर्म में षड्रसवाद की उपयोगिता—

शरीर के स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त ऋतुओं के अनुसार संचित दोषों के निर्हरण (निष्कासन) के लिए संशोधन कर्म का विधान आयुर्वेदज्ञों ने प्रतिपादित किया है, जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

विषमस्वस्थवृत्तानामेते रोगास्तथाऽपरे ।
जायन्तेऽनातुरस्तस्मात् स्वस्थवृत्तपरो भवेत् ॥
माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः ।
सहस्यप्रथमे चैव हारयेद्दोष संचयम् ॥ च०सू० ७/४५–४६.

अर्थात् समदोष विषम होकर रोग न उत्पन्न करें तथा व्यक्ति स्वस्थ रहे, इसके लिए स्वस्थ वृत्त का पालन करना चाहिए। और स्वस्थ वृत्त पालन में ऋतु के अनुसार अर्थात् चैत्र मास में संचित कफ को निकालने के लिए वमन, ग्रीष्म ऋतु में संचित पित्त को दूर करने के लिए श्रावण मास में विरेचन कराना चाहिए। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में संचित वात के निर्हरण के लिए मार्गशीर्ष (अगहन) में बस्ति कर्म करे। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त दोष संशोधन आवश्यक होता है। दोष संशोधन के लिए दोषानुसार वमन, विरेचन तथा बस्तिकर्म कराना अपेक्षित होता है। अर्थात् कफ निर्हरण के लिए वमन, पित्त दोष के लिए विरेचन तथा वात दोष के संशोधनार्थ बस्तिकर्म किया जाता है। इस प्रकार वमन, विरेचन तथा बस्ति कर्म के लिए प्रयुक्त द्रव्यों का चयन रसों के ही आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ अग्निवाय्वात्मक कटु एवं तिक्त रस अपने लघु तथा गतिशीलता के कारण प्रायः ऊर्ध्वगामी होते हैं। अतः वामक द्रव्य प्रायः कटु तिक्त रस वाले होते हैं। परिणामतः वमन कार्य के लिए कटु तिक्त रस वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार—विरेचन कार्य के लिए सलिलपृथिव्यात्मक मधुर तथा अम्ल रस वाले द्रव्यों का प्रयोग अपेक्षित होता है। क्योंकि सलिल पृथिव्यात्मक मधुर एवं अम्ल रस अपनी गुरूता तथा द्रवता स्वभाव के कारण निम्नगामी होते हैं। इसी प्रकार बस्तिकर्म के लिए प्रयुक्त, द्रव्य मधुर अम्ल एवं लवण रस वाले होते हैं जिससे कि संचित वात का निर्हरण होकर वात दोष का अनुलोमन हो सके। इस प्रकार संशोधन कर्म में षड्रसवाद सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

आहार में षड्रसवाद की उपयोगिता—

सात्म्य प्रसङ्ग में आचार्य चरक ने तीन प्रकार के सात्म्य का उल्लेख किया है। व्यक्ति विशेष के लिए जो हितकर एवं सुखानुबन्धी हो उसे सात्म्य संज्ञा से अभिहित किया जाता है। जिस व्यक्ति को सभी रस सात्म्य होता है उसे प्रवर सात्म्य कहते हैं। जिस व्यक्ति को कोई एक ही रस सात्म्य होता है उसे अवर सात्म्य कहते हैं जिसे केवल कुछ ही रस सात्म्य होता है उसे मध्य सात्म्य कहते हैं। आचार्य चरकोक्त उद्धरण निम्नांकित है—

'सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते, सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः। तत्त्रिविधं प्रवरावर मध्य

विभागेन, सप्तविधं तु रसैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। तत्र सर्वरसं प्रवरम्, अवरमेक रसं, मध्यं तु प्रवरावर मध्यस्थम्। तत्रावरमध्याभ्यां सात्म्याभ्यां क्रमेणैव प्रवर-मुपपादयेत् सात्म्यम्। च० वि० १/२०.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि एक रस अवर सात्म्य की अपेक्षा मध्य सात्म्य श्रेष्ठ हैं तथा मध्य सात्म्य की अपेक्षा सर्वरस सात्म्य प्रवर सात्म्य उत्कृष्ट है। इस प्रकार जिस व्यक्ति को आहार में सर्वरस सात्म्य होता है वह स्वस्थ तथा बलवान होता है। अतः व्यक्ति को षड्रसवाद सिद्धान्त के अनुसार सभी रसों का सेवन आरोग्य के लिए अपेक्षित है जैसाकि आचार्य चरक ने कहा है कि—सभी रसों का अभ्यास स्वास्थ्य कारकों में सर्वोत्तम है। चरकोक्त निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है :—

सर्वरसाभ्यासो स्वास्थ्यकराणां श्रेष्ठतमः। च० सू० २५/४०.

इस प्रकार आहार अभ्यवहरण के परिप्रेक्ष्य में षड्रसवाद सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

षड्रसवाद की उपादेयता को लक्ष्यकर आचार्य चरक ने निम्न उद्धरण में जो तथ्य प्रस्तुत किया है उससे इस सिद्धान्त की उपादेयता तथा महत्ता स्पष्ट होती है। यथा—

रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
वेद यो देशकालौ च शरीरं च स नो भिषक्॥ च० वि० १/२७.

अर्थात् जो रसों, द्रव्यों, दोषों तथा विकारों को इसके प्रभाव के साथ जानता है तथा जो देशकाल एवं शरीर के विषय में समुचित ज्ञान रखता है वही हम लोगों के अभिमत से आदर्श वैद्य है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से हमें ज्ञात होता है कि रसों का सम्बन्ध द्रव्य, दोष, बिकार, देश, काल एवं शरीर सभी से होता है क्योंकि रसों के व्यवहार प्रसंग में इन सभी उक्त वस्तुओं पर ध्यान देना आवश्यक होता है। इसी कारण आचार्य चरक ने भी रस विमान प्रकरण में इन सभी तथ्यों का उल्लेख कर रसों के साथ उनके सम्बन्धों का संकेत किया है। इन सभी तथ्यों से षड्रसवाद सिद्धान्त की उपादेयता भली-भाँति ज्ञात होती है।

आधुनिक आहार विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में षड्रसवाद की उपादेयता

आधुनिक आहार विज्ञान के अनुसार स्वास्थ्य रक्षा के लिए संतुलित आहार की अनिवार्यता प्रतिपादित किया जाता है। संतुलित आहार के घटकों में प्रोटीन, कार्बो-हाइड्रेट, स्नेह, लवण, जीवतिक्ती (विटामिन) और जल प्रधान हैं। उपर्युक्त सभी घटकों का उचित परिमाण में सेवन करना ही संतुलित आहार कहा जाता है। संतुलित आहार नहीं लेने से व्यक्ति अनेक अभाव जन्य व्याधियों से आक्रान्त हो जाता है।

अतः आधुनिक आहार विज्ञान संतुलित आहार को स्वास्थ्य रक्षा के लिए अत्यावश्यक मानता है।

यदि हम आधुनिक आहार विज्ञान के आलोक में षड्रसवाद की उपादेयता पर विचार करें तो हमें स्पष्ट होता है कि पुराकालीन आयुर्वेदज्ञों का सर्व रसाभ्यास निर्देश कितना युक्ति-संगत और समीचीन है। यद्यपि आयुर्वेद में आधुनिक आहार विज्ञान के अनुसार आहार घटकों का विभाजन नहीं किया गया है तथापि संतुलित आहार के अद्यतन विचार के समानान्तर तथ्य इसमें भीप्राप्त होता है। यद्यपि प्रस्तुत प्रसङ्ग में आहार विषयक विवरण अप्रासंगिक प्रतीत होता है तथापि आहार द्रव्यों का षड्रसों से अविच्छिन्न सम्बन्ध होने के कारण इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने संतुलित आहार का विवरण विस्तार पूर्वक वर्णित किया है। यहाँ पर हम आचार्य चरक द्वारा वर्णित आहार द्रव्यों का उल्लेख करेंगे जो कि प्रकारान्तर से आधुनिक आहार विज्ञान के समान ही ज्ञात होता है। निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—

"परमतो वर्ग संग्रहेणाहार द्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः"

शूकधान्य शमीधान्य मांसशाक फलाश्रयान्।
वर्गान् हरितमद्याम्बुगोरसेक्षुविकारिकान्॥
दश द्वौ चापरौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम्।
रसवीर्यविपाकैश्च प्रभावैश्च प्रचक्ष्महे॥ च०सू० २७/५–७.

अर्थात् अब हम आहार द्रव्यों का वर्गों के समूह रूप से वर्णन करेंगे। ये आहार द्रव्यों के समूह निम्नोक्त हैं :—

१. शूकधान्य, २. शमीधान्य, ३. मांसवर्ग, ४. फलवर्ग, ५. हरितवर्ग, ६. मद्य वर्ग, ७. अम्बुवर्ग, ८. गोरसवर्ग, ९. इक्षुविकार वर्ग, १०. शाक वर्ग, ११. कृतान्न वर्ग, और १२. आहारयोगि द्रव्य। इस प्रकार आहार द्रव्यों के उक्त १२ वर्गों में प्रकारान्तर से संतुलित आहार का ही विवरण प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह विचारणीय है कि उक्त आहार द्रव्य अपने में सन्निहित रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव गुणों के माध्यम से ही कार्यकारी होते हैं। आहार द्रव्यगत सन्निहित गुणों में रस गुण ही प्रधान है क्योंकि रस के ज्ञान से ही द्रव्यों के विविध गुणों का निर्देश किया जाता है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा :—

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतोभिषक् ॥ च०सू०२६/४६–४७.

अर्थात् रसों के ज्ञान से ही द्रव्यों के विविध गुणों का निर्देश किया जा सकता है। वीर्य से अविरीत रसों का वीर्य भी रसानुरूप ही होता है अर्थात् रस ज्ञान से वीर्य का भी ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ कटु तिक्त कषाय रसों का विपाक प्रायः कटु होता है। वीर्य विरुद्ध रसों का विविध गुण रसों के पाक से ज्ञेय होता है यथा रस विरुद्ध वीर्य वाले महापंचमूलादि का गुण केवल रस से ही नहीं प्रत्युत् पाक से ज्ञात होता है। यदि रस वीर्य विरोधी होता है तो उसका विपाक भी रस के गुणों के अनुरूप नहीं होता। दुग्ध, घृत, चव्य और चित्रक आदि वीर्य से अविपरीत द्रव्यों का गुण रस से ही वैद्य को निर्दिष्ट करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आहार द्रव्यगत गुणों का ज्ञान प्रधानतः रस द्वारा ही होता है। अतः आहार द्रव्यों के निर्धारण में रसज्ञान अत्यावश्यक है। इसी तथ्य को लक्ष्यकर आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में षड्सों के पृथक्-पृथक् तथा समष्टि रूप में यथोचित प्रमाण में ग्रहण करने का महत्व प्रतिपादित किया हैं। निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है :—

इत्येवमेते षड्रसाः पृथक्त्वेनैकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उपकाराय भवन्त्यध्यात्मलोकस्य, अपकारकराः पुनरतोऽन्यथाभवन्त्युपयुज्यमानाः, तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति। च० सू० २६/४४.

अर्थात् इन षड्रसों का पृथक्-पृथक् अथवा समष्टि रूप से यथोचित परिमाण में उपयोग मनुष्य के शरीर के लिए, हितकर होता है। इसके विपरीत इनका अन्यथा उपयोग (अनुचित परिमाण में) शरीर के लिए अहितकर होता है। अतः बुद्धिमान् को षड्रसों का उपयोग यथोचित परिमाण में सम्यक रीति से करना चाहिए।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि आहार द्रव्यों में षड्रसों को आधार बनाकर ही उनके उचित उपयोग का निर्देश प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने किया है जो कि स्वास्थ्य रक्षा के लिए अपेक्षित हैं। षड्रसों के गुणकर्मों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। यदि षड्रसों के गुण कर्मो पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि षड्रसों के उचित मात्रा में उपयोग से संतुलित आहार प्राप्त हो सकता है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से हम मधुरादि षड्रसों का आधुनिक आहार विज्ञान सम्मत आहार घटकों से तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करेंगे, जिससे यह सहज बोध हो सके कि आयुर्वेद में प्रतिपादित षड्रसवाद अद्यतन वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में भी उतना ही प्रासंगिक है जितना सहस्राब्दियों पूर्व। मधुर रस वाले द्रव्यों में प्रायः प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह तथा

कुछ जीव तिक्तियाँ प्राप्त होती है। अम्ल रस वाले द्रव्यों में भी प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह तथा जीवतिक्तियाँ पाई जाती हैं किन्तु मधुर रस वाले द्रव्यों की अपेक्षा अल्प परिमाण में। लवण रस वाले द्रव्यों में विभिन्न प्रकार के लवण द्रव्य पाये जाते हैं जो कि संतुलित आहार घटकों में से विभिन्न लवणों यथा सोडियम, पोटेशियम कैल्शियम आदि शरीर के लिए आवश्यक लवणों के समानान्तर हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदोक्त पंचलवण यथा—सैन्धव, सामुद्र, सौवर्चल, विड़ एवं काललवण शरीर के लिए आवश्यक लवण तत्व की पूर्ति में प्रधान घटक होते हैं। इसी प्रकार कटु, तिक्त, कषाय रस वाले द्रव्य भी उचित परिमाण में उपयोग करने से शरीर के लिए आवश्यक आहार तत्वों की आपूर्ति में सहायक होते हैं।

इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि आयुर्वेदोक्त षड्रसवाद के अनुसार आहार द्रव्यों में आधुनिक आहार विज्ञान द्वारा निर्धारित संतुलित आहार के सभी घटकों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रस्तुत विषय को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से हम इस तथ्य को निम्नोक्त तुलनात्मक सारिणी के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

संतुलित आहार घटक एवं षड्रस

(समन्वय दिग्दर्शक सारिणी)

१. कार्बोहाइड्रेट	—	मधुर रस वाले द्रव्य
२. प्रोटीन	—	मधुर तथा अम्ल रस वाले द्रव्य
३. स्नेह	—	मधुर रस वाले द्रव्य घृत, तेल आदि
४. नमक	—	लवण रस एवं पंचलवण
५. जीवतिक्तियाँ	—	मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त एवं कषाय रस वाले द्रव्य
६. जल	—	सभी स्रोतों से प्राप्त स्वच्छ जल

इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि षड्रसों से अभिप्राय विविध द्रव्यों में पाये जाने वाले मधुरादि ६ रसों को समझना चाहिए। क्योंकि मधुरादि षड्रस विविध द्रव्यों में आश्रित गुण है। हमने पहले के पृष्ठों में जो षड्रसों के गुणकर्मों का उल्लेख किया है वस्तुतः मधुर रस प्रधान, अम्लरस प्रधान आदि द्रव्य के हैं न कि रसों के। क्योंकि रस द्रव्य का गुण है और गुण में गुण नहीं रहते। गुण और कर्म तो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में आश्रित रहते हैं। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में स्पष्ट किया है। यथा—

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्।
विद्याद्द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः॥ च० सू० २६/३६.

अर्थात् गुण गुण के आश्रित नहीं होते अतः वैद्य को रस के गुणों को द्रव्य का गुण जानना चाहिए क्योंकि ग्रन्थकार का अभिप्राय प्रसंग के अनुसार पृथक् पृथक् प्रकार का होता है।

इस प्रकार कार्बोहाइड्रेट में प्रायः मधुर रस पाया जाता है जो कि ऊर्जा और बल प्रदान करता है। कार्बोहाइड्रेट में मधुर रस होने के कारण ही मधुमेह के रोगी में इसका सेवन परिवर्जित किया जाता है। प्रोटीन युक्त द्रव्यों में प्रायः मधुर तथा अम्ल रस पाया जाता है। अम्ल रस वाले फलों में यथा—नीबू, संतरा आदि में विटामीन सी पाया जाता है। विटामीन सी के अभाव में स्कर्वी रोग हो जाता है। अतः अम्ल रस वाले पदार्थों का सेवन स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। मधुर रस वाले द्रव्यों में ही प्रायः स्नेह पाया जाता है जैसे कि दुग्ध, तिल आदि में। इसी प्रकार लवण रस वाले पंच लवणों से विविध प्रकार के शरीरोपयोगी लवण की पूर्ति होती है। कटु, तिक्त कषाय रस वाले द्रव्य से भी विविध प्रकार के शरीरोपयोगी तत्वों की पूर्ति होती है।

इस प्रकार हमें षड्रसवाद के परिचय से संतुलित आहार के आवश्यक विभिन्न घटकों को स्वास्थ्य रक्षा के लिए उचित परिमाण में सेवन करने का निर्देश प्राप्त होता है। अतः संतुलित आहार के परिप्रेक्ष्य में भी षड्रसवाद की उपादेयता स्पष्ट ज्ञात होती है। उचित मात्रा में सर्वरसाभ्यास का आयुर्वेदीय निर्देश संतुलित आहार का ही प्रकारान्तर से अभिव्यंजन प्रस्तुत करता है जो कि स्वास्थ्य के लिए विधि रूप से पालनीय है। एक रसाभ्यास अस्वास्थ्य कर होता है, इस प्रकार का निर्देश भी अभाव जन्य व्याधियों से बचने के लिए निषेध रूप से पालनीय होता है।

पंचकर्म सिद्धान्त

आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा कर्म में रोगोपचार के निमित्त दो चिकित्सा क्रम निर्दिष्ट हैं। प्रथम संशोधन तथा द्वितीय संशमन चिकित्सा। इनमें प्रथम संशोधन चिकित्सा में पाँच चिकित्सोपक्रम व्यवहृत होते हैं जिससे कि शरीरगत दूषित दोषों को बाहर निकालकर शरीर का संशोधन किया जाता है। संशोधन चिकित्सा में निर्दिष्ट पंचचिकित्सोपक्रा में वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन एवं अनुवासन ये पाँच कर्म परिगणित होते हैं। वमन तथा शिरोविरेचन कर्म से प्रकुपित कफ दोष का निर्हरण, विरेचन कर्म से प्रकुपित पित्त दोष का निर्हरण एवं आस्थापन एवं अनुवासन बस्ति से वातदोष का संशमन होता है। शरीर के संशोधन के पश्चात् अनेक रोग जो कि स्रोतोरोध के कारण उत्पन्न होते हैं स्वयमेव शान्त हो जाते हैं एवं शरीर का धातुसाम्य पुनः स्थापित हो जाता है जिससे व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ प्राप्त

करता है। इसके अतिरिक्त दैनिक काल क्रम (प्रातः मध्याह्न, सायं, संध्या, मध्य-रात्रि एवं रात्रि का अन्तिम प्रहर) से शरीर में विभिन्न दोषों की वृद्धि होती रहती है। यथा—दिन तथा रात्रि के अन्तिम भाग में वात वृद्धि होती है, दिन के मध्य एवं मध्य रात्रि में पित्त दोष की वृद्धि होती है तथा दिन व रात्रि के प्रथम भाग में कफ दोष की वृद्धि होती है। इसी प्रकार विभिन्न ऋतुओं में भी कालक्रम से दोषों का शरीर में संचय होकर वृद्धि होती है। यथा—ग्रीष्म ऋतु में संचित हुए वात दोष का प्रकोप वर्षा ऋतु में, वर्षा ऋतु में संचित पित्त का शरद ऋतु में प्रकोप तथा हेमन्त ऋतु में संचित कफ दोष का बसन्त ऋतु में प्रकोप होता है। दोषों की वृद्धि का सम्बन्ध भोजन से भी होता है, यथा—भोजन के पच जाने पर वातवृद्धि भोजन के पाककाल में पित्त वृद्धि तथा भोजन करने के अनन्तर कफ दोष की वृद्धि होती है। इस प्रकार कालक्रम से दोषों की शरीर में वृद्धि होती रहती है।

इस प्रकार के कालक्रम से शरीर में होने वाले दोषों की वृद्धि में दैनिक कालक्रम एवं भोजन से सम्बन्धित दोषों की वृद्धि अत्यल्प परिमाण में अथवा उतनी नहीं हो पाती जो कि रोगोत्पत्ति में समर्थ हो। परन्तु ऋतु परिवर्तन जन्य कालक्रम से शरीर में दोषों की वृद्धि व्याधि उत्पन्न करने में सक्षम होती है। अतः ऋतु परिवर्तन जन्य कालक्रम से शरीर में होने वाले दोष वृद्धि अथवा प्रकोप के संशमनार्थ पंचकर्म का विधान अपेक्षित होता है। इसी कारण आचार्य चरक ने ऋतुचर्या प्रसंग में वसन्त ऋतु में संचित कफ के निर्हरण के निमित्त वमन कर्म कराने का निर्देश किया है जैसाकि निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा—

वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥
तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्। च० सू० ५/२२–२३.

अर्थात् हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में शीताधिक्य तथा गुरू, मधुर, स्निग्ध भोजन से शरीर में कफ संचित होता है। वही संचित कफ सूर्य की क्रमशः तीक्ष्ण होती हुई किरणों से वसन्त ऋतु में कुपित होकर जाठराग्नि को बाधित करता है अर्थात् इसकी क्रिया में मंदता उत्पन्न करता है जिससे कि शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः वसन्त ऋतु में, संचित कफ को निकालने के लिए वमन आदि कर्मों का विधान करना चाहिए। यहाँ पर वमन आदि कर्मों से अभिप्रायः है कि वसन्त ऋतु आदान काल का मध्य है अतः यदि इस काल में वातपित्त दोषों का प्रकोप हो तो विरेचन, आस्थावन एवं अनुवासन कर्म का भी विधान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कफ के संशमन के लिए शिरोविरेचन कर्म का भी निष्पादन अपेक्षित है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में यह स्पष्ट होता है कि शरीरगत दोषों के निर्हरण तथा दोष जन्य व्याधियों के संशमन के लिए पंचकर्म का विधान आवश्यक है। इसी प्रकार शरद ऋतु चर्या में आचार्य चरक ने ग्रीष्म में संचित पित्त दोष का निर्हरण करने के मिमित्त विरेचन कर्म करने का निर्देश किया गया है। जैसाकि निम्नोक्त बचन से स्पष्ट होता है। यथा—

तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेकोरक्तमोक्षणम्।
धाराधरात्यये कार्यमातपस्य च वर्जनम्॥ च० सू० ५/४४.

अर्थात् वर्षा ऋतु के व्यतीत हो जाने पर तिक्तवर्ग की औषधियों से साधित घृत का पान, विरेचन कर्म एव रक्तमोक्षण कर्म करना चाहिए तथा आतप (धूप) परिवर्जन करना चाहिए। इस प्रकार ऋतु परिवर्तन जन्य दोषों की वृद्धि तथा दुष्टि का वमन तथा विरेचन कर्म द्वारा दोष निर्हरण एवं दोष संशोधन करने का आयुर्वेद में निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त वातदुष्टि व वात वृद्धि की स्थिति में वातानुलोमन एवं बढ़े हुए वात के निर्हरण के लिए वस्तिकर्म का विधान बतलाया गया है।

आचार्य चरक ने वात, पित्त एवं कफ इन दोषों की वृद्धि की स्थिति में वातहरण, पित्तहरण एवं कफ हरण के निमित्त क्रमशः वस्तिकर्म, विरेचनकर्म एवं वमनकर्म की श्रेष्ठता बतलाया हैं जैसाकि निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा—

वमनंश्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, बस्तिर्वातहराणां श्रेष्ठतमः।
च० सू० २५/४०.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि वमन, विरेचन तथा बस्ति कर्म क्रमशः कफ, पित्त एवं वात के निर्हरण में सर्वश्रेष्ठ उपक्रम हैं।

शरीरगत दोष संशोधन के अतिरिक्त पंचकर्म का विधान अनेक रोगों के संशमनार्थ भी किया जाता है। रसायन से पूर्व भी शरीरगत दोषों का संशोधन अपेक्षित है जैसाकि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः।
रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम्॥ च० चि० १–१/२४.

अर्थात् रसायन सेवन से पूर्व व्यक्ति के शरीरगत दोषों का संशोधन कर उसे बल की प्राप्ति कराकर पुनः रसायन द्रव्यों का प्रयोग करे। आचार्य वृन्दमाधव ने भी बहुत सुन्दर युक्ति प्रस्तुत करते हुए शरीरगत दोषों का संशोधन करने के पश्चात् रसायन सेवन का विधान निर्दिष्ट किया है जैसाकि निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है।

यज्जराव्याधि विध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्।
पूर्वे वयसिमध्ये वा शुद्धकायः समाचरेत्॥

अविशुद्ध शरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः ।
न भाति वाससि क्लिष्टे रंगयोगइवार्पितः ॥ वृ०मा० ६९/१–२

अर्थात् जराव्याधि को नाश करने वाला रसायन कर्म होता है, इसे युवावस्था अथवा मध्य वय में शरीर की शुद्धि के अनन्तर प्रयोग करे। शरीर की शुद्धि किए बिना रसायन प्रयोग उसी प्रकार निष्फल होता है जिस प्रकार मलिन वस्त्र का रंग में रंगना। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि आयुर्वेद में पंचकर्म विधान का अनेक स्थितियों में महत्वपूर्ण उपक्रम के रूप में प्रतिपादन किया गया है। वमनादि पंचकर्मों से सम्बन्धित विषयों यथा—पंचकर्म किन में अपेक्षित है, कौन पंचकर्म के अयोग्य है, पंचकर्म में प्रयुज्य औषधियाँ, पंचकर्म की आवश्यकतानुसार अवधि तथा पंचकर्म से पूर्व तथा पश्चात् सेवनीय योग आदि विषयों का विशद वर्णन चरकसंहिता के कल्प एवं सिद्धि स्थान में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रसङ्गों में आचार्य चरक ने पञ्चकर्म विषयक विवरण प्रस्तुत किया है। हम प्रस्तुत विषय के स्पष्ट अवबोध के निमित्त संक्षेप में इसका विवरण प्रस्तुत करेंगे।

पंचकर्म के योग्य व अयोग्य व्यक्ति :-

कौन व्यक्ति पंचकर्म क्रिया के अयोग्य हैं और कौन योग्य हैं इसका विस्तृत विवरण आचार्य चरक ने सिद्धिस्थान के द्वितीय अध्याय में वर्णित किया है जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा :—

येषां यस्मात् पंचकर्माण्यग्निवेश न कारयेत्।
येषां च कारयेत्तानि तत् सर्वं संप्रचक्ष्यते ॥ च० सि० २/३.

उपर्युक्त उद्धरण में भगवान पुनर्वसु आत्रेय ने जिन्हें पंचकर्म नहीं कराना चाहिए तथा जिन्हें कराना चाहिए इसका निर्देश करते हुए अग्निवेश के प्रति उपदेश किया है इस तथ्य का संकेत प्राप्त होता है। पंचकर्म के अयोग्य एवं योग्य का निर्देश करते हुए आचार्य चरक ने जो विस्तृत विवरण दिया है उसे हम संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

वमन कर्म के अयोग्य पुरुष --क्षत, क्षीण, पिपासित, अतिस्थूल, अतिकृश, बालक, वृद्ध, दुर्बल, क्षुधित, चिन्तातुर, गर्भिणी, ऊर्ध्वग रक्तपित्त वाला, हृद्रोगी, उदावर्त रोगी, मूत्राघात रोगी, गुल्म रोगी, उदर रोगी, तिमिर रोगी, शिरः शूल रोगी, कर्ण शूलवाला आदि व्यक्तियों में वमन कर्म नहीं कराना चाहिए। च० सि० २/८.

वमन कर्म के योग्य पुरुष—पीनस रोगी, कुष्ठ रोगी, ज्वर वाला, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गलग्रह, गलगण्ड, श्लीपद, मेह, मन्दाग्नि, विसूचिका, विषगरपीत, सर्पदष्ट, अयोग रक्तपित्त, शोणितपित्त, हल्लास, अरोचक, अपस्मार, उन्माद, अतिसार, शोफ, पाण्डु आदि रोगों तथा विशेषकर श्लेष्म व्याधियों वाले व्यक्तियों में

वमन कर्म कराना चाहिए। इन सब रोगों से पीड़ित व्यक्तियों में वमन कर्म प्रधानतम चिकित्सा होती है। च० सि० २/१०.

विरेचन कर्म के अयोग्य पुरुषः—सुकुमार लोग, गुदक्षत युक्त, मुक्तनाल युक्त (असंवृत गुद), अधोग रक्तपित्त वाला, लंघन किये हुए, दुर्बलेन्द्रिय, मंदाग्नियुक्त, नवज्वरी, मदात्ययी (अधिक मद्यपान करने वाला), आध्मान युक्त, शल्याभिहत, अर्दित रोगी, स्निग्ध एवं रूक्ष कोष्ठ वाले, क्षत वाले, गर्भिणी आदि पुरुषों में विरेचन कर्म नहीं कराना चाहिए। च० सि० २/११.

विरेचन कर्म के योग्य पुरुष—कुष्ठ रोगी, ज्वर युक्त, ऊर्ध्वर्ग रक्तपित्ति, भगन्दर रोगी, उदर रोगी, अर्श रोगी, प्लीहा रोगी, गुल्म रोगी, अर्बुद रोगी, गलगण्ड रोगी,. ग्रन्थि रोगी, विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, क्रिमिरोगी, विसर्प, पाण्डु रोगी, शिरःशूली, पार्श्वशूली, उदावर्त रोगी, हृद्रोगी, व्यंग, नीलिका, नेत्र नासिका व मुख स्रावरोगी, हलीमक, श्वास, कास, कामला आदि में विरेचन कर्म कराना चाहिए। च० सि० २/१३.

आस्थापन बस्ति के अयोग्य—अजीर्ण रोगी, अतिस्निग्ध पीत, स्नेह से उत्क्लेशित, मंदाग्नि, अति दुर्बल, यान क्लान्त (सवारी से थका हुआ), भूख प्यास व श्रम से पीड़ित, अतिकृश, वमन कर्म कराये हुए, विरेचित, नस्य कर्म कराये हुए, क्रोधित, डरे हुए, मूर्च्छित, कास, श्वास, हिक्का, बद्धगुदोदर, छिद्रोदर, दकोदर, (जलोदर), आध्मान युक्त, अलसक, विसूचिका, आमदोष जनित अतिसार, मधुमेह, कुष्ठ आदि में आस्थापन कर्म न कराए। च० सि० २/१४.

आस्थापन कर्म योग्य—सर्वांग वात, एकांग वात, कुक्षिगत वात, पुरीष, मूत्र शुक्र की अप्रवृत्ति, बल, वर्ण, मांस व शुक्रक्षय, आध्मान, अंगसुप्ति, कृमिरोग, उदावर्त, अतिसार, पर्वभेद से पीड़ित, प्लीह रोगी, गुल्म रोगी, शूल रोगी, हृद्रोग, भगन्दर, उन्माद, ज्वर, शिरःशूल, कर्णशूल, हृदय, पार्श्व पृष्ठ कटि के जकड़ाहट, कम्पवात, आक्षेपक, रजःक्षय, विषमाग्नि, स्फिग, जानु, जंघा, उरू, गुल्फ, पार्ष्णि, प्रपद, बाहु, स्तन अन्त (काँख) अंगुलि, दन्त, नख, पर्व (संधि), व अस्थि शूल, शोष, स्तम्भ (जकड़ाहट), आन्त्रकूजन, परिकर्तिका (गुदशूल), तथा विशेषकर महारोगाध्यायोक्त ८० प्रकार के वात व्याधियों में आस्थापन कर्म प्रधानतम उपक्रम हैं। च०सि० २/१६

अनुवासन कर्म के अयोग्य—जो लोग आस्थापन कर्म के अयोग्य हैं वे ही अनुवासन कर्म के भी अयोग्य हैं। विशेषकर अभुक्त भक्त (बिना खाए हुए), नवज्वरी, पाण्डुरोगी, कामला, प्रमेह, अर्श रोगी, प्रतिश्याय, अरोचक, मन्दाग्नि, दुर्बलप्लीहा वाले, कफोदर, उरूस्तम्भ, वर्चोभेद (पुरीष का अधिक निकलना),

विषगर पीत, पित्तकफाभिष्यन्द, क्रूरकोष्ठ, श्लीपद, गलगण्ड, अपची तथा क्रिमिरोग में अनुवासन कर्म न कराए। च० सि० २/१७.

अनुवासन कर्म के योग्य—जो लोग आस्थापन कर्म के योग्य हैं वे ही अनुवासन कर्म के भी योग्य हैं। विशेषकर रूक्ष, तीक्ष्णाग्नि वाले तथा केवल वात रोग से पीड़ित में अनुवासन कर्म प्रधानतम हैं। च० सि० २/१९.

शिरोविरेचन के अयोग्य—अजीर्ण रोगी, अन्न खाए हुए, स्नेह पान किए हुए, मद्य एवं जल पीने की इच्छा वाले, शिर से स्नान किये हुए, स्नान करने की इच्छा व भूख प्यास एवं श्रम से पीड़ित, मूर्च्छित, शस्त्र दण्ड से आहत, व्यवाय, व्यायाम एवं मद्यपान से क्लान्त, नवज्वरी, शोक से दुःखित, विरेचन कर्म किया हुआ, अनुवासन कर्म किया हुआ, गर्भिणी, नये प्रतिश्याय रोग पीड़ित आदि में प्रतिकूल ऋतु तथा मेघाच्छन्न दिन में शिरोविरेचन कर्म न करे। च० सि० २/२०.

शिरो विरेचन के योग्य—उपर्युक्त दशाओं के अतिरिक्त व्यक्तियों में शिरो विरेचन उपयुक्त है। विशेषकर शिरःस्तम्भ, दन्तस्तम्भ एवं मन्यास्तम्भ, गलग्रह तथा हनुग्रह, पीनस, गलशुण्डिका, शालूक, शुक्र रोग, तिमिर तथा वर्त्मरोग, व्यङ्ग, उपजिह्विका, अर्धावभेदक, ग्रीवा, स्कन्ध, अंस, मुख, नासिका, कर्ण, अक्षि, मूर्धा, कपाल आदि के रोग, शिरोरोग, अर्दित, अपतन्त्रक, अपतानक, गलगण्ड, दन्तशूल, दन्तहर्ष, दन्तचाल, अक्षिराजि (नेत्ररोग विशेष), अर्बुद, स्वरभेद, दाग्ग्रह (वाणी का न निकलना) गद्गदकथन (टूट-टूटकर वाणी का निकलना) आदि ऊर्ध्व जत्रुगत वातविकारों में शिरोविरेचन कर्म प्रधानतम है। उपर्युक्त व्याधियों में शिरोविरेचन मूँज की कूँची के समान ऊर्ध्व जत्रुगत समस्त विकारों को उत्पन्न करने वाले दोषों को दूर कर देता है। च० सि० २/२२.

अनृतु (ऋतु के विपरीत) काल में शिरोविरेचन कर्म का निषेध :—प्रावृट काल (वर्षारम्भ काल) शरद तथा वसन्त काल के अतिरिक्त आत्यविक काल में शिरोविरेचन कर्म नहीं करना चाहिए। यदि रोगी की स्थिति अत्यधिक (आपात कालीन) हो तो हेमन्त ग्रीष्म वर्षा ऋतु में भी जो कि निषिद्ध काल कहा गया है उसमें भी नावन क्रिया नस्य क्रिया द्वारा शिरोविरेचन कर्म कृत्रिम गुणोपधान विधि अपनाकर करना चाहिए। अर्थात् ग्रीष्मऋतु में प्रातःकाल, शीत ऋतु में मध्याह्न काल तथा वर्षा ऋतु में मेघ के न होने पर शिरोविरेचन करावे। आचार्योक्त वचन निम्न है। यथा :—

प्राट्वृशरद्वसन्तेतरेष्वात्ययिकेषु रोगेषुनावनं कुर्यात् कृत्रिमगुणोपधानात्, ग्रीष्मे पूर्वाह्णे, शीतेमध्याह्ने, वर्षास्वदुर्दिनेचेति। चि० सि० २.२३.

उपर्युक्त अवतरणों में हमने पंचकर्म के योग्य व अयोग्य पुरुषों का विवरण प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्रायः सभी रोगों के संशमनार्थ भी पंचकर्म का विधान निर्देशित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पंचकर्म का विधान केवल संशोधन ही के लिए नहीं वरन् रोगों के संशमनार्थ भी किया जा सकता है। बहुत से ऐसे रोग हैं जिनमें संशोधन व संशमन चिकित्सा दोनों की ही अपेक्षा होती है। पंचकर्म के विधान से संशोधन तथा संशमन दोनों प्रकार के उपक्रम के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

अब हम आगे वमनादि पंचकर्म की विधि का पृथक् पृथक् विचार करेंगे जैसाकि चरक संहिता के कल्प तथा सिद्धि स्थान में प्राप्त होता है। वमनादि पंचकर्मों की विधि के विवेचन करने के पूर्व हम वमन विरेचन कर्म का आचार्योक्त लक्षण विषय को स्पष्ट करने के निमित्त इस प्रसङ्ग में प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं जिससे कि इन शब्दों का स्पष्ट फलितार्थ ज्ञात हो सके। आचार्य दृढ़बल ने वमन विरेचन शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से निर्देशित किया है। यथा—

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमन संज्ञकम्, अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्, उभयं वा शरीरमल विरेचनाद्विरेचन संज्ञां लभते। च० क० १/४.

अर्थात् शरीर के ऊर्ध्वभाग (मुख) से शारीरिक दोषों को निकालने को वमन तथा शरीर के अधोभाग से (गुदा) दोषों को निकालने को विरेचन संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वमन एवं विरेचन दोनों को ही शरीर से मल निकालने के कारण विरेचन संज्ञा से संज्ञित किया जाता है।

वमन कर्म विधि वमन करने के पूर्व कृत्य कर्मों, प्रयोज्य शामक औषधियों तथा वमन कर्म की अवधि आदि का विशद वर्णन आचार्य दृढ़बल ने निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा—

अथच्छर्दनीयमातुरं द्वयहं त्र्यहं वा स्नेह स्वेदोपपन्नं श्वश्छर्दयितव्यमिति ग्राम्यानूपौदक मांस रस क्षीरदधिमाषतिलशाकादिभिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं व्युषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे कृत बलि होममंगलप्रायश्चित्तं निरन्नमनतिस्निग्धं यवाग्वा घृतमात्रां पीतवन्तं, तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिं यावद्वा साधु मन्येत जर्जरीकृत्य यष्टिमधुकषायेण कोविदार-कर्बुदारनीप-विदुल विम्बी-शणपुष्पी-सदापुष्पी-प्रत्यक्पुष्पी-कषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृद्य पूतं मधु सैन्धवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावंमन्त्रेणानेनाभिमन्त्रयेत्। अभिमन्त्र्यानन्तरं उदङ्मुखं प्राङ्मुखं वाऽऽतुरं पाययेच्छ्लेष्मज्वरगुल्म प्रतिश्यायार्तं विशेषेण पुनः पुनरापित्तागमनात्, तेन साधु वमति, हीनवेगं तु पिप्पल्यामलक सर्षप वचाकल्क लवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेदापित्त दर्शनात्। इत्येष सर्वश्छर्दनयोग विधिः। च० क० १/१४.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य दृढ़बल ने वमन विधि का विशद वर्णन करते हुए कहा है कि—वमनकर्म के योग्य रोगी को दो या तीन दिन स्नेहन तथा स्वेदन कर्म कराये। तदनन्तर कल वमन कराना है ऐसा विचार कर रोगी को कफ प्रकोपक आहार यथा ग्राम्य, आनूप तथा जलचर जन्तुओं का मांस रस, दूध, दही, माष, तिल, एवं शाक आदि का सेवन कराए। रात्रि के व्यतीत होने पर आहार के पच जाने पर पूर्वाह्ण में बलिकर्म, होम, मंगलकार्य तथा प्रायश्चित्त करके अनाहार रखते हुए अल्प स्निग्ध युक्त यवागू के साथ धृत पिलायें। तदनन्तर मदन फल या पिप्पली की अन्तर्नखमुष्टिमात्रा (हथेली को स्पर्श करते हुए नख से बँधी मुट्ठी में आगत परिमाण) अथवा जितना परिमाण उचित हो समझकर उसे कूटकर यष्टिमधु के कषाय में अथवा कोविदार, कर्बुदार, नीप, विदुल, बिम्बी, शणपुष्पी, सदापुष्पी, प्रत्यक्पुष्पी इनमें से किसी एक के कषाय में रात्रिभर रखे, पुनः उसे मसल करके छान ले तथा उसमें मधु तथा सैन्धव लवण डालकर थोड़ा गरम करके कसोरे में भर ले तथा "ओम्-ब्रह्मदक्षादि" मंत्र का पाठ कर रोगी को उत्तराभिमुख या पूर्वाभिमुख कराके श्लेष्मा, ज्वर, गुल्म, प्रतिश्याय आदि रोगों से विशेष रूप पीड़ित को जब तक पित्त बाहर न निकल जाय तब तक बार बार पिलाए। इस प्रकार से किये गए विधि से रोगी अच्छी प्रकार वमन करता है। यदि रोगी के वमन का वेग हीन है अर्थात् अल्प वेग का हो तो पिप्पली, आमलकी, सर्षप, वचाकल्क, लवणोदक अथवा उष्णोदक से वमन को बार बार प्रवृत्त कराये जब तक कि वमित द्रव्य में पित्त न दिखे। सभी वमन प्रयोगों में यही विधि निर्दिष्ट की गई है।

इसी प्रकार वमन के लिए प्रयुक्त औषधियों के विविध योग से अनेक वमन योगों का वर्णन कल्प स्थान में प्राप्त होता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम सभी योगों का वर्णन करना उचित नहीं समझते। किन्तु पाठकों के निदर्शनार्थ विविध औषधियों के अकेक विधयोगों की संख्या का उल्लेख करना उचित समझते हैं जिससे कि आयुर्वेद के युक्तियुक्त बहुसंख्यक योगों का रोगी के अनुसार विधान करने की महत्ता का अवबोध हो सके।

कल्प स्थान के प्रथम ६ अध्यायों में केवल वामक औषधियों के विविध योगों का विवरण प्राप्त होता है। प्रथम अध्याय मदन कल्प का है जिसमें १३३ विविध योगों का वमनार्थ विवरण मिलता है। द्वितीय अध्याय जीमूतकल्प का है, इसमें जीमूत के ३९ विविध योगों का वमन कर्म के लिए निर्देश मिलता है। तृतीय अध्याय इक्ष्वाकु कल्प का है, इसमें इसके ४५ विविध योगों का वमन कर्म के लिए विधान प्रतिपादित किया गया है। चतुर्थ अध्याय में धामार्गव कल्प का विधान निर्देशिन किया गया

है। इसके ६० विविध योगों का प्रयोग वमन कर्म के लिए विहित किया गया है। पंचम अध्याय वत्सक कल्प से सम्बन्धित है। इसमें इसके १८ विविध योगों का वमन के लिए प्रयोग निर्दिष्ट किया गया है। षष्ट अध्याय कृतवेधन कल्प का है जिसमें इसके ६० विविध योगों का विवरण वमन कर्म के लिए प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार कुल ३५५ वमनकारी योगों का सुस्पष्ट विवरण प्राप्त होता है।

विरेचन विधि—आचार्य चरक ने सूत्र स्थान के उपकल्पनीय नामक १५वें अध्याय में संशोधन कर्म के निमित्त वमन विरेचन कर्म की प्रयोग विधि विस्तार से वर्णित किया है। इसी विवरण के अनुसार हम इस प्रसङ्ग में विरेचन विधि का उल्लेख करेंगे। विषय के स्पष्ट अवबोधार्य आचार्य चरकोक्त निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं कृतहोमबलिमंगलजपप्रायश्चित्तमिष्टे तिथिनक्षत्रकरणमूहूर्ते ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कल्कमक्षमात्रं यथार्हालोडनप्रतिविनीतं पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च, सम्यक् विरिक्तं चैनं वमनोक्तेन घूमवर्जेन विधिनोपपादयेदाबलवर्गप्रकृतिलाभात्, बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरस्नातमनुलिप्तगात्रं स्त्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतमनुरूपालंकारालंकृतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेत्, अथैनं कामेष्ववसृजेत्। च० सू० १५/१७.

अर्थात् विरेचन कर्म किये जाने वाले व्यक्ति को स्नेह तथा स्वेद क्रिया करने के पश्चात् प्रसन्न मन वाला जानकर उसे अच्छी तरह रखते हुए भोजन के अच्छी प्रकार से पच जाने पर, होम बलि, मंगल, जप, प्रायश्चित्त आदि कर्मों को पूर्ण करके अभीष्ट तिथि, नक्षत्र, करण तथा मुहूर्त में ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराके त्रिवृतकल्क की एक कर्ष मात्रा योजनीय द्रव्यों में यथा अम्ल रस वाले द्रव्यों के कषाय में अथवा गौ, भेड़, बकरी, भैंस के मूत्र में या त्रिफला कषाय में अच्छी प्रकार से आलोडित (मिलाकर) करके; रोगी के दोष, प्रयुक्त औषधि, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व. प्रकृति, वय, विभिन्न अवस्था एवं विकार आदि का विचार करते हुए पिलाये। जब व्यक्ति अच्छी तरह से विरेचित हो जाय तो उसे वमन कर्म में कहे हुए संसर्जन विधि से जब तक उसे बल, वर्ण और प्राकृत अवस्था की प्राप्ति न हो जाय तब तक रखे। जब व्यक्ति बल, वर्ण से युक्त हो जाय और मानसिन प्रसन्नता से युक्त हो ऐसा जानकर उसे सुखपूर्वक रखते हुए आहार के अच्छी प्रकार से पच जाने पर शिर से स्नान कराके शरीर में विविध प्रकार के गन्ध, चन्दन आदि सुगन्धित अनुलेपों का अनुलेपन करके सुन्दर पुष्पों की माला पहनाकर स्वच्छ वस्त्र धारण कराके यथोचित अलंकारों से विभूषित

करके उसे अपने मित्रों को दिखाए, तत्पश्चात् उसे अपने जाति बन्धु-बान्धवों को दिखाए। तदनन्तर उसे अभीष्ट कार्यों में प्रवृत्त कराए।

उपर्युक्त विधि से विरेचन कर्म कराने से व्यक्ति का कोष्ठ संशोधित हो जाता है तथा वह अनेक व्याधियों से जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, मुक्त हो जाता है। इस प्रकार के २४५ विरेचन योगों का रोगी के दोष, भेषज, देश, काल, बल, सात्म्य, सत्व, प्रकृति एवं वय के अनुसार विरेचन कर्म के निमित्त व्यवहार करने का निर्देश कल्प स्थान के ६ अध्यायों में प्राप्त होता है। उन सभी विरेचन योगों का वर्णन ग्रंथ विस्तार भय से संभव नहीं है। तथापि आयुर्वेद के पंचकर्मों के विस्तार, विशदता एवं महत्ता को पाठकों के निदर्शनार्थ प्रतिपादित करने के निमित्त हम विविध औषधियों के योगों की संख्या का उल्लेख करना उचित समझते हैं।

त्रिवृत् के ११० विविध योगों का व्यक्ति के दोष, देश, काल, बल, सत्व, सात्म्य, प्रकृति आदि के अनुसार विशद प्रतिपादन किया गया है। त्रिवृत् को श्रेष्ठ विरेचक बतलाते हुए आचार्य निम्नोक्त विचार प्रस्तुत करते हैं। यथा—

विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः।
तस्याः संज्ञा गुणाः कर्म भेदः कल्पश्च वक्ष्यते॥ च० क० ७/३.

चतुरंगुल (अमलतास) के १२ योगों का विरेचन कर्म के निमित्त विधान निर्देशित किया गया है। तिल्वक (लोध) के १६ योगों का विवरण विरेचन के निमित्त प्रतिपादित किया गया है। तीक्ष्ण विरेचन के रूप में सुधा (स्नुहीक्षीर) के २० योगों का विवेचन सुधाकल्प अध्याय में निर्दिष्ट किया गया है। स्नुहीक्षीर को तीक्ष्ण विरेचनीय बतलाते हुए आचार्य निम्नोक्त निर्देश का उल्लेख करते हैं। यथा—

विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता।
संघातं हि भिनत्त्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा॥
तस्मान्नैषा मृदौकोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन।
न दोषनिचये चाल्पे सति मार्गपरिक्रमे॥ च०क० १०/३-४

अर्थात् सभी विरेचकों में सुधा तीक्ष्णतम होती है, जो कि दोषों के संघात को (श्लिष्ट रूप से एकत्रित) को शीघ्र ही तोड़ देती है। अति तीक्ष्ण होने के कारण यह दुःसाध्य भ्रम रोग को उत्पन्न करती है। अतः मृदु कोष्ठ व्यक्ति (मृदु विरेचन से विरेचन होने वाले) में यह कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। दोषों के अल्पसंचय में तथा विरेचन कर्म के अन्य मार्ग से प्रवृत्त होने की स्थिति में भी इसका विरेचन के लिए प्रयोग नहीं करना चाहिए। अन्य मार्ग से विरेचन की प्रवृत्ति का तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें विरेचन मार्ग में कोई अवरोध हो।

सप्तला शंखिनी के ३९ योगों का विरेचन के लिये प्रयोग सप्तला शंखिनी कल्प अध्याय में निर्दिष्ट किया गया है। दन्ती द्रवन्ती के ४८ विविध योगों का रोगी के दोष, बल, सात्म्य, सत्त्व, वय एवं प्रकृति के अनुसार विरेचन के लिये विधान दन्ती द्रवन्ती कल्प में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार कुल २४५ योगों का विरेचन के लिये रोगी के बल, सात्म्य, सत्त्व, वय प्रकृति आदि के अनुसार प्रयोग का विस्तार से वर्णन मिलता है।

पंचकर्म विधान से पूर्व विहित कर्म —आचार्य चरक ने पंचकर्मों का संक्षिप्त विवरण सूत्र स्थान के द्वितीय अध्याय में प्रतिपादित किया है। पंचकर्मों का विधान प्रारम्भ करने के पूर्व स्नेहन स्वेदन कर्म अपेक्षित होता है जिससे कि शरीरगत दोष शाखा (रक्तादि सप्त धातु तथा त्वचा) को छोड़कर कोष्ठ में चले आयें। तदुपरान्त कोष्ठ में उपस्थित दोषों का पंचकर्म द्वारा निर्हरण करना चाहिये। उक्त तथ्य का विवरण प्रतिपादित करते हुये आचार्य चरक निम्नोक्त वचन में कहते हैं कि

तान्युपस्थित दोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः।
पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्॥ च सू० २/१५.

अर्थात् स्नेहन तथा स्वेदन क्रिया के द्वारा शाखा से कोष्ठ में लाये गये दोषों के निर्हरण के लिए रोगी के सत्त्व, बल, सात्म्य, वय, प्रकृति, काल आदि का विचार करते हुये तथा प्रयुज्य औषधि की मात्रा का उचित निर्धारण करते हुये पंचकर्म का विधान करें।

चरक संहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त चरकोक्त वचन की स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा है कि पूर्वोक्त पंचकर्मों का विधान विविध प्रकार के स्नेहन एवं स्वेदन कर्मों द्वारा शाखाश्रित दोषों को कोष्ठ में लाने के पश्चात् करे अर्थात् जो दोष रक्तादि धातुओं में लीन हो गये हों वे अपनी लीनता को छोड़कर कोष्ठ में चले आयें जिससे कि दोषों का निर्हरण वमनादि कर्मों द्वारा अच्छी तरह से हो सके। पंचकर्म की प्रवृत्ति में प्रधान कारण दोषों का कोष्ठ में उपस्थित होना ही है। यदि दोषों की कोष्ठ में उपस्थिति स्नेहन स्वेदन कर्म के बिना ही हो तो उस स्थिति में स्नेहन स्वेदन जैसे पूर्वकर्म करने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से ज्वर चिकित्सा के विधान में प्रतिपादित किया है। यथा—

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्॥ च० चि० ३/१४६.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि—कफ, प्रधान उत्क्लिष्ट दोष यदि हृल्लास अर्थात् मिचली आना आदि लक्षणों से युक्त हो तो

उस बहिर्गमनोन्मुख दोषों जिससे स्पष्ट ही दोषों की आमाशय में अवस्थिति ज्ञात होती है ऐसा जानकर उस स्थिति में वमन द्वारा निर्हरणीय दोषों का विविध योग वाले वमनों से निर्हरण करे।

आमाशय में अनुपस्थित दोषों का तरुण ज्वर में वमन कराने से हृद्रोग, श्वास, आनाह तथा मोह आदि उग्र व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। क्योंकि पूरे शरीर में व्याप्त दोष जो कि जमे हुए तथा स्थिर रूप में धातुओं में स्थित रहते हैं वे सरलता से उसी प्रकार नहीं निकलते हैं जिस प्रकार कच्चे फल को निपीड़ित करने (गारने) से रस नहीं निकलता। अनुपस्थित दोष को बलात् निकालने से अनेक आपात स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उक्त तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से निर्देशित किया है जो कि प्रस्तुत प्रसंग में द्रष्टव्य है। यथा—

अनुपस्थित दोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे।
हृद्रोगं श्वासमानाह मोहं च जनयेद्भृशम्॥
सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः।
दोषाः फलानामामानां स्वरसा इव सात्ययाः॥

च० चि० ३/१४७-१४८.

पंचकर्म के विधान में मात्रा एवं काल का विचार अपेक्षित है। क्योंकि रोगी के दोष, बल, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति आदि के अनुसार ही औषधि की मात्रा का निर्धारण होना चाहिए। तथा किस काल में पंचकर्म करना श्रेयस्कर है यह विचार भी रोगी के रोग प्रशमन में सफलता का कारण होता है। इसी तथ्य को लक्ष्यकर आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन में मात्रा काल विचार मूलक पंचकर्म योजना की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हुए युक्तिज्ञ चिकित्सक की प्रशंसा किया है। यथा—

मात्रा कालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता।
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा॥ च० सू० २/१६.

शिरोविरेचन कर्म—आचार्य चरक ने शिरोविरेचन कर्म का विवरण निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीर्मरिचानि च।
विडंगान्यथ शिग्रूणिसर्षपांस्तुम्बुरूणि च॥
अजाजीं चाजगन्धां च पीलून्येलां हरेणुकाम्।
पृथ्वीकां सुरसां श्वेतां कुठेरकफणिज्झकौ॥
शिरीषबीजं लशुनं हरिद्रे लवणद्वयम्।
ज्योतिष्मतीं नागरं च दद्यात् शीर्षं विरेचने॥

गौरवे शिरसः शूले पीनसेऽर्धावभेदके ।
क्रिमिव्याधौ अपस्मारे घ्राणनाशेप्रमोहके ।। च० सू० २/३-६.

शिरोविरेचन कर्म विधि—यथोक्त विधि से स्नेहन स्वेदन पूर्व कर्मों से युक्त रोगी को शिरोविरेचन के लिए अपामार्ग बीज, पिप्पली, मरिच, विडंग, शिग्रु, सर्षप, तुम्बुरू, अजगन्ध, पीलू, एला हरेणुका, पृथ्वीका, सुरसा, कुठेरक, फणिज्झक, शिरीष बीज, लशुन, हरिद्रा, सौवर्चल तथा सैन्धव लवण, ज्योतिष्मती, शुण्ठी आदि औषधियों में से किसी एक औषधि को अथवा समूह रूप में अनेक औषधियों का शिरोविरेचन के लिए प्रयोग करे। शिरोगौरव, शिरःशूल, पीनस, अर्धावभेदक, शिरोगत क्रिमिव्याधि, अपस्मार, घ्राणनाश (सूंघने की शक्ति का नाश) तथा मूर्च्छा आदि रोगों में शिरोविरेचन कर्म का विधान करना चाहिए। शिरोविरेचन कर्म से प्रायः तीनों दूषित दोषों का निर्हरण होता है। इस तथ्य का ज्ञान हमें शिरोविरेचन साध्य रोगों की उपर्युक्त गणना से होता है। उदाहरणार्थ शिरोगौरव एवं पीनस कफ दोष के अनुबन्ध (सम्बन्ध) से, शिरः शूल एवं अर्धावभेदक वातानुबन्ध से, मूर्च्छा रोग पित्तानुबन्ध से तथा क्रिमिव्याधि व अपस्मार तीनों ही दोषों की दुष्टि से होते हैं। इस दृष्टि से शिरोविरेचन कर्म की उपयोगिता शिरोगत तीनों दोषों की दुष्टि से होने वाली व्याधियों में स्पष्ट ज्ञात होती है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह तथ्य विचारणीय है कि जहाँ वमन, विरेचन एवं बस्ति कर्म क्रमशः कफ, पित्त एवं वात दोष के निर्हरण के निमित्त निर्देशित किए गए हैं, वहीं शिरोविरेचन का विधान तीनों ही दोषों के संशोधन के निमित्त किया जा सकता है, जैसाकि आचार्योक्त शिरोविरेचन साध्य रोगों की गणना से पुष्ट होता है। वस्तुतः आयुर्वेद के आचार्यों ने शिर को सभी अंगों में उत्तमांग माना है जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ।। च० सू० १७/१२.

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि प्राणियों के प्राण तथा सभी इन्द्रियाँ शिर में आश्रित होती हैं अतः इसे सभी अंगों में उत्तम अंग कहा जाता है। शिरोविरेचन कर्म की उपयोगिता बतलाते हुए शालाक्य तंत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष मूल के स्वस्थ (निर्विकार) रहने पर अपनी शाखा प्रशाखाओं तथा पुष्प फल आदि से पूर्ण होता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार शिर के निर्विकार रहने से मनुष्य का देह स्वस्थ रहते हुए वृद्धि को प्राप्त होता है। वचन भी है। यथा—

अनामये यथा मूले वृक्षः सम्यक् प्रवर्धते।
अनामये शिरस्येवं देहः सम्यक् प्रवर्धते ।।
चक्रपाणि द्वारा शालाक्य तंत्र से उद्धृत

वमन कर्म—शिरोविरेचन कर्म के अनन्तर वमन कर्म का वमन साध्य दोषों के संशोधन के निमित्त आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से विधान प्रस्तुत किया है। यथा—

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम्।
पिप्पली कुटजेक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च॥
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये।
वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग्देहमदूषयन्॥ च० सू० २/७-८.

वमन कर्म के लिए मदनफल, मधुक, (मधुयष्टि) निम्ब, जीमूत, कृतवेधन (अमलतास), पिप्पली, कुटज, इक्ष्वाकु, एला तथा धामार्गव आदि औषधियों का प्रयोग अलग अलग अथवा समूह रूप में प्रयोग करे। वमन कर्म का विधान कफ व पित्त दोष वाले व्याधियां जो आमाशयाश्रित हों उनके लिए करे। यद्यपि ऊर्ध्व आमाशय कफ का स्थान है और अधो आमाशय पित्त का तथापि पित्त के दूषित होने पर पित्त अपने स्वाभाविक स्थान को छोड़कर कफ के स्थान में चला जाता है, परिणाम स्वरूप अनेक व्याधियों को उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में पित्त के निर्हरण के लिए वमन कर्म का विधान अपेक्षित है। सामान्यत: पित्त का निर्हरण वमन से नहीं अपितु विरेचन कर्म से कराया जाता है। किन्तु पित्त के कफ स्थान पर जाने से तथा इसके श्लेष्मा से सम्बन्धित हो जाने के कारण वह वमन का विषय हो जाता है जैसाकि निम्नोक्त शास्त्र वचन से ज्ञात होता है। यथा -

"दोष स्थान गतं दोषं स्थानिवत् समुपाचरेत्"।

चक्रपाणि द्वारा उद्धृत

अर्थात् किसी दोष के स्वाभाविक स्थान पर दूसरे दोष के जाने पर स्वाभाविक स्थान वाले दोष के अनुरूप ही उपचार करना चाहिए।

विरेचन कर्म--दोष संशोधन क्रम में शिरोविरेचन से शिरोगत दूषित दोषों के निर्हरण के अनन्तर आमाशय के ऊर्ध्वभाग से दूषित दोषों का निर्हरण वमन कर्म द्वारा करने के पश्चात् आचार्य ने अधो आमाशयगत दूषित पित्त के निर्हरण के निमित्त विरेचन कर्म के विधान का प्रस्तुतीकरण निम्नोक्त वचन से किया है। यथा—

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नीलिनीं सप्तलांवचाम्।
कम्पिल्लकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकीर्यकाम्॥
पीलून्यारग्वधं द्राक्षा द्रवन्तीं निचुलानिच।
पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत्॥ च०सू० २/९-१०

पक्वाशय गत दोष के निर्हरण के लिए विरेचन कर्म कराने के निमित्त त्रिवृत,

त्रिफला, दन्ती, नीलिनी, सप्तला-वचा, कम्पिल्लक, गवाक्षी, दुग्धिका, उदकीर्यका, पीलू, आरग्वध, द्राक्षा, द्रवन्ती, निचुला आदि औषधियों का प्रयोग करें। यहाँ पर पक्वाशयगत से अभिप्राय है—"पक्वश्चासौ आशयगतश्चेति पक्वाशयगतः" चक्रपाणि। अर्थात् पित्ताशय में ही जो आमाशय का अधोभाग है वहीं दोष के दूषित होने पर व्यक्ति विरेचन योग्य होता है न कि पक्वाशयगत। क्योंकि पक्वाशय वात का स्थान है वहाँ वात के दूषित होने पर बस्ति कर्म विहित है, अतः यहाँ पर पक्वाशयगत दोष से विरेचन कर्म से निर्हरण योग्य पित्त व कफ पित्त का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि कहा भी है –

"पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्।
स्रंसनं, त्रीन् मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्॥

च० चि० ३/१७२.

अर्थात् पित्ताशयगत पित्त या कफ पित्त दोष का निर्हरण वमन या विरेचन से करे और पक्वाशय स्थित तीनों दोषों का निर्हरण बस्ति कर्म से करे।

बस्ति कर्म--पक्वाशयगत वातदोष के निर्हरणार्थ अथवा पित्त कफ दोष जो कि वमन, विरेचन कर्म के पश्चात् भी कुछ शेष रह जाते हैं उनके निर्हरण के लिए भी बस्ति कर्म का विधान किया जाता है। बस्ति कर्म दो प्रकार का होता है। प्रथम आस्थापन बस्ति तथा द्वितीय अनुवासन बस्ति। आस्थापन बस्ति को रूक्षबस्ति या निरूह बस्ति भी कहते हैं। इसमें वातघ्न औषधियों का प्रयोग करते हैं किन्तु इसमें स्नेह (तेल, घृत, वसा या मज्जा) का प्रयोग नहीं करते। आस्थापन या रूक्ष बस्ति कर्म के पश्चात् ही अनुवासन बस्ति का विधान करना चाहिए। अनुवासन बस्ति में वातघ्न औषधियों के साथ स्नेह का प्रयोग करते हैं जिससे वात दोष का संशमन होता है। बस्ति कर्म के निमित्त प्रयुज्य औषधियों तथा बस्ति कर्म साध्य व्याधियों का विवरण आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

पाटलां चाग्निमन्थं च बिल्वं श्योनाकमेव च।
काश्मर्यं शालपर्णीं च पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्॥
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम्।
यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडूचीं मदनानि च॥
पलाशं कत्तृणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च।
उदावर्ते विबन्धेषु युञ्ज्यादास्थापनेषु च॥
अत एवौषधगणात् संकल्प्यमनुवासनम्।
मारुतघ्नमिति प्रोक्तः संग्रहः पाञ्चकर्मिकः॥

च० सू० २/११-१४.

पाटला, अग्निमन्थ, बिल्व, श्योनाक, काश्मरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, निदग्धिका, बला, श्वदंष्टा, बृहती, एरण्ड, पुनर्नवा, यव, कुलत्थ, कोल, गुडूची, मदनफल, पलाश, कतृण, लवणों एवं स्नेहों को बस्ति कर्म के निमित्त प्रयोग में लाए। उदावर्त एवं विबन्ध में आस्थापन बस्ति के लिए उक्त औषधियों का प्रयोग करें। इन्हीं औषधियों का स्नेह के साथ प्रयोग कर अनुवासन बस्ति के रूप में प्रयोग करें।

वमनादि पंचकर्म क्रिया प्रतिपादित करने के अनन्तर वमनादि कर्मों के कदाचित अनुचित योग से जाठराग्नि के मन्द होने पर अथवा वमनादि कर्मों में अनुचित प्रयोग से शूलादि लक्षणों के उत्पन्न होने पर अग्नि को दीप्त करने के निमित्त तथा विविध विकारों के शमन के लिए विभिन्न औषधियों से साधित यवागुओं का विवरण आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से प्रतिपादित किया है। यथा—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि यवागूर्विविधौषधाः।
विविधानां विकाराणां तत्साध्यानां निवृत्तये॥
पिप्पली पिप्पलीमूल चव्यचित्रक नागरैः।
यवागूर्दीपनीया स्याच्छूलघ्नी चोपसाधिता॥
दधित्थबिल्वचांगेरी तक्रदाडिमसाधिता।
पाचनी ग्राहिणी पेया सवाते पांचमूलिकी॥
शालपर्णीबलाबिल्वैः पृश्निपर्ण्या च साधिता।
दाडिमाम्ला हितापेया पित्तश्लेष्मातिसारिणाम्॥

च० सू० २/१७-२०.

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी आदि औषधियों से साधित यवागू, अग्नि को दीप्त करने वाली तथा शूल को नष्ट करने वाली होती है। कपित्थ, बिल्व, चांगेरी, तक्र तथा दाडिम आदि से साधित यवागू दोषों का पाचन करती है तथा दोषों को काटकर बाहर कर देती है। वातातिसार में पंचमूल से साधित यवागू वातातिसार को शान्त करती है। पित्तातिसार व श्लेष्मातिसार में शालपर्णी, बला, बिल्व, पृश्निपर्णी आदि से साधित व दाडिम से अम्लीकृत पेया हितकर होती है। इस प्रकार इस प्रसंग में २८ यवागुओं का विवरण आचार्य ने प्रस्तुत किया है जिन सभी का वर्णन अपेक्षित नहीं है। विषय के निदर्शनार्थ हमने कुछेक का विवरण प्रस्तुत किया है।

अब आगे हम ऐसे कुछ विषयों का विवरण प्रस्तुत करेंगे जिनका पंचकर्म क्रिया से स्पष्टतः महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है एवं जिनका सम्यक् विचार करते हुए ही पंचकर्म निष्पादन का सुपरिणाम प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रसंग में हम चरक संहितोक्त आचार्य अग्निवेश द्वारा जिज्ञासित प्रश्नों के समाधान स्वरूप महर्षि आत्रेय द्वारा प्रतिपादित

विषयों का उल्लेख प्रस्तुत विषयों के स्पष्ट अवबोध के लिए करेंगे। पंचकर्म से सम्बन्धित आचार्य अग्निवेश के प्रश्न निम्नोक्त हैं। यथा—

का कल्पना पंचसु कर्मसूक्ता,
क्रमश्च कः, किं च कृताकृतेषु।
लिंगं तथैवातिकृतेषु, संख्या,
का, किंगुणः, केषु च कश्च बस्तिः॥
किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले,
कृते कियान् वा परिहारकालः।
प्रणीयमानश्च न याति केन,
केनेति शीघ्रं, सुचिराच्च बस्तिः॥
साध्या गदाः स्वैः शमनैश्च केचित्,
कस्मात् प्रयुक्तैर्न शमं व्रजन्ति।
प्रचोदितः शिष्यवरेण सम्यग्
इत्यग्निवेशेन भिषग्वरिष्ठः॥ च० सि० १/३-५.

पंचकर्म में कल्पना क्या है अर्थात् पंचकर्म से पूर्व करणीय कर्म क्या है। पंचकर्म का पूर्वापर आदि क्रम क्या है। कृत तथा अकृत वमन विरेचन का क्या लक्षण है? बस्ति की उचित संख्या क्या है? बस्ति का क्या गुण है? किनमें और किसे बस्ति कर्म कराना उचित है? पंचकर्म काल में क्या वर्जित है। वमनादि कर्मों का परिहार काल क्या है? प्रणीयमान (प्रयास युक्त औषध द्रव्य का पक्वाशय में पहुँचना) बस्ति किस कारण नहीं जाती? किस कारण से बस्तिगत औषध द्रव्य शीघ्र ही बाहर आ जाता है? किस कारण से अत्यधिक काल में वस्तिगत द्रव्य जाता है? साध्य रोग भी किस कारण से (स्वदोष शामक औषधियों से) शान्त नहीं होते। उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने निम्नोक्त प्रकार से किया है जिसे हम क्रमानुसार प्रस्तुत करेंगे।

पंचकर्म से पूर्व करणीय कर्म – हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि वमनादि पंच-कर्मों से पहले व्यक्ति की स्नेहन क्रिया (स्नेहपान) करनी चाहिए तत्पश्चात् स्वेदन कर्म करे जैसा कि निम्नोक्त वचन में कहा गया है। यथा—

स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत्॥ च० सू० १३/९९.

अर्थात् वमनादि पंचकर्मों के पहले व्यक्ति को स्नेह पान कराये तत्पश्चात् स्वेदन कर्म कराये। स्नेहस्वेद क्रिया से युक्त व्यक्ति का संशोधन कर्म करे।

स्नेहस्वेद क्रिया के फल का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि - स्नेहन क्रिया से वात दोष शान्त होता है तथा देह के दोषों से ग्रथित मल का नाश हो जाता है तथा शरीर मृदु हो जाता है। स्नेहयुक्त व्यक्ति के सूक्ष्म स्रोतसों में संचित मल स्वेदन क्रिया से शिथिल होकर द्रव रूप हो जाते हैं जिससे कि दोष का निर्हरण सरल हो जाता है। जैसाकि निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा—

स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदूकरोति,
देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम्।
स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीनं,
स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम्॥ च० सि० १/७.

पंचकर्म में पूर्वापर करणीय कर्म—स्नेहोपपादित व्यक्ति में प्रथम यथोक्त रीति से वमन कर्म कराये। वमन के पश्चात् व्यक्ति को पेया, यवागू आदि का पान करावे। इसके पश्चात् स्नेहोपपादित व्यक्ति को स्वेदन कर्म कराये। इस प्रकार स्निग्ध एवं स्वेदित शरीर वाला व्यक्ति विरेचन कर्म योग्य श्रेष्ठ कहा जाता है। आचार्योक्त वचन निम्नोक्त है। यथा—

स्निग्धाय देयं वमनं यथोक्तं,
वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च।
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनोर्यथावद्,
विरेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम्॥ च० सि० १/१०.

स्नेह पान कराये हुए व्यक्ति का यथोक्त विधि से वमन कराये तत्पश्चात् उसे क्रमशः मंड, पेया यवागू, तथा विलेपी दे। मंड, पेया, यवागू तथा विलेपी क्रमशः उत्तरोत्तर गुरू होते हैं अर्थात् मंड सबसे हल्का तथा विलेपी सबसे गुरू (भारी) होता है। इसी कारण क्रमशः इनका वमित व्यक्ति के लिए प्रयोग करे। तदनन्तर स्नेहस्वेदोपपादित व्यक्ति में विरेचन कर्म कराये।

स्नेहन कर्म की अवधि—स्नेहन क्रिया कम से कम तीन दिन तक तथा अधिक से अधिक सात दिन तक कराना चाहिए। उचित अवधि तक स्नेहन क्रिया के पश्चात् ही स्वेदन कर्म कराना उचित है जैसा कि आचार्य ने निम्नोक्त वचन में कहा है। यथा—

त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु,
स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।
नातः परं स्नेहनमादिशन्ति,
सात्म्यीभवेत् सप्तदिनात् परं तु॥ च० सि० १/६.

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि मृदुकोष्ठ व्यक्ति के लिए तीन दिन तक की स्नेहन क्रिया तथा क्रूरकोष्ठ व्यक्ति के लिए सात दिन तक की स्नेहन क्रिया उपयुक्त होती है। इससे अधिक दिन तक स्नेह कर्म नहीं कराना चाहिए। स्नेहन कर्म के पश्चात् स्वेदन कर्म कराना उचित होता है।

कृत तथा अकृत पंचकर्म के लक्षण—उचित रूप से वमन कराये हुए व्यक्ति का आचार्य ने निम्नोक्त लक्षण बतलाया है। यथा—

क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च,
यस्यैति सम्यक् वमितः स इष्टः।
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ,
तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे॥ च० सि० १|१५.

सम्यक् रीति से वमन होने पर क्रम से कफ, पित्त तथा वात दोष का निर्हरण होना इष्ट होता है। सम्यक् वमन होने पर हृदय, पार्श्व, मूर्धाकी शुद्धि तथा श्रोत्र, चक्षु, रसना एवं घ्राण प्रभृति इन्द्रिय मार्गों की शुद्धि हो जाती है और इन सभी अंगों में हल्कापन की अनुभूति होती है।

उचित रूप से वमन कर्म न होने पर शरीर में स्फोट (फुन्सिया), कोठ (चकत्ते पड़ना) तथा कण्डू (खुजली होना) आदि उत्पन्न हो जाता है। हृदय तथा अन्य स्रोतों की शुद्धि नहीं होती तथा शरीर में भारीपन हो जाता है। अतिवमन होने पर तृषा, मोह, मूर्च्छा, वात प्रकोप तथा निद्राप्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अति वमन से बल, वर्ण, स्वर आदि की हानि होती है।

सम्यक् रीति से विरेचित का लक्षण—स्रोतसों की शुद्धि, इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों) की प्रसन्नता अर्थात् अपने अपने कार्यों में तत्परता, शरीर की लघुता, जाठराग्नि की दीप्तता, विरेचन कर्म जन्य व्याधियों का अभाव तथा निर्हृत पदार्थों में क्रमशः पुरीष, पित्त, कफ तथा वात का निकलना प्रभृति लक्षण सम्यक् विरेचित के होते हैं।

दुर्विरिक्त (अनुचित विरेचित) का लक्षण : कफ, पित्त एवं वात का प्रकोप, अग्नि की मंदता, शरीर की गुरुता, प्रतिश्याय, तन्द्रा, वमन, अरोचक (भोजन में अरुचि) तथा वायु का अनुलोमन न होना, ये सब दुर्विरिक्त के लक्षण हैं।

अति विरेचित के लक्षण—कफ, अन्न, पित्त एवं वात के क्षय से उत्पन्न अंगों की सुप्ति (शून्यता) अंगमर्द (अंगों में मरोड़), क्लम (बिना परिश्रम के थकावट), शरीर में कम्पन, निद्रा, बल की हानि, अंधकार में प्रवेश की अनुभूति, उन्माद एवं हिक्का ये सब अति विरेचित के लक्षण हैं।

वमन विरेचन की कल्पना तथा सम्यक् वमित व सम्यक् विरेचित के लक्षण आदि का विवेचन करने के पश्चात् आचार्य बस्ति कर्म का विधान निम्नोक्त रीति से प्रस्तुत करते हैं। यथा :—

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिः, स्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा ।
तैलाक्तगात्राय ततोनिरूहं, दद्यात् त्र्यहान्नातिबुभुक्षिताय ॥
प्रत्यागते धन्वरसेन भोज्यः, समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम् ।
नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो, नात्याशितः स्यादनुवासनीयः ॥
च० सि० १/२०-२१.

वमन विरेचन कर्म करने के पश्चात् सात दिनों तक व्यक्ति को पेया, यवागू आदि आहार द्रव्यों से संसर्जन कर्म का पालन कराते हुए आठवें दिन प्राकृत आहार देवे। नवें दिन उसे घृत पान कराये अथवा अनुवासन बस्ति देवे। घृतपान अथवा अनुवासन बस्ति देने का विकल्प इस लिए विहित है कि यदि वमन कर्म के पश्चात् विरेचन कराना हो तो नवें दिन अनुवासन बस्ति देवें। उक्त तथ्य की पुष्टि आचार्य जतूकर्ण के निम्नोक्त वचन से भी होती है। यथा :—

"शोधनानन्तरं नवमेऽह्नि स्नेहपानमनुवासनं वा"

आचार्य जतूकर्ण के उपर्युक्त वचन की पुष्टि आचार्य सुश्रुत ने भी निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा :—

विरेचनात् सप्तरात्रे गतेजातबलाय च ।
कृतान्नायानुवास्याय सम्यक् देयोऽनुवासनः ॥ सु० चि० अ० ३७.

स्नेहपान के अतिरिक्त तैलाभ्यंग से भी स्नेह प्रयोग हो सकता है अतः तैलाभ्यंग से स्नेहन कर्म कराके व्यक्ति का स्वेदन कर्म करे। इस प्रकार स्नेह स्वेद कर्म करने के तीन दिन के पश्चात् सम्यक् प्रकार से प्राकृत आहार को लेते हुए व्यक्ति को निरूह बस्ति (स्नेह रहित वातघ्न औषधियों की बस्ति) देवे। निरूह बस्ति देने के पश्चात् व्यक्ति को मांसरस का भोजन कराए अथवा उसके बल, अग्नि व दोष के अनुसार उचित आहार का विधान करे। निरूह बस्ति के पश्चात् उसी दिन की रात में अनुवासन बस्ति देवे। शीत व वसन्त ऋतु में निरूहित व्यक्ति को उसी दिन की रात्रि में अनुवासन बस्ति नहीं देना चाहिए। ऋतु के अनुसार अनुवासन बस्ति देने के काल में भिन्नता होती है इसी तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से स्पष्ट किया है। यथा :—

शीते वसन्ते च दिवाऽनुवास्यो,
रात्रौ शरद्ग्रीष्मघनागमेषु ।

तानेव दोषान् परिरक्षता ये,
स्नेहस्य पाने परिकीर्तिताः प्राक् ।। च० सि० १/२२.

शीत एवं वसन्त ऋतु में दिन में अनुवासन बस्ति देवे, शरद् ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में रात्रि में अनुवासन बस्ति देवे। प्रस्तुत प्रसंग में दिन से अभिप्राय दिवासमीप रात्रि भाग अर्थात् प्रातः काल तथा रात्रि से अभिप्राय है रात्रि समीप दिन भाग यानी सायंकाल।

बस्ति की संख्या : दोष भेद से अनुवासन बस्ति की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। बस्ति संख्या का दोषानुसार निर्धारण आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से प्रतिपादित किया है। यथा :—

एकं तथा त्रीन् कफजे विकारे,
पित्तात्मके पंचतु सप्तवाऽपि।
वातेनवंकादश वा पुनर्वा,
बस्तीनयुग्मान् कुशलोविदध्यात्। च० सि० १/२५.

कफ विकार में एक या तीन, पित्तात्मक विकार में पांच या सात तथा वात दोष के विकार में नौ अथवा ग्यारह संख्यात्मक अनुवासन बस्तिका विधान अभिहित किया गया है। इस प्रकार बस्ति की संख्या का विधान दोषों के अनुसार विषम संख्यात्मक ही कुशल भिषक् करे।

यद्यपि कफ तथा पित्त के निर्हरण के लिए अनुवासन बस्ति का विधान नहीं विहित है, तथापि यदि कफ पित्त दोष वातानुगत हों तो उनमें अनुवासन बस्ति का विधान उचित है।

बस्ति के गुण :—बस्ति के क्या गुण हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य निम्नोक्त समाधान प्रस्तुत करते हैं। यथा :—

बस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायु, बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां, निरत्ययः सर्वगदापहश्च।।
विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी, दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च।
विश्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य, सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः।।
च० चि० १।२७-२८.

निरूह बस्ति के विधान से स्रोतस शुद्धि के कारण वयः स्थापन अर्थात् जरावस्था की स्वाभाविक स्थिति की गति में मन्दता आ जाती है जिससे व्यक्ति शीघ्र जरावस्था को नहीं प्राप्त करता, व्यक्ति का जीवन स्वस्थ एवं सुखी हो जाता है। बल, अग्नि, मेधा स्वर तथा वर्ण से युक्त होता है। बालक, युवा एवं वृद्ध सभी के लिए हितकारी है,

निर्वाध रूप से सभी व्याधियों को नष्ट करती है। पुरीष, कफ, पित्त, वात एवं मूत्र का स्वाभाविक रूप से निर्हरण करती है। शरीर में दृढ़ता प्रदान करती है तथा शुक्र एवं बल को देने वाली होती है। सर्वशरीरगत दोषों के संचय को निकालकर सभी व्याधियों का निरूह बस्ति शमन करती है। निरूह बस्ति के गुणों का उल्लेख करने के पश्चात् आचार्य ने अनुवासन बस्ति के गुणों का विवरण निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा :—

देहे निरूहेण विशुद्ध मार्गे,
सस्नेहनं वर्णबलप्रदं च।
न तैल दानात् परमस्ति किञ्चिद्,
द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते॥
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वा,
दौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा।
तैलं ददात्याशु मनः प्रसादं,
वीर्यं बलं वर्णमथाग्निपुष्टिम्॥
मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्या,
न्नीलच्छदः कोमलपल्लवाश्रयः।
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च,
तथा नरः स्यादनुवासनेन॥ च० सि० १/२९-३१.

निरूह बस्ति देने के पश्चात् शरीरगत स्रोतसों की शुद्धि होने पर व्यक्ति को स्नेह युक्त अनुवासन बस्ति देवे। स्नेह युक्त बस्ति व्यक्ति को सुन्दर वर्ण एवं बल प्रदान करती है। वात पीड़ित मनुष्य के लिए तेल से श्रेष्ठ कोई द्रव्य नहीं हैं। तेल अपने स्नेह गुण से वायु की रूक्षता, गुरूत्व गुण से लघुता तथा उष्ण गुण से शैत्य का नाश करता है। इसके अतिरिक्त तेल शीघ्र ही मन को प्रसन्न करता है तथा वीर्य, बल तथा वर्ण को बढ़ाता है एवं अग्नि को दीप्त करता है। जिस प्रकार मूल के सिंचन से वृक्ष कोमल पल्लवों से युक्त होता हुआ उचित समय पर पुष्प और फल देने वाला हो जाता है उसी प्रकार व्यक्ति अनुवासन बस्ति से उपर्युक्त गुणों से युक्त हो जाता है।

किस व्यक्ति में बस्ति कर्म उचित है—"केषु च कश्च बस्ति" इस प्रश्न का समाधान आचार्य ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

उष्णाभिभूतेषु वदन्ति शीता,
ञ्छीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान्।
तत्प्रत्यनीकौषध संप्रयुक्तान्,
सर्वत्र बस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात्॥ च० सि० १/३५.

उष्णाभिभूत (गर्मी से प्रभावित) व्यक्ति को शीत बस्ति तथा शीताभिभूत व्यक्ति

को सुखकर उष्ण बस्ति देवे। जिस प्रकार का रोगी हो उसके रोग के विपरीत औषधियों से युक्त बस्ति का रोगों के भेद को जानकर विधान करें।

पंचकर्म में अपथ्य परिहार काल—बस्ति आदि कर्मों में जितना समय लगता है उससे दूने समय तक नियमपूर्वक अपथ्य का परित्याग करते हुए समय व्यतीत करना चाहिए। यहाँ वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन एवं नस्य कर्म इन पाँचों कर्मों में यह नियम पालनीय है। आचार्योक्त वचन निम्नोक्त है। यथा—

कालस्तुबस्त्यादिषु याति यावां,
स्तावान् भवेद् द्विः परिहार कालः। च० सि० १/५४.

पंचकर्मकाल में वर्जित कर्म—आचार्य ने पंचकर्म काल में वर्जनीय कर्मों का उल्लेख निम्नोक्त उद्धरण में किया है। यथा—

अत्यासनस्थानवचांसि यानं,
स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान्।
शीतोपचारातपशोकरोषां,
स्त्यजेदकालाहितभोजनं च॥ च० सि० १/५४.

अधिक देर तक खड़ा होना, अधिक देर तक बैठना, अत्यधिक बोलना, अधिक सवारी करना, दिन में सोना, मैथुन करना, वेगों को रोकना, शीत का सेवन, धूप का सेवन, शोक, क्रोध, अकाल भोजन (बिना समय के भोजन) तथा अहित भोजन इन सभी का पंचकर्म निरत व्यक्ति त्याग करे।

विशोधनीय रोग जिनमें बस्ति अपेक्षित है—कुष्ठ, प्रमेह और मेदो रोग में नित्य ही पंचकर्म द्वारा शरीर संशोधन करना चाहिए जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

न बृंहणीयान् विदधीत बस्तीन्,
विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः।
कुष्ठप्रमेहादिषु मेदुरेषु,
नरेषु ये चापि विशोधनीयाः॥ च० सि० १/३६.

अर्थात क्षीण व्यक्ति मे बस्ति कर्म न करे। कुष्ठ, प्रमेह, मेदोरोग, आदि रोगों में नित्य ही संशोधन कर्म करना चाहिए।

अविशोधनीय व्यक्ति—अतिकृश व्यक्ति, क्षत से आहत व्यक्ति, शोष रोगी, अत्यन्त दुर्बल, मूर्च्छित इन सभी व्यक्तियों में संशोधन कर्म न कराए क्योंकि इन व्यक्तियों के दोष में ही जीवन की स्थिति होती है। आचार्योक्त निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

क्षीणक्षतानां न विशोधनीया,
न शोषिणां नो भृशदुर्बलानाम्।
न मूर्च्छितानां न विशोधितानां,
येषां च दोषेषु निबद्धमायुः ॥ च० सि० १/:७.

प्रणीय मान बस्ति का पक्वाशय में न जाने अथवा देर से जाने का कारण-

बस्ति नेत्र का मार्ग बन्द हो जाने से, विषम रूप से नेत्र को गुदा में लगाने से, अर्श, कफ अथवा मल के कारण गुदामार्ग में रुकावट होने से बस्ति भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाती और न सुखपूर्वक बाहर निकल पाती है। यदि वस्ति के अन्दर जाने पर दोषों द्वारा उसका मार्ग आवृत हो जाय तो भी नहीं निकल पाती है अथवा बस्ति में प्रयुक्त औषधि की मात्रा अल्प हो या औषधि की शक्ति दुर्बल हो तो भी अन्दर गई हुई बस्ति सरलता पूर्वक नहीं निकल पाती है। आचार्योक्त वचन निम्नोक्त है। यथा :—

बद्धे प्रणीते विषमं च नेत्रे, मार्गे तथाऽर्शः कफविड्विबद्धे।
न याति बस्तिर्न सुखं निरेति, दोषावृतोऽल्पो यदि वाऽल्पवीर्यः॥
च० सि० १।५५.

बस्ति (औषध द्रव्य युक्त) के शीघ्र निकलने का कारण :—मल, वात या मूत्र के वेग के उपस्थित होने पर यदि वस्ति दी जाय तो तत्काल वह पुनः बाहर आ जाती है, अथवा वायु की अत्यधिक वृद्धि हो, गुदा की बलियाँ दुर्बल हो या बस्ति में प्रयुक्त औषधि अत्यधिक उष्ण वा अत्यधिक तीक्ष्ण हो, कोष्ठ मृदु हो तो भी वस्ति देने पर औषधि शीघ्र ही बाहर चली आती है। निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा :—

प्राप्ते तु वर्चोऽनिल मूत्रवेगे, वातेऽतिवृद्धेऽल्पबले गुदेवा।
अत्युष्णतीक्ष्णश्च मृदौ च कोष्ठे, प्रणीतमात्रः पुनरेति बस्तिः॥
च० सि० १/५६.

स्वदोष शामक औषधियों से भी साध्य रोगों के शान्त न होने का कारण-

मेद और कफ बढ़ जाने से रुकी हुई वायु शूल, अंगों में शून्यता और शोथ को उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में यदि अज्ञानी वैद्य स्नेह का प्रयोग करता है अर्थात् अनुवासन बस्ति देता है तो वह उन रोगों को और बढ़ा देती है। साथ ही जिन रोगों की कल्पना भी उनमें नहीं की जा सकती उनको उत्पन्न कर देती है। परस्पर एक दूसरे के मार्ग को रोके हुए ये रोग प्रायः कष्ट साध्य होते हैं। सुतरां ये रक्तादि अन्य धातुओं को दुष्ट कर ऐसे रोगों को उत्पन्न करते हैं जो अपनी चिकित्सा से शान्त नहीं होते। आचार्योक्त उद्धरण निम्नोक्त है। यथा :—

भेदः कफाभ्यामनिलौ निरुद्धः, शूलांगसुप्तिश्वयथून् करोति ।
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तुलस्मै, संवर्धयत्येव हि तान् विकारान् ॥
रोगास्तथाऽन्येऽप्यवितर्क्यमाणा, परस्परेणावगृहीतमार्गाः ।
संदूषिता धातुभिरेव चान्यैः, स्वैर्भेषजैर्नोपशमं व्रजन्ति ॥

च० सि० १/५७-५८.

शिरोविरेचन :—

इस प्रकार निरुहवस्ति तथा अनुवासन बस्ति के सम्बन्ध में सभी आवश्यक तथ्यों का आचार्य ने यथोचित निर्देश किया है। अनुवासन बस्ति के पश्चात् आचार्य ने शिरोविरेचन का विधान निर्देशित किया है जो कि निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा :—

विशुद्धदेहस्य ततः क्रमेण, स्निग्धं तलस्वेदितमुत्तमांगम् ।
विरेचयेत् त्रिर्द्विरथैकशो वा, बलं समीक्ष्य त्रिविधं मलानाम् ॥
उरः शिरोलाघवमिन्द्रियाच्छ्यं, स्रोतोविशुद्धिश्च भवेद्विशुद्धे ।
गलोपलेपः शिरसो गुरुत्वं, निष्ठीवनं चाप्ययदुर्विरिक्ते ॥
शिरोक्षिशंखश्रवणार्तितोदा, वत्यर्थ शुद्धे तिमिरं च पश्येत् ।
स्यात्तर्पणं तत्र मृदु द्रवं च, स्निग्धस्य तीक्ष्णं तु पुनर्न योगे ॥

च० सि० १/५०-५२

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने शिरोविरेचन योग्य पुरुष का उल्लेख करते हुए शिरोविरेचन के सम्यक् योग, अयोग व अतियोग का लक्षण भी प्रतिपादित किया है।

शिरोविरेचन :—अनुवासन और निरुह बस्ति से जिस व्यक्ति का शरीर शुद्ध हो गया हो उस व्यक्ति के शिरोप्रदेश का शिर के अभ्यंग तथा शिरोबस्ति से स्नेहन करके हाथ के तलवों का स्वेदन करे तद् पश्चात् शिरोप्रदेश का स्वेदन करें। तदनन्तर वात, पित्त, कफ, इनके उत्तम, मध्यम तथा हीन बलों का सम्यक् विचार करके उत्तम दोष, वालों में तीन बार, मध्यम दोष वालों के दो बार और हीन दोष वालों में एक बार शिरोविरेचन (नस्य) देना चाहिए।

इस प्रसंग में यह ध्यान देना आवश्यक है कि यहाँ क्रम से वमन, विरेचन, निरूह बस्ति तथा अनुवासन बस्ति इन चार क्रियायों के पश्चात् शिरोविरेचन का विधान बतलाया गया है। यदि निरूह तथा अनुवासन बस्ति की आवश्यकता न हो तो वमन, विरेचन कर्म के पश्चात् ही शिरोप्रदेश का स्नेहन, स्वेदन करने के पश्चात् शिरोविरेचन (नस्य) दिया जा सकता है।

शिरोविरेचन के सम्यक् योग का लक्षण :—यदि शिरोविरेचन का प्रयोग उचित रूप में सम्पादित किया जाय तो वक्षप्रदेश और शिराप्रदेश में हल्कापन की अनुभूति होती

है। इन्द्रियाँ स्वच्छ होकर अपने-अपने विषयों के ग्रहण में अच्छी तरह प्रवृत्त होती हैं। सभी स्रोत शुद्ध हो जाते हैं।

शिरोविरेचन के अयोग का लक्षण :—यदि शिरोविरेचन का प्रयोग उचित न हुआ तो गले में कफ का भरा होना, शिर में भारीपन, पुनः पुनः थूकने की प्रवृत्ति आदि लक्षण प्राप्त होते हैं।

शिरोविरेचन के अतियोग का लक्षण :—शिरोविरेचन के अधिक हो जाने पर शिर, नेत्र, शंख प्रदेश और कान में पीड़ा तथा सूई चुभोने की-सी वेदना होती है। रोगी अपने आँखों के सामने अँधेरा देखता है।

शिरोविरेचन के अतियोग का उपचार—शिरोविरेचन के अतियोग हो जाने पर रोगी को मृदु एवं द्रव पदार्थ खाने के लिए देना चाहिए।

शिरोविरेचन के अयोग में कर्तव्य कर्म :—यदि शिरोविरेचन का अयोग हो गया हो तो स्नेहन क्रिया के पश्चात् व्यक्ति को तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए।

पंचकर्म क्रिया से लाभ : पंचकर्म क्रिया के लाभ का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि पंचकर्म से मुख्यतः पाँच लाभ होते हैं। प्रथम रोगी का रोग से मुक्ति द्वितीय स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा, तृतीय बल की वृद्धि, चतुर्थ आयु (जीवन काल) की वृद्धि तथा पंचम रोगों का नाश। आचार्योक्त वचन निम्नलिखित है। यथा :—

> इत्यातुरस्वस्थसुखःप्रयोगो,
> बलायुषोर्वृद्धिकृदामयघ्नः। च॰ सि॰ १।५३.

रोगी के रोग के अनुसार प्रयुक्त औषधि का लाभ :—रोगी के सत्व, बल, प्रकृति, सात्म्य, दोष तथा अग्नि के अनुसार उचित औषधि की उचित मात्रा ही सभी रोगों को दूर करने में सक्षम होती है। हीन मात्रा, अनुचित काल तथा अनुचित प्रयोग से प्रयुक्त औषधि विकारों को शान्त नहीं कर पाती। इस प्रसंग में आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा :—

> सर्वं च रोग प्रशमाय कर्म,
> हीनातिमात्रं विपरीत कालम्।
> मिथ्योपचाराच्च न तं विकारं,
> शान्तिं नयेत् पथ्यमपि प्रयुक्तम्॥ च॰ सि॰ २।५९.

सिद्धि प्राप्त्यर्थं पंचकर्म में विचारणीय तथ्य :—पंचकर्म से अभीष्ट गुणों की प्राप्ति के निमित्त निम्नोक्त तथ्यों का सम्यक् विचार अपेक्षित होता है जिसका उल्लेख आचार्य ने निम्नोक्त वचन से किया है। यथा :—

समीक्ष्य दोषौषध देशकाल,
सात्म्याग्निसत्वादिवयोबलानि ।
बस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय,
स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥ च० सि० ३।६

वस्ति प्रयोग के सम्यक् गुणोपलब्धि के निमित्त अथवा वमनादि पंचकर्मों की सिद्धि के लिए रोगी के दोष, प्रयोग को जाने वाली औषधि, रोगी का देश, औषध का प्रयोग काल, रोगी का सात्म्य, अग्नि, सत्व, प्रकृति, वय एवं बल प्रभृति विषयों का समुचित विचार आवश्यक होता है ।

पंचकर्मों के सम्बन्ध में हमने उपर्युक्त पृष्ठों में वमनादिक प्रत्येक कर्मों का पृथक्-पृथक् विवेचन संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु पंचकर्मों से सम्बन्धित कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनका आयुर्वेद में विशेष विचार किया गया है । उन तथ्यों का विवेचन पंचकर्म के सम्वन्ध में करना आवश्यक है । प्राचीन आचार्यों की किसी विषय की वर्णन शैली ऐसी रही है कि उस विषय से सम्बन्धित कुछ तथ्य कभी उसी प्रसङ्ग में कभी किसी दूसरे प्रसंग में वर्णित किए गये हैं अर्थात् विषय विशेष का विवरण प्रकीर्ण रूप में प्राप्त होना है । यही शैली पंचकर्म प्रसंग में भी प्राप्त होती है । पंचकर्म से सम्बन्धित कुछ विवरण चरक सूत्र स्थान के अध्याय २, १५ एवं १६ में, कुछ विवरण विमान स्थान के अध्याय ८ में तथा विस्तृत विवरण सम्पूर्ण कल्प स्थान एवं सिद्धि स्थान में प्राप्त होता है । अतः पंचकर्म विवेचन प्रसंग में इतस्ततः प्रकीर्ण सामग्री को समायोजित करने से ही विषय का सम्यक् अवबोध हो सकता है । इसी कारण हमने विषय के सुखावबोध के निमित्त भिन्न-भिन्न स्थलों पर आए हुये विवरणों को शृङ्खलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसी प्रक्रिया में निम्योक्त कुज तथ्य ऐसे हैं जिनका पंचकर्म विवेचन प्रसंग में वर्णन अपेक्षित है । आगे हम उन्हीं प्रकीर्ण रूप से प्राप्त तथ्यों का विवरण निम्नशीर्षकों में प्रस्तुत करगे ।

योग का नामकरण :--द्रव्यों के संयोग में प्रधान द्रव्य के नाम पर योग की संज्ञा अभिहित की जाती है । यद्यपि योगों के निर्माण में सुरा आदि अनेक द्रव्य पड़ते हैं फिर भी गुण भूत सुरा आदि द्रव्य मदनफल आदि प्रधान द्रव्यों का ही अनुसरण करते हैं, अर्थात् उन्हीं प्रधान द्रव्यों के गुणों का उत्कर्ष करने में सहायक होते हैं । जैसे —सभी प्रजा अपने राजा का ही अनुसरण करती है और उसी के गुणों का उत्कर्ष करती है उसी प्रकार सहायक द्रव्य प्रधान द्रव्य के गुणों के उत्कर्ष में सहायक होते हैं । आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य हैं । यथा :--

यद्धि येन प्रधानेन द्रव्यं समुपसृज्यते ।
तत्संज्ञकः स योगो वै भवतीति विनिश्चयः ॥

फलादीनां प्रधानानां गुणभूताः सुरादयः।
ते हि तान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ॥ च०क०१२/ ३·४४.

वक्तव्य--उपर्युक्त विवरण का आशय यह है कि जो द्रव्य वमन या विरेचन के लिए प्रयुक्त होते हैं उनमें एक द्रव्य प्रधान होता है और दूसरे द्रव्य अप्रधान या गौण होते हैं। यथा वमन के लिए मदनफल का प्रयोग होता है। उसका प्रयोग सुरा, सौवीर, तुषोदक आदि अनेक द्रव्यों के साथ होता है। यद्यपि सुरा, सौवीर आदि वमनकारक नहीं होते फिर भी मदनफल से सयुक्त होने पर वमनकारक ही होते हैं। इसी तथ्य को राजा व प्रजा के उदाहरण से निर्देशित किया गया है। वमन द्रव्यों में जो प्रधान होता है वहीं राजा है और जो अप्रधान या गौण है वही प्रजा है। दोनों के गुणों में भिन्नता होने पर भी प्रधान द्रव्य के अनुसार ही कार्य होता है।

विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों की प्रधान द्रव्य के कर्म में अबाधकता—

योगों मे प्रयुक्त विरुद्ध वीर्य वाले सहायक द्रव्य भी प्रधान द्रव्य के कार्य में बाधक नहीं होते। और यदि सहायक द्रव्य प्रधान द्रव्य के समान वीर्य वाला होता है तो प्रधान द्रव्य की क्रिया सामर्थ्य शक्ति अधिक बढ़ जाती है। आचार्य चक्रपाणि ने इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि--मदनफल आदि द्रव्यों के गुणों के अनुरूप यदि सहायक द्रव्यों के गुण होते हैं तो वे निश्चय ही प्रधान द्रव्य के शक्ति को अधिक बढ़ाते हैं। किन्तु दन्ती (औषधि विशेष) की उग्रता के विपरीत मांस रस आदि जो कि प्रधान द्रव्य के गुणों के विपरीत होते हैं विरुद्ध वीर्य होते हुए भी विरेचन रूप कार्य में अबाधक होते हैं। उसी प्रकार एला आदि सहायक द्रव्य हृद्य होने के कारण वमन-कारक मदनफल के विपरीत गुण वाले होते हैं तथापि वमन कर्म का नाश नहीं करते। अतः इससे स्पष्ट होता है कि सहायक द्रव्यों के विरूद्ध वीर्य होने पर भी प्रधान द्रव्य के कार्य में बाधा नहीं होगी। यदि सहायक द्रव्य प्रधान द्रव्य के तुल्य वीर्य वाला होता है तो योग की क्रिया सामर्थ्य शक्ति अधिक बढ़ जाती है। इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकम् ।
अधिकं तुल्यवीर्यं हि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ॥ च० क० १२/४५.

उपर्युक्त उद्धरण में तुल्य वीर्य वाले द्रव्यों के योग को अधिक सामर्थ्यकारी कहा गया है। किन्तु ऐसे योग जो विरूद्ध वीर्य वाले है उनकी पंचकर्मों के निमित्त आचार्यों ने क्यों अवतारणा किया है। इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण से प्रस्तुत किया है। यथा—

इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धार्थं प्रति चामयम् ।
अतो विरुद्धवीर्याणां प्रयोग इति निश्चितम् ॥ च० क० १२/४६.

प्रत्येक रोगी व रोगों का विचार करके आवश्यक वर्ण, रस, स्पर्श तथा गंध उत्पन्न करने के निमित्त विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है ऐसा आयुर्वेदज्ञों का निश्चय है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि तुल्य वीर्य वाले द्रव्यों का संयोग अपना कार्य सफलता पूर्वक करता है अतः यथासंभव सर्वत्र तुल्य वीर्य वाले द्रव्यों का ही प्रयोग करना चाहिए। तथापि भिन्न भिन्न रोगों में तथा भिन्न प्रकृति वाले पुरुषों के लिए उनके रोग तथा प्रकृति के अनुसार आवश्यक वर्ण, रस, गन्ध एवं स्पर्श युक्त, कल्पना का निर्माण करने के लिए विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का भी प्रयोग होना संभव है। इसीलिए विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का भी यहाँ विचार किया गया है। इसमें प्रधान वामक या विरेचक द्रव्य वमन तथा विरेचन कराते हैं और विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्य मन की अनुकूलता लाते हैं।

वामक या विरेचक औषधियों की वीर्योत्कर्ष विधि—वमन या विरेचन कर्म के लिए प्रयुज्यमान औषधियों के क्रिया सामर्थ्य को बढ़ाने की विधि का निर्देश आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है। यथा—

भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः।
सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहु कर्मकृत्॥
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद् द्रव्याणि भावयेत्।

च० क० १२/४७-४८.

वामक या विरेचक औषधियों के अधिक सामर्थ्य के लिए तत्तद् औषधि के चूर्ण को वमन कारक या विरेचन कारक द्रव्यों के स्वरस से भावना देकर उसके बल की वृद्धि करनी चाहिए। बार बार अपने ही स्वरस से भावना दिया गया द्रव्य यदि अल्प प्रमाण में भी अधिक कार्य करने वाला होता है। तुल्य वीर्य वाले अन्य द्रव्यों के स्वरस से भी प्रयुज्यमान औषधि चूर्ण को भावना देनी चाहिए।

योगों का द्रव्यों की क्रिया शक्ति बढ़ाने के लिए उपर्युक्त दो विधियाँ बतलायी गई हैं। यथा—तुल्य वीर्य द्रव्यों का प्रयोग एवं स्वरसों की भावना से बलाधान (बल को बढ़ाना) करना। भावना उसी द्रव्य की अथवा तत्सम गुण वाले द्रव्य की दी जा सकती है। उदाहरणार्थ त्रिवृत् चूर्ण में त्रिवृत् कषाय की भावना या त्रिवृत् चूर्ण में स्नुहीक्षीर की भावना आदि। तात्पर्य यह है कि द्रव्यों की शक्ति बढ़ाने के लिए उसी द्रव्य के स्वरस से उसी द्रव्य के चूर्ण को बार-बार भावना देनी चाहिए। उदाहरणार्थ अमलतास की मज्जा मल का विरेचन कराती है पर यह तीव्र विरेचक नहीं होती। अतः यदि अमलतास की मज्जा को अमलतास के स्वरस अथवा क्वाथ से अनेक बार भावना देकर

रखा जाय तो यह भी तीव्र रेचक हो जायगा। अथवा अमलतास की मज्जा को अन्य विरेचन कारक द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से बार-बार भावना देकर उसे बनाया जाय तो वह तीव्र रेचक हो जाती है। इस प्रकार अल्प शक्ति वाले द्रव्यों की शक्ति में वृद्धि की जाती है।

उपर्युक्त तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य दृढ़बल कहते हैं कि—संयोग (विविध द्रव्यों से प्रयुज्यमान औषधि का मिश्रण), विश्लेष (प्रयुज्यमान औषधि से विरुद्ध वीर्य वाले तत्त्वों का दूर करना, काल (अधिक या कम समय तक औषधि प्रयोग), संस्कार (औषधि में अन्य गुणों के प्राप्त्यर्थ किया गया विविध उपचार), एवं युक्ति (विविध प्रकार की योजना) आदि प्रक्रियाओं से अल्प परिमाण की औषधि में अधिक क्रियाकारित्व शक्ति उत्पन्न करे अथवा अधिक परिमाण की औषधि में क्रियाकारित्व शक्ति कम करे। उक्त तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम्।
कुर्यात् संयोगविश्लेषकाल संस्कारयुक्तिभिः॥ च० क० १२/४८.

कृत पंचकर्म के तीक्ष्ण, मध्य एवं मृदु लक्षण व कारण—वमनादिक पंचकर्म का औषधि के प्रभाव तथा रोगी के प्रकृति आदि के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्रभाव दृष्टिगत होते हैं। प्रधानतः तीन प्रकार का प्रभाव देखा जाता है। ये हैं—तीक्ष्ण, मध्य एवं मृदु। इन तीनों के लक्षणों तथा एवं विध प्रभावों के कारणों का निर्देश करते हुए आचार्य दृढबल कहते हैं कि—जिस वमन या विरेचन का वेग अधिक हो, सरलता एवं शीघ्रता से हो तथा बिना रुकावट के हो, पायु (गुदा) और हृदय को अधिक पीड़ित न करे, आन्तरिक अंगों को हानि न पहुँचाये एवं सारे दोष को निकाल दे उसे तीक्ष्ण जानना चाहिए। यदि समान मात्रा से स्नेह स्वेदोपपादित व्यक्ति में उपर्युक्त लक्षणों से कुछ कम लक्षण पाए जाते हैं तो उसे वामक या विरेचक औषधियों का मध्य प्रभाव जानना चाहिए। रूक्ष शरीर वाले व्यक्ति में मन्द वीर्य वाली औषधियों से, अतुल्य वीर्य वाली औषधियों के योग से व अल्प मात्रा में प्रयुक्त औषधि से वमन, विरेचन का वेग मन्द हो जाता है। जो औषधि जल, अग्नि एवं कीटों से अस्पृष्ट (अप्रभावित) हो तथा देश एवं काल की उत्तमता से उत्तम गुणों से युक्त हो, कम या अधिक मात्रा में प्रयुक्त हो, तुल्य वीर्य वाली औषधियों से संयुक्त हो तथा उनके स्वरसों से भावित हो ऐसी औषधि स्नेह स्वेदोपपादित व्यक्ति में तीक्ष्ण वेग उत्पन्न करती है। इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

तीक्ष्णमध्यमृदूनांतु तेषां शृणुत लक्षणम्।
सुखं क्षिप्रं महावेगमसक्तं यत् प्रवर्तते॥

नातिग्लानिकरं पायौ हृदये न च रुक्करम् ।
अन्तराशयमक्षिण्वन् कृत्स्नं दोषं निरस्यति ।।
विरेचनं निरूहो वा तत्तीक्ष्णमितिनिर्दिशेत् ।
जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ।
ईषन्मात्राधिकैर्युक्तं तुल्यवीर्यैः सुभावितम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ।।
किञ्चिदेभिर्गुणैर्हीनं पूर्वोक्तैर्मात्रया तथा ।
स्निग्धस्विन्नस्य वासम्यक् मध्यं भवतिभेषजम् ।।
मन्दवीर्यं विरूक्षस्य हीनमात्रं तु भेषजम् ।
अतुल्यवीर्यैः संयुक्तं मृदु स्यान्मन्दवेगवत् ।।

च० क० १२/५१-५७.

बलवान व्यक्ति में यदि सम्पूर्ण दोष का निर्हरण नहीं होता तो संशोधन कर्म अशुद्ध कहा जाता है। बलवान व्यक्ति में अल्पदोष होने से यदि मध्य या मृदु प्रभाव वाला भी संशोधन होता है तो उसे सम्यक् संशोधन मानना चाहिए। मध्य बल वाले व्यक्तियों में मध्यम प्रभाव वाली क्रिया भी उचित संशोधन को बतलाती है। अतः मध्य तथा अल्प बलवाले व्यक्ति में मध्य या मृदु प्रभाव वाले औषधियों का प्रयोग सफलता प्राप्ति के लिए करे। व्याधियाँ जो सर्व लक्षणों से युक्त हों तीक्ष्ण होती है। जिनमें मध्यम लक्षण होते हैं वे मध्य तथा अल्प लक्षण वाली व्याधियाँ मृदु होती हैं। अतः व्याधियों की शक्ति के अनुसार औषधियों का प्रयोग अपेक्षित है। अर्थात् तीक्ष्ण व्याधि में तीक्ष्ण औषधि, मध्य व्याधि में मध्यम प्रभाववाली औषधि तथा मृदु प्रभाव व्याधि में मृदु औषधि का प्रयोग करना चाहिए। इसी तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

अकृत्स्नदोषहरणादशुद्धी ते बलीयसाम् ।
मध्यावरबलानां तु प्रयोज्ये सिद्धिमिच्छता ।।
तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः ।
तीक्ष्णादीनि बलापेक्षी भेषजान्येषु योजयेत् ।।

च० क० १२/५७-५८.

वमन क्रिया की अवस्था विशेष में कर्तव्य—वामक द्रव्य को पीने के पश्चात् यदि दोष का निर्हरण समुचित प्रकार से नहीं होता है तो बार बार वामक औषधि का पान कराना चाहिए जब तक की वमित पदार्थ में पित्त न दिखाई पड़े, पित्त के आने तक वमन कर्म कराना सम्यक् वमन कहा जाता है। जैसाकि कहा भी गया है। यथा—

"पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकात्" च० सि० १/१४.

आचार्य दृढ़बल ने उपर्युक्त तथ्य को निम्न उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

देयं त्वनिर्हृते पूर्वं पीते पश्चात् पुनः पुनः।
भेषजं वमनार्थीयं प्राय आपित्तदर्शनात्॥ च० क० १२/५९.

पुनः पुनः औषधि प्रयोग के अयोग्य — बलवान पुरुष में दोष के बलवान होने पर दोष के निर्हरणार्थ औषधि का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु हीन बल पुरुष में दोषों की हीनावस्था में संशोधन कर्म के लिए औषधि का प्रयोग वर्जित है। मध्य बल पुरुष में तथा दोषों की मध्यावस्था में संशोधन के लिए एकबार औषधि का प्रयोग किया जा सकता है। अतः दोषों एवं रोगियों के बलानुसार त्रिविध भेद को जानकर संशोधन कर्म का विधान करें। अर्थात् बलवान दोष व पुरुष यह पहला भेद, मध्य बल दोष व पुरुष दूसरा भेद तथा अल्पबल पुरुष व दोष यह तीसरा भेद। इस प्रकार के दोष व पुरुष के भेदों का विचार संशोधन कर्म में अपेक्षित हैं। इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

बलत्रैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च।
पुनः प्रदद्यात्भेषज्यं सर्वशो वा विवर्जयेत्॥ च० क० १२।६०.

दोष निर्हरणार्थ प्रयुक्त औषधि का अवस्था विशेष में पुनः प्रयोग :—

वमन अथवा विरेचन कर्म के लिए प्रयुक्त औषधि यदि दोष निर्हरण के बिना ही निकल जाय अथवा पच जाय तो ऐसी स्थिति में संशोधन कर्म की सफलता की इच्छा वाला चिकित्सक पुनः उसी दिन वमनार्थं या विरेचनार्थ औषधि का प्रयोग करें। क्योंकि वमनार्थ प्रयुक्त औषधि बिना पचे ही दोष का निर्हरण करती है तथा विरेचनार्थ प्रयुक्त औषधि पच्यमान अवस्था में दोष का निर्हरण करती है। अतः वमनार्थ प्रयुक्त औषधि यदि अपक्व ही दोष का निर्हरण नहीं करती तो पुनः औषधि का प्रयोग करें जिससे दोष का निर्हरण हो जाय। वमनार्थ प्रयुक्त औषधि के पाककाल की प्रतीक्षा नहीं करना चाहिए। अर्थात् वमनार्थ प्रयुक्त औषधि देने के पश्चात् जल्दी ही वमन कर्म प्रारम्भ न हो तो औषधि के पचने की प्रतीक्षा किये बिना ही पुनः औषधि का प्रयोग अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में आचार्योक्त वचन निम्नलिखित है। यथा :—

निर्हृते वाऽपि जीर्णे वा दोषनिर्हरणेबुधः।
भेषजेऽन्यत्प्रयुञ्जीत प्रार्थयन्सिद्धिमुत्तमाम्॥
अपक्वं वमनं दोषं पच्यमानं विरेचनम्।
निर्हरेत्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत्॥ च०क० १२।६१-६२.

विरेचनार्थ प्रयुक्त औषधि के वमित होने पर पुनः औषधि का प्रयोग :—

विरेचन के लिए दी गई औषधि यदि दोष के निर्हरण के बिना ही पच जाय अथवा

वमन से निकल जाय तो दोष के निर्हरणार्थ पुनः उसी दिन औषधि पिलावे। अर्थात् विरेचनार्थ प्रयुक्त औषधि यदि तीव्रता के कारण विरेचन के बजाय वमन से वमित द्रव्य के साथ निकल जाय तो उसे दोष का निर्हरण नहीं समझना चाहिए क्योंकि विरेचनीय औषधि का पच्यमानावस्था में ही प्रभाव होकर दोष निर्हरण होता है। इसी प्रकार यदि विरेचन के लिए प्रयुक्त औषधि पच जाय और दोष का निर्हरण न करे तो इन दोनों ही अवस्थाओं में विरेचनार्थ पुनः औषधि का प्रयोग करें जिससे कि दोषों का समुचित निर्हरण हो सके। इस प्रसंग में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा :

पीते प्रसंसने दोषान्न निर्हृत्य जरां गते।
वमिते चौषधे धीरः पाययेदौषधं पुनः॥ च० क० १२।६३.

विरेचन से अल्प दोष निर्हरण में कर्तव्य :—दीप्त अग्नि वाले अधिक दोष युक्त स्नेहोपपादित व्यक्ति में यदि विरेचनार्थ औषधि दी जाती है और दोष का निर्हरण सम्यक् नहीं होता तो दूसरे दिन भी विरेचन के लिए औषधि का प्रयोग करें। यदि व्यक्ति सम्यक् प्रकार से स्नेहोपपादित नहीं है तो उसे पुनः विरेचन के लिए औषधि नहीं देना चाहिए प्रत्युत उसे स्नेहपान कराना चाहिए। असम्यक् स्निग्ध व्यक्ति में विरेचन कर्म ठीक से नहीं होता। दुर्बल व अधिक दोष वाले व्यक्ति में दोषों का पाक देर से होता है अतः ऐसे व्यक्ति में धीरे-धीरे विरेचन से दोष का निर्हरण होता है। अतएव ऐसे व्यक्ति को धीरे-धीरे क्रमशः भोजन आदि से सहारा देते हुए विरेचन द्वारा दोष का निर्हरण कराये। ऐसे व्यक्ति में अधिक दोष होने के कारण तथा उसके दुर्बल होने से पुनः पुनः विरेचन, दोष प्रवृत्ति का अतियोग होने से रोगी का अहित होता है। अतः ऐसे व्यक्ति में पुनः-पुनः विरेचन कराये। इस सन्दर्भ में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा :—

दीप्ताग्निं बहुदोषं तु दृढस्नेह गुणं नरम्।
दुःशुद्धं तदहर्भुक्तं श्वोभूते पाययेत् पुनः॥
दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यो नरः।
विरिच्यते शनैर्भोज्यैर्भूयस्तमनुसारयेत्॥ च०क० १२।६४-६५.

वमन विरेचन कर्म के पश्चात् अवशिष्ट दोष की शान्ति :—

कितने ही ऐसे व्यक्ति होते हैं कि उचित वमन तथा विरेचन कर्म कराने के पश्चात् भी उनका संशोधन नहीं हो पाता। ऐसे व्यक्तियों के अवशिष्ट दोष के शमनार्थ उचित आहार द्रव्यों का भोजन यथा उनके अग्नि के अनुसार यवागू, पेया, मण्ड विलेपी प्रकार के आहार देना चाहिए तथा दोषों के पाचन के निमित्त समुचित औषधियों के कषाय का पान कराना चाहिए। उपर्युक्त विधि से अवशिष्ट दोषों की शान्ति कराना चाहिए। आचार्योक्त वचन निम्नोक्त है। यथा :—

वमनैश्च विरेकैश्च विशुद्धस्याऽऽगतः ।
भोजनान्तरपानाभ्यां दोषशेषं शमं नयेत् ॥ च० क० १२।६६.

मृदु शोधन के योग्य : दुर्बल व्यक्ति, पूर्वकृतशोधन से दुर्बल हुआ, अल्प दोष वाला अल्प बल वाला तथा जिसके कोष्ठ के विषय में ज्ञान न हो कि वह मृदु कोष्ठ अथव क्रूर कोष्ठ का है ऐसे व्यक्तियों में शोधन के लिए मृदु औषधि का पान कराकर वमन या विरेचन कर्म कराये । ऐसे व्यक्ति में तीक्ष्ण औषधि का प्रयोग उसके बल का और भी नाश करते हैं । उपर्युक्त तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है । यथा :—

दुर्बलं शोधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम् ।
अपरिज्ञातकोष्ठं वा पाययेतौषधं मृदु ॥ च० क० १२।६७.

मृदु औषधि प्रयोग की उपयोगिता—मृदु औषधि अनेक बार पीने पर भी कल्याण-कारक ही होते हैं तथा किसी प्रकार की बाधा न उत्पन्न करते हुए हितकर होते हैं । इच्छित फल की प्राप्ति के लिए मृदु औषधियों का बार-बार प्रयोग किया जा सकता है । इसके विपरीत अति तीक्ष्ण औषधि शीघ्र ही प्राणबाधा को उत्पन्न करती हैं । अतः दुर्बल व्यक्तियों में मृदु औषधि का प्रयोग ही श्रेयस्कर होता है । इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है । यथा :—

श्रेयोमृद्वसकृत्पीतमल्पबाधं निरत्ययम् ।
न चाति तीक्ष्णं यत् क्षिप्रं जनयेत्प्राणसंशयम् ॥ च० क० १२।६८.

दुर्बल व अत्यधिक दोष वाले व्यक्ति में करणीय कर्म :—जिस व्यक्ति में बहुत अधिक दोष हो तथा वह दुर्बल हो तो उसका थोड़ा-थोड़ा बार-बार विरेचन कराना चाहिए । ऐसे व्यक्ति के अत्यधिक दोष अनिर्हृत रहने से उस व्यक्ति के जीवन का नाश कर देते हैं । अतः अत्यधिक दोष का थोड़ा-थोड़ा निर्हरण मृदु औषधियों से बार-बार कराना आवश्यक होता है । दुर्बल होने के कारण तीक्ष्ण औषधियों का प्रयोग वर्जित किया गया है । अत्यधिक दोष का निर्हरण भी संशोधन के लिए आवश्यक है अतः थोड़े-थोड़े दोष का निर्हरण पुनः पुन विरेचन कर्म द्वारा कराना श्रेयस्कर होता है । आचार्योक्त वचन निम्न है । यथा :-

दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः ।
मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युह्यर्येनमनिर्हृताः ॥ च० क० १२।६९.

कफानुगत दोष के कारण विरेचन औषधि के वमित होने पर कर्त्तव्य—जिस व्यक्ति का दोष अधिक कफ से युक्त होता है उसमें विरेचन औषधि को पिलाने से कफ संसृष्ट दोष वमन से बाहर निकल जाता है तथा विरेचन कर्म न होने से दोष का अनुलोमन

(दोष की स्वाभाविक गति) नहीं होता। ऐसी स्थिति में वमित व्यक्ति को आहार का कुछ कवल (कौर खिलाये जिससे कि उसका मुख और कण्ठ शुद्ध हो जाय। तदुपरान्त उस व्यक्ति को लंघन कराके पुनः विरेचन औषधि को पिलाये। प्रस्तुत तथ्य को आचार्य ने निम्न वचन से प्रकट किया है। यथा :—

यस्योर्ध्वं कफ संसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम्।
वमितं कवलैः शुद्धं लंघितं पाययेत्तु तम्॥ च॰ क॰ १२/७०.

दोषों के विबद्ध होने पर कर्त्तव्य :— जिस व्यक्ति में दोष परस्पर बँध जाते हैं उसमें औषधि देने पर दोष अधिक देर से अल्प परिमाण में निकलता है। जिससे कि व्यक्ति में औषधि के प्रभाव से आध्मान, छर्दि, तृषा तथा विबन्ध आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को उष्ण जल पिलाना चाहिए जिससे कि उसके उपर्युक्त लक्षण शान्त हो जाते हैं तथा दोष का भी अनुलोमन हो जाता है। अर्थात् विरेचक औषधि का अनुकूल प्रभाव होकर विरेचन कर्म प्रवृत्त हो जाता है। आचार्योक्त वचन निम्नोक्त है। यथा।—

विबद्धेऽल्पे चिराद्दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम्।
तेनाध्मानं तृषाच्छर्दि विबन्धश्चैव शाम्यति॥ च॰ क॰ १२/७१.

ली गई औषधि के दोष बद्ध होने पर कर्त्तव्य :— जब किसी व्यक्ति में विरेचन के निमित्त दी गई औषधि दोषों के अवरोध से वमन या विरेचन द्वारा नहीं प्रवृत्त होती तथा व्यक्ति में उद्गार एवं शरीर के अंगों में शूल उत्पन्न हो जाता है ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति में स्वेदन कर्म कराना चाहिए। स्वेदन कर्म से दोष प्रविलायित (स्वेदन की उष्णता से द्रवित) होकर औषधि दोष को बाहर निकालने में समर्थ हो जाती है। इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा :—

भेषजं दोषबद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते।
सोद्गारं साङ्गशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत्॥ च॰ क॰ १२/७२.

विरेचन कर्म के अतियोग में कर्त्तव्य :— विरेचन के निमित्त दी गई औषधि सेवन के पश्चात् यदि व्यक्ति के दोष का सम्यक् निर्हरण हो जाय, फिर भी उद्गार आये तो समझना चाहिए कि अभी भी औषधि पच्यमान अवस्था में है। अतः ऐसी स्थिति में शीघ्र ही औषधि को वामक औषधि देकर वमन कर्म से बाहर निकालना चाहिए। और उद्गार के बिना भी विरेचन की अति प्रवृत्ति हो तो समझना चाहिए कि विरेचन के लिये दी गई औषधि जीर्ण हो गई (पच गई) है ऐसी स्थिति में शीतवीर्य वाली औषधि देकर विरेचन को स्तम्भित (रोके) करें। प्रस्तुत तथ्य का उल्लेख आचार्य ने निम्नोक्त वचन से किया है। यथा :—

सुविरिक्ते तु सोद्‌गारमास्वेवौषधमुल्लिखेत् ।
अतिप्रवर्तनं जीर्णे सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक् ।। च० क० १२।७३.

कफावरोध से विरेचनीय औषधि के उरःस्थिति होने पर कर्त्तव्य :—व्यक्ति में कफाधिक्य होने से विरेचन के लिए दी गई औषधि कभी-कभी कफ से रुद्ध होने के कारण उरो प्रदेश में ही स्थित हो जाती है और विरेचन कर्म द्वारा दोष निष्कासन नहीं होता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अन्य कोई औषधि नहीं देना चाहिए और रात्रि तक विरेचन कर्म की अपेक्षा करनी चाहिए। सायंकाल अथवा रात्रि में काल प्रभाव से कफ के क्षीण होने पर विरेचन कर्म की प्रवृत्ति हो जाती है। उक्त तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा :

कदाचित् श्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम् ।
क्षीणे श्लेष्मणि सायाह्ने रात्रौ वा तत्प्रवर्तते ।। च० क० १२।७४.

रूक्षाहार से वात वृद्धि के कारण विरेचनीय औषधि के ऊर्ध्वभाग स्थिति में कर्त्तव्य :—जिस व्यक्ति में रूक्ष आहार के कारण वायु की वृद्धि हो जाती है उसमें विष्टब्धा जीर्ण हो जाता है जिसके कारण विरेचनीय औषधि की ऊर्ध्व भाग में अवस्थिति हो जाती है। ऐसे व्यक्ति में विरेचन के लिए पुनः विरेचनीय औषधि का प्रयोग लवण युक्त स्नेह के साथ करना चाहिए। लवण और स्नेह के प्रयोग से वात वृद्धि के कारण उत्पन्न विष्टब्धाजीर्ण का स्थिति शान्त हो जाती है। और व्यक्ति में विरेचन कर्म प्रवृत्त होकर दोष निर्हरण हो जाता है। उक्त तथ्य निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा :—

रूक्षानाहारयोजीर्णे विष्टब्धयोर्ध्वं गतोऽपिवा ।
वायुना भेषजे त्वन्यत् सस्नेहलवणं पिबेत् ।। च० क० १२।७५.

विरेचनीय औषधि के पित्तावृत होने पर कर्त्तव्य :—विरेचनीय औषधि के देने पर यदि व्यक्ति में तृषा, मोह, भ्रम एवं मूर्च्छा आदि लक्षण उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिए कि उसमें पित्ताधिक्य के कारण औषधि विदग्धाजीर्ण की स्थिति को प्राप्त हो गई है। इस स्थिति के निराकरण के लिए उस व्यक्ति को मधुर एवं शीत गुण वाले पित्तघ्न औषधियाँ देना चाहिए। पित्तघ्न औषधियों के प्रयोग से पित्त शान्त हो जाता है परिणामस्वरूप विरेचन होकर दोष का निर्हरण हो जाता है। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा :—

तृण्मोहभ्रममूर्च्छाद्याः स्युश्चेज्जीर्यतिभेषजे ।
पित्तघ्नं स्वादुशीतं च भेषजं तत्र शस्यते ।। च० क० १२।७६.

विरेचनीय औषधि के कफावृत होने पर कर्त्तव्य :—विरेचनीय औषधि देने पर

यदि व्यक्ति में लालास्राव (लार का निकलना) हृल्लास (मिचली आना) विष्टम्भ (शरीर में जकड़ाहट का अनुभव) और लोमहर्ष (रोंगटे खड़ा होना) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिए कि विरेचन के निमित्त दी गई औषधि कफावृत्त हो गई है। ऐसी स्थिति में तीक्ष्ण, उष्ण एवं कटु तिक्त आदि कफनाशक औषधियों का प्रयोग कर कफ का शमन करें। तदुपरान्त ही विरेचन कर्म से दोष का निर्हरण होता है। इस प्रसंग में आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा :—

लालाहृल्लास विष्टम्भ लोमहर्षाः कफावृते।
भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुद्धितम् ॥ च० क० १२/७७.

स्नेहोपपादित क्रूरकोष्ठ व्यक्ति में विरेचनार्थ कर्त्तव्य—अच्छी तरह से स्नेहकर्म किए हुये क्रूर कोष्ठ (कठिनाई से मल की प्रवृत्ति वाले) व्यक्ति में थोड़ा विरेचन कराके उसे लंघन कराना चाहिए जिससे कि स्नेहजनित कफ का अवरोधक प्रभाव शान्त हो जाता है। तदुपरान्त विरेचन के निमित्त दी गई औषधि समुचित विरेचन कर्म को प्रवृत्त कर दोष के निर्हरण करने में समर्थ होती है। प्रस्तुत तथ्य निम्नोक्त वचन में द्रष्टव्य है। यथा -

सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च लंघयेदविरेचितम्।
तेनास्य स्नेहजः श्लेष्मा संगश्चैवोपशाम्यति ॥ च० क० १२/७८

विरेचक औषधि के बिना विरेचन के पच जाने पर कर्त्तव्य—जो व्यक्ति रूक्ष, वातप्रधान, क्रूरकोष्ठ, व्यायाम करने वाला और दीप्त अग्नि वाला होता है ऐसे व्यक्ति में विरेचक औषधि बिना विरेचन कर्म कराये ही पच जाती है। इस कारण जिस उद्देश्य से विरेचक औषधि का प्रयोग किया जाता है वह निष्फल हो जाता है। अतः ऐसे व्यक्तियों में पहले वस्ति देकर बाद में विरेचक औषधि का प्रयोग करके विरेचन कर्म कराये। यहाँ बस्ति से स्नेह बस्ति का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि निरूह बस्ति रूक्ष बस्ति होती है जिससे और भी वात का प्रकोप हो सकता है। स्नेह बस्ति के पश्चात् विरेचन द्रव्य चंचल दोष को शीघ्र ही नाश कर देता है। प्रस्तुत प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य हैं। यथा—

रूक्ष बह्वनिल क्रूरकोष्ठ व्यायामशालिनाम्।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति ॥
तेभ्यो बस्तिं पुरादत्त्वा पश्चाद्दद्याद्विरेचनम्।
बस्ति प्रचलितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम् ॥

च० क० १२/७९-८०.

स्नेहन कर्म की अपेक्षा वाले व्यक्ति में भी व्याधि व्यतिरिक्त स्थिति में संशोधन कर्म की उपेक्षा—रूक्ष आहार वाले, सदा परिश्रमशील तथा दीप्त अग्नि वाले व्यक्ति के

दोष श्रम, वात तथा आतप से नष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति विरुद्ध आहार, अध्यशन (भोजन के पश्चात् शीघ्र ही पुनः खाना) तथा अजीर्ण (अपचन) आदि दोषों का प्रतिकार करने में समर्थ होते हैं। किन्तु ऐसे व्यक्तियों को वातप्रकोप से रक्षा करने के निमित्त स्नेहन कर्म कराना चाहिये। जब तक संशोधन साध्य कोई व्याधि न उत्पन्न हो जाय तब तक ऐसे व्यक्तियों में संशोधन कर्म न करें। आयुर्वेद मनीषियों का इस प्रसंग में कथन है कि जो दोष स्वयं ही न प्रेरित (प्रकुपित) हों उन्हें प्रेरित करना उचित नहीं है, जैसे कि प्रस्तर खंड के नीचे पड़े हुए वस्तु के ऊपर आघात करने के लिए प्रस्तर खंड के ऊपर आघात करना निष्फल है, उसी प्रकार अप्रकुपित दोषों को प्रकुपित करने का प्रयास अनुचित है। उक्त तथ्य निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा -

अनीरितानां दोषाणामीरणं न प्रशस्यते।
उपर्युपरि सक्तानामश्मनामिवताडनम् ॥

आचार्य चक्रपाणि द्वारा उद्धृत

स्नेहन कर्म के योग्य व्यक्तियों में स्नेहन कर्म की क्यों अपेक्षा होती है तथा ऐसे व्यक्तियों में व्याधि व्यतिरिक्त स्थिति में संशोधन कर्म क्यों त्याज्य है इस तथ्य का उल्लेख आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में किया है। यथा --

रूक्षाशनाः कर्म नित्या ये नरा दीप्तपावकाः।
तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मगतातपाग्निभिः ॥
विरुद्धाध्यशनाजीर्ण दोषानपि सहन्ति ते।
स्नेह्यास्ते मारुतात्रक्ष्या नाव्याधौ तान् विशोधयेत् ॥

च० क० १२/८१-८२

उपर्युक्त उद्धरण को समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि आचार्य ने प्रकारान्तर से श्रमिक वर्ग तथा अल्पवित्त साधन वाले व्यक्तियों में संशोधन कर्म से विरत रहने का निर्देश किया है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के दोषों का नाश श्रम, वात तथा आतप से हो जाता है इसका भी युक्तिसंगत उल्लेख किया है ताकि किसी को यह आशंका न हो कि आयुर्वेद के परिप्रेक्ष्य में एक विशेष वर्ग के लोगों में संशोधन कर्म की अपेक्षा क्यों नहीं है? साथ ही ऐसे व्यक्तियों को वात प्रकोप का सदा भय बना रहता है अतः इनमें स्नेहनकर्म अपेक्षित है।

अल्प स्नेहन कर्म किए गए तथा समुचित स्नेहन कर्म किए गये व्यक्ति में कर्त्तव्य विरेचन प्रकार विरेचन कर्म से पूर्व संशोधनार्थ व्यक्ति का स्नेहन कर्म कराया जाता है। जिस व्यक्ति में स्नेहन कर्म अल्प रूप से ही उपपादित हो पाता है उस व्यक्ति का उचित दोष संशोधन के निमित्त स्नेह विरेचन देना चाहिए। जिस व्यक्ति में स्नेहन

कर्म के पश्चात् अति स्नेह के लक्षण दृष्टिगोचर हों उसे रूक्ष विरेचन देना चाहिए। यदि बुद्धिमान वैद्य संशोधनार्ह व्यक्ति के देश, काल तथा उसमें कितना संशोधन अपेक्षित है इसका प्रमाण जानकर विरेचन औषधि का प्रयोग करता है तो व्यक्ति को अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है तथा वैद्य भी संशोधन कर्म में किसी प्रकार का अपराध नहीं करता।

अनुचित प्रकार से किया गया संशोधन कर्म विष के समान हानिकर होता है तथा समुचित प्रकार से किया गया संशोधन अमृत के समान हितकारी होता है। संशोधन समयानुसार व्यक्ति के दोष, बल, अग्नि एवं प्रकृति के अनुसार अनिवार्यतः सावधानी पूर्वक करना चाहिए। उपर्युक्त तथ्यों का उल्लेख आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में किया है। यथा :—

नातिस्निग्ध शरीराय दद्यात् स्नेह विरेचनम् ।
स्नेहोत्क्लिष्ट शरीराय रुक्षं दद्याद्विरेचनम् ॥
एवं ज्ञात्वा विधिं धीरो देशकालप्रमाणवित् ।
विरेचनं विरेच्येभ्यः प्रयच्छन्नापराध्यति ॥
विभ्रंशो विषवद्यस्य सम्यक् योगोयथाऽमृतम् ।
कालेष्वश्य पेयं च तस्माद्यत्नात् प्रयोजयेत् ॥

च० क० १२/८३-८५.

अभी तक हमने वमन विरेचन कर्म में विचारणीय विशेष तथ्यों का उल्लेख किया है। वमन विरेचन कर्म प्रधानतः क्रम से कफ दोष व पित्तदोष के संशोधन के लिए कराया जाता है। किन्तु यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है कि किसी दोष के स्थानान्तरगमन या स्थान विशेष में अवस्थिति अथवा उनके प्रकोप में वात दोष का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अतः वात दोष के संशोधन के निमित्त बस्ति कर्म का विधान किया जाता है। बस्ति कर्म की सफलता के लिए बस्ति कर्म में विहित कुछ तथ्यों पर ध्यान देना अत्यावश्यक है। ऐसे ही कुछ तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य दृढ़ बल ने बस्ति सूत्रीय अध्याय की अवतारणा किया है जिसका हम प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेख करगे।

आचार्य दृढ़बल ने महर्षि अग्निवेश के प्रश्नों के माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का बस्तिकर्म के प्रसंग में प्रस्तुतीकरण किया है तथा भगवान पुनर्वसु आत्रेय द्वारा उन प्रश्नों के समाधान स्वरूप तथ्यों का निर्देश किया है। इस प्रसंग में हम विषय के स्पष्टीकरण के निमित्त उन प्रश्नों को तथा उनके समाधान स्वरूप प्रस्तुत उत्तरों को उपस्थित करेंगे। महर्षि अग्निवेश द्वारा उत्थापित प्रश्न निम्नोक्त हैं। यथा—

बस्तिर्नरेभ्यः किमपेक्ष्यदत्तः,
स्यात् सिद्धिमान् किम्मयमस्यनेत्रम् ।

कीदृक् प्रमाणाकृति किं गुणं च,
केम्यश्च किं योनिगुणश्च बस्तिः ॥
निरुहकल्पः प्रणिधानमात्रा,
स्नेहस्य का वा शयनेविधिः कः ।
के बस्तयः केषु हिता इतीदं,
श्रुत्वोत्तरं प्राह वचो महर्षिः ॥
च० सि० ३/४-५

उपर्युक्त उद्धरण में महर्षि अग्निवेश ने बस्ति कर्म से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों को भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के समक्ष उठाया है मनुष्यों के लिए किन-किन तथ्यों की अपेक्षा करके बस्तिकर्म का विधान किया जाता है जिससे कि बस्ति कर्म में सफलता प्राप्त हो। बस्ति का नेत्र (नली) किस वस्तु का होना चाहिए ? बस्ति का नेत्र किस प्रमाण तथा किस आकृति का होना चाहिए ? बस्ति कर्म के निमित्त किस जाति के जन्तु का बस्ति ग्राह्य है ? निरूह कल्पना की विधि क्या है ? औषधि का प्रयोग किस मात्रा में किया जाय ? स्नेह की कितनी मात्रा अपेक्षित है ? किस प्रकार लिटा कर बस्ति कर्म कराए ? किनमें कौन सी बस्ति हितकर है ? इत्यादि सभी प्रश्नों को सुनकर महर्षि आत्रेय ने प्रश्नों का निम्नोक्त प्रकार से समाधान प्रस्तुत किया। यथा —

समीक्ष्य दोषौषधदेशकाल,
सात्म्याग्निसत्त्वादिवयोबलानि ।
बस्तिः प्रयुक्तो नियत गुणाय,
स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥ च० सि० ३/६.

किन-किन तथ्यों की अपेक्षा रखते हुए बस्ति कर्म का विधान सिद्धिकारक होता है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान पुनर्वसु आत्रेय ने उपर्युक्त उद्धरण में दिया है। इसका तात्पर्य है कि दोष, औषधि, देश, काल, सात्म्य, अग्नि, सत्त्व, वय, प्रकृति तथा बल आदि तथ्यों की बस्ति कर्म की अपेक्षा वाले व्यक्ति की ज्ञानपूर्वक समुचित प्रकार से विचार कर बस्ति का विधान करना चाहिए। इन सभी विषयों पर समुचित विचार करके उचित रीति से बस्ति का विधान करने से अभीष्ट गुण की प्राप्ति होती है। रोगी की अपेक्षा से उपर्युक्त विषयों की सम्यक् समीक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

बस्ति का नेत्र (नली) किस वस्तु का बना होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं। यथा -

सुवर्णरूप्यत्रपुताम्र रीति,
कांस्यास्थिशस्त्रद्रमवेणुवन्तः ।

नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैः,
नेत्राणि कार्याणि सु (त्रि) कर्णिकानि ॥ च० सि० ३/७

बस्ति की नली सोना, चाँदी, राँगा, ताम्बा, पीतल, काँसा, अस्थि, लोहा, लकड़ी, बाँस, दाँत, नरकट, भैंस आदि के सींग और मणि आदि से निर्माण कराना चाहिए। उस नली में सुन्दर कर्णिका (नली के ऊपरी सिरे पर निकला भाग) होनी चाहिए। पाठान्तर में नली के ऊपर तीन कर्णिकायें होनी चाहिए। ऐसा भी आचार्यों का अभिमत है।

नेत्र का प्रमाण (लम्बाई चौड़ाई) तथा आकार कैसा होना चाहिए ? इस तृतीय प्रश्न का समाधान आचार्य ने निम्नोद्धृत वचनों से किया है। यथा—

षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसंमितानि,
षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम्।
स्युर्मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहि,
छिद्राणि वर्त्याऽपिहितानि चैव ॥
यथा वयोऽङ्गुष्ठ कनीष्ठिकाभ्यां,
मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति।
ऋजूनि गोपुच्छ समाकृतीनि,
श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिकामुखानि ॥
स्यात् कर्णिकंकाऽग्रचतुर्थभागे,
मूलाश्रिते बस्तिनिबन्धने द्वे। च० सि० ३/८-१०.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने बस्ति की नली का कैसा प्रमाण होना चाहिए ? तथा उसकी आकृति कैसी होनी चाहिए इस जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया है :— ६ वर्ष के बालक के लिये ६ अंगुल लम्बा, २० वर्ष के व्यक्ति के लिये १२ अंगुल लम्बा, १२ वर्ष के वय वाले के लिए ८ अंगुल लम्बा नेत्र होना चाहिये। ६ अगुल की नली का छिद्र मूंग निकलने के परिमाण के परिणाह का होना चाहिये। १२ अंगुल लम्बी नली का छिद्र छोटी बेर (बनबेर) के परिमाण का होना चाहिए। ८ अंगुल लम्बी नली के छिद्र का परिमाण मटर के दाने के निकलने योग्य परिणाह वाला होना चाहिए। नली के छिद्र को वस्त्र की वर्ति से बन्द रखना चाहिये। मनुष्य के वय के अनुसार सम्बन्धित व्यक्ति के अंगूठे की तरह मोटी नली के ऊपर का भाग तथा उसी व्यक्ति के कनीष्ठिका अगुली के समान मोटी नली के नीचे का भाग होना चाहिये। अर्थात जिस व्यक्ति को बस्ति दी जाती है उस व्यक्ति के अंगूठे के समान मोटी नली का वह भाग होना चाहिये जो बस्ति पुटक (थैली) में बाँधी जाती है और उसी व्यक्ति के कनीष्ठिका अंगुलि के समान मोटी नली का अग्रभाग जा गुदा मार्ग में प्रवेश कराया जाता है वह होना चाहिए। बस्ति का

नेत्र सीधा गोपुच्छ के समान चढ़ाव उतराव वाला चिकना होना चाहिए। नेत्र के अग्र-भाग में गोली के आकार का गोलाकार छिद्र होना चाहिये। नेत्र में एक कर्णिका (कान) नली के चौथे भाग में आगे की ओर बनाना चाहिये और बस्तिपुटक को बांधने के लिए नेत्र के मूल भाग में दो कर्णिकायें बनानी चाहिए।

आचार्य चक्रपाणिदत्त ने उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या में कहा है कि ६ वर्ष के वय के नीचे वाले तथा २० वर्ष के वय के ऊपर वाले के लिए नेत्र मान (नली की लम्बाई) का प्रकार नहीं होता। ६ वर्ष से ऊपर के वय वाले के लिये प्रतिवर्ष के लिए $\frac{1}{3}$ अंगुल के हिसाब से नेत्र का मान बढ़ाना चाहिए। यह मान १२ वर्ष तक के वय वाले के लिए होना चाहिये। १२ वर्ष से ऊपर वय वालों के लिए प्रतिवर्ष $\frac{1}{2}$-$\frac{1}{2}$ अंगुल के हिसाब से नेत्र का मान बढ़ाते जाना चाहिए और यह क्रम २० वर्ष तक के वय वालों के लिये अपनाना चाहिये। इस प्रकार नेत्र के मान के क्रम को मानने से ६ वर्ष से ऊपर १२ वर्ष तक के वय वालों के लिये प्रतिवर्ष वय की वृद्धि से $\frac{1}{3}$-$\frac{1}{3}$ अंगुल की मान वृद्धि से ६ वर्ष में २ अंगुल मान वृद्धि होती है। अर्थात् १२ वर्ष के वय वाले के लिये ६ अंगुल + २ अंगुल = ८ अंगुल नेत्र का मान होना चाहिये। इसी प्रकार १२ वर्ष से ऊपर तथा २० वर्ष तक के वय के लिए प्रतिवर्ष वय वृद्धि के साथ-साथ $\frac{1}{2}$-$\frac{1}{2}$ अंगुल नेत्र मान वृद्धि से ८ वर्ष में ४ अंगुल मान वृद्धि होती है। अर्थात् १२ के वय वाले के लिए निर्धारित ८ अंगुल मान + ४ अंगुल = १२ अगुल का नेत्रमान २० वर्ष के वय वाले के लिए होना चाहिए। इस प्रकार आचार्य के निर्देशानुसार नेत्र का मान युक्ति युक्त प्रतीत होता है और नेत्र का मान ६ अंगुल, ८ अंगुल तथा १२ अंगुल का प्रमाण वय के अनुसार समीचीन है।

बस्ति (थैली) किन पशुओं से तथा किन गुणों वाली ग्रहण की जाय इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करते हुये आचार्य निम्नोद्धृत उद्धरण में कहते हैं। यथा—

जारद्गवो माहिष हारिणौ वा,
स्याच्छौकरो बस्तिरजस्य वाऽपि।
दृढस्तनुर्नष्ट सिरो विगन्धः,
कषाय रक्तः सुमृदुः सुशुद्धः॥
नृणां वयो वीक्ष्य यथाऽनुरूपं,
नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः। च० सि० ३।१०-११

अर्थात् बस्ति पुटक (थैली) वृद्ध बैल का, भैंस का, हरिण का, शूकर का अथवा बकरे का होना चाहिये। इन सभी जन्तुओं से प्राप्त बस्ति पुटक के सिरा जाल (रक्त-वाहनियों) को साफ करके इनके दुर्गन्ध को दूर होने पर कषाय से भावित कर रक्तवर्ण

का बनाकर तथा अच्छी तरह मुलायम एवं शुद्ध कर मनुष्यों के वय के अनुसार यथावश्यक लम्बाई वाली नली से अच्छी तरह बांधना चाहिये। उपर्युक्त जन्तुओं के बस्ति न मिलने पर प्रसेक पक्षी, अंकपाद पक्षी के बस्ति का प्रयोग अथवा गाढ़े मोटे कपड़े की बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

निरूह कल्प अथवा रूक्ष बस्ति किसे और कब देना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान पुनर्वसु आत्रेय निम्नोक्त उद्धरण में कहते हैं कि यथा—

आस्थापनार्हं पुरुषं विधिज्ञः
समीक्ष्य पुण्येऽहनि शुक्ल पक्षे।
प्रशस्त नक्षत्र मुहूर्त योगे,
जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत॥ च० सि० ३।१२–१३

अर्थात् आस्थापन योग्य पुरुष को सभी प्रकार से अच्छी तरह देखभाल करके अर्थात् उसके दोष, बल, प्रकृति, सत्त्व, वय तथा अग्नि आदि की परीक्षा करके शुभ दिन, शुक्लपक्ष, शुभ नक्षत्र व शुभ मुहूर्त में आहार के सम्यक् पच जाने पर बस्ति प्रयोग में एकाग्र चित्त कराके बस्ति देवें। आचार्य चक्रपाणि ने आचार्य हारीत के वचन को उद्धृत करके कृष्ण पक्ष में बस्ति देने के विधान का निर्देश कियाहै। वचन निम्नोक्त है। यथा

कृष्णपक्षे कार्यं, जन्मनि सर्व रोगाहताः सुहृता भवन्तीति वदन्ति शास्त्रज्ञाः, शुक्ले देवा जाताः, कृष्णपक्षेऽसुराश्च सर्वरोगाश्च, तस्माद्रोग चिकित्सा कृष्णपक्षे सदैव कर्तव्या'' इति। अर्थात् आयुर्वेद के विद्वानों का यह अभिमत है कि बस्तिकर्म कृष्णपक्ष में करना चाहिये। क्योंकि रोगी के वर्तमान जन्म में हुये सभी रोग बस्तिकर्म से अच्छी तरह से नष्ट हो जाते हैं। शुक्लपक्ष में देवताओं की उत्पत्ति होती है। तथा कृष्णपक्ष में असुरों व सभी रोगों की उत्पत्ति होती है। इस कारण रोग की चिकित्सा सदैव ही कृष्णपक्ष में करनी चाहिये। इस प्रसंग में हम देखते हैं कि बस्ति देने के काल निर्देश में आचार्यों के विचार में परस्पर विरोध है। ऐसी स्थिति में इसका यह समाधान हो सकता है कि प्राचीन काल में आचार्यों ने काल के महत्व को समझते हुये बस्तिकर्म में काल निर्देश किया है। आचार्य दृढ़बल ने बस्ति कर्म विधान शुक्लपक्ष में बतलाया है। शुक्लपक्ष के काल का निर्देश संभवतः आचार्य ने रोगी का दोषबल शुक्लपक्ष में अधिक रहता हो इसलिये किया हो। और दूसरे आचार्य हारीत ने कृष्णपक्ष में सोमतत्त्व की कमी हो जाने से कृष्णपक्ष में रोगों के प्रादुर्भाव का अधिक सभावना को लक्ष्य कर कृष्णपक्ष में बस्तिकर्म का निर्देश किया हो। इस प्रकार आचार्यों के बस्तिकर्म में विभिन्न काल निर्देश का समाधान किया जा सकता है। मुख्य तथ्य यह है कि बस्तिकर्म विधान में रोगी के दोष, बल, अग्नि, देश, प्रकृति, वय आदि विषयों का ध्यान रखना चाहिये जैसा कि पहले विवरण दिया जा चुका है।

बस्तिकर्म का विधान—बस्तिकर्म किस प्रकार किन-किन औषधियों का, शरीर को किस स्थिति में रखते हुए तथा औषधियों को किस प्रकार की कल्पना करके करना चाहिये आदि प्रश्नों का समुचित समाधान आचार्य के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा :—

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां,
द्वे पञ्चमूले च पलोन्मितानि।
अष्टौ फलान्यर्धं तुलां च मांसा,
च्छागात् पचेदप्सु चतुर्थशेषम्॥
पूतं यवानी फल बिल्व कुष्ठ,
वचाशताह्वा घन पिप्पलीनाम्।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैले-,
र्युक्तं सुखोष्णैस्तु पिचुप्रमाणैः॥
गुडात् पलं द्विप्रसृतां तु मात्रां,
स्नेहस्य युक्त्यामधुसैन्धवं च।
प्रक्षिप्य बस्तौ मथितं खजेन,
सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्वलीकम्।
अंगुष्ठमध्येन मुखं पिधाय,
नेत्राग्र संस्थामपनीय वर्तिम्॥
तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं,
नातिक्षुधार्तंशयने मनुष्यम्।
समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा,
नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने॥
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं,
कृत्वर्जु देहं स्वभुजोपधानम्।
संकोच्य सव्येतरदस्य सक्थि,
वामं प्रसार्य प्रणयेत्ततस्तम्॥
स्निग्धे गुदे नेत्र चतुर्थभागं,
स्निग्धं शनैर्ऋंजवनुपृष्ठवंशम्।
अकम्पनावेपन लाघवादीन्,
पाण्योर्गुणांश्चापि विदर्शयंस्तम्॥
प्रपीडय चैकग्रहणेन बस्तं,
नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत्। च० सि० ३।१३–१९.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने बस्ति का विधान किस प्रकार करना चाहिए इसका उल्लेख किया है—

वला, गुडूची, त्रिफला, रास्ना दोनों पञ्चमूल (वृहत् तथा लघु) ये सभी औषधियाँ १-१ पल (४ तोला) मदनफल संख्या में ८ तथा बकरे का मांस आधी तुला (५० पल) इन सभी द्रव्यों को लेकर चौगुने जल में क्वाथ करे। जब चतुर्थांश शेष रह जाए तब उसे छानकर रख ले। इसमें अजवाइन, मदनफल, बेल, कठ, वचा, सौंफ, नागरमोथा और पीपर प्रत्येक का १-१ कर्ष (तोला)। इन सभी औषधियों का चूर्ण क्वाथ में डालकर मिश्रित करें। इस कल्क को गुड़, मधु, घृत, तेल आदि के साथ दोषानुसार उचित मात्रा में दे। चूर्ण को क्वाथ में जब तक यह कुछ उष्ण ही रहे तब तक ही मिलाकर कल्क बना लेना चाहिए। गुड़ १ पल तथा दोषानुसार घृत व तेल एवं २ प्रसृत (४ पल) मधु और सेंधा नमक आवश्यकतानुसार मिलावें। इसके पश्चात् इन सभी द्रव्यों को मथनी से मथकर बस्ति में रख दें। तत्पश्चात् नेत्र के मूल भाग को बस्ति के साथ अच्छी तरह से बाँध दे। औषधि को बस्ति में रखने के पूर्व उसे अच्छी तरह से उच्छ्वास के द्वारा फुला ले जिससे कि उसमें किसी प्रकार का सिकुड़न न रहे। तदनन्तर बस्ति को औषधि से नेत्र के मुख तक भरकर उसे अंगूठे से दबा रखे जिससे कि बाहरी वायु उसमें न प्रवेश करे। नली के अग्रभाग में जो बत्ती लगाई रहती है उसे निकाल देना चाहिए। बस्ति के थैले में नली को बांधते समय थोड़ा औषधि द्रव्य निकाल देना चाहिए। इसके पश्चात् वायु को बाहर निकाल दे। जिस व्यक्ति को बस्ति देनी हो उसके शरीर पर तेल का अभ्यंग पहले ही करा देना चाहिए तथा उस व्यक्ति को मल मूत्र का त्याग भी पहले ही कर लेना चाहिए। साथ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति भूख से अधिक पीड़ित न हो। तत्पश्चात् उस व्यक्ति को समान तल वाले चारपाई पर लिटा देना चाहिये अथवा चारपाई ऐसी होनी चाहिये जो शिर की ओर कुछ झुकी हुई हो और दूसरी ओर अधिक ऊँची न हो। खाट पर सुन्दर गद्देदार बिस्तर बिछा हुआ हो। उस खाट पर बायें करवट से सुखपूर्वक शरीर को सीधाकर अपने बाँह को ही तकिया बनाकर सोये हुए तथा दक्षिण पाद को संकुचित किए हुए और वामपाद को फैलाये हुए व्यक्ति की स्निग्ध गुदा में (पहले से ही गुदा में घृत या तेल लगाये हुए) नली के अग्रभाग को स्निग्ध करके धीरे-धीरे सीधे पृष्ठवंश के अनुसार गुदा में प्रवेश कराये। नली को गुदा में प्रवेश कराते हुए चिकित्सक को चाहिये कि वह अपने हाथ को न कँपाये न हिलाये बल्कि हल्के हाथ से गुदा में नली को प्रवेश करें। जब नली ठीक से प्रविष्ट हो जाय तो बस्ति के थैले को हाथ से दबावे जिससे औषध एक ही साथ गुदा में प्रविष्ट हो जाय अर्थात् एक बार थैले को दबाकर व छोड़कर पुनः दबाकर औषध न प्रविष्ट करावे। प्रत्युत एक ही बार ऐसा दबावे कि सम्पूर्ण औषध अन्दर प्रविष्ट हो जाय। जब यह समझ लें कि औषध अन्दर प्रविष्ट हो गई तो धीरे से नली को गुदा से बाहर निकाल लेवे।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि निरूह बस्ति में औषधि की कल्पना और बस्ति की सामान्य विधि का विवरण इस प्रसंग में किया गया है। प्रथम विधान में क्वाथ का निर्माण, क्वाथ छान लेने पर कल्क, गुड़, मधु, घृत व सेंधा नमक मिलाकर मथनी से मथकर औषध को बस्ति में डालना चाहिये। उद्धरण में क्वाथ्य औषधियों का जितना मान दिया गया है वह एक व्यक्ति के लिए अत्यधिक कहा है। एक बार में इतनी अधिक मात्रा का प्रयोग असम्भव है। इसलिये इस प्रसंग में बताई गयी मात्रा का औषध निर्माण एक ही साथ अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयोग किया जा सकता है। प्राचीन काल में बस्ति का अधिक प्रयोग किया जाता था। अतः एक साथ कई व्यक्तियों को बस्ति देने के निमित्त आचार्य ने उपर्युक्त मात्रा का उल्लेख किया है। यदि एक ही व्यक्ति को बस्ति देना है तो इसके लिये १० पल या १२ पल की मात्रा पर्याप्त है, जैसा कि आचार्य ने स्वयं ही आगे उल्लेख किया है।

निरूह बस्ति में औषधि क्वाथ की कितनी मात्रा अपेक्षित है इस प्रश्न का उत्तर आचार्य निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत करते हैं। यथा—

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये,
वर्षे ततोऽर्धं प्रसृताभिवृद्धिः।
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धि।
रष्टादशात् द्वादशतः परं स्युः,
आसप्ततेस्तद्विहितं प्रमाण—
मतः परं षोडश वद्विधेयम्।
निरूह मात्रा प्रसृत प्रमाणा,
बाले च वृद्धे च मृदुर्विशेषः॥ च० सि० ३/३१-३३

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने वय के अनुसार औषधि क्वाथ मात्रा का बस्ति में देने का विधान निर्देशित किया है। प्रथम वर्ष के बालक के लिए १ पल की मात्रा बस्ति कर्म में देना चाहिए। २ वर्ष से १२ वर्ष तक के वय वालों के लिए प्रतिवर्ष के हिसाब से १-१ पल की मात्रा की वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार १२ वर्ष के वय वाले के लिए ६ प्रसृत या १२ पल की मात्रा अपेक्षित है। १२ वर्ष से १८ वर्ष तक के वय वाले के लिए प्रतिवर्ष १-१ प्रसृत या २-२ पल की मात्रा वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार १८ वर्ष के वय वाले के लिए १२ प्रसृत औषधि क्वाथ की मात्रा उचित है। १८ वर्ष से ७० वर्ष तक के वय वाले के लिए १२ प्रसृत की मात्रा ही अपेक्षित है। ७० वर्ष से उपर के वय वाले के लिए १६ वर्ष वय वाले के समान मात्रा रखनी चाहिए

अर्थात् १० प्रसृत की मात्रा का विधान करना चाहिए। बालक, वृद्ध एवं सुकुमार लोगों के लिए १ प्रसृत प्रमाण की मात्रा का विधान करना चाहिए।

निरूह बस्ति में दी जाने वाली कषाय मात्रा के उल्लेख के साथ आचार्य ने उसमें दोषों की स्थिति के अनुसार मिश्रित स्नेह की मात्रा का भी निर्देश किया है। इसी 'विवरण से 'स्नेहस्य का मात्रा' स्नेह की कितनी मात्रा होनी चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया है। आचार्योक्त उद्धरण निम्नोक्त है। यथा—

भागाः कषायस्य तु पञ्च पित्ते,
स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च।
वाते विवृद्धे तु चतुर्थ भागे,
मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः॥

च० सि० ३/३०–३१

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्नेह की मात्रा का निर्देश करते हुए कहा है कि—सभी दोषों की समान स्थिति में क्वाथ का पाँच भाग तथा स्नेह का एक भाग होना चाहिए अर्थात् १२ प्रसृत की मात्रा क्वाथ तथा स्नेह मिलकर होनी चाहिए। पित्त दोष के अधिक होने पर स्नेह की मात्रा छठां भाग अर्थात् २ प्रसृत होनी चाहिए। वात की अधिकता में स्नेह की मात्रा चतुर्थ भाग अर्थात् ३ प्रसृत होनी चाहिए। कफ दोष के अधिक होने पर स्नेह की मात्रा १२ प्रसृत की कुल मात्रा का आठवां भाग अर्थात् १½ प्रसृत होनी चाहिए। स्नेह में घृत अथवा तेल लेना चाहिए। पित्त दोष में घृत लेना चाहिए तथा वात व कफ दोष के लिए तेल का प्रयोग करना चाहिए।

बस्ति कर्म के समय सोने की उचित विधि कौन सी है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है। यथा—

नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादं,
सपादपीठं शयनं प्रशस्तम्।
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं,
प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम्॥ च० सि० ३/३३–३४

बस्ति कर्म वाले व्यक्ति को न अधिक ऊँचे न अधिक नीचे चारपाई पर सोना चाहिए। चारपाई पर चढ़ने के लिए एक पीढ़ा होना चाहिए। बिस्तर मुलायम गद्दे तथा चादर वाला होना चाहिए। सोने के समय शिर पूर्व दिशा की ओर रखना चाहिए। व्यक्ति का शरीर श्वेत चादर से ढंका होना चाहिए।

किन किन औषधियों वाली बस्ति किस प्रकार के रोगियों के लिए हितकर है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अनेक प्रकार के योगों वाली बस्तियों का आचार्य ने विभिन्न रोगों के लिए विधान निर्देशित किया है। उन सभी योगों का विवरण बिस्तारमय से

देना संभव नहीं है। अतः जिज्ञासु पाठक प्रस्तुत प्रसङ्ग का बिस्तार ग्रन्थ में देख सकते हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि बस्ति दो प्रकार की होती है। प्रथम निरूह बस्ति या रूक्ष बस्ति जिसे आस्थापन बस्ति से भी अभिहित किया जाता है। दूसरी बस्ति स्नेह बस्ति होती है जिसे अनुवासन बस्ति भी कहा जाता है। निरूह बस्ति (रूक्ष वस्ति) का विवरण दिया जा चुका है, अब हम स्नेह वस्ति या अनुवासन बस्ति पर विचार करेंगे।

अनुवासन बस्ति अनुवासन बस्ति के बिधान का निर्देश आचार्य ने सिद्धि स्थान के चतुर्थ अध्याय में किया है। सभी प्रकार के वात बिकारों के शमनार्थ निम्नोक्त अनुवासन बस्ति का विधान आचार्य ने निर्देशित किया है। यथा—

दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम्।
गुडूच्येरण्डभूतीकभार्गीवृषकरोहिषम्॥
शतावरीं सहचरं काकनासां पलांशिकम्।
यवमाषातसीकोलकुलत्थान् प्रसृतोन्मितान्॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च।
तैलाढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः॥
अनुवासनमेतद्धि सर्ववात विकारनुत्।
आनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता॥

च० सि० ४/४–७

उपर्युक्त उद्धरण में सभी बात बिकारों के शमन के लिए अनुवासन बस्ति के योग निर्माण की विधि का उल्लेख करते हुए आचार्य निर्देशित करते हैं—दशमूल की सभी दस औषधियाँ, बला, रास्ना, अश्वगंधा, पुनर्नवा, गुड्ची, एरण्ड, यवानी, भारंगी, अड्सा की पत्ती, सुगन्ध तृण, शतावरी, सहचर और काकनासा इन सभी की १-१ पल (४ तोला) मात्रा तथा यव, माष (उड़द), अतसी (तीसी) कोल (जंगली बेर) और कुलत्थ की दो-दो पल की मात्रा लेकर इन सभी औषधियों को ४ द्रोण (द्रोण= २०४ तोला) जल में पकावे और चतुर्थांश अर्थात् १ द्रोण शेष रहने पर उतार लेवे। उस क्वाथ में १ आढक (२५६ तोला) तेल तथा एक आढक दूध मिलावे और १–१ पल जीवनीय गण के सभी औषधियों के चूर्ण का मिलावे। तत्पश्चात् इसे पकावे। जब तेल मात्र शेष रह जाय तो उतार लेवे। इस प्रकार यह औषधि अनुवासन के लिए तैयार हो जाती है। यह अनुवासन बस्ति सभी प्रकार के वातविकारों को नष्ट करती है। पित्त दोष के समन के लिए भी अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया जाता है किन्तु इसमें स्नेह की

मात्रा वातघ्न अनुवासन बस्ति की अपेक्षा कम होती है। विस्तार भय से पितघ्न अनुवासन बस्ति के निर्माण विधि का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। इसी प्रकार कफ दोष के शमन के लिये भी अनुवासन बस्ति के प्रयोग का निर्देश किया गया है। किन्तु कफ दोष के नाश के लिए प्रयुक्त अनुवासन बस्ति में स्नेह की मात्रा क्वाथ की मात्रा के आठवें भाग में दी जाती है। इसका विशेष विवरण ग्रन्थ में देखें।

दोषानुसार विविध योगों वाले निरूह बस्ति तथा अनुवासन बस्ति का विभिन्न रोगों के उपशमनार्थ विशद वर्णन चरक संहिता के सिद्धि स्थान के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में मिलता है। विविध प्रकार के बस्तियों के विवरण के अतिरिक्त आचार्य ने स्नेहबस्ति से होने वाले विविध उपद्रवों की चिकित्सा का भी वर्णन किया है। विस्तार भय से उन विषयों का विवेचन संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त बस्तिनेत्र (बस्ति पुटक से लगी नली) के दोषों से होने वाले उपद्रवों का विशद वर्णन सिद्धि स्थान के बस्ति व्यापद अध्याय में प्राप्त होता है। बस्तिनेत्र दोष से होने वाले उपद्रवों का समुचित उपचार व इनके निराकरण के उपायों का भी विवेचन इसी अध्याय में किया गया है। जिज्ञासु पाठक इन विषयों को ग्रन्थ में देखें।

जिस प्रकार बस्ति कर्म से होने वाले विविध उपद्रवों का उपचार सहित बिवेचन सिद्धि स्थान में किया गया है उसी प्रकार वमन विरेचन कर्म से होने वाले विविध उपद्रवों का लक्षण तथा उनका उपचार भी सिद्धि स्थान के छठें अध्याय 'वमन विरेचन व्यापत् सिद्धि' में विस्तृत रूप से विवेचित किया गया है। इन सभी विषयों का विवेचन ग्रंथ विस्तार भय से नहीं किया गया है।

पंचकर्म, उसके प्रकार, पंचकर्म में विहित कर्म, उनके विविध प्रयोग तथा विधान आदि विषयों का पंचकर्म सिद्धान्त शीर्षक में विवेचन किया गया। अब हम आगे पंचकर्म सिद्धान्त की आयुर्वेद में क्या उपादेयता है इस पर विचार करेंगे।

पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रोगोपचार के निमित्त दो चिकित्सा विधियों का आश्रय लिया जाता है। प्रथम संशोधन विधि तथा द्वितीय संशमन विधि। संशोधन चिकित्सा में रोगो के प्रकुपित दोषों को शरीर से बाहर निकालने के लिए पंचकर्म उपक्रम का प्रयोग किया जाता है। दूसरी संशमन चिकित्सा में दोषानुसार रोगों के शमनार्थ विविध औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

रोगोपचार निमित्त विविध साधनों के उपयोग का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य चरक ने विमान स्थान के आठवें अध्याय में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका विवेचन अप्रासंगिक नहीं होगा वरन् विषय के स्पष्ट अवबोध के लिए यह अपेक्षित भी है। भेषज (रोग निवृत्ति के साधन) को परिभाषित करते हुये आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण म कहा है कि यथा—

"भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपायान्तेभ्यः। तत् द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्, दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणि मंगल बल्युपहार होम नियम प्रायश्चित्तोपवास स्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि. युक्ति व्यपाश्रयं संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः" च॰ वि॰ ८।८७

अर्थात् भेषज वह है जिसे चिकित्सक धातुसाम्य में प्रयासरत होते हुए साधनरूप में भिन्न भिन्न उपायों से उपकल्पित (रोगानुसार व्यवहृत) करता है। यह भेषज आश्रय भेद से दो प्रकार का होता है। प्रथम दैवव्यपाश्रय तथा द्वितीय युक्तिव्यपाश्रय। दैवव्यपाश्रय भेषज वह है जो कि मन्त्र, औषधि मणिधारण, मंगलकार्य, बली, देवों के निमित्त उपहार देना, होम, नियम प्रायश्चित्त (रोग निवृत्ति के निमित्त की गई तपश्चर्या) उपवास, स्वस्त्ययन (कल्याण कारक उपाय), प्रणिपात (देवों, गुरुओं तथा सिद्धों के प्रति नमस्कार) तथा गमन (तीर्थाटन) आदि उपाय देवताओं की प्रसन्नता से रोग से मुक्त करने में समर्थ है। दूसरी युक्ति व्यपाश्रय भेषज वह है जो शरीरगत दूषित दोषों का संशोधन, संशमन करके तथा सत्त्वावजय (मन को नियन्त्रित कर मानसिक विकारों को शान्त करना) से रोग की निवृत्ति में सहायक होता है।

उपर्युक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि चिकित्सा के साधन रूप में संशोधन चिकित्सा विधि का प्रतिपादन किया गया है। संशोधन चिकित्सा के निमित्त पंचकर्म सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि संशोधन चिकित्सा की सफलता के लिए पंचकर्म सिद्धान्त का यथेष्ट परिचय तथा तदनुसार व्यवहार अनिवार्य है जिससे कि चिकित्सक रोगी के रोग निवृत्ति में समर्थ होता है। इस तथ्य से पंचकर्म सिद्धांत की उपादेयता तथा महत्त्व ज्ञात होता है। यह तो संक्षेप में चिकित्सा के संशोधन विधि में व्यवहृत पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता का सूत्र रूप विवरण है। किन्तु पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता तथा इसके महत्त्व की व्यापकता को स्पष्ट करने के लिए हमें इस विषय के विस्तार में जाना पड़ेगा जो कि प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित है। अतः हम "पंचकर्म सिद्धांत की उपादेयता" को निम्नांकित शीर्षकों में विवेचित करना चाहेंगे जिससे कि पाठकों को इस सिद्धान्त की उपयोगिता एवं महत्त्व का समुचित अवबोध हो सके।

ऋतुचर्या क्रम में पंचकर्म विभिन्न ऋतुओं में सूर्य के उत्तरायण व दक्षिणायन पथ गामी होने के कारण लोक में क्रमशः उष्णता तथा शीतलता बढ़ती है जिसके परिणाम-स्वरूप प्राणियों के शरीरगत दोषों पर प्रभाव पड़ता है। अतः ग्रीष्मऋतु में सूर्य की प्रखर किरणों से शरीरगत स्नेह की अल्पता हो जाती है तथा रूक्षता की अभिवृद्धि हो जाती है इसी कारण इस ऋतु में वात का क्रमशः संचय होता जाता है, जिसका प्रकोप वर्षा ऋतु में होता है। यदि वात प्रकोप अधिक हो और संशमन चिकित्सा से शांत न हो

रहा हो तो उसमें बस्तिकर्म का विधान करना चाहिए जिससे कि वातानुलोमन होकर वात प्रकोप शान्त हो जाता है।

वर्षा ऋतु में अग्नि की मन्दता के कारण तथा वर्षा और मेघ से जल की अम्लता से पित्त दोष का संचय होता है जिसका प्रकोप शरद् ऋतु में होता है। शरद् ऋतु में शरीरगत पित्त प्रकोप होने पर पित्त के शमनार्थ विरेचन कर्म करना आवश्यक हो जाता है। शरद्ऋतुचर्या में आचार्य चरक ने प्रकुपित पित्त के निर्हरण के लिए विरेचन कर्म का विधान बतलाया है, जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा –

वर्षाशीतोचितांगानां सहसेवार्करश्मिभिः।
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ।।
तत्रान्नपानं मधुरं लघु शीतं सतिक्तकम्।
पित्त प्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकांक्षितैः ।।
तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम्

च० सू० ६/४१, ४२, ४४

अर्थात् वर्षा ऋतु में अभ्यस्त शीत शरीर में शरद् ऋतु के सूर्य किरणों से व्यक्ति का शरीर तप्त होने से संचित पित्त प्रकुपित हो जाता है। ऐसी स्थिति में मधुर, लघु, शीत एवं तिक्त रस वाले आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिये तथा पित्त शमन के निमित्त तिक्त रस साधित घृत का पान, विरेचन कर्म व रक्त मोक्षण कर्म कराना चाहिये। इस प्रसंग में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पित्त शान्ति के पहले आचार्य ने तिक्त रस साधित घृत पान का निर्देश किया है। यदि इससे पित्त का शमन नहीं हो तो विरेचन कर्म का विधान बतलाया गया है। और विरेचन से भी पित्त प्रकोप शान्त न हो तो रक्त मोक्षण कराना चाहिये। इस तथ्य से ज्ञात होता है कि पित्त की अधिकता होने पर विरेचन तथा रक्त मोक्षण कर्म का विधान ही पित्तशमन के लिये उपयुक्त होता है। रक्तमोक्षण से भी प्रकारान्तर से पित्त दोष का निर्हरण ही होता है। यद्यपि पित्त दोष के निर्हरण के लिये विरेचन कर्म ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है तथापि शरद्काल में रक्त स्वाभाविक रूप से दूषित हो जाता है अतः रक्त दोष के निर्हरण के निमित्त रक्त मोक्षण का भी निर्देश किया गया है, जैसा कि आचार्य के, निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

शरद् काल प्रभावाच्च शोणितं सम्प्रदूष्यति। च० सू० २४।१०
कुर्यात् शोणित रोगेषु रक्तपित्त हरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च ।।

च० सू० २४।१८

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि शरद् काल में स्वभावतः रक्त दुष्टि हो जाती

है। तथा सभी प्रकार के रक्त रोगों में दूषित रक्त एवं पित्त के निर्हरण के लिये विरेचन कर्म, उपवास तथा रक्त मोक्षण कराना चाहिए। इस प्रकार रक्तदुष्टि में भी विरेचन कर्म की उपयोगिता का निर्देश प्राप्त होता है।

हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में शीत की क्रमिक वृद्धि से क्रमशः कफ दोष संचित होता जाता है जो कि वसन्त ऋतु में प्रकुपित हो जाता है। अतः वसन्त ऋतु में प्रकुपित कफ को शान्त करने के लिए वमन कर्म का विधान किया जाता है जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा :—

वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥
तस्माद् वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।
गुर्वम्लस्निग्ध मधुरं दिवास्वप्नं च वर्जयेत्॥
च० सू ६/२२-२३.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने निर्देशित किया है कि— वसन्त ऋतु में संचित कफ सूर्य की किरणों से प्रकुपित होकर जाठराग्नि को मन्द कर देता है जिससे कि बहुत से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण वसन्त ऋतु में वमनादि कर्म कराना चाहिए तथा रोगी को गुरु स्निग्ध और मधुर आहार वर्जित कराना चाहिए तथा दिन में सोने का भी निषेध कराना चाहिये। उद्धरण में निर्दिष्ट वमनादि कर्म से विरेचन, आस्थापन, अनुवासन तथा शिरोविरेचन कर्म का भी ग्रहण करना चाहिए। वसन्त ऋतु आदान काल होने से इसमें वात तथा पित्त दोष की भी विकृति हो सकती है। अतः वमन प्रधान काल होने पर भी रोगी के अन्य दोषों के शमनार्थ विरेचन, आस्थापन एवं अनुवासन कर्म कराना चाहिये। कफ दोष के शमनार्थ शिरोविरेचन कर्म तो कराना ही चाहिए। इस तथ्य का उल्लेख आचार्य चक्रपाणि ने अपनी व्याख्या में निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा :—

'वमनादीनि वमन प्रधानानि तेन आदान मध्य वेन यदि वात पित्त प्रकोपस्तथा विधो भवति तथा विरेचनास्थापनानुवासनानामपि प्रवृत्तिर्भवति, शिरोविरेचनं तु कफ जयार्थं कर्तव्यमेव''। च० सू० ६/२३ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि ऋतुचर्या क्रम में स्वस्थवृत्त पालनार्थ पंचकर्मों का विधान अपेक्षित है जिससे कि पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता प्रकट होती है।

विविध रोगों में उपचारार्थ पंचकर्म—

विविध रोगों का चिकित्सा के लिए भी पंचकर्म का विधान किया जाता है। अनेकविध रोग ऐसे हैं जो कि केवल संशमन चिकित्सा से शान्त नहीं होते उनमें संशोधन

चिकित्सा की अनिवार्यता होती है। अतः ऐसे व्याधियों के प्रतिकार में पंचकर्म द्वारा शरीरगत दोषों का निर्हरण अपेक्षित हो जाता है। हम इस प्रकरण के आरम्भ में ही बहुत से ऐसे रोगों का उल्लेख कर चुके हैं जिनमें पंचकर्म का विधान निर्दिष्ट किया गया है। अतः इस प्रसग में उनका उल्लेख करना पिष्ट पेषण ही होगा। यहाँ पर हम कुछ ऐसे विशेष रोगों का उल्लेख करेंगे जिनका आचार्य ने रोगों का विशेष स्थिति में पंचकर्मों द्वारा प्रतिकार करने का निर्देश किया है। यथा—

कफ ज्वर में वमन—कफ ज्वर में जिसमें आमाशय स्थित दोष बहिर्गमनोन्मुख हो अर्थात् हृल्लास (मिचली) आदि लक्षणों से युक्त हो और यह ज्ञात होता हो कि ज्वर का कारण यही है ऐसी स्थिति में उचित काल में दोष को वमन कर्म के द्वारा बाहर निकालना चाहिए। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

कफ प्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्॥

च० चि० ३/१४६.

इसी प्रकार अत्यधिक दोष वाले ज्वर रोगो में आचार्य ने दोष संशोधन के निमित्त वमन विरेचन कर्म कराने का निर्देश किया है। जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा

ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान्।
दद्यात् संशोधनं काले कल्पे तदुपदेक्ष्यते॥

च० चि० ३/२२७.

विषम ज्वर की चिकित्सा में भी आचार्य ने दोषानुबन्ध के अनुसार वमन, विरेचन तथा बस्ति कर्म का निर्देश किया है जैसा कि निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा :—

आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे।
वात प्रधान सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः॥
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम्।
विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च॥
विषमं तिक्त शीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत्।
वमनं पाचनं रुक्षमन्नपानं विलघनम्॥

च० चि० ३/२९३-२९५.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने विषम ज्वर में वातानुबन्ध होने पर घृत स्नेह की अनुवासन बस्ति, पित्तानुबन्ध में दुग्ध से अथवा घृत संस्कारित औषधियों से विरेचन कर्म

तथा कफानुबन्ध होने पर वमन कर्म, दोष का पाचन, रूक्ष अन्नदान का सेवन तथा लंघन का विधान निर्देशित किया है।

रक्त पित्त में पंचकर्म—रक्तपित्त के उपचार क्रम में भी आचार्य ने संशोधन चिकित्सा का निर्देश किया है। रक्त पित्त के ऐसे रोगी जिनका बल और मांस क्षीण न हुआ हो, व्याधि संतर्पण से उत्पन्न हुआ हो तथा अधिक प्रबल दोष वाला हो उसमें विरेचन कर्म द्वारा ऊर्ध्वग रक्त पित्त का तथा वमन कर्म द्वारा अधोग रक्तपित्त का दोष संशोषन करें। इस तथ्य को आचार्य के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यथा :—

अक्षीण बल मांसस्य यस्य संतर्पणोत्थितम्।
बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः॥
काले संशोधनार्हस्य तद् हरेन्निरुपद्रवम्।
विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च॥

च० चि० ४।५५–५६.

गुल्म रोग में पंचकर्म वात गुल्म चिकित्सा में भी संशमन चिकित्सा के साथ-साथ संशोधन चिकित्सा की व्यवस्था गुल्म रोगी के लिए लाभप्रद है, जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा :—

पुनः पुनः स्नेहपानं निरुहाः सानुवासनाः।
प्रयोज्या वात गुल्मेषु कफ पित्तानुरक्षिणा॥
पित्तं वा यदि संवृद्धं संतापं वात गुल्मिनः।
कुर्याद्विरेच्यः स भवेत सस्नेहैरानुलोमिकैः॥

च० चि ५।२६ व ३१.

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि वातगुल्म के रोगी में रोगशमनार्थ पुनः पुनः जब तक रोग शान्त न हो जाय तब तक स्नेहपान कराना चाहिए तथा निरुह व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। उपचार क्रम में साथ ही कफ पित्त दोष की भी साम्यावस्था बनाये रखनी चाहिए। जिस वात गुल्म के रोगी में पित्त दोष की वृद्धि हो उसमें पित्त निर्हरण के निमित्त स्नेहयुक्त अनुलोमक औषधियों का प्रयोग करते हुए विरेचन कर्म कराना चाहिए।

कुष्ठ रोग में संशोधन कर्म—कुष्ठ रोग के उपचार क्रम में आचार्य ने संशोधन चिकित्सा का निर्देश किया है, जैसा कि निम्नोक्त वचान से पुष्ट होता है। यथा—

वमन विरेचन योगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्या।
प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम्॥

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान् ।
दोषे ह्यतिमात्र हृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥

च० चि० ७।४८-४१.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने कुष्ठ चिकित्सा के निमित्त कल्प स्थान में कहे गये अनेक योगों से वमन विरेचन के द्वारा दोष संशोधन का निर्देश किया है। कुष्ठ रोगी अत्यधिक दोष वाले होते हैं। अतः दोषों का निर्हरण धीरे-धीरे रोगी के प्राणों की रक्षा करते हुए अनेक बार संशोधन कर्म कराके कराना चाहिए। क्योंकि दोषों का शीघ्र ही अति निर्हरण होने पर निर्बल रोगी को वायु मार देती है। इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि कुष्ठ के समुचित उपचार के निमित्त पंचकर्म की अनिवार्यता होती है।

राजयक्ष्मा में वमन विरेचन—राजयक्ष्मा की चिकित्सा में भी जिस रोगी में दोषाधिक्य हो उसमें वमन विरेचन का विधान बतलाया गया है। किन्तु रोगी के क्षीणता को देखते हुए उसे यथावश्यक स्नेहन स्वेदन कर्म से सम्यक उपपादित कराके ही संशोधनकर्म कराना चाहिए। इस तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यन्न कर्शनम् ॥
शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि ।
अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्योविरिच्यते ॥

च० चि० ८/८७-८८.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने राजयक्ष्मा के रोगी में स्नेहन तथा स्वेदन कर्म करके वमन विरेचन कर्म कराने का निर्देश किया है। वमन विरेचन कर्म उतना ही अपेक्षित है जिससे कि रोगी में कार्श्य (क्षीणता) न हो। क्षय रोगी में पुरीष के मृदु विरेचन से भी उसका शरीर और भी क्षीण हो जाता है क्योंकि विरेचन को मात्रा निर्बल रोगी के बल के अनुसार होनी चाहिए। और यदि उसमें अन्यों की भांति विरेचन कराया जायेगा तो रोगी के शरीर में और अधिक क्षीणता हो जायेगी। इसके अतिरिक्त राजयक्ष्मा के रोगी का कोष्ठाश्रित अन्न जाठराग्नि से पचकर मलभाव को प्राप्त हो जाता है जो कि धातु का सार रूप होता है। अतः राजयक्ष्मा के रोगी में जिसमें कि सभी धातुओं की क्षीणता होती है उसमें पुरीष ही बल होता है। इस कारण से राजयक्ष्मा के रोगी के पुरीष की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि राजयक्ष्मा के रोगी में पुरीष की रक्षा का इतना अधिक महत्त्व होते हुए भी दोषों की अधिकता होने पर रोगशमनार्थ रोगी के बलानुसार

वमन विरेचन कर्म कराना चाहिये। उपर्युक्त तथ्य से वमन विरेचन कर्म की उपादेयता का महत्त्व स्पष्ट होता है।

शोथरोग में पंचकर्म—शोथ की चिकित्सा में भी पंचकर्म से दोष संशोधन का निर्देश किया गया है, जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा :—

अथामजं लंघन पाचन क्रमं,
विशोधनैरुल्वण दोषमादितः।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो,
विरेचनैरुर्ध्वंहरैस्तथोर्ध्वजम् ॥
उपाचरेत् स्नेहभवं निरूहणैः,
प्रकल्पयेत् स्नेह विधिं च रूक्षजे।
विबद्ध विट्केऽनिलजे निरूहणं,
घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तकम् ॥

च० चि० १२/१७–१८.

आमजन्य शोथ में उपक्रम के रूप में प्रथमतः अपक्व दोषों के पाचन के निमित्त लंघन पाचन क्रम अपनाना चाहिये तदुपरान्त प्रकुपित दोषों को संशोधन कर्म से निर्हरण करें। शिरोगत शोथ को शिरो विरेचन कर्म से, अधोभागज शोथ को विरेचन कर्म द्वारा तथा ऊर्ध्वभागज शोथ को वमन कर्म द्वारा संशोधित करें। रूक्षण से उत्पन्न शोथ का स्नेह विधि से तथा स्नेह से उत्पन्न शोथ का रूक्षण से उपचार करें। शोथ के वातजन्य विबन्ध में निरूह बस्ति तथा पित्त जन्य शोथ में घृत युक्त तिक्त औषधियों के अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि शोथ के स्थान के अनुसार तथा दोषों की उल्वणता (प्रबलता) के अनुसार उचित संशोधन कर्म का विधान रोग शमनार्थ कराना चाहिए। इन तथ्यों से शोथ की चिकित्सा में पंचकर्म की उपादेयता का स्पष्ट ज्ञान होता है।

उदर रोग में विरेचन कर्म—उदर रोग में दोषों के अधिक संचय होने से स्रोतसों के मार्ग में अवरोध हो जाता है जिससे कि विविध उदर रोग उत्पन्न होते हैं। अतः उदर रोग में नित्य ही विरेचन कर्म कराना चाहिए। इसी तथ्य का उल्लेख आचार्य ने निम्नोक्त वचन में किया है। यथा—

दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्ग निरोधनात्।
संभवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचयेत् ॥

च० चि० १३/६१.

उदर रोगी के दोषानुसार तथा उदर रोग के विविध लक्षणों के अनुसार विरेचन के अतिरिक्त निरूह तथा अनुवासन बस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए। उदर रोग में वमन कर्म का निषेध किया गया है अतः विरेचन, रूक्षबस्ति एवं स्नेह बस्ति से दोषों का निर्हरण करना चाहिए। सभी उदर रोगों में भिन्न-भिन्न संशोधन कर्म का निर्देश किया गया है, विस्तार भय से उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता। यहाँ तो पंचकर्म की उपादेयता के निदर्शनार्थ केवल चिकित्सा सूत्र का उल्लेख किया गया है।

उदावर्त युक्त अर्श रोग में बस्ति कर्म—अर्श रोगी जिसमें उदावर्त रोग (वायु की विलोम गति) के लक्षण हों उनमें वातानुलोमन के निमित्त निरूह या अनुवासन बस्ति का प्रयोग अपेक्षित है। इस तथ्य का उल्लेख आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में किया है। यथा—

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः।
विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम्॥
निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम्।
समूत्र स्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः॥

च० चि० १४/१३०, १३७.

उदावर्त युक्त अर्श रोगी में अथवा जो अत्यन्त रूक्ष भाव वाले अर्श रोगी हों, जिनमें वात की ऊर्ध्व गति हो गई हो व शूल से पीड़ित हों उनमें अनुवासन बस्ति लाभदायक है। यदि उपर्युक्त लक्षण न हों तो उस अर्श रोगी में क्षीरयुक्त दशमूलक्वाथ की निरूह बस्ति देना चाहिए अथवा गोमूत्र युक्त स्नेह लवण की बस्ति या मदनफल आदि के कल्क से युक्त दशमूल क्वाथ की आस्थापन बस्ति देना चाहिए। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि अर्श रोग में वमन विरेचन कर्म का विधान नहीं निर्देशित किया गया है तथापि अर्श रोग के वात प्रधान व्याधि होने से वात शमनार्थ बस्ति का विधान निर्देशित किया गया है। इस प्रकार अर्श रोग में पंचकर्म के अंगीभूत बस्तिकर्म के विधान से इस सिद्धान्त की उपादेयता ज्ञात होती है।

ग्रहणी चिकित्सा में पंचकर्म—ग्रहणी चिकित्सा में अग्नि को दिपित करके दो या तीन दिन तक रोगी का स्नेहन कर्म करके स्वेदन तथा अभ्यंग करना चाहिए तदुपरान्त उसे निरूह बस्ति देना चाहिए। तत्पश्चात् एरण्डतैल, घृत, तिल्वक कषाय अथवा क्षार-युक्त कषाय से दोषानुसार निरूह बस्ति से ढीले हुए दोष को विरेचन कर्म से निर्हरण करना चाहिए। विरेचन कर्म से कोष्ठ की शुद्धि हो जाने पर पक्वाशय की रूक्षता से मल (पुरीष) के बँध जाने पर दीपनीय तथा अम्ल वर्ग की औषधियों से सिद्ध वातघ्न

तैल से अनुवासन बस्ति देना चाहिये । इस प्रसंग में आचार्योक्त विवरण निम्नोक्त है । यथा :—

किंचित्सन्धु क्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।
द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ।।
तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ।।
शुद्धं रुक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत् ।
दीपनीयाम्ल वातघ्न सिद्धतैलेन मात्रया ।।

च० चि० १५।७८–८०.

आचार्य के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि ग्रहणी चिकित्सा में दोषानुबन्ध के अनुसार विरेचन, वमन, निरूह एवं अनुवासन कर्म आदि पंचकर्म रोगशमन की दृष्टि से अपेक्षित है । दोष संशोधन के बिना ग्रहणी रोग की संशमन चिकित्सा लाभप्रद नहीं होती । संशमन चिकित्सा से भले ही तात्कालिक लाभ हो, किन्तु रोग के स्थायी शान्ति के लिए संशोधन कर्म कराना अत्यन्त आवश्यक होता है । आजकल प्राय: यह देखा जाता है कि ग्रहणी रोग की संशमन चिकित्सा से तात्कालिक लाभ तो हो जाता है किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद रोग का पुन: आक्रमण हो जाता है । इसका मुख्य कारण दोषों की कोष्ठ में उपस्थिति है । अत: दोष संशोधन के निमित्त शास्त्रोक्त पंचकर्म विधि का अनुसरण अपेक्षित है । इस तथ्य से पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट ज्ञात होती है ।

इसी प्रकार हमें आयुर्वेद शास्त्र के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि कामला, हिक्का-श्वास, कास, छर्दि, विसर्प, अतिसार, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, हृद्रोग, शिरोरोग एवं वातरोग आदि में भी दोषानुसार किसी न किसी पंचकर्म विधि का रोगशमनार्थ विधान निर्देशित किया गया है ।

मर्म परिपालनार्थ बस्ति कर्म का विधान—आचार्य चरक ने हृदय, बस्ति तथा शिर को प्राणों के विशेष आश्रय स्थल होने के कारण इन्हें सभी मर्मों की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मर्म माना है । इन तीन मर्मों की विशेष महत्ता का निर्देश करते हुए आचार्य ने इन्हें वात प्रकोप से रक्षा के निमित्त बस्तिकर्म का विधान बतलाया है, जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है । यथा—

"किं त्वेतानि विशेषतोऽनिलाद्रक्ष्याणि, अनिलो हि पित्त कफ समुदीरणे हेतुः प्राणमूलं च, स बस्तिकर्मसाध्यतमः, तस्मान्न बस्तिसमं किञ्चित् कर्म मर्मपरिपालनमस्ति" ।

च० सि० ९/७.

हृदय, बस्ति तथा शिर इन तीनों ही विशेष मर्मों को विशेषकर वात से रक्षा करनी

चाहिए। वात ही पित्त व कफ को प्रेरित करने वाला है तथा प्राण का आश्रय है। अतः इन मर्मों की रक्षा के निमित्त वस्ति कर्म के समान मर्म परिपालन के लिए हितकर कोई कर्म नहीं है।

उपर्युक्त तथ्य से ज्ञात होता है कि आचार्य चरक ने हृदय, बस्ति तथा शिर इन तीनों मर्मों की रक्षा के निमित्त विशेष रूप से बस्ति कर्म का विधान निर्देशित किया है। इसी कारण इस विषय का विशेष महत्त्व संकेतित करते हुए आचार्य ने इस प्रसंग को एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में सिद्धि स्थान के नवें अध्याय में "त्रिमर्मीया सिद्धि" शीर्षक से उपनिबद्ध किया है।

उपर्युक्त तीनों मर्मों के परिपालन पर विशेष ध्यान तथा तदनुसार प्रयत्न की अनिवार्यता को लक्ष्य कर आचार्य निम्नोक्त वचन प्रस्तुत करते हैं। यथा—

हृदये मूर्ध्नि बस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
तस्मात्तेषां सदा यत्नं कुर्वीत परिपालने॥
आबाध वर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानुवर्तनम्।
उत्पन्नार्ति विघातश्च मर्मणां परिपालनम्॥

च० सि० ९/९-१०.

अर्थात् हृदय, बस्ति तथा शिर इन्हीं तीनों में मनुष्यों का प्राण आश्रित रहता है। अतः इन तीनों मर्मों की रक्षा का सदैव ही प्रयत्न करना चाहिए। और इस निमित्त नित्य ही मर्मोपघात (मर्म पर आघात) के कारणों का परिवर्जन, स्वस्थवृत्त का पालन तथा उत्पन्न हुए रोगों का नाश करना इन तीनों उपायों का आश्रय लेना चाहिए।

अब हम इन तीनों मर्मों में उत्पन्न रोगों के उपचारार्थ विहित बस्ति कर्म के विधान का विषय स्पष्टीकरणार्थ विचार करेंगे।

हृद्रोग में विहित बस्तिकर्म—हृद्रोग के उपचार निमित्त हिंगु, अम्लवेत, शुण्ठी, सौवर्चल नमक तथा दाडिमयुक्त औषधियों से सिद्ध वात कफघ्न क्वाथ को पिलाना चाहिए। इसके अतिरिक्त दोषों के शोधन के निमित्त थोड़ा निरूह बस्ति देवे तथा तत्पश्चात् सौवर्चल लवण, हरीतकी तथा शुण्ठी से सिद्ध घृत का पान कराये। इस प्रसंग में आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

हिंग्वम्लवेतसं शुण्ठीं ससौवर्चलं दाडिमम्।
पिवेद्वात कफघ्नं च कर्म हृद्रोगनुद्धितम्॥
शोधना बस्तयस्तीक्ष्णा न हितास्तस्य कृत्स्नशः।
सौवर्चलाभयाव्योषैः सिद्धं तस्मै घृतं हितम्॥

च० सि० ९/१९-२०.

अवलम्बक कफ का स्थान हृदय होने के कारण हृदयरोग में उसके विकृत होने की अधिक सम्भावना रहती है, जिसके कारण हृदय कफावृत्त हो जाता है जिससे कि अनेक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में विकृत कफ के नाश के निमित्त कफघ्न कार्य करना चाहिए जिसमें संशोधन तथा संशमन उपचार का विधान अपेक्षित है। उपर्युक्त तथ्यों को लक्ष्य कर आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में कहा है। यथा—

मधुरस्निग्धगुर्वन्नसेवनाच्चिन्तनाच्छ्रमात् ।
शोकाद्व्याध्यनुषंगाच्च वायुनोदीरितः कफः ।।
यदाऽसौ समवस्कन्द्य हृदयं हृदयाश्रयान् ।
समावृणोति ज्ञानादींस्तदा तन्द्रोपजायते ।।
हृदये व्याकुलीभावो वाक्चेष्टेन्द्रिय गौरवम् ।
मनोबुद्ध्यप्रसादश्च तन्द्राया लक्षणं मतम् ।।
कफघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं शमनानि च ।
व्यायामो रक्तमोक्षश्च भोज्यं च कटु तिक्तकम् ।।
च० सि० ९/२१–२४.

अर्थात् मधुर, स्निग्ध तथा गुरु अन्न के सेवन से, चिन्तन करने से, अधिक श्रम करने से, शोक करने से एवं किसी व्याधि के अनुबन्ध से वायु प्रकुपित हो जाती है जो कि परिणामतः कफ को प्रकुपित कर देती है। प्रकुपित कफ हृदय तथा हृदयाश्रित धमनियों को आच्छादित कर देता है जिससे कि ज्ञानवाही स्रोतस रुद्ध होकर तन्द्रा की उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में हृदय में घबड़ाहट होती है तथा वाणी और इन्द्रियों की चेष्टाओं में भारीपन तथा मन्दता हो जाती है। मन और बुद्धि की प्रसन्नता नहीं रहती है, यह तन्द्रा का लक्षण है। तन्द्रा रोग के शमनार्थ कफनाशक शोधन और शमन चिकित्सा करनी चाहिए। व्यायाम, रक्तविस्रावण तथा कटु तिक्त रस वाले आहार द्रव्य कफनाशक हैं। इस तरह के हृदय रोगों में आचार्य ने संशोधन कर्म के निमित्त पंचकर्म की अपेक्षा के अनुसार विधान निर्देशित किया है।

सभी प्रकार के बस्ति तथा मूत्र कृच्छ्रादि विकारों में पंचकर्म के अंगीभूत बस्ति कर्म तथा उत्तर बस्ति का निर्देश प्राप्त होता है, जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा

दोषाधिक्यमवेक्ष्यैतान् मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत् ।
बस्तिमुत्तरबस्तिं च सर्वेषामेव दापयेत् ।। च० सि० ९/४९.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने दोषों की उल्वणता के अनुसार त्रयोदशभेद वाले मूत्र कृच्छ्रादि विकारों में मूत्र कृच्छ्रहर योगों के प्रयोग, बस्तिकर्म तथा उत्तर बस्ति का निर्देश रोगशमनार्थ किया है।

प्रस्तुत प्रसंग में उत्तर बस्ति का निर्देश प्राप्त होता है जिसके विषय में कुछ विचार अपेक्षित है। उत्तरबस्ति विधि का विवरण आचार्य ने निम्नोक्त वचन में विस्तार से प्रस्तुत किया है। यथा—

पुष्पनेत्रं तु हैमं स्याच्छ्लक्ष्णमौत्तरबस्तिकम्।
जात्यश्वहनवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्।
रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशाङ्गुलम्॥
तेनाजबस्तियुक्तेन स्नेहस्यार्धपलंनयेत्।
यथा वयो विशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा॥
स्नातस्यभुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा।
सृष्ट विण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृताक्तया।
शलाकयाऽन्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत्॥
ततः शेफः प्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्।
गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनुसेवनीम्॥
हिस्याबतिगतं बस्तिमूने स्नेहो न गच्छति।
सुखं प्रपीड्य निष्कम्पं निष्कर्षेन्नेत्रमेव च॥
प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं च प्रदापयेत्।
अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च॥
च० सि० ९/५०-५७.

उत्तर बस्ति की विधि—उत्तर बस्ति में पुष्पनेत्र (प्रयुज्य नली) सोने का होना चाहिए। वह नली चमेली या कनेर के फूल के वृन्त (डण्ठल) के समान सूक्ष्म होना चाहिए। उसकी आकृति गोपुच्छ के समान चढ़ाव उतार वाली होनी चाहिए। सोने के नली के अतिरिक्त चाँदी की नली भी प्रयोग में लाई जा सकती है। नली के अन्दर इतना मोटा (परिणाह वाला) छिद्र होना चाहिए जिसमें से पीला सरसों बाहर निकल जाय। यह पुष्पनेत्र १२ अंगुल लम्बा और २ कान वाला होना चाहिए। इस पुष्पनेत्र को बकरी की बस्ति में बाँध देना चाहिए। इस नली से आधा पल (२ तोला) स्नेह को मूत्राशय में प्रविष्ट करना चाहिए। अथवा रोगी के वय के अनुसार विचार कर स्नेह की मात्रा बस्ति में देना चाहिए।

उत्तर बस्ति देने की विधि—व्यक्ति जो स्नान करने के पश्चाद मांस रस या दूध के साथ भोजन कर चुका हो तथा मल मूत्र का त्याग कर चुका हो और जो जानु के बराबर ऊँची चारपाई या चौकी पर कोमल विस्तर बिछा कर सीधे सुखपूर्वक बैठा हो

ऐसे व्यक्ति के लिंग को हृष्ट (खड़ा) करके घृत में भिगोई हुई शलाका से मूत्र के मार्ग का ठीक-ठीक पता लगाले। यदि शलाका बिना किसी रुकावट के अन्दर चली जाय तो उसे निकाल कर मूत्रेन्द्रिय की लम्बाई के अनुसार पुष्पनेत्र प्रविष्ट करे तथा जिस प्रकार गुदा में बस्ति प्रविष्ट की जाती है उसी प्रकार मूत्र मार्ग में सेवनी के ठीक सामने पुष्पनेत्र का प्रयोग करना चाहिए। पुष्पनेत्र प्रवेश ठीक-ठीक मुत्रेन्द्रिय के प्रमाण के अनुसार ही करना चाहिए। यदि असावधानीवश पुष्पनेत्र का प्रवेश अधिक हो जाता है तो मूत्राशय में हानि होती है और यदि उचित प्रमाण से कम पुष्पनेत्र प्रविष्ट किया जाता है तो स्नेह उचित रूप में प्रवेश नहीं कर पाता। उत्तर बस्ति देते समय सुखपूर्वक न अधिक वेग से और न हीन वेग से स्नेह का प्रवेश कराना चाहिये। उत्तर बस्ति देते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हाथ में कम्पन न हो तथा पुष्पनेत्र निकालते समय भी हाथ न काँपे। जब उत्तर बस्ति द्वारा प्रविष्ट कराया गया स्नेह बाहर निकल जाय तो दूसरी तथा तीसरी बार उत्तर बस्ति देनी चाहिए। इस प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक बस्तियाँ दी जाती हैं। उत्तर बस्ति द्वारा दिया गया स्नेह बाहर न निकले तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। उत्तर बस्ति देने के पश्चात् रात भर बीत जाने पर दूसरे दिन प्रातःकाल विविध औषधियों से निर्मित वर्ति (बत्ती) का प्रयोग कर स्नेह को बाहर निकालना चाहिए।

इस प्रकार बस्तिगत सभी रोगों में संशोधन चिकित्सा के रूप में पंचकर्म के अंगीभूत बस्ति तथा उत्तर बस्ति का विधान आयुर्वेद के आचार्यो ने निर्देशित किया है। बस्तिगत रोगों में पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता इस प्रकार स्पष्ट ज्ञात होती है।

शिरो रोग की चिकिसा में भी संशोधन के निमित्त शिरोविरेचन, विरेचन, बस्ति, शिरो बस्ति आदि पंचकर्म का विधान आचार्यों ने निर्देशित किया है। आचार्य दृढ़ बल ने इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्वारा शिरो रोग की चिकित्सा में पंचकर्म का विधान निर्देशित किया है। यथा —

चतुः स्नेहोत्तमा मात्रा शिरः काय विरेचनम्।
नाडी स्वेदो घृतं जीर्णं बस्तिकर्मानुवासनम्॥
उपनाहः शिरोबस्तिर्दहनं चात्रशस्यते।
प्रतिश्याये शिरो रोगे यच्चोदिष्टं चिकित्सितम्॥
च० सि० ९/७७-७८

शिरोरोग की चिकित्सा में पचकर्म—सभी प्रकार के शिरोरोग में आचार्य ने उपर्युक्त चिकित्सा सूत्र का उल्लेख किया है जिसमें पंचकर्म का विधान भी निर्देशित किया गया है। शिरोरोग की चिकित्सा में घृत, तेल, वसा तथा मज्जा का उत्तम मात्रा

में पान करना, शिरोविरेचन (नस्य कर्म), काय विरेचन, नाडी स्वेद, पुराने घृत का पान, निरूह तथा अनुवासन बस्ति का प्रयोग, उपनाह (पुल्टिश बांधना), शिरोबस्ति का प्रयोग और अग्नि से दाह क्रिया करना उत्तम माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिश्याय तथा शिरोरोग में त्रिमर्मीय चिकित्सा प्रकरण में जो चिकित्सा बताई गई है उसका प्रयोग करना उत्तम होता है।

उपर्युक्त प्रसंग पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि शिरोरोग की चिकित्सा में दोष संशोधन के निमित्त पंचकर्म के विधान की ही प्रधानता से उल्लेख किया गया है जिससे कि पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि हृदय, बस्ति तथा शिर इन तीन मर्मों से सम्बन्धित रोगों के उपचार निमित्त पंचकर्म विधान की महती उपयोगिता है। इसी तथ्य के आधार पर असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि किसी न किसी प्रकार प्राय: सभी रोगों के उपशमनार्थ पंचकर्म सिद्धान्त की अत्यन्त उपादेयता है।

रसायन कर्म में पंचकर्म—आचार्य चरक ने भेषज (रोग निवारण के साधन) का दो भेद बतलाया है। इसमें प्रथम 'स्वस्थस्योर्जस्कर' (स्वस्थ व्यक्ति के प्रशस्त भावों की वृद्धि करने वाला) तथा द्वितीय 'आर्तस्यरोगनुत्' (रोगाक्रान्त व्यक्ति का रोग नाशक)। प्रथम भेषज स्वस्थस्योर्जस्कर वह है जो कि बलवर्धक, वृष्य तथा रसायन है। रसायन भेषज वह है जो कि सेवन करने वाले व्यक्ति की जरावस्था की गति को मंद करता है तथा साथ ही व्याधियों का नाश भी करता है। रसायन, भेषज के स्वस्थस्योर्जस्कर भेद के अन्तर्गत आता है। रसायन के गुणों का आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में उल्लेख किया है। यथा—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनात्॥

च० चि० १|१–७–८.

रसायन भेषज के गुण—रसायन भेषज का सेवन करने से मनुष्य दीर्घ आयु, स्मरणशक्ति, मेधा (धारणाशक्ति), आरोग्य, तरुणावस्था, प्रभा (शरीर की कान्ति), वर्ण (गौर कृष्ण आदि), स्वर की उदारता; देह एवं इन्द्रियों में उत्तम बल की प्राप्ति, वाक्सिद्धि (कही हुई वाणी का सत्य होना), प्रणति (नम्रता) आदि गुणों को प्राप्त करता है।

रसायन भेषज के उपर्युक्त गुणों की प्राप्ति के लिए भी संशोधन कर्म अपेक्षित है।

अतः रसायन सेवन से पूर्व पंचकर्म विधान से व्यक्ति का संशोधन अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में रसायन कर्म से पूर्व पंचकर्म के माध्यम से संशोधन कर्म की अपेक्षा का उल्लेख किया है। यथा :—

तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः।
रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम् ॥
च० चि० १/१–२४.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को संशोधन कर्मों से अर्थात् वमन, विरेचन, शिरोविरेचन तथा वस्ति आदि पंचकर्मों से शुद्ध होने पर तथा संसर्जन कर्म से उसमें पुनः बल आ जाने पर रसायन भेषज का प्रयोग करना चाहिए। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि कहते हैं कि। यथा—

'संशोधनैरिति वमन विरेचनास्थापनशिरोविरेचनै। सुखीति अरोगः।
जात वल इति संशोधनापहृत मलतया संसर्जनादिक्रमेण पुनर्जातबलः ॥
च० चि० १/१–२४ पर आयुर्वेद दीपिक टीका।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि जब तक संशोधन कर्म से व्यक्ति का शरीर शुद्ध नहीं हो जाता तथा उसके रोग का नाश नहीं हो जाता तब तक रसायन प्रयोग का अभीष्ट फल नहीं प्राप्त होता। अतः रसायन के अभीष्ट फल प्राप्ति के निमित्त रसायन कर्म से पूर्व पंचकर्म विधान से शरीर का संशोधन अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि रसायन कर्म की अभीष्ट फल प्राप्ति पंचकर्म से संशोधन कराने के उपरान्त हो हो सकती है जिससे कि प्रस्तुत सन्दर्भ में पंचकर्म सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण उपादेयता ज्ञात होती है।

वाजीकरण कर्म में पंचकर्म—वाजीकरण कर्म वह है जिससे व्यक्ति में मैथुनशक्ति की वृद्धि होती है। बाजीकरण शब्द का निरुक्ति परक अर्थ है—वाजः बलं शुक्रं यस्या-स्ति सः वाजो, अवाजो वाजीक्रियते अनेन इति वाजीकरणम्। अर्थात् वाज का अर्थ होता है बल या शुक्र, जिसे बल या शुक्र होता है वह वाजो है। अवाजी अर्थात् अल्पबल या अल्प शुक्र वाले व्यक्ति में जो सामर्थ्य या शुक्र वृद्धि करके मैथुन शक्ति को बढ़ाये उसे वाजीकरण कहते हैं। उक्ति भी है कि "वाजी वा तिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियम्" अर्थात् अश्व के समान बल से जो स्त्री में अप्रतिहत गमन करने की शक्ति प्रदान करे वह वाजोकरण है। आचार्य चरक ने भी वाजीकरण की व्याख्या निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है। यथा—

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः ।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥

च० चि० २/४-५१.

अर्थात् जिस आहार अथवा औषधि के सेवन से मनुष्य में अश्व के समान मैथुन करने की शक्ति प्राप्त होती है और जिसके सेवन से अधिक बार मैथुन कर सकता है उस औषधि या क्रिया को वाजीकरण कहते हैं ।

वाजीकरण के निमित्त वृष्य योगों का प्रयोग किया जाता है । आचार्यों ने वाजीकरण के लिए अनेक वृष्य योगों का उल्लेख किया है । वृष्य योगों के सेवन से पूर्व वाजीकरण कर्म के अभीष्ट फल प्राप्ति के लिए शरीर का संशोधन आवश्यक है । शरीर संशोधन के बिना वाजीकरण कर्म प्रायः निष्प्रभावी होता है । शरीर की शुद्धि के पश्चात् ही वृष्य योगों के सेवन का विधान आचार्यों ने निर्देशित किया है । आचार्य चरक ने वाजीकरण कर्म से पूर्व शरीर की शुद्धि की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति में वृष्य योगों के प्रयोगजनित लाभ का निम्नोक्त उद्धरण में उल्लेख किया है । यथा :—

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे,
वृष्यं यदा ना मितमत्ति काले ।
वृषायते तेन परं मनुष्य,
स्तद्बृंहणं चैव बलप्रदंच ॥
तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं,
बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः ।
सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः,
क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः ॥

च० चि० २/१-२०-५१.

स्रोतों के शुद्ध हो जाने पर जब शरीर स्वच्छ एवं मलरहित हो जाता है तब उचित काल पर जो मनुष्य मात्रा के अनुसार वृष्य योगों का सेवन करता है वह उक्त वृष्य योगों के प्रयोग से अधिक रूप में मैथुन करने की शक्ति प्राप्त करता है। सेवित वृष्य योग बृंहण और बल को देने वाला होता है । अतः बल के अनुसार पहले मनुष्य को वमन विरेचन द्वारा शरीर का संशोधन कर लेना चाहिए क्योंकि मलिन (दोषयुक्त) शरीर में वृष्य योग उसी प्रकार अभीष्ट फल नहीं प्रदान करते जिस प्रकार गन्दे वस्त्र पर चढ़ाया गया रंग ठीक से नहीं चढ़ता ।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से स्पष्ट होता है कि वाजीकरण कर्म के

पूर्व शरीर संशोधन के निमित्त पंचकर्म विधान की अपेक्षा होती है। पंचकर्म विधान से संशोधन के पश्चात् ही वाजीकर योगों का सेवन अभीष्ट फल की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार वाजीकरण कर्म में पंचकर्म सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट ही ज्ञात होती है।

हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि पंचकर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन आयुर्वेदज्ञ मनीषि आचार्यों ने स्वास्थ्य रक्षा एवं रोगोपचार इन द्विविध आयुर्वेद के प्रयोजनों को लक्ष्य करके निर्दिष्ट किया है। स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगोपचार के लिए शरीर का दोष संशोधन एवं दोष संशमन दोनों ही चिकित्सा पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं। इन दोनों ही उपक्रमों की सिद्धि में पंचकर्म विधान का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः आचार्यों ने पंच-कर्म का विधान आयुर्वेद के अष्टांग गत विकारों के शमन एवं विकारानुत्पत्ति के निमित्त व्यापक रूप से निर्देशित किया हैं। हमने संक्षेप में इस विषय का विचार प्रस्तुत किया है। विस्तृत विवरण के लिए जिज्ञासुओं को आयुर्वेद के अष्टांगाश्रित ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए।

पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त

औषधियों को सेवनीय रूप में सरलता से ग्रहण करने के निमित्त तथा औषधि गत गुणों की अभिवृद्धि के लिए आचार्यों ने अनेक प्रकार के उपायों का निर्देश किया है, उनमें पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त प्रमुख है। उपर्युक्त प्रयोजनों को लक्ष्य करके आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने औषधियों को पांच रूप में सेवन करने योग्य प्रकारों में विभाजित कर रोगी व रोग के बलानुरूप उनके प्रयोग का विधान निर्देशित किया है। इसी कारण आयुर्वेद में इसे पंचविध कषाय कल्पना की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

यद्यपि आयुर्वेद की लौकिक परम्परा में साधारणतया पंचविध कषाय कल्पना को सिद्धान्त के रूप में प्रमुखता नहीं दी जाती है, तथापि आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थों के अव-लोकन से ज्ञात होता है कि किसी न किसी रूप में आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने पंचविध कषाय कल्पना का व्यवहार परक निर्देश किया है। यदि सिद्धान्त की परिभाषा कसौटी पर पंचविध कषाय कल्पना विषयक तथ्यों की परख की जाय तो सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि इसे भी सिद्धान्त की कोटि में असंदिग्ध रूप से परिगणित किया जा सकता है।

आयुर्वेद में पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त की व्यवहार परक प्रमुख भूमिका होने के कारण हमने इसे सिद्धान्त के रूप में इस विषय पर विवेचन की अपेक्षा समझकर विचार करने का प्रयास किया है। हो सकता है कि कुछ विज्ञ आयुर्वेद मनीषियों को यह विषय सिद्धान्त के रूप में असंगत लगे। किन्तु हमारे विचार से जो कि आयुर्वेद शास्त्र गत विवरणों पर ही आधारित है यह विषय निस्सन्देह ही सिद्धान्त कोटि का है। सुतरां

हमने पंचविध कषाय कल्पना विषयक विचार को सिद्धान्त रूप में ग्रहण कर विवेचित किया है।

पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त की अवतारणा औषधियों को व्यक्ति विशेष के बल, दोष की अपेक्षा से सरलता पूर्वक ग्रहण करने के निमित्त तथा औषधियों के गुण वृद्धि के लिए की गई है। औषधियों की गुण वृद्धि के लिए अनेक संस्कार किए जाते हैं, जैसा कि आचार्य चरक ने आहार द्रव्यों के स्वाभाविक गुणों के सम्यक् संस्कार प्रसंग में निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभि संस्कारः। संस्कारोहि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्नि सन्निकर्ष शौचमन्थन देशकाल वासन भावनादिभिः काल प्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते। च० वि० १।२२-२,

उपर्युक्त वचन से स्पष्ट होता है कि द्रव्यों के स्वाभाविक गुणों को अनुकूल गुण युक्त बनाने के लिए द्रव्यों को विविध उपायों से सम्यक् संस्कारित करते हैं, इसी कारण इस क्रिया को करण कहते हैं। इसी करण क्रिया को संस्कार भी कहते हैं। संस्कार से द्रव्यों में अन्य गुणों का आधान होता है। ये गुण जो कि संस्कार के विविध उपाय यथा — द्रव्यों का जल और अग्नि से संयोग, निर्मलीकरण, मंथन क्रिया, विविध स्थानों पर स्थापन, कुछ काल तक सुगंध द्रव्यों के सम्पर्क में रखना, भावना (किसी द्रव्य के स्वरस में सम्बन्धित द्रव्य का घोटना) तथा काल प्रकर्ष अर्थात् कुछ काल तक सम्बन्धित द्रव्यों को विशेष परिस्थिति में रखना आदि उपायों से सम्बन्धित द्रव्यों में आ जाते हैं।

पंचविध कषाय कल्पना से भी औषध द्रव्य की गुण वृद्धि के निमित्त किए गये विविध प्रकार के संस्कार ही ग्रहण किये जाते हैं। एतदर्थ औषधियों को स्वरस, कल्क, शृत, शीत तथा फाण्ट इन पंचविध प्रक्रियायों से संस्कारित किया जाता है। जिससे कि औषधि में गुणवृद्धि के साथ ही व्यक्ति की अपेक्षा के अनुसार उसे सेवनीय रूप में प्रयोग किया जा सके।

उपर्युक्त पंचविध कषाय कल्पना को आचार्य चरक ने निम्नोक्त प्रकार से परिभाषित किया है। यथा—

यन्त्र निष्पीडिताद्द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते।
यः पिण्डो रस विष्टानां स कल्कः परिकीर्तितः॥
वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृत माहुश्चिकित्सकाः।
द्रव्यादापोत्थितात्तोये प्रतप्ते निशिसंस्थितात्॥
कषायो योऽभिनिर्याति स शीत समुदाहृतः।
क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत् फाण्टं परिकीर्तितम्॥ च० सू० अ० ४

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्वरस, कल्क, शृत, शीत तथा फाण्ट की परिभाषा प्रस्तुत किया है स्वरस यन्त्र के माध्यम से अथवा किसी प्रकार औषधि को कूट करके उसे दबाकर रस निकालने को स्वरस कल्पना कहते हैं। कल्क औषधि द्रव्य को पीसकर उसे पिण्ड रूप में बना लेने को कल्क कल्पना कहते हैं। शृत औषधि द्रव्य को जल में डालकर आग पर पकाने से जो क्वाथ बन जाता है उसे शृत कहते हैं। शीत—कूटे हुए औषधि द्रव्य को खौलते जल में डालकर रात भर छोड़ देने पर जो औषधि द्रव प्राप्त होता है उसे शीत कहते हैं। फाण्ट—उष्ण जल में औषधि द्रव्य को छोड़ने पर जो औषधि द्रव प्राप्त होता है उसे फाण्ट कहते हैं।

इस प्रकार की पंचविध कषाय कल्पना स प्रयुज्यमान औषधि रोगी के व्याधि तथा उसके स्वयं के बल के अनुरूप होती हुई सेवनीय हो जाती है। स्वरस, कल्क, शृत, शीत तथा फाण्ट ये पाँच प्रकार की औषधि कल्पना विशेष उद्देश्य से की जाती है। क्योंकि इन सभी की प्रभावकारिता भिन्न-भिन्न है। आचार्य चरक ने इनकी क्रियाकर्तृत्व शक्ति का विवरण युक्तिसंगत रूप में निम्नोक्त वचन में प्रस्तुत किया है। यथा—

तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्, अतः कषाय कल्पना व्याध्यातुर बलापेक्षिणी; न त्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति। च० सू० ४/७.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने बतलाया है—स्वरस, कल्क, शृत, शीत तथा फाण्ट इन पंचविध कषाय कल्पना में पूर्व-पूर्व को औषधि कल्पना उत्तर-उत्तर औषधि कल्पना की अपेक्षा अधिक से अधिकतर बलवाली, स्वरस की अपेक्षा कल्क कल्पना कम बलवाली इसी प्रकार शृत कल्पना कल्क कल्पना की अपेक्षा और कम बल वाली होती है। इसी प्रकार क्रमशः शीत एवं फाण्ट कल्पना का बल (प्रभावकारिता) कम होता जाता है। इन पञ्चविध कषाय कल्पनाओं में पूर्व-पूर्व की कल्पना अधिक बलवाली होती है, अतः इनका प्रयोग व्याधि तथा रोगी के बल की अपेक्षा से करना चाहिए। ये सभी पंचविध कषाय कल्पनायें सभी के लिऐ तथा सभी व्याधियों में उपयोगी नहीं होती क्योंकि इनका बल भिन्न-भिन्न होता है।

आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है, जो कि बिषय के स्पष्टीकरण के लिए अपेक्षित है। यथा :—

तेषां स्वरसादीनां यथापूर्वं बलाधिक्यमिति फाण्यच्छीतो गुरुः, शीताच्छृतो गुरुरित्यादि। यतो यथापूर्वं गुर्वी कषाय कल्पना, अतएव च व्याध्यातुर बलापेक्षिणी, व्याधेरातुरस्य च बलमपेक्षत इत्यर्थः। अत्रोपपत्तिमाह—न त्वेवमित्यादि—बलवति-पुरुषे व्याधौ च द्रव्यसारभागमयत्वेनात्यर्थं गुरुर्बहुकार्यकरः स्वरसो युज्यते, नायमल्प बले पुरुषे रोगे वा योगवान् भवति, बलभ्रंश भेषजाति योग दोष कर्तृत्वादिभावः,

एवमन्यत्राऽपिव्याख्येयम् । तथा न सर्वाणि स्वरसादीनि सर्वत्र पुरुषे योग्यानिभवन्ति, यहः केचित् स्वरसद्विषः, केचित् स्वरसप्रियः इतर कल्पनाद्विष एवमादि । न चात्यर्थं द्विष्टभेषजस्य प्रयोगइष्यते, तत्क्षण वमनारुच्यादि दोषकर्तृं त्वात् । तथा कषाय कल्पना व्याध्यातुर बलापेक्षिणीत्येतदुदाहरणार्थं, तेन द्रव्यापेक्षिणीत्येदपि बोद्धव्यम् । यतो द्रव्य नियमेन कल्पना नियमं वक्ष्यति रसायने । च० सू० ५/७ पर आयुर्वेद दीपिका

इस प्रसंग में यह उपपत्ति दी जाती है कि बलवान व्यक्ति में तथा बलवान रोग में स्वरस का प्रयोग अपेक्षित है क्योंकि इसमें औषधि द्रव्य का सार भाग अत्यधिक होता है जो कि गुरु गुण वाला तथा अधिक कार्यकारी होता है। स्वरस कल्पना का प्रयोग अल्प बल वाले तथा अल्प रोग वाले व्यक्ति में उचित नहीं है। अर्थात् आशय यह है कि अल्प बल तथा अल्प रोग वाले व्यक्ति में स्वरस का प्रयोग बल का नाश करता है। तथा औषधि के अतियोग के कारण अधिक दोषकारी होता है। इसी प्रकार अन्य कल्पनाओं के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य ने उपर्युक्त उद्धरण में कहा है कि स्वरस आदि सभी कल्पनायें सभी पुरुषों में सदैव योग्य नहीं होती। कोई व्यक्ति स्वरस द्वेषी होता है तो कोई स्वरस प्रेमी, कोई कल्क द्वेषी होता है तो कोई कल्प प्रेमी। इसी प्रकार अन्य कल्पनाओं के विषय में भी व्यक्तियों के रुचि एवं द्वेष का सम्बन्ध समझना चाहिए। कोई भी औषधि जो व्यक्ति के लिए अप्रिय है उसका अधिक प्रयोग अपेक्षित नहीं है क्योंकि ऐसी औषधि का प्रयोग तत्क्षण ही वमन तथा अरुचि आदि दोषों को उत्पन्न करता है। इसी कारण आचार्य ने कषाय कल्पना को व्याधि तथा रोगी के बल की अपेक्षा के अनुसार प्रयोग करने का निर्देश किया है। इस तथ्य से द्रव्य की अपेक्षा को भी ग्रहण करना चाहिए। आचार्य ने इसी तथ्य को दृष्टिगत कर द्रव्य के प्रयोग नियम से स्वरसादि कल्पना नियम का सम्बन्ध बतलाया है, जैसा कि रसायन प्रसंग में आए हुये निम्नोक्त वचन से स्पष्ट ज्ञात होता है। यथा—

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः,
क्षीरेण यष्टीमधुकस्यचूर्णम् ।
रसोगुडूच्यस्तु समूल पुष्प्याः,
कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः ।। च० चि० १/३/३०

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्पष्ट निर्देश किया है कि रसायन कर्म के निमित्त मंडूकपर्णी के स्वरस का प्रयोग करना चाहिए, मधुयष्टि के चूर्ण को क्षीर के साथ प्रयोग करे, गुडूची के पंचांग का स्वरस प्रयोज्य है तथा शख पुष्पो का कल्क अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए करें।

आचार्य चरक के उपर्युक्त वचन से स्पष्ट होता है कि औषधि की कल्पना विशेष का

प्रयोग रोगी के बल, व्याधि की उग्रता तथा औषधि द्रव्य की प्रभावकारिता के आधार पर करना उचित है।

पंचविध कषाय कल्पना प्रसंग में इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि औषधि के रूप में ली जाने वाली वटी तथा चूर्ण को किस कषाय कल्पना में अन्तर्भूत किया जा सकता है ? इस विषय का विवेचन करते हुए आचार्य चक्रपाणि का कथन है कि चूर्ण को कल्क के अन्तर्गत ही गणना करनी चाहिए, क्योंकि कल्क दो प्रकार का होता है—सद्रव (द्रवांश युक्त) तथा अद्रव (बिना द्रवांश के)। अतः चूर्ण को अद्रव कल्क के रूप में कल्क में ही अन्तर्भूत किया जाता है। इसी प्रकार वटी भी सद्रव कल्क को सुखा कर निर्मित किया जाता है, अतः इसे भी कल्क के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। इस प्रसंग में आचार्य चक्रपाणि का निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा --

चूर्ण कल्क एवान्तर्भावनीयं, द्विविधो हि कल्कः सद्रवोऽद्रवश्चेतिकृत्वा, तेन "निशिस्थिता वा स्वरसी कृता वा, कल्कीकृता चूर्णमथोशृता वा" (च०चि०अ०४)

इत्यादौ पृथक् चूर्ण पाठेनाधिक कल्पना प्रसंगोनोद्भावनीयः।

च० सू० ५/७ पर आयुर्वेद दीपिका

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चक्रपाणि ने महर्षिचरक के ही वचन को उद्घृत करते हुए चूर्ण को कल्क में अन्तर्भूत करके कषाय कल्पना की पंचविध कल्पना को पुष्ट किया है। अतः सेवनीय औषधि को इन पंचविध कषाय कल्पना के रूप में ही ग्रहण करने का आचार्यों ने निर्देश किया है। सेवनीय औषधियों के जो भी अन्य प्रकार यथा अवलेह, मोदक तथा षाडव आदि होते हैं वे सभी इन पंचविध कषाय कल्पनाओं में ही ग्रहण कर लिए जाते हैं।

प्रसंगान्तर्गत होने के कारण इसी प्रकरण में पंचकषाययोनि के विषय में कुछ विचार अपेक्षित है। आयुर्वेद में मधुर अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय ये षड्रस माने जाते हैं। इन षड्रसों में ही प्राणियों का बल, वर्ण तथा ओज आश्रित रहता है, जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से पुष्ट होता है। यथा—

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसाञ्च, स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः; द्रव्याणि पुनरोषधयः। सु० सू० १/३६

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि प्राणियों के जीवन का तथा बल, वर्ण एवं ओज का मूल आहार है, और वह आहार षड्रसों में आश्रित है तथा षड्रसों के आश्रय द्रव्य हैं एवं द्रव्य औषधियाँ हैं। प्रस्तुत तथ्य से स्पष्ट है कि द्रव्यों अथवा औषधियों में जो भी प्राणियों के बल, वर्ण, ओज आदि को प्रभावित करने वाली शक्ति है वह षड्रसों के माध्यम से ही सम्पन्न होती है। इसी कारण आचार्य चरक ने षड्रसों के आधार पर

औषधि द्रव्यों को पाँच प्रकार के कषाय योनियों (द्रव्यगत सारों) में विभाजित किया है। ये हैं—मधुर कषाय, अम्ल कषाय, कटु कषाय, तिक्त कषाय तथा कषाय कषाय। मधुर कषाय से तात्पर्य है कि मधुर रस वाले (मधुर स्कन्द के द्रव्य) सभी द्रव्यों के प्रयोज्य प्रभावकारी सारभाग। इसी प्रकार अम्ल, कटु, तिक्त तथा कषाय इन सभी कषायों के भी प्रयोज्य प्रभावकारी सारभाग जो कि प्राणियों के रोगशमन में उपादेय होते हैं, वर्णीकरण किया गया है।

षड्रसों से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् स्कन्धों (समुदायों) का विशेष विवरण चरक संहिता के विमान स्थान ८वें अध्याय में प्राप्त होता है। मधुर स्कन्ध, अम्ल स्कन्ध, लवण स्कन्ध, कटुस्कन्ध, तिक्त स्कन्ध तथा कषाय स्कन्ध इन ६ स्कन्धों में सभी औषधियों को विभाजित किया गया है। इस सन्दर्भ में यह जिज्ञासा होती है कि आचार्यों ने रसों के आधार पर औषधियों को ६ स्कन्धों में वर्गीकृत किया है, किन्तु कषायों (व्यवहार्य भेषजाश्रित रस) का वर्गीकरण लवण रस वर्जित पांच रसों के आधार पर ही क्यों किया गया है? इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य चक्रपाणि ने निम्नोक्त पंक्तियों में प्रस्तुत किया है। यथा :—

अथ किमर्थं पुनराचार्येण कषाय संज्ञाप्रणयने लवणस्य मधुरादेरिव गुणादिभिरुद्दिष्टस्य तथा प्रयोगेषु चित्रक गुडिकादौ "द्वौक्षारौ लवणानि च" (च० चि० अ० १५) इत्यादिनोद्दिष्टस्य, रोगभिषविजतीये (वि० अ० ८) च स्कन्धेनोपद्दिष्टस्य रसाधिकारेषु च तेषु तेषु मधुरादिवद्रुपदिष्टस्य परित्यागः क्रियते। उच्यते—कषाय संज्ञेयं भेषजत्वेन व्याप्रियमाणेषु रसेष्वाचार्येण निवेशिता। अत्र च केवलस्य लवणस्य प्रयोगोनास्ति, मधुरादीनां तु केवलानामपि प्रयोगोऽस्ति, लवणं तु द्रव्यान्तर संयुक्तमेवोपयुज्यते। मधुरादिषु स्वरसकल्कादि लक्षणा कल्पना संभवति, न लवणे। अतो न तावल्लावणस्य स्वरसोऽस्ति, कल्कोऽपि द्रव्यस्य द्रवेण पेषणात् क्रियते, तन्न संभवति लवणे, लवणं हि पानीय योगात् पानीयमेव, यद्यपि कल्कस्यैवभेदश्चूर्णं चूर्णता च लवणस्य संभवति, तथाऽपि लवणस्य चूर्णरूपता न पूर्वस्मादचूर्णरूपात् किञ्चिच्छक्ति विशेषमापादयति, शक्ति विशेष कल्पनार्थं च कल्पना क्रियत इत्युत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः तस्माच्चूर्णत्वमपि लवणस्य कल्पन कल्पनमिव, भृत शीत फाण्टकषायस्तु द्रव्यस्य कात्स्न्येनानुपयोज्यस्य तत्तत्संस्कार वशाद्द्रवेषु द्रव्यस्य स्तोकावयवामुप्रवेशार्थमुपदिश्यन्ते; लवणे चैतन्न संभवति, लवणं हि द्रव सम्बन्धे सर्वात्मनैव द्रवमनुगतं भवति; तस्माल्लवण पृथक् प्रयोगाभावात् कल्पनासंभवाच्चाचार्येण कषाय संज्ञा प्रणयने निरस्तमिति न निष्प्रयोजनेयमाचार्य प्रवृत्तिः।

च० सू० ४/६ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

उपर्युक्त व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि शंका उत्थापित करते हुए कहते हैं कि—आचार्य ने कषायों के विषय में विवरण देते हुए लवण रस का जिसका मधुरादि रसों के समान ही गुणों का उल्लेख किया गया है, तथा चित्रक गुडिकादि प्रयोग में भी दो क्षार तथा लवणों का उल्लेख किया है एवं रोगभिषग्जितीय अध्याय में मधुरादि स्कन्ध की तरह लवण स्कन्ध का भी उपदेश किया है फिर भी कषायों की गणना में लवण कषाय को क्यों छोड़ दिया है ? इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य चक्रपाणि आगे कहते हैं कि—कषाय संज्ञा यहाँ आचार्य ने औषधि के रूप में प्रयोज्य रसों के लिए निवेशित किया है। यहाँ पर केवल लवण रस का कषाय के रूप में प्रयोग नहीं किया गया है। मधुरादि पंच कषायों का प्रयोग निर्देशित किया गया है। लवण रस का प्रयोग दूसरे द्रव्य के संयोग के साथ ही उपयोगी होता है। मधुरादि कषायों की स्वरस कल्कादि पंचविध कल्पना संभव होती है, किन्तु लवण में इस प्रकार की कल्पना संभव नहीं है। इसी कारण लवण का स्वरस नहीं हो सकता, कल्क भी द्रव्य का द्रव से पेषण (पीसने) क्रिया से बनाया जाता है, वह भी लवण में संभव नहीं हो सकता, क्योंकि लवण द्रव के योग से द्रव रूप ही हो जाता है। यद्यपि कल्क का ही भेद चूर्ण होता है तथा लवण का चूर्ण रूप संभव होता है तथापि लवण को चूर्ण बनाने से इसके अचूर्ण रूप पूर्वावस्था से कुछ भी शक्ति विशेषता नहीं आती। और शक्ति विशेष की उपलब्धि के निमित्त ही कल्पना की जाती है। इस कारण लवण की चूर्ण कल्पना भी कल्पना मात्र है जो कि निरर्थक है।

द्रव्य के सम्पूर्ण उपयोगी, अनुपयोगी अवयवों में से भिन्न-भिन्न संस्कारों के माध्यम से थोड़े अभीष्ट उपयोगी अवयवों को प्रयोग में लाने के लिए शृत, शीत तथा फाण्ट कषाय की कल्पना की जाती है। किन्तु लवण में इस प्रकार की प्रक्रिया संभव नहीं होती। क्योंकि लवण द्रव के सम्बन्ध से सर्वात्म रूप से अर्थात् पूरा का पूरा ही द्रव में अनुगत हो जाता है। इसी कारण लवण का अलग से प्रयोग का अभाव है, परिणाम-स्वरूप इसकी पृथक् कल्पना भी असंभव है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य ने कषाय निर्माण प्रसंग में लवण को छोड़ दिया है। आचार्य का कोई भी निर्देश निष्प्रयोजन नहीं होता। इस प्रकार आयुर्वेद में प्राप्त पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त का विवरण संक्षेप में विवेचित किया गया है। अब हम इस सिद्धान्त की उपादेयता पर विचार करेंगे।

पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त की उपादेयता - आलोच्य सिद्धान्त की उपादेयता के सम्बन्ध में यथेष्ट परिचय के लिए हम इस विषय को निम्नोक्त शीर्षकों में विवेचित करेंगे।

औषधि द्रव्यों का सेवनीय रूप में प्रस्तुतीकरण—औषधि द्रव्य जैसाकि प्राकृत रूप में प्राप्त होता है उसी रूप में सेवन नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्राकृत रूप में औषधियों के ग्रहण करने में न सरलता होती है और न ही उनका अभीष्ट फल ही प्राप्त होता है। अतः औषधेच्छु व्यक्तियों के औषधि सेवन में सरलता के लिए तथा साथ हो प्रयुज्यमान औषधि की अभीष्ट फल प्राप्ति के निमित्त पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप की अनिवार्यता होती हैं। व्यक्ति के स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगोपशमन के लिए पंचविध कषाय कल्पना के माध्यम से ही प्रयोज्य औषधियों को सेवनीय रूप प्राप्त होता है। इन्हीं तथ्यों को लक्ष्य कर आयुर्वेद के आचार्यों ने पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त की उपस्थापना किया है।

व्यक्ति के बलानुसार औषधि का सेवनीय रूप निर्धारण—सभी व्यक्तियों में बल एवं औषधियों के प्रभाव को सहन करने की क्षमता समान नहीं होती है। कुछ लोग उत्तम, कुछ मध्यम तथा कुछ लोग हीन बल वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में सभी के लिए एक ही प्रकार की औषधि कल्पना हितकर नहीं हो सकती। अतः इस समस्या के निराकरण के लिए आचार्यों ने पंचविध कषाय कल्पना का व्यवहार परक सिद्धान्त आयुर्वेद वाङ्मय में उपनिबद्ध किया है। इस सिद्धान्त के अनुसरण से सभी व्यक्तियों के लिए एक निरापद औषधि सेवन की समीचीन पद्धति की अवतारणा हुई है। उदाहरणार्थ उत्तम बल तथा औषथि के प्रभाव को सहने की श्रेष्ट क्षमता वाले व्यक्ति में औषधि कल्पना के स्वरस प्रभेद का सेवन निर्देशित किया गया है। मध्यम बल तथा क्षमता वाले व्यक्ति के लिए कल्क या शृत कल्पना सेवन का विधान बतलाया गया है। हीन बल तथा हीन क्षमता वाले व्यक्ति में कषाय कल्पना की शीत एवं फाण्ट विधि से औषधि सेवन का निर्देश किया गया हैं। उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त की उपादेयता का सहज ही अवबोध होता है।

व्याधि बल की अपेक्षा से औषधि कल्पना का निर्धारण—जिस प्रकार सभी व्यक्तियों में समान बल एवं क्षमता नहीं होती उसी प्रकार सभी व्याधियों की बल या उग्रता भी समान नहीं होती। अतः सभी व्याधियों के शमनार्थ समान औषधि कल्पना उचित नहीं होती। अर्थात् सभी रोगों में एक समान औषधि कल्पना का व्यवहार श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इसी कारण आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने रोगों के बल या तीव्रता के अनुसार विविध व्यधियों के शमनार्थ पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त का विनिर्धारण किया है। उग्र बल के रोगों में स्वरस कल्पना, मध्य बल वाले रोगों में कल्क एवं शृत कल्पना तथा हीन बल वाले रोगों में शीत व फाण्ट कल्पना का प्रयोग निर्देशित किया गया है। उपर्युक्त तथ्यों पर विशेष ध्यान देने के लिए ही

आचार्य चरक ने इस प्रसङ्ग में "अतः कषाय कल्पना व्याध्यातुर बलापेक्षिणी" इस निर्देश सूत्र का उल्लेख किया है। उपर्युक्त व्यवहार्य, युक्ति संगत एवं लोकोपयोगी विवरण से पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट होती है।

व्यक्ति की अभिरुचि के अनुरूप औषधि कल्पना का प्रयोग—सभी व्यक्तियों की अभिरुचि भी एकसी नहीं होती। अतः सभी व्यक्तियों में एक ही प्रकार की औषधि कल्पना का प्रयोग नहीं किया जा सकता। कोई व्यक्ति स्वरस द्वेषी, कोई कल्क द्वेषी, कोई स्वरस प्रेमी तो कोई शृत या फाण्ट प्रेमी हो सकता है। अतः व्यक्ति के रुचि के अनुरूप विविध कल्पनाओं की अपेक्षा सहज ही आवश्यक होती है। इस प्रकार की अपेक्षाओं को दृष्टिगत रखते हुए ही आचार्यों ने पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त का आयुर्वेद में विनियोजन किया है।

उपर्युक्त शीर्षकानुगत तथ्यों के आधार पर आयुर्वेद में पंचविध कषाय कल्पना सिद्धान्त की उपादेयताओं का असंदिग्ध रूप से प्रकाशन होता है।

अग्नि बला पेक्षी आहार मात्रा

आयुर्वेद का द्विविध प्रयोजन स्वास्थ्य रक्षण एवं रोग प्रशमन है। स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त प्रधानतः उचित आहार की अनिवार्यता होती है क्योंकि आहार ही प्राणियों के बल, वर्ण एवं ओज का मूल या आश्रय है। अतः व्यक्ति के स्वस्थ रहने के लिए आहार की उचित मात्रा का व्यवहार अत्यावश्यक है। आहार की उचित मात्रा क्या है तथा आहार की उचित मात्रा का निर्धारण कैसे किया जाय इन्हीं विषयों को लक्ष्य कर आयुर्वेद में अग्नि बला पेक्षी आहार मात्रा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जो कि स्वास्थ्य रक्षा में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रतिष्ठापित करता है।

यद्यपि अग्नि बला पेक्षी आहार मात्रा सिद्धान्त का आयुर्वेद के सामान्य व्यवहार में सिद्धान्त के रूप में प्रचार नहीं है तथापि इसके दैनन्दिन व्यवहार परक महत्ता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आयुर्वेद के मनीषि आचार्यों ने इस सिद्धान्त की उपयोगिता समझते हुए प्रकारान्तर से इसकी महत्ता प्रतिपादित किया है। आचार्य चरक ने तो आहार को जीवन के धारक तीन उपस्तम्भों में परिगणित कर इस सिद्धान्त की महत्ता का स्पष्ट निर्देश किया है। और जब जीवन रक्षा के निमित्त आहार की अनिवार्यता है तो उस आहार को पाचन परिणमन कर सार्थक रूप देने वाली अग्नि की उपेक्षा कैसे हो सकती है? और जब अग्नि की प्राकृतावस्था ही जीवन, बल, वर्ण, स्वास्थ्यं, उत्साह, उपचय, ओज, तेज एवं प्राण आदि की रक्षा में मुख्य हेतु है तो इससे सम्बन्धित विषय का आयुर्वेद में महत्त्वपूर्ण विवेचन अनिवार्य है। और जब आहार

और अग्नि का विवेचन हो तो आहार की मात्रा विषयक विवरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार यह सिद्धान्त अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर आधारित) तथ्यों पर प्रतिष्ठापित किया गया है। आचार्य चरक ने इस प्रसङ्ग में स्वास्थ्य रक्षण में आवश्यक तथ्य किस प्रकार एक दूसरे पर आधारित हैं इस विषय का विवेचन निम्नोक्त प्रकार से किया है जो कि प्रस्तुत सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के निमित्त अपेक्षित है। यथा—

मात्राशी स्यात्। आहार मात्रा पुनरग्नि बलापेक्षिणी। च० सू० ५/३

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्वास्थ्य रक्षा के निमित सदैव उचित परिमाण में आहार लेने के अभ्यास का पालन करने का निर्देश किया है। और आहार परिमाण भी पुनः व्यक्ति के जाठराग्नि की अपेक्षा के अनुसार होना चाहिए। मात्राशी शब्द की व्याख्या आचार्य चक्रपाणि ने निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा—

मात्रां मात्रा वदन्नमशितुं भोक्तुं शीलं यस्यासौ मात्राशी, यदि वा मात्रयाऽशितुं भोक्तुं शीलं यस्य स तथा। तत्रेहमात्रा अनपायि परिमाणम्। अशिरयमिहा विशेषण खाद्य प्राश्यलेह्य पेयानामभ्यवहारे वर्तते। तेन मात्राशी स्यादित्युक्तं खाद्य-प्राश्य लेह्य पेयादीनां मात्रयाऽभ्यवहरणं नोक्तमिति यच्चोच्यते तन्निरस्तं भवति।

च० सू० ५/३ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

उपर्युक्त पंक्तियों का तात्पर्य है—मात्रा अर्थात् परिमाण के अनुसार अन्न (आहार) को लेने का जो अभ्यास करता है उसे मात्राशी कहते हैं, अथवा मात्रा (परिमाण) से जिसे आहार लेने का अभ्यास हो वह मात्राशी है। मात्रा या परिमाण वह है जो किसी प्रकार का अपाय (कष्ट या बाधा) न उत्पन्न करे। यहाँ पर अशि शब्द से खाद्य (काट कर खाने योग्य रोटी फल आदि) प्राश्य (बिना काटे हुए खाने योग्य हलुवा भात आदि), लेह्य (चाट कर खाने योग्य चटनी अचार आदि), और पेय (पीने योग्य दूध शर्बत आदि) इन सभी सामान्य आहार का अर्थ ग्रहण किया जाता है। मात्राशी शब्द से खाद्य, प्राश्य, लेह्य एवं पेय सभी आहार घटकों का उचित परिमाण में ग्रहण करना अभिप्रेत है। मात्राशी शब्द से आचार्य ने खाद्य, प्राश्य, लेह्य एवं पेय आदि आहार के घटकों का उचित परिमाण में ग्रहण करने का निर्देश नहीं किया है इस शंका का निराकरण हो जाता है।

प्रसंगतः आचार्य चरक के उद्धरणगत "आहार मात्रा पुनरग्निबला पेक्षिणी" इस वाक्य का भी स्पष्टीकरण अपेक्षित है। इस प्रसंग में आचार्य चक्रपाणि के वचनों को हम अविकल उद्धृत करना चाहेंगे जैसा कि निम्नांकित पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। यथा—

आहार मात्रा पुनरिति, न पुनरशित मात्रा पुनरिति। मात्रां व्याकरोति—आहारेत्यादि। अग्नेर्बलमुत्कृष्टं मध्य-मल्पं चाऽपेक्ष्योत्कृष्टा मध्याऽल्पा वा मात्रा भवतीत्यग्नि बलापेक्षिणी। पुनः शब्दो भेषजादि मात्रां व्यायाम मात्रां च व्यावर्तयति; तेन न सर्वमात्राऽग्नि बलापेक्षिणी; यतो भेषज मात्रा व्याध्यातुर बलापेक्षिणी वक्तव्या, व्यायामस्य तु दोष-क्षयाग्नि वृद्धयाद्युत्पाद श्रमक्लमाद्यनुत्पादापेक्षिणी व्यवस्थापयितव्या। यदि वा पुनः शब्दः पौनः पुन्ये, तेनाहार मात्रा पुनः पुनरग्नि बलमपेक्षते। एतदुक्तं भवति—यदेकस्मिन् पुरुषे एकदा याऽग्नि बलेन व्यवस्थापिता मात्रा सा न सर्वकालं भवति, यत ऋतुभेदेन वयोभेदेन च तस्यैवाग्निः कदाचिद्विवृद्धो भवति, यथा हेमन्ते यौवने च, कदाचिन्मन्दो भवति, यथा वर्षासुवार्धक्ये च, तेनाग्नि बलभेदान्मात्राऽप्येक रूपा न भवति। किन्तु तत्काल भवमग्निबलमपेक्ष्य पुनः पुनर्मात्राऽपि भिद्यत इति। च० सू० ५/३ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

उपर्युक्त पंक्तियों का आशय है कि—आहार मात्रा से पुनः यहाँ खाने की मात्रा अभिप्रेत नहीं है। आहार मात्रा को आहार इत्यादि वाक्यांश से स्पष्ट करते हैं। अग्नि का बल उत्कृष्ट, मध्यम एवं अल्प भेद से तीन प्रकार का होता है। अग्नि के उपर्युक्त तीनों बलों की अपेक्षा से आहार मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। उत्कृष्ट अग्नि बल वाले के लिए उत्कृष्ट आहार मात्रा, मध्य अग्निबल वाले के लिए मध्य आहार मात्रा तथा अल्प अग्नि बल वाले के लिए अल्प आहार मात्रा श्रेयस्कर होती है। यहाँ पर पुनः शब्द औषधि तथा व्यायाम की मात्रा को आहार मात्रा से पृथक् करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि सभी की मात्रा अग्नि बलापेक्षी नहीं होती। क्योंकि औषधि की मात्रा व्याधि तथा रोगी के बल की अपेक्षा से निर्धारित की जाती है। व्यायाम की मात्रा दोष क्षय, अग्नि वृद्धि की अपेक्षा से तथा श्रम (थकावट) क्लम (अंगावसाद) आदि की उत्पत्ति न हो इसकी अपेक्षा से व्यवस्थापित करनी चाहिए। वाक्यांश में पुनः शब्द इस अभिप्राय को भी द्योतित करता है कि आहार की मात्रा बार-बार अग्नि बल की अपेक्षा से निर्धारित करे। क्योंकि एक ही व्यक्ति में अग्नि बल के अनुसार निर्धारित आहार मात्रा सभी काल के लिए उपयुक्त नहीं होती। ऋतु भेद तथा वय के भेद से उसकी अग्नि कभी बढ़ जाती है तथा कभी मन्द हो जाती है। यथा—हेमन्त ऋतु में तथा यौवन वय में अग्नि बढ़ जाती है। उसी प्रकार वर्षा ऋतु तथा वृद्धावस्था में अग्नि मन्द हो जाती है। इस कारण अग्निबल में भिन्नता होने के कारण आहार मात्रा भी एक सी नहीं होती। किन्तु तात्कालिक रूप में अग्नि बल को अपेक्षा से ही आहार की मात्रा में भिन्नता होती है।

इस प्रकार आहार मात्रा के विषय में विशद विवेचन के पश्चात् यह जिज्ञासा होती है कि अग्निबल में भेद होने से आहार मात्रा में भी भिन्नता होती है। ऐसी

स्थिति में आहार की उचित मात्रा का निर्धारण किस मानदंड से किया जाय कि आयुर्वेद के अग्निबलापेक्षी आहार मात्रा सिद्धान्त का सुचारु रूप से परिपालन हो सके। इस सन्दर्भ में आचार्य चरक ने निम्नांकित वचन से इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। यथा—

यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथा कालं
जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।

च० सू० ५/४

प्रस्तुत उद्धरण में आचार्य ने व्यक्ति के आहार मात्रा का उचित परिमाण जानने के निमित्त उपर्युक्त लक्षण का निर्देश करते हुए कहा है कि—जितनी आहार मात्रा ग्रहण करने से व्यक्ति अपनी प्राकृतावस्था को बनाये रखते हुए समयानुसार भोजन का परिपाक करने में समर्थ हो उतनी ही आहार मात्रा उसके लिए उचित जानना चाहिए।

प्रस्तुत विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम आचार्य चक्रपाणि द्वारा व्याख्यायित निम्नोक्त विवरण को अविकल उद्धृत करेंगे जो कि आचार्य चरक के मूल उद्धरण में निहित तथ्यों के सुखावबोध के निमित्त अपेक्षित है। यथा—

अग्नि बलापेक्षित्वमेव विवृणोति—यावद्धीत्यादि। यावदिति यावत्परिमाणं। हि शब्दो हेतौ। अस्येति भोक्तुः। अशनं चतुर्विधमपि भोज्यम् अशितं भुक्तम्। प्रकृतिं वातादीनां रसादीनां च साम्यावस्थाम्। अनुपहत्य विकारमकृत्वेत्यर्थः। यथाकालमिति निशाशेषे। तावदिति पूर्वं प्रमाणावच्छिन्नमशनं प्रत्यवमृशति। द्वितीयमस्येति ग्रहणमन्यत्र प्रतिषेधार्थम्। तेन यस्यैव यावती मात्रा निर्विकारा, तस्यैव सा मन्तव्या नान्येषां, प्रति पुरुषमग्निबलस्य भिन्नत्वात्। यद्यपि चैकस्मिन्नपि पुरुषे कालादि भेदेनाग्नि बलभेदो भवति, तथाऽप्येक पुरुष एक मात्रामवधार्य कियन्तमपि कालं तथैव मात्रया अग्नि बल भेदहेत्वभावे सति व्यवहारो भवत्येव। मात्रा प्रमाणं मात्रेयत्ता; मात्रा प्रमाण शब्देन चेह मात्रा प्रमाण वदिति बोद्धव्यम्, अन्यथा तावच्छब्देनावच्छिन्नाशन वाचिना मात्रा प्रमाण शब्दस्य गुणवाचिनः सामान्याधिकरण्यं न स्यात्। ननु प्रकृतिमनुपहत्येति न कर्तव्यं विशेषणं, न ह्याहारो यो यथाकालं जरां याति स मात्रा दोषाद्विकारं करोति, करोति तु द्रव्य स्वभाव संस्कारादि दोषात्; यथा मन्दक लकुचादयो यथा कालं जरां गच्छन्तोऽपि दोष जनका भवन्त्येव; न तावताऽपि तत्र मात्रा दुष्यति, यथा वक्ष्यति त्रिविध कुक्षीये—"न च केवलं मात्रावत्वादेवाहारस्य कृत्स्नमाहार फल सौष्ठवमवाप्तुं शक्यं, प्रकृत्यादीनामष्टानामाहार विधि विशेषायतनानां भिन्न फलत्वात्" (च० वि० अ० २) इति। नैव, द्विविधा हि मात्रा रस विमाने वक्तव्या—सर्वग्रह रूपा, परिग्रह रूपा च;

तत्र समुदितस्याहारस्य परिमाणं सर्वग्रहः, मधुराम्लादीनामाहारावयवानां प्रत्येकं मात्रया ग्रहणं परिग्रहः; तेन यत्राहार समुदाय परिमाणं समुचितमेव गृह्यते, आहारावयवानां तु मधुरादीनां स्वभावहितानामप्ययथोक्त मानं स्यात्, तत्राहारावयवमात्रावैषम्याद्धातुवैषम्यं भवत्येव, अयथाकालं जरागमनं स्यात्; तदुक्तं प्रकृतिमनुपहत्येति विशेषणम्। च० सू० ५/४ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

आचार्य चक्रपाणि कृत उपर्युक्त व्याख्या का तात्पर्य है कि—यावद्धीत्यादि से आचार्य अग्नि बल की अपेक्षता का विवरण प्रस्तुत करते हैं। यावदिति से तात्पर्य है यावत् परिमाण या जितना परिमाण। हि शब्द यहाँ हेतु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अस्येति अर्थात् भोक्ता या आहार ग्रहण करने वाला। अशन यानी चारो प्रकार के भोजन। अशित अर्थात् भोजन करने के अनन्तर प्रकृति यानी वातादि त्रिदोष व रसादि सप्त धातुओं की साम्यावस्था। अनुपहत्य अर्थात् विकारोत्पत्ति न करके। यथा काल अर्थात् रात्रि के बीत जाने पर। तावत् शब्द से अभिप्राय है पूर्वकथित यावत् शब्द से गृहीत परिमाण की सीमा। अर्थात् जितने परिमाण में आहार लिया गया है उसका शरीर की प्राकृतावस्था रहते हुए यथोचित समय से परिपाक हो जाय उतना ही आहार परिमाण अग्निबल की अपेक्षा से उचित है। आचार्य ने द्वितीय अस्य शब्द का ग्रहण अन्य परिमाण के प्रतिषेध (रोक) के लिए किया है।

उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि जिस व्यक्ति को जो आहार मात्रा या परिमाण विकारकारी नहीं है उस व्यक्ति के लिए वही मात्रा उचित मानी जाती है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्तियों में अग्निबल की भिन्नता होती है। यद्यपि एक व्यक्ति में भी काल तथा वय के भेद होने से अग्निबल का भी भेद होता है, तथापि एक व्यक्ति एक समान ही आहार मात्रा का कुछ काल तक व्यवहार करता है इसका कारण यह है कि उसके अग्निबल भेद में हेतु का अभाव है। यदि उसके अग्निबल भेद में कोई हेतु उपस्थित हुआ तो अग्निबल भेद होने से आहार मात्रा में भी भिन्नता होगी।

मात्रा प्रमाण शब्द से यहाँ पर मात्रा (परिमाण) के अनुसार का अभिप्राय समझना चाहिए अन्यथा तावत् शब्द से आहार मात्रा की सीमावाचक मात्रा प्रमाण शब्द का गुणवाचो समानाधिकरण्य (तुल्यार्थ ग्राहिता) नहीं होगी। प्रकृतिमनुपहत्य इस वाक्यांश पर आचार्य ने शंका उत्थापित करते हुए कहा है कि यदि इस वाक्यांश का ग्रहण कर तदनुसार व्यवहार न हो तो आहार का उचित समयानुसार परिपाक नहीं होगा और वह मात्रा दोष वाली होने के कारण विकार उत्पन्न करती है। किन्तु कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं यथा मन्दक तथा लकुच आदि जो कि उचित काल पर परिपाक हो जाने पर भी दोष को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि उनमें द्रव्य स्वभाव तथा

संस्कार आदि दोष होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यथा काल परिपाक हो जाने पर भी इन द्रव्यों की उचित मात्रा भी दोष उत्पन्न करती है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य चरक ने त्रिविध कुक्षीय विमान में कहा है कि केवल उचित मात्रा में आहार लेने मात्र से आहार फल की सभी अच्छाईयाँ नहीं प्राप्त की जा सकतीं, क्योंकि अष्ट आहार विधि विशेषायतन की प्रकृति, संयोग, राशि, करण, देश, काल, उपयोग संस्था तथा उपयोक्ता के भिन्न भिन्न फल होते हैं। किन्तु उचित मात्रा के सम्बन्ध में ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि इसकी महत्ता नहीं है।

मात्रा के सम्बन्ध में आचार्य ने विमान स्थान के प्रथम अध्याय में कहा है कि— मात्रा दो प्रकार की होती है, एक सर्वग्रह रूपा तथा दूसरी परिग्रह रूपा। जिसमें सभी आहार द्रव्यों यथा अन्न, दाल, शाक आदि की मिश्रित मात्रा ली जाती है वह सर्वग्रह है। जिसमें अन्न, दाल, शाक की पृथक् पृथक् निश्चित मात्रा ली जाती है वह परिग्रह है। जहाँ पर आहार द्रव्यों की मिश्रित मात्रा समुचित परिमाण में ली जाती है वहाँ पर शरीरगत दोष एवं धातुओं की साम्यावस्था बनी रहती है। किन्तु जहाँ आहार द्रव्यों के पृथक् पृथक् घटकों मधुर, अम्ल आदि जो कि स्वाभाविक रूप से हितकर हैं तो भी यदि उनका परिमाण उचित नहीं होता तो आहार के अवयवों की मात्रा में विषमता होने से धातु वैषम्य हो जाता है और उसका परिपाक भी यथा काल नहीं होता। इसी कारण आचार्य ने अपने निर्देश सूत्र में 'प्रकृति मनुपहत्य' अर्थात् प्राकृतावस्था को बिना प्रभावित किये ऐसा विशेषण प्रयुक्त किया है।

प्रस्तुत सिद्धान्त के सन्दर्भ में आहार मात्रा का लक्षण निर्देश करने के पश्चात् आचार्य चरक ने द्रव्य भेद से मात्रा भेद का व्यवहारोपयोगी तथ्य का निर्देश किया है। द्रव्य भेद से आहार द्रव्यों के दो वर्ग होते हैं—एक लघु वर्ग द्रव्य तथा दूसरा गुरु वर्ग। लघु वर्ग द्रव्य के स्वभावतः लघु होते हुए भी आहार में इनके उपयोग में मात्रा की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार गुरु वर्ग द्रव्यों के उपयोग में भी मात्रा की अपेक्षा होती है। इस प्रसंग में आचार्योक्त निम्नांकित वचन द्रष्टव्य है। यथा—

तत्र शालिषष्टिकमुद्गलावकपिञ्जलैणशशशरभशम्बरा-दीन्याहार द्रव्याणि प्रकृति लघून्यपि मात्रापेक्षीणि भवन्ति। तथा पिष्टेक्षुक्षीरविकृतितिलमाषानूपवौकपिशितादी-न्याहारद्रव्याणि प्रकृति गुरूण्यपि मात्रामेवापेक्षन्ते। च० सू० ५/५

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि—शालि-चावल, साठी चावल, मूँग, लवापक्षी, श्वेत तीतर, हरिण, खरगोश, महाश्रृङ्गी हरिण, शम्बर (हरिण विशेष) आदि आहार द्रव्य निसर्गतः लघु (हल्के) होने पर भी मात्रा की अपेक्षा से ही ग्रहण करने योग्य हैं। उसी प्रकार गोधूम चूर्ण, दुग्ध शर्करा मिलाकर बनाया हुआ लड्डू, दूध से बने पदार्थ रबड़ी, मलाई आदि, तिल, उड़द, आनूप पक्षी का

मांस, जलचर प्राणी का मांस आदि स्वाभाविक रूप से गुरु (पचने में गरिष्ठ) होते हैं। अतः इनके उपयोग में भी मात्रा की अपेक्षा होती है।

उपर्युक्त आहार द्रव्यों के स्वाभाविक लघु व गुरु गुण का उल्लेख अकारण ही नहीं निर्दिष्ट किये गए हैं। इनके लघु व गुरु होने में हेतु है। लघु द्रव्य वायु व अग्नि गुण बहुल होते हैं तथा गुरु द्रव्य पृथ्वी व सोम गुण बहुल होते हैं। इसी कारण लघु द्रव्य अग्नि (जाठराग्नि) के प्रेरक स्वभाव के होते हैं। अतः इनका पेट भर भोजन भी अल्प दोषकारी होता है, तथापि इनका सेवन मात्रा से अधिक नहीं होना चाहिए। अर्थात् लघु द्रव्य अल्प दोषकारी होते हुए भी जितनी मात्रा में शरीर के लिए हितकर हो उतनी ही मात्रा में लेना चाहिए। गुरु द्रव्य स्वभाव से अग्नि के प्रेरक नही होते। अतः इनका अधिक मात्रा में सेवन दोषकारी होता है। अतः इनका तृप्ति भर सेवन नही करना चाहिए, सिवाय इसके कि व्यक्ति व्यायाम करने वाला तथा उत्तम अग्नि बल वाला हो।

इस प्रकार आहार की मात्रा अग्नि बलापेक्षी होनी चाहिए, अर्थात् व्यक्ति की अपनी २ अग्निबल के अनुसार निर्धारित की जानी चाहिए। इस प्रसंग में एक शंका उठती है कि आहार मात्रा अग्नि बलापेक्षी होती है तो किस प्रकार व्यक्ति के लिए एक समान अग्नि होने पर भी लघु द्रव्यों की अधिक मात्रा का उपयोग एवं गुरु द्रव्यों की पूर्ण आहार की तीन चौथाई या आधी मात्रा का उपयोग उचित है। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य चरक निम्नोक्त उद्धरण में स्पष्ट करते हैं। यथा—

न च नापेक्षते द्रव्यं, द्रव्यापेक्षया च त्रिभाग सौहित्यमर्ध-सौहित्यं वा गुरूणा मुपदिश्यते, लघूनामपि च नाति सौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम्। च० सू० ५/७

अर्थात् आहार मात्रा द्रव्य की अपेक्षा से ही ग्रहणीय है, यदि द्रव्य कम गुरु है तो व्यक्ति को पूर्ण आहार तृप्ति की तीन चौथाई भाग की तृप्ति के बराबर की मात्रा उचित है, और यदि द्रव्य अधिक गुरु है तो आधे भाग की तृप्ति के बराबर की मात्रा उपयोगी है। कहने का तात्पर्य है कम गुरु द्रव्य की इतनी मात्रा ग्रहणीय है जिससे कि पूरी तृप्ति से चतुर्थांश न्यून तृप्ति हो। अधिक गुरु द्रव्य होने से पूरी तृप्ति से आधी तृप्ति की मात्रा ही उपयोगी है। लघु द्रव्यों की मात्रा भी अधिक तृप्ति वाली नही होनी चाहिए। अर्थात् जितनी आहार मात्रा से पूरी तृप्ति हो जाय उतनी ही मात्रा ग्रहणीय है। तृप्ति मात्रा से अधिक मात्रा लघु द्रव्यों का भी वर्जित है। उपर्युक्त विधान का पालन अग्नि को अपने प्राकृत भाव में रखने के निमित्त अपेक्षित है। आचार्य चक्रपाणि ने प्रस्तुत प्रसंग को अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चरक के उपर्युक्त उद्धरण को व्याख्या निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा—

ननु यद्यप्यग्नि बलापेक्षिणी मात्रा, तत् कस्मादेक रूप एवाग्नौ लघूनां द्रव्याणां भूयसी मात्रा भवति, गुरूणां ततस्त्रिभागोचिता अर्धावेत्याह न चेत्यादि। द्रव्य मपेक्षत इत्यर्थः। त्रिभाग सौहित्यं मनागुरुभिः। एवं गौरव प्रकर्षापकर्षादन्यदपि कल्पनीयम्। लघूनामपि नातिसौहित्यमित्यत्र सौहित्य शब्दः तृप्ति मात्रे वर्तते, तेन लघूनि तृप्त्यति क्रमेण न भोक्तव्यानि, एवं हि तेषां मात्रातिक्रमो न स्यात्। अग्नेर्युक्तिः स्वमानावस्थितिः तदर्थम्। ननु गुरूणां तावदति मात्रोपयोगोऽग्नि परिपालनार्थं निषिध्यतां, येन गुरूण्यग्न्यसमानानि, लघूनि पुनरग्नि समानानि, तत्तेषां कथमतिमात्रोपयोगो वह्निमान्द्य मावहतीति ? ब्रूमः—लघूनां द्रव्याणां सामान्यमपि भूयातिमात्रत्वमेवाग्निमान्द्यं करोति, यथा चक्षुस्तैजसं, तेजः सहकृतं च पश्यति, तदेव तेजोतियोगादुपहन्यते तथा शस्त्रमश्म संभवम्, अश्मयोगाच्च तीक्ष्णं संपद्यते, अश्मन्येव च मिथ्यायोगात् प्रतिहतं भवति।

च० सू० ५/७ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

उपर्युक्त व्याख्यायित पंक्तियों का तात्पर्य है कि—यदि आहार की अग्निबला पेक्षी मात्रा का ही उपयोग उचित है तो एक रूप अग्नि में लघु द्रव्यों की अधिक मात्रा या गुरु द्रव्यों की तृप्ति मात्रा का तीन चौथाई या अर्ध भाग कैसे उचित है ? इसी शंका का समाधान न च इत्यादि वाक्य से करते हैं। आहार मात्रा अग्नि बला पेक्षी होने के साथ ही द्रव्य की अपेक्षा से भी व्यवहार्य है। अल्प गुरु द्रव्यों की आहार मात्रा तृप्ति के त्रिभाग अर्थात् जितनी मात्रा से पूर्ण तृप्ति होती है उसके चतुर्थांश न्यून मात्रा (त्रिभागसौहित्य मात्रा) ग्रहणीय है। यदि द्रव्य अधिक गुरु है तो आहार मात्रा त्रिभाग सौहित्य से भी कम अर्थात् अर्धभाग सौहित्य वाला अर्थात् जितनी मात्रा में पूर्ण तृप्ति होती है उससे आधी मात्रा का उपयोग उचित है। इसी प्रकार द्रव्यों की गुरुता के बढ़ने तथा कम होने पर आहार मात्रा की कल्पना करनी चाहिए। लघु द्रव्यों की आहार मात्रा भी तृप्ति प्रमाण से अधिक नहीं होनी चाहिए। यहाँ पर सौहित्य शब्द तृप्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लघु द्रव्यों की आहार मात्रा भी तृप्ति प्रमाण से अधिक न हो जिससे कि मात्रा का अतिक्रमण (उल्लंघन) हो। ऐसी व्यवस्था अग्नि को अपनी प्राकृतावस्था में रखने के निमित्त की जाती है। पुनः शंका होती है कि गुरु द्रव्यों का अति मात्रा में उपयोग तो अग्नि के परिपालनार्थ वर्जित किया जाता है। क्योंकि गुरु द्रव्य अग्नि के असमान गुण वाले होते हैं। किन्तु लघु द्रव्य तो अग्नि के समान गुण वाले होते हैं तो इनके अति मात्रा में उपयोग से किस प्रकार अग्निमान्द्य हो जाता है ? इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। लघु द्रव्यों का अग्नि समान गुण भी अति मात्रा के उपयोग से सामान्य को अभिभूत कर (दबाकर) अग्नि मान्द्य उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ—चक्षु तैजस

होता है तथा तेज के सहयोग से ही देखता है, किन्तु वही तेज के अति योग से नष्ट भी हो जाता है। इसी प्रकार शस्त्र लौह प्रस्तर से ही निर्मित होता है तथा प्रस्तर विशेष (शान चढ़ाने का पत्थर) के योग से ही उसमें तीक्ष्णता आती है, किन्तु प्रस्तर विशेष के मिथ्या योग या अति योग से शस्त्र की धार नष्ट भी हो जाती है। इस प्रकार आहार द्रव्यों के गुरु, लघु की अपेक्षा से भी आहार मात्रा का निर्धारण आवश्यक होता है। किन्तु इस तथ्य से अग्नि बलापेक्षी आहार मात्रा सिद्धान्त में कुछ अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि द्रव्यों के गुरु, लघु की अपेक्षा के मूल में भी अग्नि की स्वमानावस्थिति तथ्य ही निहित है।

अग्नि बला पेक्षी आहार मात्रा सिद्धान्त का आयुर्वेद के मनीषि आचार्यों ने स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त उपर्युक्त प्रकार से युक्ति संगत प्रतिपादन किया है। हमने आयुर्वेदज्ञ आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विवरणों को प्रस्तुत प्रकरण में यथा संभव सरलता पूर्वक विवेचित करने का प्रयास किया है। अब आगे हम इस सिद्धान्त की उपादेयता पर विचार करेंगे।

अग्नि बलापेक्षी आहार मात्रा सिद्धान्त की उपादेयता—यों तो इस सिद्धान्त की उपादेयता जन साधारण को भी अपने दैनन्दिन व्यवहार में स्पष्ट ही अनुभूत होती हैं, तथापि आयुर्वेद में इस सिद्धान्त की उपादेयता आचार्य चरक ने स्वयं ही निम्नोक्त वचन में निर्देशित किया है। यथा—

मात्रावद्ध्यशन मशितमनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपयोक्तारमवश्यमिति। —च० सू० ५/८

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि उचित मात्रा में लिया हुआ आहार प्रकृति अर्थात् शरीरगत दोष व धातु की साम्यावस्था को बिना विकृत किये उपयोग कर्त्ता को बल, वर्ण एवं सुख आयु से युक्त करता है।

प्रस्तुत उद्धरण में मात्रावत् आहार का अभिप्राय अग्नि बल की अपेक्षा से ही आहार मात्रा को ग्रहण करना ज्ञात होता है। अतः उपर्युक्त मात्रावत् शब्द से यह नहीं समझना चाहिए कि आहार मात्रा अग्नि बल की अपेक्षा के बिना ही निर्धारित करने का आचार्य ने निर्देश किया है। आचार्य चक्रपाणि ने इसका स्पष्टीकरण चरकोक्त उद्धरण की व्याख्या में किया है जो कि विषय के सुखावबोध के निमित्त निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है। यथा—

"एवं तावद् व्युत्पादिताऽग्निबलापेक्षिणी मात्रा, मात्रान्वितं च भोज्यं भोक्तव्यमित्युक्तम्। —च० सू० ५/८ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है कि—आचार्य ने अब

तक पूर्वोक्त वचनों से अग्नि बल एवं द्रव्य की अपेक्षा से आहार मात्रा का निर्देश किया है, साथ ही मात्रा के अनुसार ही आहार लेना चाहिए इस तथ्य को उपदिष्ट किया है। अग्नि बलापेक्षी आहार मात्रा की उपयोगिता केवल स्वास्थ्य रक्षण तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत् अनुत्पन्न व्याधियों को उत्पन्न न होने देने में भी सक्षम है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्॥ च०सू० ५/१३

आचार्य ने उपयुक्त वचन से अग्नि बलापेक्षी आहार मात्रा का नित्य ही सेवन का निर्देश किया है। जिससे कि व्यक्ति का स्वास्थ्य बना रहे तथा अनुत्पन्न व्याधियाँ उत्पन्न नहीं हों। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि अग्नि बलापेक्षी आहार मात्रा सिद्धान्त की स्वास्थ्य रक्षा तथा अनुत्पन्न व्याधियों के प्रतिरोध में महती उपादेयता है।

हिताहित संसर्जन क्रम सिद्धान्त

जैसा कि शीर्षकानुगत शब्दों से ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्त हितकर या उपादेय वस्तुओं के ग्रहण तथा अहितकर या अनुपादेय वस्तुओं के क्रमिक रूप से त्याग से सम्बन्धित है। प्रायः दैनन्दिन जीवन में देखा जाता है कि बहुत से व्यक्तियों में अहितकर वस्तुओं के सेवन की आदत हो जाती है, जिससे उनके स्वास्थ्य में क्रमशः गिरावट आती जाती है और कभी-कभी तो उनका दुर्व्यसन प्राणघातक भी हो जाता है। इस प्रकार के अहितकर वस्तुओं के त्याग तथा उसके स्थान पर हितकर वस्तुओं का सेवन को क्रमिक रूप से सम्पन्न करने का विधान आयुर्वेद के आचार्यों ने बतलाया है। अहितकर वस्तुओं के सेवन का जिसे अभ्यास हो जाता है उस व्यक्ति के लिए सहसा ही उसका त्याग स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं होता। उसी प्रकार किसी हितकर वस्तु का सहसा सेवन भी हितकर नहीं होता क्योंकि सम्बन्धित व्यक्ति को हितकर वस्तु का सेवन सहज ही सात्म्य नहीं होता। अतः इन दोनों ही स्थितियों में अर्थात् अहित सेवन का त्याग तथा हित सेवन का ग्रहण क्रमिक रूप में होना चाहिए। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

उचितवहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।
हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते॥
प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिकोभवेत्।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा॥

च० सू० ७/३६–३७.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने निर्देशित किया है कि उचित अर्थात् अभ्यास की हुई अहितकर वस्तुओं से बुद्धिमान् मनुष्य क्रमशः विरमित हो अर्थात् धीरे-धीरे क्रम से अहितकर वस्तु का त्याग करे। और साथ ही हितकर वस्तुओं का सेवन भी धीरे-धीरे क्रम से करे। अहित वस्तु का त्याग तथा हितकर वस्तु का सेवन का क्रम आगे आचार्य निर्देशित करते हैं।

हितकर वस्तु के ग्रहण तथा अहितकर वस्तु के त्याग में पादांशिक क्रम होना चाहिए। अर्थात् पाद (चतुर्थ भाग) उसका अंश पादांश कहा जाता है। पादांश से यहाँ चौथाई भाग अथवा चौथाई भाग का चौथाई १/१६ भाग भी ग्रहण किया जाता है। पादांश से चौथाई भाग का अर्थ ग्रहण करने पर अहितकर वस्तु का त्याग व हितकर वस्तु का सेवन क्रमशः इसी प्रकार अर्थात् पहले दिन अहितकर वस्तु के एक चौथाई भाग का त्याग व हितकर वस्तु के एक चौथाई भाग का सेवन करना चाहिए। और क्रमशः अहितकर वस्तु का त्याग चौथाई चौथाई भाग से करते जाना चाहिए तथा साथ ही हितकर वस्तु का सेवन भी चौथाई २ भाग से बढ़ाते जाना चाहिए। पादांश का अर्थ जहाँ एक पाद का चौथाई अर्थात् १/१६ भाग लिया जाता है; उसमें अहितकर वस्तु का त्याग व हितकर वस्तु का सेवन क्रमशः १/१६–१ १६ भाग के क्रम से करना चाहिए। इस प्रकार अहितकर वस्तु के त्याग व हितकर वस्तु के ग्रहण करने में एक साथ ही पादाँशिक क्रम अपनाना चाहिए।

हितकर वस्तु के ग्रहण व अहितकर वस्तु के त्याग में आचार्य ने पादांशिक क्रम को एकान्तर, द्व्यन्तर तथा त्र्यन्तर अर्थात् एक दिन का अन्तराल, दो दिन का अन्तराल व तीन दिन का अन्तराल इस क्रम से सम्पन्न करने का निर्देश किया है। एकांतर द्व्यन्तर तथा त्र्यन्तर क्रम का स्पष्टीकरण हम आगे विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से करेंगे।

आचार्य वाग्भट ने भी हिताहित के ग्रहण व त्याग में उपर्युक्त क्रम का ही निर्देश किया है, जैसा कि निम्नांकित उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा—

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत्।
निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम् ॥

अ० हृ० सू० ७/४८

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य वाग्भट ने निर्देश किया है कि अभ्यास किया हुआ अपथ्य चौथाई-चौथाई भाग से अथवा चौथाई भाग के चौथाई भाग अर्थात् १/१६–१/१६ भाग के क्रम से छोड़ना चाहिए। उसी प्रकार हितकर वस्तु का सेवन भी चौथाई भाग अथवा पाद के चौथाई भाग से करना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या में आचार्य अरुणदत्त ने निम्नोक्त विवरण प्रस्तुत किया है। यथा—

"यदि तु तदपथ्यमभ्यस्तं तथा सात्मीभूतं यस्मिन् चतुर्थांशेनापि त्यजमाने शरीर बाधा शक्यते वह्नि मान्द्यं वा, तदा पादपादेन वा षोडशांशेन त्यजेदिति वा शब्दार्थः।

अ० हृ० सू० ७/४८ पर सर्वांग सुन्दरा टीका

अर्थात् वह अपथ्य जो अभ्यास से व्यक्ति को सात्मीभूत अर्थात् शरीर के लिए हितकर तत्व के रूप में हो गया है और जिसके चतुर्थांश भाग को छोड़ने से भी शरीर में बाधा (कष्ट) हो सकती है अथवा अग्निमान्द्य हो सकता है, तो ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को पाद का पाद अर्थात् $\frac{1}{16}$-$\frac{1}{16}$ भाग के क्रम से अपथ्य का त्याग करना चाहिए।

प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने के निमित्त हम आचार्य चक्रपाणि द्वारा की गई आचार्य चरक के मूल उद्धरण की व्याख्या को अविकल रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षित समझते हैं। व्याख्या निम्नोक्त है। यथा—

हितस्य सेवनमहितस्य परित्यागः कर्तव्य इति पूर्वमुक्तं, तच्च हितसेवनमहित परिवर्जनं चाक्रमेण क्रियमाणमक्रमाचरित व्यायामादिवत् प्रत्यवायकरं परं भवति, अतस्तत्क्रममाह—उचितादित्यादि। उचितात् अभ्यस्तात्। क्रमशो वक्ष्यमाणेन क्रमेण। हितमनभ्यस्तहितम्। कोऽसौ क्रम इत्याहक्रमश्चेत्यादि। प्रक्षेपौहितस्य, अपचयोऽहितस्य, ताभ्यां हिताहिताभ्याम्। पादः चतुर्थोभागः, तद्रूपोंऽशः पादांशः, तेनकृतः क्रमः पादांशिकः, अन्ये तु पादस्यांशः पादांश इति षोडशंभागं वर्णयन्ति। स च हिताहितयो र्युगपत्प्रक्षेपापचये पादांशिक क्रमः, प्रथममेकान्तरमेकाहमन्तरा कृत्वेत्यर्थः; ततः प्रथम हितपाद प्रक्षेपाहितपादापचयाभ्यासादूर्ध्वं द्वितीय पाद प्रक्षेपापचये द्व्यन्तरं द्व्यहमंतरी कृत्य क्रमो भवेत्; तथा द्वितीयपादाभ्यासादूर्ध्वं तृतीय पाद प्रक्षेपापचये त्र्यहमंतरी कृत्य क्रमो भवेत्; चतुर्थपादप्रक्षेपापचये तु कालनियमो नास्ति; अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपापचयाभावाच्चतुष्पाद सम्पूर्णस्य पथ्यस्यानवधि सेव्यत्वात्। अयं पिण्डार्थः—अपथ्या यव कादयोऽभ्यस्तास्ते त्याज्याः; रक्तशाल्यादयः अनभ्यस्तास्ते सेव्याः; तत्र प्रथम दिने यवक पाद त्रयं रक्तशालीनामेकः पाद; द्वितीये दिवसे द्वौ पथ्यस्य द्वावपथ्यस्य; एवं तृतीये; एवं द्वितीयपादाभ्यासो द्व्यन्तरो भवति; चतुर्थे त्रयः पादाः पथ्यस्य एकोऽपथ्यस्य; एवं पंचमे षष्ठे च; एवं तृतीयपादाभ्यासस्त्र्यंतरौ भवति; सप्तदिनप्रभृति तु चतुष्पादपथ्याभ्यासः। यदि वाऽन्तरो व्यवधिवचनः; तथा शब्दाच्चतुरन्तरमिति च लभ्यते; तेनायमर्थः प्रथमे दिवसेऽपथ्यपाद त्रयं पथ्यस्यैकः पादः; द्वितीये सर्वमपथ्यम् तृतीये द्वौ पथ्यस्य द्वावपथ्यस्य; एवं चतुर्थे; पंचमे तु दिने पथ्यस्यभाग एकस्त्रयोऽपथ्यस्य; एवं द्व्यंतरी कृतौभवतः; षष्ठे पथ्यभागत्रयमपथ्यभाग एकः एवं सप्तमेऽ-

ष्टमे च; ततो नवमे भागद्वयं पथ्यस्य चापस्यस्य एवं त्रीण्यहान्यंतरी कृतानि भवंति; ततो दशमे सर्वं पथ्यम्; एवमेकादशे द्वादशेत्रयोदशे च; चतुर्दशे तु पथ्यभागत्रयमेकोऽपथ्यस्य; एवं चतुरन्तरा तथा शब्द सूचिता भवति; पंचदशाहात् प्रभृति संपूर्णपथ्यतैव। च० सू० ७ ३७ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

आचार्य चक्रपाणि द्वारा व्याख्यायित उपर्युक्त विवरण का तात्पर्य यह है कि—हित का सेवन तथा अहित का परित्याग आचार्य ने पहले ही कहा है। हित सेवन एवं अहित का परित्याग बिना उचित क्रम के करने से उसी प्रकार दोष उत्पन्न होते हैं जैसा कि बिना क्रम के व्यायाम आदि करने से। इसी कारण हित सेवन तथा अहित परित्याग के क्रम को आचार्य ने 'उचितात्' इत्यादि श्लोक से कहा है। उचितात् शब्द का अभिप्राय अभ्यास किए गये अहितकर वस्तु से है, जिसका क्रमशः कहे जाने वाले क्रम से बिना अभ्यास किए गये हितकर अर्थ का सेवन करें। हितकर वस्तु का प्रक्षेप (सेवन) तथा अहितकर अर्थ का अपचय (परित्याग) इन दोनों ही कार्यों में चौथाई-चौथाई भाग के क्रम से सेवन तथा त्याग करे। कोई आचार्य पादांश शब्द से सोलहवाँ भाग वर्णन करते हैं। हितकर सेवन तथा अहितकर त्याग में निम्नोक्त प्रकार से पादांशिक क्रम बतलाया गया है। प्रथम पाद के प्रक्षेप व अपचय में एकान्तर क्रम का निर्देश किया गया है। प्रथम एकान्तर का तात्पर्य है एक दिन का अन्तराल करके। इसके अनन्तर द्वितीयपाद के प्रक्षेप अपचय में द्व्यंतर क्रम निर्दिष्ट है। द्व्यंतर का तात्पर्य है दो दिन का अन्तराल। इस प्रकार द्वितीय पाद के अभ्यास के पश्चात् तृतीय पाद के प्रक्षेप अपचय में त्र्यन्तर क्रम होना चाहिए। त्र्यन्तर क्रम में तीन दिन का अन्तराल करके हित का प्रक्षेप तथा अहित का अपचय करना चाहिए। चतुर्थ पाद के प्रक्षेप व अपचय में काल का नियम नहीं होता। इसके पश्चात् हित सेवन के चतुष्पाद की पूर्ति होने पर एवं प्रक्षेप व अपचय के पाद के अभाव होने पर पथ्य सेवन काल सीमा के बिना ही कर्तव्य हैं।

उपर्युक्त तथ्यों का फलितार्थ (दृष्टान्त रूप अर्थ) यह है कि—अपथ्य यवक आदि अपथ्य रूक्ष अन्न अभ्यष्त होने से त्याज्य हैं तथा रक्तशालि आदि अन्न जो पथ्य हैं अभ्यस्त नहीं होने से सेवन के योग्य हैं। इस प्रकार अभ्यस्त अपथ्य के त्याग तथा अनभ्यस्त पथ्य के सेवन के लिए निम्नोक्त क्रम विहित है। यथा—पहले दिन यवक का तीन पाद (तीन चौथाई भाग) और रक्तशालि का एक पाद (चौथाई भाग) लेना चाहिए। दूसरे दिन पथ्य का दो भाग तथा अपथ्य का दो भाग लेना चाहिए। इसी प्रकार तीसरे दिन भी दूसरे दिन की तरह ही पथ्य अपथ्य का दो-दो भाग लेना चाहिए। इस प्रकार द्वितीय पाद का अभ्यास द्व्यन्तर (दो दिन के अन्तराल) वाला होता है। चौथे दिन पथ्य का तीन पाद तथा अपथ्य का एक पाद

लेना चाहिए। यही क्रम पाँचवें और छठें दिन भी अपनाना चाहिए। इस प्रकार तृतीय पाद का अभ्यास त्र्यन्तर (तीन दिन के अन्तराल) वाला होता है। सातवें दिन से पथ्य के चारों पाद का अभ्यास कर्तव्य है।

यदि अन्तर शब्द का अभिप्राय अवधि को छोड़ने से है तो श्लोक में उक्त तथा शब्द से चार दिन की अवधि को छोड़कर ऐसा अभिप्राय द्योतित होता है। इस अभिप्राय को लेने से निम्नोक्त क्रम बनता है। यथा—प्रथम दिन अपथ्य का तीन पाद तथा पथ्य का एक पाद सेवनीय होता है। द्वितीय दिन सम्पूर्ण अपथ्य का ही सेवन। तृतीय दिन पथ्य का दो भाग तथा अपथ्य का दो भाग। चौथे दिन भी तृतीय दिन के ही समान पथ्यापथ्य सेवन विहित होता है। पाँचवें दिन पथ्य का एक भाग तथा अपथ्य का तीन भाग। इस प्रकार तीसरे व चौथे दिन दो दिन समान रूप से पथ्य के दो भाग के सेवन तथा अपथ्य के दो भाग के त्याग के कारण यह द्व्यंतरीकृत क्रम है। पाँचवें दिन पथ्य का एक भाग तथा अपथ्य का तीन भाग सेवनीय है। छठें दिन पथ्य का तीन भाग एवं अपथ्य का एक भाग ग्रहणीय होता है। सातवें व आठवें दिन भी यही क्रम कर्तव्य है। नवें दिन पथ्य का दो भाग तथा अपथ्य का दो भाग सेवनीय इस प्रकार छठें, सातवें तथा आठवें दिन एक समान तीन दिन के व्यवधान पूर्वक पथ्यापथ्य के सेवन तथा त्याग से यह त्र्यन्तरीकृत क्रम है। दसवें दिन सम्पूर्ण पथ्य सेवनीय है। यही क्रम ११वें, १२वें तथा १३वें दिन भी पालनीय है। इस प्रकार बीच के ४ दिन के व्यवधान से यह चतुरन्तर क्रम आचार्य के तथा शब्द से सूचित होता है। १४वें दिन पथ्य का तीन भाग तथा अपथ्य का एक ग्रहणीय हैं। १५वें दिन से सम्पूर्ण पथ्य सेवनीय है।

चरकोपस्कार टीका में आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने कुछ भिन्न प्रकार से आचार्य चरक के पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या प्रस्तुत किया है, जिसे प्रस्तुत सन्दर्भ में उपस्थित करना अपेक्षित है। व्याख्यायित वचन निम्नोक्त है। यथा—

"यदि पुनरन्तर शब्दो व्यवधि वचन तदाऽयमर्थः – प्रथम दिने अपथ्यस्य त्रयः पादाः पथ्यस्यचैकः। द्वितीय दिने सर्वमपथ्यम्, एवमेकेन अह्ना पथ्यपाद सहितोऽपथ्यपादोऽन्तरीकृतः। ततस्तृतीय दिने अपथ्यस्य द्वौ पादौ, द्वौ च पथ्यस्यः ततश्चतुर्थे पंचमे च सर्वमपथ्यम्, एवं पथ्यपादद्वयसहितमपथ्यपादद्वयं द्वाभ्यामहोभ्यामन्तरीकृतम्। ततः पुन, षष्ठे दिवसे अपथ्यस्य एकः पादः, त्रयश्चपथ्यस्य। सप्तमे, अष्टमे, नवमे च सर्वमपथ्यम्। एवं त्रिभिरहोभिः पथ्यपाद त्रय सहितोऽपथ्यस्य च एकः पादोऽन्तरीकृतो भवति। ततो दशम दिने सर्वं पथ्यं सेवनीयम्" चरकोपस्कारे योगीन्द्रनाथ सेनः

उपर्युक्त व्याख्या में आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने स्पष्ट किया है कि—यदि आचा-

योक्त श्लोक में आए हुये अन्तर शब्द का अवधि व्यवधान अभिप्राय हो तो पथ्य सेवन एवं अपथ्य परित्याग का निम्नोक्त क्रम होगा ।

पहले दिन अपथ्य का तीन चौथाई भाग पथ्य का चौथाई भाग सेवनीय होता है । दूसरे दिन सम्पूर्ण अपथ्य का सेवन कर्तव्य है, इस प्रकार एक दिन के व्यवधान से अपथ्य का एक चौथाई भाग पथ्य के चौथाई भाग से व्यवहित हो जाता है । तीसरे दिन अपथ्य का दो पाद एवं पथ्य का दो पाद सेवनीय हैं । इसके पश्चात् चौथे और पाँचवें दिन सम्पूर्ण अपथ्य सेवनीय होता है । इस प्रकार पथ्य के दो पाद युक्त अपथ्य का दो पाद दो दिन से व्यवहित हुआ । तदनन्तर छठें दिन अपथ्य का एक पाद तथा पथ्य का तीन पाद सेवनीय है । सातवें, आठवें एवं नवें दिन सम्पूर्ण अपथ्य ही सेवनीय है । इस प्रकार तीन दिन के व्यवधान से पथ्य के तीन पाद सहित अपथ्य का एक पाद व्यवहित हुआ । तदनन्तर दसवें दिन सम्पूर्ण पथ्य सेवनीय है ।

आचार्य गंगाधर कविराज ने अपनी 'जल्पकल्पतरु' टीका में उपर्युक्त व्याख्या से कुछ भिन्न प्रकार से इस विषय का स्पष्टीकरण किया है । उन्होंने अन्तर शब्द का व्यवधान अर्थ लेते हुए प्रथम दिन पथ्य का एक पाद तथा अपथ्य का तीन पाद सेवन का विधान निर्देशित किया है । दूसरे दिन प्रथम दिन के समान भोजन नहीं करना चाहिए, प्रत्युत् अभ्यस्त अपथ्य का ही सेवन करना चाहिए । इस प्रकार दूसरे दिन को छोड़कर तृतीय दिन पथ्य का दो पाद तथा अपथ्य का दो पाद भोजन करना चाहिए। इसके पश्चात् तीसरे दिन की तरह भोजन न करे, बल्कि अभ्यस्त अपथ्य का ही सेवन करें । इस प्रकार चौथे व पाँचवें दिन का व्यवधान करके छठें दिन पथ्य का तीन पाद तथा अपथ्य का एक पाद भोजन करें । इसके पश्चात् ७वें, ८वें व ९वें दिन ६ठें दिन की तरह भोजन न करें, प्रत्युत् अपथ्य का ही सम्पूर्णतः परित्याग करे ।

प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य वाग्भट के वचन की समीक्षा अपेक्षित है जिसका विशद विवेचन आचार्य अरुणदत्त ने अपनी सर्वांगसुन्दरा टीका में निमोक्त प्रकार से किया है । यथा—अपथ्य अन्न, पान (पेय द्रव्य), अथवा लंघन, प्लवन (तैरना), जागरण स्वप्नादिक चेष्टायें जो कि अहितकर हैं तथापि अभ्यास करने से सात्मीभूत हो गई हैं, उसका त्याग एक-एक पाद के क्रम से करना चाहिए । क्योंकि अहितकर वस्तुओं का सेवन अहितकर परिणामवाला होता है । अहित कर वस्तु के सेवन का अभ्यास हो जाने पर भी वह दोषकारी ही होता है । इससे शरीर का हित व सुख की प्राप्ति नहीं होती । यदि वह अपथ्य अभ्यास से सात्मीभूत अर्थात् व्यक्ति को कुछ काल के लिए हितकर हो गया हो, और जिसके चतुर्थांश के त्याग से भी शरीर में किसी प्रकार की

बाधा की आशंका हो तो उस स्थिति में षोडशांश भाग के क्रम से अपथ्य का त्याग तथा पथ्य का सेवन करना चाहिए। पथ्य सेवन क्रम भी षोडशांश क्रम से ही पूरा करना चाहिये। इस प्रकार के अपथ्य त्याग और पथ्य सेवन में एक, दो और तीन दिन का व्यवधान करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि क्रम से एक, दो व तीन अन्नकाल का व्यवधान करना। जैसे अपथ्य का त्याग एक-एक पाद के क्रम से करना चाहिए उसी प्रकार पथ्य सेवन भी एक-एक पाद के क्रम से करना चाहिए। उपर्युक्त तथ्य को निम्नोक्त उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। यथा

अपथ्य पाटल व्रीहि आदि जो कि अभ्यास से सात्म्यीभूत हो गए हों उसका एक पाद (चतुर्थांश) का त्याग तथा अनभ्यस्त रक्तशालि का एक पाद का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार एक अन्न काल को बिताए। इस प्रकार अभ्यस्त अपथ्य के एक चतुर्थांश भाग का त्याग हो जाता है और अनभ्यस्त पथ्य के एक पाद का सेवन हो जाता है। इसके पश्चात् द्वितीय अन्नकाल में सम्पूर्ण अपथ्य ही सेवनीय होता है। इस प्रकार एक अन्न काल से अभ्यस्त अपथ्य का एक पाद आवृत हुआ। तीसरे दिन अभ्यस्त अपथ्य का दो पाद का परित्याग और अनभ्यस्त पथ्य के दो पाद का सेवन करना चाहिए। इसके पश्चात् चौथे दिन सम्पूर्ण अपथ्य का भोजन करना चाहिए। पाँचवें दिन भी यही क्रम अपनाना चाहिए। इस प्रकार दो अन्न काल से पथ्य का दो पाद तथा अपथ्य का दो पाद आवृत हुआ। तदनन्तर छठें अन्न काल में अभ्यस्त अपथ्य का एक पाद तथा अनभ्यस्त पथ्य का तीन पाद सेवन करना चाहिए। सातवें, आठवें एवं नवें अन्नकाल मैं सम्नूर्ण अपथ्य का ही सेवन करे। इस प्रकार तीन अन्न काल से अपथ्य आवृत हुआ। तदुपरान्त दसवें अन्नकाल में सम्पूर्ण पथ्य का सेवन करना चाहिए।

इसी प्रकार षोडशांशिक क्रम में भी अभ्यस्त अपथ्य तथा अनभ्यस्त पथ्य का $\frac{१}{१६}$—$\frac{१}{१६}$ भाग से क्रमशः त्याग व सेवन समझना चाहिए। उदाहरणार्थ प्रथम अन्न काल में अपथ्य का $\frac{१५}{१६}$ भाग तथा पथ्य का $\frac{१}{१६}$ भाग लेना चाहिए। द्वितीय अन्न काल में सम्पूर्ण अपथ्य ही लेना चाहिए। इस प्रकार एक अन्न काल से अपथ्य का षोडशांश ($\frac{१}{१६}$ भाग) आवृत हुआ। तृतीय अन्न काल में अपथ्य का $\frac{१४}{१६}$ भाग तथा पथ्य का $\frac{२}{१६}$ भाग सेवन करना चाहिए। तदनन्तर चतुर्थ-पञ्चम अन्नकाल में सम्पूर्ण अपथ्य का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार दो अन्न काल से अपथ्य का दो षोडशांश ($\frac{२}{१६}$ भाग) आवृत हुआ। छठें अन्न काल में पथ्य का तीन षोडशांश ($\frac{३}{१६}$ भाग) तथा अपथ्य का १३ षोडशांश भोजन करना चाहिए। इसके पश्चात् सातवें, आठवें व नवें अन्न काल में सम्पूर्ण अपथ्य का ही सेवन करना चाहिए। इस प्रकार तीन अन्न काल से अपथ्य का तीन षोडशांश आवृत हुआ। दसवें दिन अपथ्य का

१२ षोडशांश तथा पथ्य का ४ षोडशांश का सेवन करे। ११वें दिन सम्पूर्ण अपथ्य का भोजन करे। इसी प्रकार १, २, और तीन दिन के क्रमिक अन्तर से शेष १२ षोडशांश अपथ्य का त्याग तथा १२ षोडशांश पथ्य का सेवन करे।

आयुर्वेद रसायन टीकाकार आचार्य हेमाद्रि का इस विषय में कुछ भिन्न मत है जो कि निम्नोक्त प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। यथा—

अभ्यासात्सात्म्यतां यातं यदपथ्यं तत् पादेन चतुर्थांशेन, पाद पादेन--षोडशांशेन वा त्यजेत्। तद्वत् अपथ्यवत् हितं—पथ्यं निषेवेत, यावतांऽशेनापथ्यं त्यक्तं तावतांऽशेन पथ्यं भजेत्, नित्य सेव्यस्याहारराशेर्यदपथ्येन न्यूनत्वं तत्पथ्येन पूरयेदित्यर्थः। कथं त्यजेत् ? एकद्वित्र्यन्तरी कृतमिति—एक द्वित्रिभिर्दिवसैरन्तरी कृतं—विजातीय भोजनेन व्यवहितम्। एतदुक्तं भवति—यदा पादेन त्यागः क्रियते तदा प्रथमेऽह्न्य-पथ्यस्य पादास्त्रयः पथ्यस्यैकः। द्वितीयेऽहनि चत्वारोप्यपथ्यस्य। तृतीये प्रथमवत्। इत्येकात्तरी करणम्। चतुर्थेऽह्नि द्वौ पादावपथ्यस्य, द्वौ पथ्यस्य। पञ्चम षष्ठयो-स्तृतीयवत्। सप्तमे चतुर्थवत्। इति द्व्यन्तरी करणम्। अष्टमे त्वपथ्यस्यैकः, पथ्यस्य त्रयः। नवम दशमेकादशेषु सप्तमवत्। द्वादशेऽष्टमवत्। इति त्र्यन्तरीकरणम्। त्रयोदशे चत्वारोऽपि पथ्यस्य। चतुर्दशे द्वादशवत्। पञ्चदशे त्रयोदशवत् इति पुनरेकान्तरीकरणम्। द्व्यन्तर त्र्यन्गरी करणं पुनर्नास्ति, चतुर्णामपि पादानां पूर्ण-त्वात्। षोडशांश पक्षेत्वेक द्वित्र्यन्तरी करणस्य पञ्चकृत्व आवृत्तिः। तत एकान्तरी करणम्। एवं त्रिषष्ट्या दिवसैः षोडशांशाः पूर्यन्ते।

अ० हृ० सू० ७/४८ पर आयुर्वेद रसायन टीका

उपर्युक्त व्याख्या में आचार्य हेमाद्रि ने प्रतिपादित किया है कि—जो अपथ्य अभ्यास के कारण सात्म्य हो गया हो उसे पाद (चतुर्थांश) क्रम से अथवा पाद-पाद (षोडशांश) क्रम से त्याग करे। इसी प्रकार हितकर पथ्य का भी जिस जिस भाग से अपथ्य का त्याग करे उसी उसी भाग से सेवन करे। अर्थात् सम्पूर्ण आहार राशि के जितने २ अंश में न्यून अपथ्य का त्याग करे उतने २ अंश में उसे पथ्य के सेवन से पूर्ण करे। किस क्रम से अपथ्य का त्याग करे ? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि—एक, दो तथा तीन दिन का व्यवधान करते हुए अर्थात् पहले एक पाद के अपथ्य त्याग तथा पहले एक पाद के पथ्य सेवन में १ दिन का व्यवधान यानी पुनः सम्पूर्ण अपथ्य सेवन से पथ्य पाद को आवृत करना, दो पाद के अपथ्य त्याग तथा दो पाद के पथ्य सेवन में दो दिन का व्यवधान करना तथा तीन पाद के अपथ्य त्याग एवं पथ्य-सेवन में तीन दिन का व्यवधान करना चाहिए। इसी तथ्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं :—पाद (चतुर्थांश) त्याग में प्रथम दिन अपथ्य

का तीन पाद तथा पथ्य का एक पाद ग्रहण करना चाहिए। द्वितीय दिन चारो पाद (सम्पूर्ण) अपथ्य का ही ग्रहण करे। तीसरे दिन पुनः प्रथम दिन के समान अपथ्य का तीन पाद तथा पथ्य का एक पाद। इस प्रकार दूसरे दिन के सम्पूर्ण अपथ्य से एक दिन का व्यवधान हुआ। चौथे दिन अपथ्य का दो पाद तथा पथ्य का दो पाद। पाँचवें, छठें दिन अपथ्य का तीन पाद तथा पथ्य का एक पाद होने से दो दिन का व्यवधान हुआ। आठवें दिन अपथ्य का एक पाद तथा पथ्य का तीन पाद। नवें, दसवे एवं ११वें दिन सातवें दिन के समान अपथ्य का दो पाद तथा पथ्य का भी दो पाद। १२वें दिन अपथ्य का एक पाद तथा पथ्य का तीन पाद। इस प्रकार तीन दिन के व्यवधान से त्र्यन्तरीकरण क्रम पूरा होता है। १३वें दिन पथ्य का चारोपाद (सम्पूर्ण पथ्य) लेना चाहिए। १४वें दिन १२वें दिन के समान पथ्य का तीन पाद तथा अपथ्य का एक पाद सेवनीय है। इस प्रकार १४वें दिन पुनः अपथ्य के एक पाद सेवन से यह एकान्तरी करण हुआ। यह तो पाद के त्याग का क्रम हुआ।

षोडशांश पक्ष में (०/१६–१/१६ भाग का अपथ्य त्याग तथा पथ्य सेवन) एकान्तर, द्वयन्तर तथा व्यन्तर क्रम से ५ बार आवर्तित होते हैं, तत् पश्चात् पुनः एक एकान्तर क्रम होता है, जिससे कि ६३ दिन में षोडश अंशों की पूर्ति होकर सम्पूर्ण पथ्य का सेवन एवं अपथ्य का त्याग क्रम पूरा हो जाता है। ग्रन्थ विस्तार भय से हम इस क्रम का उदाहरण द्वारा उल्लेख नहीं करेंगे। जिज्ञासु अपने बुद्धि व्यापार कौशल से इसे समझ सकते हैं।

अपथ्य त्याग एवं पथ्य सेवन क्रम में विभिन्न आचार्यों द्वारा निर्देशित प्रक्रिया को हम सारिणी रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षित समझते हैं, जिससे कि प्रस्तुत विषय का दृष्टि निक्षेप मात्र से सुखावबोध हो सके।

हिताहित प्रक्षेपापचय क्रम दिग्दर्शक सारिणी

आयुर्वेद दीपिका टीका आचार्य चक्रपाणिदत्त प्रथम मत	आयुर्वेद दीपिका टीका आचार्य चक्रपाणिदत्त द्वितीय मत	सर्वांग सुन्दरा टीका आचार्य अरुणदत्त
प्रथम दिन– अपथ्य ३ पाद + पथ्य १ पाद	प्रथम दिन—अपथ्य ३ पाद + पथ्य १ पाद	प्रथम दिन–अपथ्य ३ पाद + पथ्य १ पाद
		द्वितीय दिन—सम्पूर्ण अपथ्य
द्वितीय दिन—अपथ्य २ पाद +	द्वितीय दिन—सम्पूर्ण अपथ्य	तृतीय दिन—अपथ्य २ पाद +

पथ्य २ पाद तृतीय दिन—अपथ्य २ पाद पथ्य २ पाद

\+

तृतीय दिन-तथैव पथ्य २ पाद चतुर्थ दिन—सम्पूर्ण अपथ्य

चतुर्थ दिन—अपथ्य १ पाद चतुर्थ दिन—तथैव पंचम दिन—तथैव

\+

पथ्य ३ पाद पंचम दिन—पथ्य १ पाद षष्ठ दिन—अपथ्य १ पाद

\+ +

पंचम दिन—तथैव अपथ्य ३ पाद पथ्य ३ पाद

षष्ठ दिन —तथैव षष्ठ दिन— पथ्य ३ पाद सप्तम दिन—सम्पूर्ण अपथ्य

\+

सप्तमदिन—सम्पूर्ण पथ्य अपथ्य १ पाद अष्टम दिन—तथैव

सप्तम दिन—तथैव नवम दिन—तथैव

चरकोपस्कार में अष्टम दिन—तथैव दशम दिन—सम्पूर्ण पथ्य

आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन आयुर्वेद रसायन में आचार्यहेमाद्रि

नवम दिन—अपथ्य २ पाद

प्रथम दिन—अपथ्य ३ भाग +

पथ्य २ पाद अपथ्य ३पाद

\+ +

पथ्य १ भाग पथ्य १ पाद

दशम दिन—सम्पूंर्ण पथ्य

द्वितीय दिन—सम्पूर्ण अपथ्य द्वितीय दिन—संपूर्ण अपथ्य

तृतीय दिन—अपथ्य २ भाग एकादश दिन—तथैव तृतीय दिन—अपथ्य ३ पाद

\+ +

पथ्य २ भाग द्वादश दिन— तथैव चतुर्थ दिन—अपथ्य ३ पाद

\+

पथ्य ३ पाद

चतुर्थ दिन—संपूर्ण अपथ्य

पंचम दिन—तथैव त्रयोदश दिन—तथैव पंचम दिन—अपथ्य ३ पाद

\+

षष्ठ दिन—अपथ्य १ भाग चतुर्दश दिन—अपथ्य १ पाद पथ्य १ पाद

\+ + षष्ट दिन— तथैव

पथ्य ३ भाग पथ्य ३ पाद सप्तम दिन—अपथ्य २ पाद

पथ्य २ पाद +

पंचदश दिन—संपूर्ण पथ्य

सप्तम, अष्टम–तथैव

एवं नवम दिन—

दशम दिन—संपूर्ण पथ्य

अष्टम दिन—अपथ्य १ पाद
+
पथ्य ३ पाद

नवम दिन—अपथ्य २ पाद
+
पथ्य २ पाद

दशम दिन—तथैव

एकादश दिन-तथैव

द्वादश दिन—अपथ्य १ पाद
+
पथ्य ३ पाद

त्रयोदश दिन-सम्पूर्ण पथ्य

चतुर्दश दिन—अपथ्य १ पाद
+
पथ्य ३ पाद

पंचदश दिन—सम्पूर्ण पथ्य

जल्पकल्प तरु में आचार्य— गंगाधर कविराज

प्रथम दिन—अपथ्य ३ भाग
+
पथ्य १ भाग

द्वितीय दिन—संपूर्ण अपथ्य

तृतीय दिन—अपथ्य २ भाग
+
पथ्य २ भाग

चतुर्थ दिन—संपूर्ण अपथ्य

पंचम दिन—तथैव

षष्ठ दिन— अपथ्य १ भाग
+
पथ्य ३ भाग

सप्तम दिन—सम्पूर्ण अपथ्य

अष्टम, नवमदिन-तथैव

दशम दिन—सम्पूर्ण पथ्य

उपर्युक्त सारिणी में दिये गए पथ्यापथ्य के सेवन व त्याग के प्रसंग में आचार्यों द्वारा निर्देशित विभिन्न क्रमों के अवलोकन से एक मुख्य तथ्य यह ज्ञात होता है कि-सहसा न अभ्यस्त अपथ्य का त्याग, न सहसा अनभ्यस्त पथ्य का सेवन करना चाहिए। और इसी तथ्य को दृष्टिगत कर सभी आचार्यों ने अपने-अपने विवेक से युक्तिसंगत रूप में पथ्यापथ्य के प्रक्षेपापचय क्रम का विवेचन किया है। "विदुषां किमशोभनम्" अर्थात् विद्वानों की वाणी में अशोभन या अनुचित क्या हो सकता है? अर्थात् विद्वज्जनों की वाणी या विवेचन प्रणाली निर्दुष्ट ही होती है, इस उक्ति के अनुसार सभी आचार्यों के मत प्रस्तुत सन्दर्भ में समीचीन हैं। व्यक्ति के बलाबल एवं उसके द्वारा अभ्यस्त अपथ्य एवं अनभ्यस्त पथ्य आहार द्रव्यों की अपेक्षा से विज्ञ चिकित्सक को तदनुरूप पथ्यापथ्य के सेवन व त्याग का क्रम अपनाना चाहिए।

यदि व्यक्ति अभ्यस्त अपथ्य का अधिक दिनों (वर्षों) से व्यवहार कर रहा हो तो उसे १५ दिन, ३० दिन या ६३ दिन में क्रमशः सम्पूर्ण अपथ्य का त्याग व सम्पूर्ण पथ्य का सेवन अपनाना चाहिए।

यदि व्यक्ति अभ्यस्त अपथ्य का मध्यम रूप में कुछ दिनों (मासों) से व्यवहार कर रहा हो तो उसे १० दिन या १५ दिन में क्रमशः सम्पूर्ण अपथ्य का त्याग व सम्पूर्ण पथ्य का सेवन करना चाहिए।

यदि व्यक्ति थोड़े दिनों (सप्ताहों) से अभ्यस्त अपथ्य का सेवन कर रहा हो तो उसे ७ दिन या १० दिन में क्रमशः सम्पूर्ण अपथ्य का त्याग व सम्पूर्ण पथ्य का सेवन अपना लेना चाहिए।

आचार्यों ने इसी कारण अनेक क्रमों का उल्लेख किया है, ताकि आवश्यकतानुसार पथ्यापथ्य के सेवन के त्याग में उचित क्रम का अनुसरण कर व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की प्राप्ति व अपथ्यजनित व्याधियों से मुक्ति पा सके।

हिताहित संसर्जन क्रम की उपादेयता

आलोच्य सिद्धान्त की उपादेयता का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च॥ च० सू० ७/३८.

अर्थात् हिताहित संसर्जन क्रम के पालन से अपथ्यजनित दोष क्रमशः क्षीण हो जाते हैं तथा शरीर में स्वास्थ्यकर गुण क्रमशः बढ़ते जाते हैं। क्रमशः क्षीण हुए दोष पुनः उत्पन्न नहीं होते तथा उपचित गुण अस्थिर नहीं होते अर्थात् स्वास्थ्यकर भाव सदा बने रहते है।

आचार्य वाग्भट ने भी हिताहित संसर्जन क्रम की उपेक्षा करके सहसा किसी अभ्यस्त अपथ्य वस्तु के त्याग व अनभ्यस्त पथ्य वस्तु के सेवन को अनिष्टकारी बतलाते हुए क्रमशः अपथ्य के त्याग तथा पथ्य के अभ्यास का निर्देश किया है। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यसेवया।
सात्म्यासात्म्य विकाराय जायते सहसाऽन्यथा॥
अ० हृ० सू० ७/४९

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि—सहसा (अचानक) हिताहित संसर्जन क्रम को बिना विचारे जो अभ्यस्त अपथ्य का त्याग करता है उसे अपथ्यजनित

सात्म्य के अभाव में होने वाला विकार उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार अनभ्यस्त पथ्य का सहसा सेवन भी असात्म्यजनित विकार को उत्पन्न करता है। अतः व्यक्ति को अपथ्य त्याग व पथ्य सेवन में निर्दिष्ट हिताहित संसर्जन क्रम को अपनाना चाहिए।

ऋतुचर्या में हिताहित संसर्जम क्रम—स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त आयुर्वेद में ऋतु के अनुसार आहार विहार का निर्देश किया गया गया है। वर्ष में ६ ऋतुयें होती हैं। जब एक ऋतु की समाप्ति हो रही होती है और दूसरी ऋतु आ रही होती है ती उन दोनों ऋतुओं के बीच की अवधि को ऋतु सन्धि काल कहा जाता है। ऋतुसन्धि काल में पूर्व ऋतु में अपनाए गये आहार-विहार के क्रम को क्रमशः छोड़ना चाहिए तथा आनेवाली ऋतु के अतुसार आहार विहार का क्रम क्रमशः अपनाना चाहिए। उपर्युक्त ऋतु संधि काल में हिताहित संसर्जन क्रम सिद्धान्त के अनुसार ही आहार विहार का त्याग व सेवन करना चाहिए। इस प्रकार के क्रम को अपनाने से सहसा सात्म्य त्याग व सहसा असात्म्य सेवन का विकार नहीं उत्पन्न होता है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य वाग्भट ने निम्नोंक्त उद्धरण में हिताहित संसर्जन क्रम को पालन करसे का निर्देश किया है। यथा—

ऋत्वोरन्त्यादि सप्ताहावृतु सन्धिरिति स्मृतः।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ॥
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्याग शीलनात्।

अ० हृ० सू० ७,५८–५९

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि— एक ऋतु का अंतिम सप्ताह और आने वाली ऋतु का प्रथम सप्ताह, इन दो सप्ताहों की अवधि को ऋतु संधि कहते हैं। ऋतु सन्धि काल में पूर्व ऋतु में अपनाये गए आहार विहारादि क्रम को क्रमशः त्याग देना चाहिए और आनेवाली ऋतु में निर्दिष्ट आहार-विहारादि क्रम का क्रमशः सेवन करना चाहिए। इस प्रकार की विधि को नहीं अपनाने से अभ्यस्त विधि के सहसा त्याग व अनभ्यस्त विधि के सहसा सेवन से असात्म्यज रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि ऋतुसन्धि काल में पूर्व ऋतु के आहार विहारादि क्रम का क्रमशः त्याग करते हुए आनेवाली ऋतु के विधि को क्रमशः सेवन करना चाहिए। इस तथ्य से हिताहित संसर्जन क्रम सिद्धान्त का जनसाधारण के दैनन्दिन ज़ीवन में स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपादेयता है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

मादक (नशीले) पदार्थों के त्याग में हिताहित संसर्जन क्रम—आधुनिक काल में

मादक पदार्थों का सेवन समाज में एक बहुत बड़ा दुर्व्यसन प्रचलित हो गया है। मादक पदार्थों के सेवन से व्यक्तियों का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, जो कि समाज के लिए अत्यन्त दुःखद व आत्मघाती प्रवृत्ति सिद्ध हो रही है। इस दुःस्थिति से त्राण पाने में हिताहित संसर्जन क्रम सिद्धान्त की उपादेयता अत्यन्त प्रासंगिक सिद्ध हो सकती है। जो व्यक्ति मादक पदार्थों के सेवन का आदी हो चुका होता है उसके दुर्व्यसन का छोड़ना एक दुष्कर कार्य हो गया है। इस संदर्भ में यदि हिताहित संसर्जन क्रम सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के दुर्व्यसन को क्रमशः छुड़ाया जाय तथा मादक पदार्थों के विकल्प रूप में कोई अन्य हितकर या अल्प अहितकर पदार्थों का सेवन क्रमशः कराया जाय तो व्यक्ति को अपने अभ्यस्त मादक पदार्थों को छोड़ने में अत्यन्त सरलता व सहजता की अनुभूति होगी, एवं व्यक्ति को अपनी सात्म्य हुई वस्तु के सहसा त्याग के कारण उत्पन्न होने वाले विकारों को भी नहीं झेलना पड़ेगा। मादक पदार्थों के सेवन करने वालों के लिए हिताहित संसर्जन क्रम की उपादेयता वरदान सिद्ध हो सकती है।

आजकल राज्य प्रशासन समाज में बढ़ती हुई इस कुप्रवृत्ति को रोकने के लिए अनेक उपाय कर रहा है। यदि प्रशासनतंत्र आयुर्वेद के इस सिद्धाँत की व्यवहार मूलक उपादेयताओं को समझकर तदनुसार आचरण कराने की व्यवस्था करे तो इस भयावह स्थिति से सहज ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

हिताहित संसर्जन क्रम सिद्धांत की उपादेयता का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। हमारे दैन्दिनन जीवन में इसका उपयोग सहज रूप में होता रहता है। भले ही जनसाधारण को इस सिद्धांत की जानकारी न हो। इस सिद्धांत की व्यवहारमूलक उपयोगिता पर तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ उपनिबद्ध किया जा सकता है। हमने इस सिद्धांत की उपादेयता का निदर्शन मात्र रूप में विवेचन किया है जिससे कि इसकी महत्ता आयुर्वेद के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट हो सके।

आदान विसर्ग काल वाद सिद्धान्त

विवेच्य प्रस्तुत सिद्धांत के शीर्षक से ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध द्विविध काल आदान तथा विसर्ग से है। त्रिविध हेतुवाद सिद्धांत के प्रसंग में हम काल का विवेचन कर चुके हैं। रोगोत्पत्ति में काल की क्या महत्ता है? इसका भी विवेचन किया जा चुका है। प्रस्तुत सिद्धांत के विवेचन में काल की स्वास्थ्य रक्षा के सन्दर्भ में क्या महत्त्व है? इस पर विचार किया जायेगा। अतः स्वास्थ्य रक्षा के सन्दर्भ में विवेचित काल विवरण को पुनरुक्ति दोष नहीं समझा जाना चाहिए। त्रिविध हेतुवाद सिद्धान्त में काल का विवरण रोगोत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है।

साधारणतया आदान विसर्ग काल से सम्बन्धित विवरण का स्वस्थवृत्त के ही प्रसंग में विचार किया जाता है। अतः सिद्धांत के रूप में इसका प्रतिष्ठापन आयुर्वेद के सामान्य व्यवहार मैं नगण्य सा ही है। किंतु हम आदान विसर्ग काल से सम्बन्धित विवरण को प्रतितन्त्र सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर सिद्धान्त के ही समान विवेचित करना अपेक्षित समझते हैं। आदान विसर्ग काल के वक्ष्यमाण विवेचन से पाठक स्वयं ही समझ सकेंगे कि इसे सिद्धांत रूप के प्रस्तुत करना कितना समीचीन है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुत सिद्धान्त काल के द्विविध प्रकार—आदान एवं विसर्ग काल से सम्बन्धित है आदान एवं विसर्ग काल क्या है तथा प्राणियों पर इनका प्रभाव क्या है? इसका विवेचन आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से किया है।

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतु विभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतूञ्छिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च।
च० सू० ६,४-

आदान और विसर्ग काल का परिचय देते हुए आचार्य कहते हैं कि—संवत्सर (वर्ष) ऋतु के रूप में ६ अंगों में विभाजित किया गया है। वर्ष के जिस काल में सूर्य उत्तर दिशा में गमन कर रहे होते हैं—उसे आदान काल कहते हैं। इसमें तीन ऋतुयें शिशिर, वसंत एवं ग्रीष्म आती हैं। सूर्य जिस काल में दक्षिण दिशा की ओर गमन कर रहे होते हैं, उसे विसर्ग काल कहते हैं, जिसमें वर्षा, शरद तथा हेमन्त ये तीन ऋतुयें आती हैं।

प्राणियों पर उपर्युक्त आदान एवं विसर्ग काल का क्या प्रभाव पड़ता है, और ये कैसे जगत् को प्रभावित करते हैं? इन तथ्यों का उल्लेख आचार्य चरक ने निनोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षा प्रवान्ति, इतरे पुनरादाने, सोमश्चाव्याहत बलः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्यायति शश्वत्, अतो विसर्गः सौम्यः, आदानं पुनराग्नेयम्, तावेतावर्कवायुसोमश्च काल स्वभावमार्ग परिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्ति प्रत्ययमूताः समुपदिश्यन्ते।
च० सू० ६/५

विसर्ग काल में अतिरुक्षवायु नहीं बहती, इसके विपरीत आदान काल में वायु अधिक रुक्षता व चंचलता से बहती है। वायु का गुण शीत रुक्ष होने से, विसर्ग काल जो कि प्रायः शीत ऋतु वाला होता है, इसमें निसर्गतः शीताधिक्य होने से वायु के दूसरे गुण रुक्षादि का प्रभाव होता है, किन्तु सूर्य के ताप में न्यूनता (कमी) होने से अधिक रुक्षता नहीं होती। चन्द्रमा का बल भी अबाधित रहता है। चंद्रमा की शीतल

किरणें संसार के प्राणिमात्र को पुष्ट करती हैं। इस कारण विसर्ग काल सौम्य होता है। आदान काल आग्नेय होता है, इसमें अग्नि के गुणों की बहुलता होती है। सूर्य, वायु और सोम काल स्वभाव के कारण अपने-अपने स्वाभाविक मार्ग में रहते हुए जगत् में काल, ऋतु, रस, दोष एवं देहबल की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

उपर्युक्त आचार्य चरकोक्त वचन की व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि कहते हैं कि—काल दैवता रूप होता है, वह नित्य ही एक रूप होते हुए भी प्राणियों के नानाविध अदृष्ट से सम्बद्ध होता हुआ कभी सोम, कभी वायु व कभी सूर्य को बलवान करता है। सूर्य का स्वभाव है कि जगत के सौम्यांश को क्षीण करता है, वायु रूक्षता आदि गुणों को बढ़ाता है तथा सोम आप्यायित (पुष्टिकर) करता है। नित्य काल संवत्सर रूप उत्तरायण, दक्षिणायन काल को प्रभावित करता है, शिशिर वसन्तादि ६ ऋतुयें भी नित्यकाल के प्रभाव से ही होती हैं। इसी प्रकार रस, दोष एवं देहबल भी नित्य काल से प्रभावित होते हैं।

आदानकाल में सूर्य किस प्रकार जगत को प्रभावित करते हुए प्राणियों में दौर्बल्य उत्पन्न करता है, इस तथ्य का आचार्य ने निम्नोक्त वचन में उल्लेख किया है। यथा—

तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिर वसंत ग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान्रसांस्तिक्त कषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति। च० सू० ६/६.

आदान काल में सूर्य अपनी क्रमशः प्रखर होती किरणों से स्थावर जंगम प्राणियों के सौम्यभाग को ग्रहण करता हुआ तथा तीव्र व रूक्ष वायु क्रमशः जगत के स्नेहांश को सुखाते हुए शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं में यथाक्रम रूक्ष रस, तिक्त, कषाय एवं कटु को बढ़ाते हुए मनुष्यों में दुर्बलता उत्पन्न करते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिए हम आचार्य चक्रपाणि की व्याख्याको निम्नांकित पंक्तियों में अविकल रूप से उद्धृत करना अपेक्षित समझते है। यथा—

तत्रेत्यादि। आददान उच्छोषयन्। जगतः स्थावर जंगमस्य स्नेहं सारं सौम्यभागमित्यर्थः। न केवलं रविः, वायवश्चशोषयन्तः स्नेहमिति सम्बन्धः। तीव्राश्च-रूक्षाश्च तीव्ररूक्षाः; रविणा सम्बन्धाद्वायोर्भवति योगवाहित्वाद्वायोः। उक्तं हि योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थ कृत्" (च० चि० अ० ३) इत्यादि। यथाक्रममिति शिशिरे रौक्ष्यमल्पं तिक्तं रसमल्पं च दौर्बल्यं, तथा वसन्ते मध्यं रौक्ष्यं कषायं रसं मध्यं दौर्बल्यं, तथा ग्रीष्मे प्रकृष्टं रौक्ष्यं कटुकं रसं महच्च दौर्बल्यं दर्शयति। यद्यपि च कषायो रसो रूक्षतमः कटुकश्च रूक्षतरः, यदुक्तं—"रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणां

प्रवरो मध्यमः कटुः" । (च० सू० अ० २६ इत्यादि । रौक्ष्य प्रकर्षश्चग्रीष्मे, मध्यबलं च रौक्ष्यं वसन्ते, तथापि वाय्वग्निगुण बाहुल्यात् कटुकस्य वाय्वग्निगुण बहुले ग्रीष्मकाल एवोत्पत्तिः, पवनपृथिव्युत्कर्षवती तु वसन्ते पवनपृथिव्युत्कर्षजन्यस्य कषायस्योत्पत्तिः । यदुक्तं—"वाय्वग्नि गुण भूयिष्ठत्वात् कटुकः, पवनपृथिवी व्यतिरेकात् कषायः" (च० सू० अ० २६) इति । पृथिव्याद्युत्कर्षश्च कालविशेष प्रभाव कृतः कार्यदर्शनोन्नेयः । अभिवर्धयन्त इति वचनाद्यथास्व काले तिक्तादीनामभि वृद्धिः सूच्यते, तेन न तदैकरसत्वम् । अत्र च रूक्षबद्रौक्ष्यस्योत्पत्ति तिक्ताद्युत्पत्ती अपि दौर्बल्योत्पत्तौ कारणं, यतो रौक्ष्यमुत्पादयन्त इति तिक्त कषाय कटुकानभिवर्धयन्त इति च हेतुगर्भ विशेषणद्वयं कृत्वा दौर्बल्यभावहन्तीत्युक्तम् ।

च० सू० ६/६ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त व्याख्या द्वारा स्पष्ट किया है कि—सूर्य आदानकाल में स्थावर जंगमात्मक जगत के स्नेहांश को अपने क्रमशः प्रखर होती हुई किरणों से सुखा देता है । किन्तु जगत के स्नेहांश को सुखाने में केवल सूर्य ही कारण नहीं है वरन् वायु भी कारण हैं । वायु की तीव्रता व रूक्षता से जगत का स्नेहांश सूख जाता है । आदान काल में सूर्य की प्रखर किरणों के सम्बन्ध से वायु में तीव्रता एवं रूक्षता आ जाती है, क्योंकि वायु श्रेष्ठ योगवाही होता है, अर्थात् इसका सम्बन्ध जिससे होता है उसी के गुणों की वृद्धि करता है । जैसा कि आचार्य ने महर्षि चरक के ही वचन को उद्धृत करके इस तथ्य को पुष्ट किया है । यथा—वायु श्रेष्ठ योगवाही होने से इसका संयोग दोनों ही उष्णात्मक एवं शीतात्मक अर्थों का निष्पादक होता है । अर्थात् यदि ताप से वायु का संयोग हुआ तो वह ताप की वृद्धि करता है और यदि शीत से सम्बन्ध हुआ तो शीत की वृद्धि करता हैं । आदान काल में रूक्षता की बृद्धि क्रमशः होती है । शिशिर ऋतु में अल्प रूक्षता होती है, रस में तिक्तता होती है तथा प्राणियों में दौर्बल्य भी अल्प होता है । वसन्त ऋतु में रूक्षता मध्यम होती है, रस कषाय होता है अर्थात् कषाय रस की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है तथा प्राणियों में दुर्बलता मध्यम प्रकार की होती है । ग्रीष्म ऋतु में रूक्षता प्रकृष्ट रूप की और कटु रस की बहुलता होती है तथा प्राणियों में दुर्बलता अत्यधिक होती है । यद्यपि कषाय रस रूक्षता के स्तर पर रूक्षतम और कटु रस रूक्षतर होता है, जैसा कि कहा गया है कि—कषाय रस रूक्षता में प्रवर तथा कटु रस मध्यम होता है । रूक्षता का प्रकर्ष ग्रीष्म में होता है तथा वसन्त में मध्य रौक्ष्य होता है तथापि वायु व अग्नि की बहुलता से कटु रस की उत्पत्ति, वायु अग्नि बहुल ग्रीष्मकाल में ही होती है । वायु पृथ्वी की बहुलता वाले वसन्त में वायु पृथ्वी की बहुलता से उत्पन्न कषाय रस की उत्पत्ति होती है । वायु पृथ्वी आदि भूतों की जगत में बहुलता काल विशेष के प्रभाव से होती है । इसका अनुमान कार्यदर्शन

(परिणाम) से करने योग्य है। तिक्त, कषाय व कटु रसों को बढ़ाते हुए इस वाक्यांश से तिक्तादि रसों की अभिवृद्धि अपने-अपने काल के अनुसार सूचित होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आदान काल में केवल एक रसता ही होती है। इस प्रसंग में क्रमशः रूक्षता की व तिक्तादि रसों की उत्पत्ति भी दुर्बलता को उत्पन्न करने में कारण है। क्योंकि आदान काल रूक्षता को उत्पन्न करते हुए तिक्त, कषाय व कटु रसों को बढ़ाता है। इस प्रकार दो कारणों से आदान काल दौर्बल्य उत्पन्न करता है।

विसर्ग काल में सूर्य व चन्द्रमा की कैसी स्थिति होती है तथा जगत पर उनका कैसा प्रभाव पड़ता है, रस व प्राणियों के बल की कैसी स्थिति रहती है, इन सभी विषयों का विवरण आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहत प्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्र सलिल प्रशान्त सन्तापे जगति, अरूक्षाः रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ल-लवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति। च० सू० ६।७

वर्षा, शरद् एवं हेमन्त ऋतुओं में सूर्य के दक्षिणाभिमुख यानी दक्षिणायन में जाने पर, इस कालावधि के अन्तर्गत मेघ, वायु व वर्षा के कारण सूर्य के ताप व प्रभाव के दबने से तथा चंद्रमा के अबाधित बल से एवं वर्षा जल से जगत की उष्णता शांत होने से अरुक्ष रस अम्ल, लवण तथा मधुर बढते हैं जिससे कि क्रमशः मनुष्यों में बल उपचित होता (बढ़ता) है।

इस प्रकार सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन गति के अनुसार आदान एवं विसर्ग काल में प्राणियों के बल की क्रमशः क्षीणता तथा वृद्धि होती रहती है। अर्थात् आदान काल के प्रारम्भ में उत्तम बल, मध्य में मध्य बल तथा अन्त में हीन बल होता है। इसी प्रकार विसर्ग काल के प्रारम्भ में प्राणियों में हीनबल, मध्य में मध्य बल तथा अन्त में उत्तम बल होता है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नांकित वचन से प्रतिपादित किया है। यथा—

आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।
मध्ये मध्य बलं; त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्॥ च० सू० ६/८.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि—विसर्ग काल के प्रारम्भ में अर्थात् शरद् ऋतु में तथा आदान काल के अंत में अर्थात् वर्षा ऋतु में प्राणियों में दुर्बलता होती है। विसर्ग काल तथा आदान काल के मध्य अर्थात् हेमन्त ऋतु तथा ग्रीष्म ऋतु में प्राणियों में मध्य बल होता है। विसर्ग काल के अन्त अर्थात् शिशिर ऋतु तथा आदान के प्रारम्भ वसन्त ऋतु में उत्तम बल होता है।

उपर्युक्त विवरणों से हमें ज्ञात होता है कि—सूर्य, चंद्रमा एवं वायु का प्रभाव ऋतु, रस, प्राणियों के दोष व देहबल पर पड़ता है। सूर्य, चंद्र व वायु का शरीरगत दोषों पर क्या प्रभाव पड़ता हैं इसका विवेचन आचार्य चरक ने भिन्न-भिन्न ऋतुओं के ऋतु विधान में प्रस्तुत किया है। आदान विसर्ग कालगत विभिन्न ऋतुओं का शरीर गत दोषों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? तथा तत्तद् दोषों के शमन के निमित्त क्या विधान अपेक्षित है ? इस विषय का संक्षिप्त विचार इस प्रसंग में अपेक्षित है, जिससे कि आलोच्य सिद्धान्त की महत्ता का स्पष्ट अवबोध हो सके।

हेमन्त ऋतु में शीताधिक्य के कारण शरीरगत ऊष्मा बाहर नहीं निकलती वह शरीर में ही पूर्णतः रुद्ध रहती है जिससे कि इस ऋतु में जाठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त रहती है। उद्दीप्त जाठरानि अधिक मात्रा में गुरु द्रव्यों को पचाने में समर्थ होती है। यदि हेमन्त ऋतु में गुरु द्रव्यों की उचित मात्रा आहार में नहीं ली जाती है तो उद्दीप्त अग्नि शरीरगत रस धातु को जलाकर नष्ट कर देती है जिसके कारण शीत गुण वाली वायु की वृद्धि हो जाती है। इसी कारण हेमन्त ऋतु में जब अधिक ओस पड़ने लगती है मनुष्यों को अम्ल, लवण रसयुक्त स्निग्ध आहार तथा जलचर पक्षियों के मांस का सेवन करना चाहिए, जिससे कि वात दोष की वृद्धि न हो। इस प्रसंग में आचार्य चरकोक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा—

शीतेशीतानिलस्पर्शसंरुद्धो बलिनां बली।
पक्ता भवति हेमन्तेमात्राद्रव्यगुरुक्षमः ।।
स यदानेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा।
रसं हिनस्त्यतो वायुः शीत, शीते प्रकुप्यति ।।
तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान् रसान्।
औदकानूपमांसानां मेद्यानामुपयोजयेत् ।।

च० सू० ६/११ १३.

शिशिर ऋतु में विहित आचरण का निर्देश आचार्य ने निम्नोक्त वचन से किया है। यथा—

हेमन्तशिशिरौ तुल्यौ शिशिरेऽल्पं विशेषणम्।
रौक्ष्यमादानजं शीतं मेघमारुतवर्षजम् ।।
तस्माद्धैमन्तिकः सर्वः शिशिरे विधिरिष्यते।

च० सू० ६,१९-२०.

यद्यपि हेमन्त और शिशिर ये दोनों ऋतुएँ समान होती हैं, तथापि शिशिर ऋतु में थोड़ी विशेषता होती है, क्योंकि शिशिर ऋतु आदान काल का आरम्भ होती

है। अतः इसमें आदान कालज रुक्षता उत्पन्न हो जाती है तथा मेघ, वायु और वर्षा के कारण शैत्य भी अधिक बढ़ जाता है। इस कारण इसमें भी हेमन्त ऋतु के समान ही विधि अपनानी चाहिए।

वसन्त ऋतु में शरीरगत संचित कफ दोष आदान काल के सूर्य की उत्तप्त किरणों से प्रेरित होकर जाठराग्नि को मन्द कर देता है और इससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः वसन्त ऋतु में कफ निर्हरण के निमित्त वमन आदि कर्म कराना चाहिए, आदान काल का मध्य होने के कारण वसन्त ऋतु में वात, पित्त का भी प्रकोप हो सकता है। अतः आवश्यकतानुसार विरेचन, आस्थापन अथवा अनुवासन कर्म कराना चाहिए। गुरु, अम्ल, स्निग्ध एवं मधुर आहार का सेवन करना चाहिए तथा दिवा-स्वप्न वर्जित करना चाहिए। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥
तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्॥
गुर्वम्लस्निग्ध मधुरं दिवास्वप्नं च वर्जयेत्॥

च० सू० ६ ३२-२३.

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रखर किरणों से जगत का स्नेहांश शोषित हो जाता है, जिससे कि वात का संचय होता है अतः इसमें मधुर, शीत, द्रव एवं स्निग्ध अन्न पान हितकर होता है। शर्करा का शीतल पेय, लस्सी, जांगल मृग व पक्षियों का मांस, घी, दूध एवं शालि चावल का सेवन करते हुए मनुष्य ग्रीष्म काल के तापजन्य परिणामों से पीड़ित नहीं होता। आचार्य ने उपर्युक्त विहित कर्मों का निम्नोवत उद्धरण में उल्लेख किया है। यथा—

मयूखैर्जगतः स्नेहं ग्रीष्मे पेपीयते रविः।
स्वादुशीतं द्रवं स्निग्धमन्नपानं तदा हितम्॥
शीतं सशर्करं मन्थं जांगलान्मृगपक्षिणः।
घृतं पय, सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति॥

च० सू० ६ २७-२८.

वर्षा ऋतु में आदान काल जन्य दौर्बल्य से जाठराग्नि मन्द हो जाती है, वह पुनः पृथ्वी की ऊष्मा (उमस), मेघ, वर्षा तथा जल के अम्लपाक से और भी क्षीण होकर दूषित हो जाती है तथा शरीर में वातप्रधान दोषों को प्रकुपित करती है। इस कारण वर्षा ऋतु में साधारण आहार-विहार की विधि अपनाना उत्तम होता है। उद-मन्थ (लस्सी), दिवास्वप्न, अवश्याय (ओस सेवन), नदी का जल, व्यायाम, धूप

एवं मैथुन का वर्जन करना चाहिए। वायु को शान्त करने वाले एवं अग्नि दीप्त कर आहार—यव, गोधूम तथा शालि आदि का सेवन करना चाहिए। इस प्रसंग में आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा—

आदान दुर्बले देहे पक्ताभवति दुर्बलः ॥
स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः ।
भूवाष्पान्मेघनिष्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च ।
वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः ॥
तस्मात् साधारणः सर्वोविधि वर्षासुशस्यते ।
उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम् ॥
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत् ।
पानभोजन संस्कारान् प्रायः क्षौद्रान्वितान् भजेत् ॥
विशेष शीते भोक्तव्यं वर्षास्वनिलशान्तये ।
अग्नि संरक्षणवता यवगोधूमशालयः ॥

च० सू० ६/३३-३८.

शरद् ऋतु विहित चर्या वर्षाकाल के शैत्य व आर्द्रता से जलीय सा हुआ शरीर शरद् काल में सूर्य की किरणों से सहसा तप्त हो जाता है, जिससे कि शरीर में संचित पित्त प्रायः कुपित हो जाता है। अतः इस ऋतु में मधुर, लघु, शीत व तिक्त रस वाला आहार उचित मात्रा में लेना चाहिए; जिससे कि प्रकुपित पित्त शान्त हो जाय। तिक्त रस युक्त औषधियों से सिद्ध घृत का पान, विरेचन कर्म तथा रक्तमोक्षण कर्म पित्त की शान्ति के लिए करना चाहिए। और अधिक पित्त का प्रकोप न हो इस कारण आतप सेवन (धूप) वर्जित करना चाहिये। प्रासंगिक आचार्योक्त वचन निम्नांकित हैं। यथा—

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्क रश्मिभिः ।
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ॥
तत्रान्नपानं मधुरं लघुशीतं सतिक्तकम् ।
पित्त प्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकांक्षितैः ॥
तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम् ।
धाराधरात्यये कार्यमातपस्य च वर्जनम् ॥

च० सू० ६/४१, ४२, ४४.

उपर्युक्त अवतरणों में हमने विभिन्न ऋतुओं में आदान एवं विसर्ग काल का शरीरगत दोषों पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा प्रकुपित दोषों के शमनार्थ क्या उचित

प्रतिकर्म करना चाहिए, इसका विचार प्रस्तुत किया। आदान विसर्ग काल वाद सिद्धान्त के अनुसार ही विभिन्न ऋतुओं में अपनाई जाने वाली विधियों की व्यवस्था की जाती है, जिससे कि मनुष्य स्वस्थ रहता है। प्रसंगानुगत पूर्वोक्त विवरणों पर विचार करने से एक महत्वपूर्ण तथ्य यह ज्ञात होता है कि—सूर्य, चंद्रमा एवं वायु का कालक्रम के अनुसार प्राणियों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, जिससे कि उनमें कभी बल व शरीर पुष्टि में कमी तथा कभी वृद्धि देखी जाती है। प्राक्तन आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने इसी तथ्य को लक्ष्य कर आदान विसर्ग काल वाद सिद्धांत की स्थापना किया है, जिससे कि मानव समाज तत्तद् काल के अनुसार विहित एवं निषिद्ध आहार-विहार का सेवन व परित्याग कर अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सके।

आदान विसर्ग काल वाद सिद्धांत की उपादेयता—स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त मनुष्य के दैनन्दित जीवन में इस सिद्धान्त की महती उपादेयता इस तथ्य से प्रकट होती है कि जगत के सभी प्राणी सूर्य, चंद्रमा एवं वायु से अनिवार्यतः प्रभावित होते हैं। और सूर्य, चंद्रमा एवं वायु का प्रभाव कालक्रम से परिवर्तित होता रहता है। कालक्रम से परिवर्तित होते हुए सूर्य, चंद्रमा व वायु के प्रभाव का मानव मात्र के निमित्त स्वास्थ्यकर उपयोग आदान विसर्ग काल वाद सिद्धान्त के अनुसार ही हो सकता है। सूर्य, चन्द्रमा एवं वायु निसर्गतः प्राणिमात्र के जीवनदाता एवं पालक हैं: जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से प्रमाणित होता है। यथा—

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वी विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायु पालयति प्रजा॥ सु० सू० ६/८.

चन्द्रमा पृथ्वी को आर्द्र करता है तथा सूर्य पृथ्वी की आर्द्रता को सुखाता है। इन दोनों को ही आधार बनाकर वायु जगत के प्राणियों का पालन करता है। चन्द्रमा के आश्रित होकर वायु जगत के प्राणियों का आप्यायन (पोषण) करता है तथा सूर्य के आश्रित होकर जगतगत आर्द्रता का शोषण करता है। इस प्रकार इन तीनों तत्वों के कारण जगत का सन्तुलन व्यवस्थित होता है।

सूर्य, चन्द्रमा का शोषण व पोषण कर्म कालक्रम से शोषण-पोषण के वृद्धि ह्रास प्रक्रिया को मनुष्य के लिए हितकर रूप में उपयोग आदान विसर्ग कालवाद सिद्धान्त के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है।

आदान विसर्ग काल के अनुसार ही प्राणियों के शरीर में दोषों का संचय व प्रकोप होता है। सञ्चय काल में ही यदि दोषों का अपहरण (निष्कासन) कर दिया जाता है तो दोषों का उत्तरकाल में प्रकोप नहीं होता। आचार्य सुश्रुत ने संचय काल

में दोषों के निष्कासन की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए कहा है कि—संचय काल में अपहृत (निष्कासित) दोष आगे की गति अर्थात् प्रकोप, प्रसार आदि स्थिति को प्राप्त नहीं होते। यदि सञ्चयावस्था में दोषों का निर्हरण नहीं होता तो आगे की गति प्राप्त कर वे दोष अधिक बलशाली हो जाते हैं। इस प्रसंग में आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा :—

सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥ सु०सू० २१।३७

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न दोषों का सञ्चय होता है तथा सञ्चित हुए दोषों का स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त निर्हरण करना अपेक्षित होता है। दोषों के अपहरण के लिए यदि दोषों की अधिकता होती है तो उसमें संशोधन कर्म वमन, विरेचन आदि कराना चाहिए। यदि दोष मध्यम परिमाण में हो तो उसमें लंघन, पाचन से दोषापहरण करना चाहिए। यदि दोष अल्प हो तो उसे संशामक औषधियों से शान्त करना चाहिए।

दोषों के सञ्चय में प्रधान रूप से आदान विसर्ग काल ही हेतु है क्योंकि आदान काल में सूर्य बलशाली होते हैं जिससे क्रमशः बढ़ते हुए उनके ताप का प्रभाव जगत में तिक्त, कषाय व कटु रस को बलवान बनाता है। परिणामस्वरूप प्राणियों का बल क्रमशः क्षीण होता जाता है। इसके विपरीत विसर्ग काल में चन्द्रमा क्रमशः बलशाली होते जाते हैं, जिससे कि द्रव्यगत अम्ल, लवण व मधुर रस बलवान हो जाते हैं। परिणामस्वरूप प्राणियों का बल क्रमशः बढ़ता जाता है। इसी तथ्य को आचार्य सुश्रुत ने निम्नोक्त उद्धरण में निर्दिष्ट किया है। यथा :—

त एते शीतोष्णवर्ष लक्षणाश्चन्द्रदित्ययोः काल विभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ल-लवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरञ्च सर्वं प्राणिनां बलमभिवर्द्धते। उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषाय कटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते। सु०सू० ६।७

शीत, उष्ण व वर्षा के लक्षणों वाली षड्ऋतुओं के चन्द्र और सूर्य के कालविभाग करने के गुण से दक्षिण व उत्तर दो अयन होते हैं। उनमें से वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतु के काल को दक्षिणायन कहते हैं। दक्षिणायन की वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुओं में भगवान चन्द्रमा क्रमशः बलशाली होते जाते हैं, जिससे कि द्रव्यगत अम्ल, लवण और मधुर रस बलवान (पुष्ट) होते हैं। परिणामस्वरूप सभी प्राणियों का बल भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के काल को उत्तरायण

कहते हैं। इन ऋतुओं में भगवान सूर्य बलशाली होते हैं। द्रव्यगत तिक्त, कषाय और कटु रस बलवान होते हैं और उत्तरोत्तर सभी प्राणियों का बल क्षीण होता जाता है।

उपर्युक्त तथ्यों से हमें यह फलितार्थ ज्ञात होता है कि त्रिसर्गकाल में क्रमशः अम्ल, लवण व मधुर रस बलवान हो जाते हैं जिससे कि प्राणियों का बल क्रमशः बढ़ता जाता है। विसर्गकाल निसर्गतः शैत्य गुण वाला होता है, अतः इसमें कटु, तिक्त व कषाय उष्ण स्वभाव वाले रसों का सेवन हितकर होता है। यदि विसर्गकाल में नैसर्गिक गुणों की जानकारी नहीं होगी और व्यक्ति अपने आहार विहार के क्रम में तदनुसार परिवर्तन नहीं करेगा तो वह निस्सन्देह ही व्याधिग्रस्त होकर अपने स्वास्थ्य से वंचित हो जायेगा। स्वस्थ रहने के लिए विसर्गकाल में विहित आहार-विहार का सेवन अनिवार्य है। इसी प्रकार आदान काल में कटु, तिक्त और कषाय रस बलवान हो जाते हैं, जिससे कि प्राणियों में रूक्षता उत्पन्न होकर दौर्बल्य हो जाता है। अतः इस काल में कटु, तिक्त व कषाय रस के विपरीत मधुर, अम्ल व लवण रस का सेवन करने से प्राणियों का बल जो निसर्गतः आदान काल में क्षीण हो जाता है, वह मधुर, अम्ल व लवण रस के सेवन से अधिक क्षीण नहीं हो पाता। आदान काल के अनुसार आहार विहार से व्यक्ति निसर्गतः आदान काल जन्य परिणामों से बचता हुआ अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता है।

इस प्रकार हमें स्पष्ट होता है कि आदान विसर्ग कालवाद सिद्धान्त के अनुसार उचित विधि और निषेध के पालन से व्यक्ति अपनी स्वास्थ्य रक्षा में समर्थ होता है। स्वास्थ्य रक्षा में इस महत्त्वपूर्ण भूमिका होने के कारण आदान विसर्ग कालवाद की उपादेयता हमारे दैनन्दिन जीवन में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

स्वस्थवृत्तानुपालन सिद्धान्त

आयुर्वेद के द्विविध प्रयोजन—आतुर का व्याधिहरण तथा स्वस्थ का स्वास्थ्य रक्षण को दृष्टिगत रखकर ही आयुर्वेद के आद्य उपदेष्टाओं ने आयुर्वेद के समग्र वाङ्मय को उपनिबद्ध किया है। उपर्युक्त प्रयोजन को ही लक्ष्यकर महर्षि अग्निदेश तथा आचार्य चरक ने अपने प्रतिपाद्य ग्रन्थ 'चरक संहिता' में आतुर व्याधिहरण के निमित्त भेषजचतुष्क के अन्तर्भूत सूत्र स्थान के प्रथम चार अध्यायों में विभिन्न व्याधियों के उपशमनार्थ विभिन्न औषधियों का निर्देश किया है।

इसी प्रकार द्वितीय प्रयोजन स्वास्थ्य परिरक्षण को भी लक्ष्य करके स्वस्थ चतुष्क के अन्तर्भूत चार अध्यायों में स्वस्थ रहने के निमित्त विविध विधि निषेधयुक्त विवरणों को आचार्य ने स्वस्थ वृत्तानुपालन के रूप में उपनिबद्ध किया है। हम प्रस्तुत

शीर्षक में स्वस्थवृत्तानुपालन विषयक सभी तथ्यों को स्वस्थवृत्तानुपालन सिद्धान्त के रूप में विवेचित करगे।

यद्यपि आयुर्वेद वाङ्मय में स्वस्थवृत्तानुपालन विषयक विवरणों का विस्तृत विचार किया गया है, तथापि इन विवरणों को सिद्धान्त के रूप में नहीं प्रतिपादित किया गया है, जैसे—कि अन्य प्रमुख सिद्धान्तों यथा पंचभूत सिद्धांत, त्रिदोष सिद्धांत, सप्तधातुवाद सिद्धांत आदि सिद्धांतों का भी सिद्धांत के रूप में पृथक् निर्देश नहीं प्राप्त होता है। किन्तु आयुर्वेद के प्रयोजनों में स्वास्थ्य रक्षण प्रयोजन की प्रधानता होने से हमने स्वस्थवृत्त विषयक सभी विवरणों को समष्टि रूप से विवेचित करने की दृष्टि से इस शीर्षक को स्वस्थवृत्तानुपालन सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे कि जिज्ञासुओं को स्वास्थ्य से सम्बन्धित सभी विवरणों का समन्वयात्मक अवबोध सरलता से हो सके। स्वस्थवृत्तानुपालन से सम्बन्धित कतिपय सिद्धांतों का विचार हम पूर्वोक्त प्रकरणों में यथा—अग्निबलापेक्षी आहार मात्रा, आदान विसर्ग काल वाद आदि शीर्षकों से कर चुके हैं, और शेष विषयों का यथा—धारणीयाधारणीय वेगवाद, सद्वृत्तानुष्ठान, अन्नपान विधि, आहार विधि विशेषायतन तथा त्रिविध कुक्षीय आदि शीर्षकों से आगे करेंगे। अतः उपर्युक्त विवेचित और आगे विवेच्यमान सिद्धांतों का इस प्रसंग में विचार करना पिष्टपेषण तथा पुनरुक्त दोष ही होगा।

स्वस्थवृत्तानुपालन के अन्तर्गत विहित व निषिद्ध कर्मों के अतिरिक्त कुछ विशेष कर्तव्य कर्मों का विधान आचार्यों ने निर्देशित किया है। उन विशेष अवशिष्ट विषयों का जिनका उपर्युक्त परिगणित सिद्धांतों में विचार नहीं प्रस्तुत किया गया है अथवा आगे भी विवेच्य सिद्धांतों में नहीं होगा केवल उन्हीं विषयों का विवेचन इस प्रसंग में करेंगे। इस प्रकार के विवरण संयोजन से ही स्वस्थवृत्तानुपालन सिद्धांत का समष्टि रूप में विवेचन संभव हो सकेगा। विशेषतया इसी तथ्य को दृष्टिगत कर हमने इस शीर्षक को स्वस्थवृत्तानुपाल सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है।

जैसा कि पहले ही कह चुके हैं कि आचार्य चरक ने स्वास्थ्य परिरक्षण की दृष्टि से अपने ग्रन्थ में स्वस्थचतुष्क के अन्तर्गत सूत्र स्थान के चार अध्यायों में स्वस्थवृत्त सम्बन्धी सभी आहार-विहार व आचार के विधि निषेध परक कर्मों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। स्वस्थवृत्तानुपालन शीर्षक के अन्तर्गत आए हुए समस्त विषय वस्तु के दृष्टि निक्षेप मात्र से सुखावबोध के लिए हम आचार्य चरक द्वारा निर्दिष्ट स्वस्थ चतुष्क के अन्तर्भूत विवरणों को क्रमिक रूप में समायोजित करना अपेक्षित समझते हैं। इस प्रसंग में अध्यायानुसार निर्दिष्ट आचार्योक्त विवरण निम्नांकित है।

पंचम अध्याय 'मात्राशीतीयान्तर्गत' स्वस्थवृत्त विषयक विहित कर्म —

१. मात्रानुसार भोजन विधान।

२. आहार मात्रा का अग्नि बल की अपेक्षा से निर्धारण।

३. निसर्गतः लघु आहार द्रव्य भी मात्रा की अपेक्षा से ही ग्रहणीय।

४. निसर्गतः गुरु आहार द्रव्यों की मात्रा भी यथावत् मात्रापेक्षी।

५. आहार द्रव्यों की गुरुता लघुता का विवरण।

६. आहार द्रव्यो की अपेक्षा से त्रिभाग सौहित्य (आहार जन्य तृप्ति) व अर्ध सौहित्य विवरण।

७. निसर्गतः कतिपय गुरु आहार द्रव्यों का मात्रावत् ग्रहण का निषेध।

८. कतिपय आहार द्रव्यों का नित्य सेवन का निषेध।

९. स्वस्थ वृत्त की दृष्टि से सौवीरांजन का आँखों में नित्य अंजन का विधान।

१०. ५ या ८ दिन के अंतर से आँखों से मल को निकालने के निमित्त स्रावणार्थ रसांजन का विधान।

११. चक्षु को श्लेष्माक्रांत होने से बचने के लिए स्रावण के निमित्त प्रयुक्त रसांजन का उपयोगिता।

१२. शिरस्थ श्लेष्मा की प्रशांति के निमित्त धूम्रपान का विधान।

१३. मूर्धागत दोषों के निर्हरणार्थ वैरेचनिक धूमवर्ति का विधान।

१४. उचित धूम्रपान काल का निर्देश।

१५. आवश्गकतानुसार धूम्रपान संख्या का निर्देश।

१६. विभिन्न स्थितियों में धूम्रपान का निषेध।

१७. धूम्रपान विधि।

१८. अणु तैल के नस्य का विधान तथा इसकी उपयोगिता का निर्देश।

१९. प्रातः सायं दोनों समय दन्तधावन का विधान।

२०. मुख शोधनार्थ जातीफल, लवंग, कंकोल, ताम्बूल पत्र, कर्पूर एवं सूक्ष्मेला का विधान।

२१. हनुप्रदेश के बल, स्वर बल, मुख की पुष्टि, रसज्ञान तथा उत्तम रुचि के निमित्त एवं कण्ठशोथ, ओष्ठस्फुटन, दन्तक्षय, दन्तशूल, दन्तहर्ष व कृमिदन्त से बचने के लिए तैल गण्डूष (तैल कवल ग्रहण) धारण का विधान।

२२. शिरःशूल, खालित्य, पालित्य, केश प्रपतन से बचने के लिए तथा शिर व कपाल की दृढ़ता व दृढ़मूल, दीर्घ एवं कृष्ण केशों के निमित्त नित्य ही शिर में स्नेह सेवन का विधान।

२३. इन्द्रियों की प्रसन्नता (इन्द्रियों की कार्य तत्परता), मुख की त्वचा का वर्ण प्रसाद, निद्रालाभ एवं सुख की प्राप्ति के निमित्त नित्य ही शिर में तैलाभ्यंग का विधान ।

२४. वातिक कर्ण रोग, मन्यास्तम्भ (ग्रीवा स्तब्धता), हनुस्तम्भ (जबड़े की जकड़ाहट), उच्चस्रुति (ऊँचे आवाज से सुनना), एवं बधिरता के बचने के लिए कर्ण तर्पण (कान में तेल डालना) का विधान ।

२५. दृढ़ व सुन्दर वर्ण वाली त्वचा के निमित्त, वात रोग की प्रशाँति तथा क्लेश व व्यायाम को सहने की क्षमता के लिए शरीराभ्यंग (शरीर में तेल मालिश) का विधान ।

२६. त्वचा में वायु के आश्रित रहने से अभ्यंग त्वचा के लिए अत्यन्त हितकर है, अतः इसका नित्य प्रयोग।

२७. अभिघात (चोट लगना) अथवा बल वाले कर्मों के करने से होने वाले विकारों से बचने के लिए, अंगों के मृदुस्पर्श, बलवान, प्रियदर्शन एवं अल्पजर (जरा-वस्था का अल्प प्रभाव) के निमित्त अभ्यंग अत्यन्त उपयोगी है।

२८. पाँव की रुक्षता, स्तब्धता (जकड़ाहट), श्रम, सुप्ति (शून्यता) आदि के निवारणार्थ पादाभ्यंग का विधान ।

२९. पादाभ्यंग से सुकुमारता, पाँवों में बल व स्थैर्य, आँखों की ज्योति तीव्रता (दर्शन शक्ति की वृद्धि) एवं वात की शांति होती है ।

३०. गृध्रसीवात, पादस्फुटन (पाँवों का फटना) एवं पाद के सिरा व स्नायुओं का संकोच पादाभ्यंग से नहीं होता ।

३१. शारीरिक दुर्गन्धता, गौरव (भारीपन का अनुभव), तन्द्रा, कण्डू (खुजली), शारीरिक मल, अरोचक, स्वेद तथा मानसिक उद्वेग (घबड़ाहट) के नाश के निमित्त शरीर का परिमार्जन (पूर्ण स्वच्छता) का निर्देश ।

३२. शारीरिक पवित्रता, वृष्य (काम शक्ति वर्धक), आयुष्य (जीवन वर्धक), श्रम से हुए स्वेद तथा मल को दूर करने वाला, शारीरिक बल वृद्धि तथा शरीर ओज-वर्धक आदि स्नान के गुणों का निर्देश ।

३३. शारीरिक कमनीयता (सुन्दरता), यशवर्धन, जीवन वर्धन, प्रसन्नता, सभा में शोभा व कल्याण आदि के निमित्त स्वच्छ वस्त्र धारण का निर्देश ।

३४. वृष्य (काम शक्ति वर्धन), सुगन्ध, जीवन धारण, शरीर की सुन्दरता,

शरीर की पुष्टि व बलवृद्धि, मानसिक प्रसन्नता तथा समृद्धि के निमित्त सुगन्धित पुष्पों की माला धारण का निर्देश।

३५. समृद्धिवर्धन, मंगल, दीर्घजीवन, ऐश्वर्य, आपदनिवारण, प्रसन्नता, सौंदर्य वृद्धि तथा स्फूर्ति वर्धन के निमित्त रत्नधारण का निर्देश।

३६. मेधाशक्ति वृद्धि, पवित्रता, दीर्घजीवन की प्राप्ति तथा दारिद्रय व भ्रष्टाचरण नाश के निमित्त पाँवों व मलमार्गों का सम्यक् प्रक्षालन (अच्छी तरह धोना) का निर्देश।

३७. शरीर पुष्टि, कामशक्ति वर्धन, पवित्रता व रूपशोभन (रूप की शोभावृद्धि) आदि के निमित्त केश, श्मश्रु (मूँछ दाढ़ी) व नखादि का समयानुसार कर्त्तन का निर्देश।

३८. चक्षुशक्तिवर्धन, स्पर्शनेन्द्रिय प्रसादन (त्वचा की ताजगी) पाँवों के आपद् निवारण, बलवर्धन, शौर्य, सुख तथा कामशक्ति वर्धन के निमित्त पादत्राण धारण का निर्देश।

३९. रोगभय निवारण, बल प्रदान, पिशाचादि से रक्षण, कल्याण वर्धन तथा धूप, वायु, धूल व वर्षा से रक्षा के निमित्त छत्रधारण का निर्देश।

४०. चलते समय गिरने से बचने के लिए, शत्रुओं के भय से त्राण के लिए, अवलम्बन (सहारा) जीवन रक्षा तथा निर्भय रहने के निमित्त दण्डधारण का निर्देश।

अन्त में आचार्य ने पंचम अध्याय का समापन निम्नोक्त वचन से किया है। यथा :—

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत॥ च० सू० ५/१०३.

नगरपाल जिस प्रकार तत्परता से नगर की रक्षा करता है तथा रथ का चालक रथ की रक्षा करता है उसी प्रकार प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को अपने शरीर की रक्षा में विविध प्रकार के स्वास्थ्य रक्षा विधानों के पालन में सदैव सावधान रहना चाहिए। स्वास्थ्य रक्षा के लिए विहित विधानों का पालन करते हुए धर्मानुकूल जीविकोपार्जन की वृत्ति को अपनाकर शांति एवं स्वाध्याय का पालन करने से मनुष्य सुख की प्राप्ति करता है।

छठें अध्याय में आचार्य चरक ने विभिन्न ऋतुओं में विहित आहार-विहार का विवरण प्रतिपादित किया है। इस विषय का विवेचन आदान विसर्ग काल वाद शीर्षक से किया जा चुका है।

स्वस्थ चतुष्क के अन्तर्गत वर्णित सप्तम अध्याय में आचार्य चरक ने अधारणीय एवं धारणीय वेगों का स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से विशद विवेचन किया है। स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होने वाले शरीरगत मलों के वेगों को अधारणीय निर्देश करते हुए उन्हें यथा काल यथोचित रूप में प्रवृत्त होने देने का विधान बतलाया है। साथ ही शरीरगत कतिपय मानसिक भावों (विकारों) को जो परिस्थितिवश मनुष्यों में उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें प्रयास पूर्वक रोकना चाहिए इस विषय का प्रतिपादन धारणीय वेग के रूप में निर्देशित किया है।

स्वस्थ वृत्तानुपालन में उपर्युक्त तथ्यों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका हैं। अतः इसका विवेचन प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित है।

अधारणीय वेग—किन-किन वेगों को धारण नहीं करना चाहिए इसका प्रतिपादन करते हुए आचार्य कहते हैं कि—बुद्धिमान व्यक्ति को मूत्र, पुरीष, रेत (शुक्र), वात (अपान वायु) छर्दि (वमन), क्षवथु (छींक), उद्गार (डकार आना), जृम्भा (जँभाई), क्षुधा (भूख), पिपासा (प्यास), वाष्प (अश्रु), निद्रा तथा श्रम जनित निःश्वास आदि के वेगों का धारण नहीं करना चाहिए, अर्थात् इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं रोकना चाहिए। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा :—

न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः।
न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः।
न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥

च० सू० ७/३-४

उपर्युक्त स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होने वाले वेगों को रोकने से भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आचार्य चरक ने उपर्युक्त वेगों को रोकने से पृथक-पृथक कौन सी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा उनका उपचार क्या है इसका विशद विवरण प्रस्तुत किया है। विस्तार भय से हम उनका विवेचन करना अपेक्षित नहीं समझते।

धारणीय वेग—स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त जैसे कतिपय वेगों को अधारणीय बतलाया गया है उसी प्रकार आचार्य ने कतिपय मन, वाणी एवं देह के कर्मों के वेग को प्रयत्न पूर्वक धारण करने का निर्देश किया है। आचार्य ने इस सन्दर्भ में कहा है कि—वर्तमान जीवन एवं आगे आने वाले जीवन के हिताकांक्षी व्यक्ति को दुस्साहस तथा निम्नोक्त अकल्याणकारी मानसिक, वाचिक तथा दैहिक कर्मों के वेग को प्रयत्न पूर्वक धारण करना चाहिए।

अकल्याणकारी मानसिक कर्म—लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान (अभिमान), निर्लज्जता, अतिराग (किसी वस्तु के प्रति अत्यधिक आसक्ति) तथा अभिध्या (परद्रोह चिन्तन) आदि मानसिक कर्मों के वेग को रोकना चाहिए।

अशस्त वाणी के कर्म—परुष वचन (कठोर वाणी), अति मात्र वचन (अत्यधिक बोलना), सूचक वाणी (दूसरों का अनिष्ट सूचक वचन), अनृत वचन (असत्य वाणी) तथा अकाल युक्त वाणी (बिना अवसर का वचन) आदि अकल्याण-कारी वचनों के वेग को धारण करना चाहिए अर्थात् इनके उपस्थित होने पर भी प्रयत्न पूर्वक रोकना चाहिए।

अशस्त दैहिक कर्म—दूसरों की पीड़ा के निमित्त किया गया कार्य जैसे पर स्त्री भोग, चोरी करना तथा किसी की हिंसा या कष्ट पहुँचाना आदि शारीरिक कर्मों के वेग को रोकना चाहिए।

उपर्युक्त धारणीय वेगों का विवरण निम्नोक्त उद्धरण में द्रष्टव्य है। यथा—

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्काय कर्मणाम्।
लोभ शोकभय क्रोधमान वेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्॥
परुषस्याति मात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।
वाक्यस्याकाल युक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम्॥
देह प्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया।
स्त्रीभोगस्तेय हिंसाद्या तस्या वेगान्विधारयेत्॥
च० सू० ७/२६–२९

आचार्य ने उपर्युक्त मन, वाणी एवं देह के विधारणीय वेगों के रोकने से क्या लाभ होता है इसका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्मों के विधारण से व्यक्ति पाप से रहित होकर पुण्य का भागी होकर धर्म का पालन करता है तथा अर्थ एवं काम का उपभोग करते हुए सुखी रहता है। आचार्योक्त वचन निम्नोक्त है। यथा—

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनो वाक्काय कर्मणाम्।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च॥ च० सू० ७ २०

मल मूत्रादिक अधारणीय वेग, साहस लोभादिक धारणीय वेगों के प्रतिपादन के पश्चात् आचार्य ने समयानुसार धारणीय तथा अधारणीय उभय वृत्त्यात्मक व्यायाम

का विधान निर्देशित करते हुए कहते हैं कि—शरीर की स्थिरता एवं बलवर्धन के लिए अभीष्ट शारीरिक चेष्टाओं (प्रयत्न पूर्वक किये गए कर्म) को व्यायाम कहते हैं। व्यायाम को मात्रा के अनुसार (अहानिकर परिमाण में) करना चाहिए । आचार्योक्त वचन निम्नांकित है । यथा—

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी ।
देह व्यायाम संख्याता मात्रया तां समाचरेत् ।। च० सू० ७/३१

व्यायाम के गुण—यथोचित व्यायाम करने से शरीर में लघुता (हल्कापन), कर्म करने की सक्षमता, स्थिरता, दुःख सहने की क्षमता, दोषों का क्षय एवं अग्नि वृद्धि (जाठराग्नि की दीप्ति) उत्पन्न होती है । आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

लाघवं कर्म सामर्थ्यं स्थैर्यं दुःख सहिष्णुता ।
दोषक्षयोऽग्नि वृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ।। च० सू० ७/३२

अति व्यायाम के दोष—उचित परिमाण से अधिक व्यायाम करने पर शरीर में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । यथा—श्रम (शरीर में अत्यधिक थकावट), क्लम (अङ्गसाद के कारण ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के अपने कार्यों में अप्रवृत्ति), क्षय (शारीरिक धातुओं का नाश), तृष्णा (पिपासा), रक्तपित्त, प्रतामक (अंधकार प्रवेश की अनुभूति) ज्वर एवं छर्दि आदि अति व्यायाम से उत्पन्न हो जाते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य का वचन निम्नोक्त है । यथा—

श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः ।
अति व्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ।। च०सू० ७/३३

अति व्यायाम की तरह ही आचार्य ने अन्य भी कतिपय कार्यों का अधिकता से व्यवहार करने का निषेध किया है, जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है । यथा—

व्यायाम हास्यभाष्याध्व ग्राम्यधर्म प्रजागरान् ।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया ।। च० सू० ७/३४

व्यायाम, हास्य (हँसना), भाष्य (बोलना), अध्व (पैदल चलना), ग्राम्य धर्म (मैथुन) एवं प्रजागरण (जागना) आदि कर्म यद्यपि उचित हैं तथापि बुद्धिमान व्यक्ति को इन सभी कार्यों को अत्यधिक परिमाण में नहीं करना चाहिए ।

इसी प्रकार अन्य भी करणीय कार्यों को अत्यधिक परिमाण में नहीं करना चाहिए । यदि कोई व्यक्ति अत्यधिक परिमाण में विहित कार्यों को करता है तो वह

उसी प्रकार नाश को प्राप्त हो जाता है, जैसे कि हाथी की अपेक्षा अल्प परिमाण वाला सिंह अपने बल के उत्साह से हाथी को खींचते हुए अचानक ही नाश को प्राप्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य हैं। यथा—

एतानेवं विधांश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते।
गजं सिंह इवाकर्षन् सहसा स विनश्यति॥ च० सू० ७/३५

स्वस्थ वृत्तान्तर्गत उपयुक्त तथ्यों के विवरण के पश्चात् आचार्य ने अभ्यस्त अपथ्य के त्याग तथा अनभ्यस्त पथ्य के सेवन के निमित्त क्रमिक रूप में अपथ्य का त्याग व पथ्य का सेवन का निर्देश किया है। उपर्युक्त विषय को हम 'हिताहित संसर्जन क्रम' शीर्षक से विवेचित कर चुके हैं, अतः उसका पुनः विवरण अपेक्षित नहीं है। किन्तु **'स्वस्थवृत्तानुपालन'** के अन्तर्गत 'हिताहित संसर्जन क्रम' सिद्धान्त भी सम्मिलित है यह तथ्य पाठकों के लिए ध्यातव्य है।

स्वास्थ्य के लिए अपेक्षित तथ्यों का समुचित निर्देश के पश्चात् आचार्य ने स्वास्थ्य के बाधक दोष संचय के निर्हरण के निमित्त नौ मलायनों (गुदा, लिंग, आँख, नाक, कान एवं मुख) व लोम कूपों से दोषों को निष्कासित करने का विधान उपदिष्ट किया है, जिससे कि व्यक्ति सदा ही स्वस्थ बना रहे। शरीर के मलायनों में गुरुता (भारीपन) व मलावरोध होने से मलवृद्धि तथा शरीर के मलायनों में अधिक हल्कापन से मल का क्षय जानना चाहिए। इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य हैं। यथा :—

द्वे अधः सप्त शिरसि खानि स्वेद मुखानि च।
मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः॥
मल वृद्धिं गुरुतया लाघवान्मल संक्षयम्।
मलायनानां बुध्येत संगोत्सर्गादतीव च॥
च० सू० ७/४२–४३

आचार्य ने व्यक्ति को अस्वस्थावस्था व रोगाक्रान्त होने से बचने के लिए पहले से ही स्वस्थ वृत्त का पालन करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया है। तदनुसार स्वस्थवृत्त विहित कर्मों का पालन व संचित दोषों का निर्हरण ऋतु के अनुसार करना चाहिए। चैत्र मास, श्रावण मास व मार्गशीर्ष मास में क्रमशः संचित कफ, वात एवं पित्त का निर्हरण करना चाहिए। स्नेह स्वेदोपपादित व्यक्ति को वमन तथा विरेचन कर्म दोष निर्हरण के निमित्त कराना चाहिए। वात दोष के निर्हरण एवं अनुलोमन के लिए बस्ति कर्म का विधान करना चाहिए। शिरोगत दोष के निर्हरणार्थ नस्य कर्म करना चाहिए।

दोष निर्हरण के पश्चात् शरीर के शुद्ध हो जाने पर रसायन व वृष्य योगों का यथा योग्य यथोचित क्रम में सेवन करना चाहिए। उपर्युक्त प्रकार के विधियों के पालन से धातुओं के प्रकृतिस्थ रहने से रोग नहीं उत्पन्न होते, धातुओं की पुष्टि होती है तथा वृद्धावस्था अत्यन्त मन्दगति से आती है अर्थात् व्यक्ति अधिक वय का होने पर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। रोगों की अनुत्पत्ति में इस प्रकार की विधि निर्देशित की गई है। इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

विषम स्वस्थ वृत्तानामेते रोगास्तथापरे।
जायन्तेऽनातुरस्तस्मात् स्वस्थवृत्तपरोभवेत ।।
माधव प्रथमेमासि नभस्य प्रथमे पुनः।
सहस्य प्रथमे चैव हारयेद्दोष संचयम् ।।
स्निग्ध स्विन्न शरीराणामूर्ध्वं चाधश्च नित्यशः।
वस्ति कर्म ततः कुर्यान्नस्य कर्म च बुद्धिमान् ।।
यथा क्रमं यथायोग्यमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्।
रसायनानि सिद्धानि वृष्य योगांश्च कालवित् ।।
रोगास्तथा न जायन्ते प्रकृतिस्थेषु धातुषु।
धातवश्चाभिवर्धन्ते जरामान्द्यमुपैति च ।।
विधिरेष विकाराणामनुत्पत्तौ निर्दशितः।

च० सू० ७/४५-५०

आगन्तुक व्याधियों को अनुत्पत्ति के निमित्त भी आचार्य ने प्रज्ञापराध के त्याग, इन्द्रिय निग्रह, स्मृति, देश, काल और स्वयं का समुचित ज्ञान एवं सद्वृत्त के पालन का निर्देश किया है। साथ ही मानसिक रोगों की उत्पत्ति में प्रज्ञापराध को कारण मानते हुए इसके पूर्णतः परित्याग करने का निर्देश किया है। उपर्युक्त विषयों की अवतारणा आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है। यथा—

ये भूतविषवाय्वग्नि संप्रहारादि संभवाः।
नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञातेष्वपराध्यति ।।
ईर्ष्या शोकभयक्रोध मानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ।।
त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्म विज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ।।
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गोनिर्दशितः।
प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः ।।

च० सू० ७/५१-५४.

आगन्तुज रोग के कारण व निरोध के उपाय—भूत, पिशाच विष, वायु, अग्नि व प्रहार आदि से मनुष्यों में आगन्तुज रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों की उत्पत्ति में प्रज्ञापराध ही कारण होता है। ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान तथा द्वेष आदि मानसिक विकार भी प्रज्ञापराध से ही उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त आगन्तुज व मानसिक विकारों से बचने के लिए प्रज्ञापराध का परित्याग करना चाहिए। इन्द्रियों के अनुचित प्रवृत्ति को शांत रखना चाहिए। स्मृति (अपनी स्थिति और मर्यादा का स्मरण), देश, काल व स्वयं का समुचित ज्ञान रखना चाहिए तथा सद्वृत्त का पालन करना चाहिए। आगन्तुज व्याधि की अनुत्पत्ति के निमित्त यही विधि निर्दिष्ट है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति अपने हित को पहले से ही जानकर तदःनुसार आचरण करे।

विकारानुत्पत्ति एवं उत्पन्न व्याधि प्रशमनार्थ करणीय कर्म—स्वस्थ जीवन का अनुबन्ध (सातत्य) बनाए रखने के लिए आचार्य ने कतिपय पालनीय तथ्यों का निर्देश करते हुए बतलाया है कि—आप्तजनों के उपदेश का सम्यक् ज्ञान तथा उपदिष्ट ज्ञान के अनुसार उसका सम्यक् अनुपालन ये दो तथ्य विकारानुत्पत्ति (विकारों को उत्पन्न न होने देना) तथा उत्पन्न व्याधि प्रशमन में मुख्य कारण हैं। अर्थात् यदि आप्तजनों द्वारा निर्दिष्ट स्वस्थवृत्त का सम्यक् ज्ञान रखते हुए विहित कर्मों का पालन एवं निषिद्ध कर्मों के त्याग का सम्यक् ज्ञान रखे तथा तदनुसार उसका पालन करें तो रोग उत्पन्न नहीं होंगे तथा उत्पन्न रोगों की निवृत्ति (उपशमन) भी हो जाती है। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

आप्तोपदेश प्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्च कारणम्।
विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानां च शान्तये॥ च० सू० ७/५५.

उपर्युक्त प्रसंग में आप्तोपदेश का सम्यक् ग्रहण तथा तदनुसार आचरण का निर्देश किया गया है। वे आप्त कौन हैं? तथा कौन अनाप्त है, जिनका परित्याग करना चाहिए, इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि—पाप का आचरण करने वाले, पाप वाणी बोलने वाले, पाप मन वाले, पैशून्यवृत्ति वाले (दूसरों की निन्दा करने वाले), कलह में रुचि रखने वाले, दूसरों के मर्म (गुप्त भेद) पर हँसने वाले, लोभी, दूसरे की उन्नति से द्वेष रखने वाले, दुष्ट स्वभाव वाले, चंचल मन वाले, समाज विरोधी लोगों के साथ रहने वाले, निर्दयी एवं धर्म को त्याग देने वाले अधम मनुष्यों का परित्याग कर देना चाहिए। ऐसे लोगों से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। इसके विपरीत जो बुद्धि, विद्या, वय शील, धैर्य, स्मृति एवं समाधि (सदुद्देश्य में स्थिर चित्त) से श्रेष्ठ हों, वृद्ध गुरुजनों की सेवा करने वाले हों, वृद्ध अर्थात् ज्ञान व बुद्धि में श्रेष्ठ हों, दुःख से मुक्त हों, सभी लोगों के प्रति प्रिय वाणी

वाले, शांत, व्रतपालन में तत्पर एवं सन्मार्ग का उपदेश करने वाले हों तथा जिनका दर्शन व उपदेश पुण्यप्रद हो ऐसे पुण्यात्मा व्यक्ति आप्त के सदृश सेवनीय हैं। अर्थात् ऐसे व्यक्तियों से सदा सम्पर्क रखना चाहिए। इस सन्दर्भ में आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा—

पापवृत्तवचः सत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठः ॥
परापवादरतयश्चपला रिपुसेविनः।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः ॥
बुद्धिविद्यावयः शील धैर्यस्मृतिसमाधिभिः।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञ गतव्यथाः ॥
सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसितव्रताः।
सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः ॥

च० सू० ७/५६-५९.

इस प्रकार स्वस्थ-चतुष्कान्तर्गत सप्तम अध्याय में आचार्य चरक ने स्वस्थवृत्त परक विधि निषेध विवरणों का निर्देश किया हैं, जिससे कि व्यक्ति स्वस्थ एवं सुखी जीवन प्राप्त करता है।

स्वस्थ-चतुष्क के अन्तर्गत अष्टम अध्याय में आचार्य चरक ने स्वस्थवृत्त परक सद्वृत्तानुष्टान का विशद विवरण प्रस्तुत किया है। हम इस विषय का स्वतन्त्र शीर्षक के रूप में आगे विवेचन करेंगे। अतः इस प्रकरण में अब हम स्वस्थवृत्तानुपालन सिद्धांत की उपादेयताओं पर विचार करेंगे।

स्वस्थवृत्तानुपालम सिद्धान्त की उपादेयता— मानव मात्र स्वस्थ व सुखी जीवन की कामना करता है क्योंकि सभी प्राणियों में स्थित अन्तरात्मा का नैसर्गिक स्वरूप ही आनन्दमूलक है। आयुर्वेद भी इसी मूलतत्त्व को लक्ष्य कर अपने द्विविध प्रयोजन में स्वास्थ्य रक्षण का विधान करता है। किन्तु स्वास्थ्य रक्षण विधि निषेध युक्त उपदेशों के पालन की अपेक्षा रखता है। यदि मनुष्य स्वास्थ्य के लिए हितकर विधिवाक्यों का पालन एवं अहितकर निषेध वाक्यों का परिवर्जन नहीं करता तो स्वास्थ्य की रक्षा कथमपि संभव नहो है। शरोर तो स्वभावतः ही निरन्तर शीर्यमाण स्थिति से गुजर रहा है जो कि शरीर शब्द की सार्थकता को सूचित करता है। इस निरन्तर शीर्यमाण स्थिति से बचने के लिए आयुर्वेद स्वस्थवृत्तानुपालन का उपदेश करता है। जैसा कि हम उपर्युक्त विवरणों में देख चुके हैं कि किस प्रकार ऋतु के अनुसार हितकर आहार-विहार का सेवन एवं अहितकर आहार-विहार का निषेध आयुर्वेद में निर्दिष्ट किया

गया है जिससे कि व्यक्ति का स्वास्थ्य बना रहे। इसके साथ कतिपय स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होने वाले शरीर के मल पदार्थों के वेग का उचित मोक्षण तथा कतिपय मानसिक भावों के वेग को धारण करने का विधान भी बतलाया गया है, जो कि प्रत्यक्षत: मनुष्य के स्वास्थ्य पर शीघ्र ही प्रभाव डालने वाले होते हैं।

आदान विसर्ग काल वाद के अन्तर्गत आए हुए तथ्यों के आधार पर लोकगत सूर्य, वायु व चंद्रमा का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा तदनुसार मनुष्य के लिए कैसा आहार-विहार हितकर हो सकता है, इसका विचार भी स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्भ है तथा इसकी उपयोगिता जन साधारण उठा भी रहे हैं; भले ही इन तथ्यों की उन्हें शास्त्रमूलक जानकारी न हो।

शरीर में काल, आहार, विहार तथा विभिन्न परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक विकारों से नित्य ही दोषों का संचय होता रहता है। एतदर्थ स्वस्थवृत्तानुपालन सिद्धान्त के अन्तर्गत आए हुये दोष संशोधन विधि से दोषों का निर्हरण स्वास्थ्य रक्षा के लिए कितना आवश्यक एवं उपादेय है यह विज्ञजनों से छिपा नहीं है।

मात्रा के अनुसार आहार तथा अग्निबल की अपेक्षा से आहार मात्रा का निर्धारण भी स्वास्थ्य रक्षा का दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय तथ्य है, जिसकी उपेक्षा करके कोई भी स्वास्थ्य की कल्पना नहीं कर सकता।

मनुष्य के स्वस्थ एवं सुखी जीवन के लिए उचित दिनचर्या जैसा कि शास्त्र में निर्दिष्ट है उसका पालन करना महती अपेक्षा का विषय है। इसके उचित पालन के बिना तो स्वस्थ जीवन की आशा करना ही व्यर्थ है। अत: शास्त्रोक्त दिनचर्या व विधि का देश, काल एवं व्यक्ति के अनुसार पालन अत्यन्त उपादेय है; इस तथ्य से कोई भी असहमत नहीं हो सकता।

हिताहित संसर्जन क्रम सिद्धांत के अन्तर्गत विवेचित तथ्यों का विवरण भी स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उपर्युक्त क्रम के पालन से अभ्यस्त अपथ्य का त्याग व अनभ्यस्त पथ्य का सेवन सहज रूप से शरीर के स्वास्थ्य में व्यतिक्रम उत्पन्न न करते हुए स्वास्थ्य रक्षा में सहायक होता है। अत: विचार करने से इस सिद्धान्त की उपादेयता स्वास्थ्य रक्षा में स्वयंसिद्ध ज्ञात होती है।

इसी प्रकार स्वस्थवृत्तानुपालन के अन्तर्गत अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण यथा—सद्-वृत्तानुष्ठान, आहार विधि विशेषायतन, अन्न पान विधि एवं त्रिविध कुक्षीयवाद आदि

सिद्धान्त भी उपादेयता की दृष्टि से स्वास्थ्य-रक्षण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त सिद्धान्तों का हम प्रकरणानुसार विवेचन करेंगे।

स्वस्थवृत्तानुपालन की उपादेयता तद्गत विवेचित तथ्यों से भलीभाँति जानी जा सकती है। अतः विस्तार भय से इनका विशेष विवरण इस प्रसंग में नहीं दिया गया है। प्रस्तुत विषय के अन्तर्गत आने वाले अन्य शीर्षकों से हम आगे भी इस पर विचार करेंगे। पाठकों के निदर्शनार्थ कतिपय उपादेयता मूलक तथ्यों का प्रस्तुत प्रसंग में निर्देश किया गया है।

धारणीयाधारणीय वेगवाद सिद्धांत

पिछले प्रकरण में हम 'स्वस्थवृत्तानुपालन सिद्धांत' शीर्षक के अन्तर्गत धारणीय व अधारणीय वेगों का विवेचन कर चुके हैं। अतः स्वतन्त्र रूप से इस शीर्षक पर विवेचन अपेक्षित नहीं है। तथापि इस शीर्षक सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य जो कि पिछले प्रकरण में समाविष्ट नहीं किए जा सके हैं, उनका हम संक्षेप में विचार करना अपेक्षित समझते हैं।

अधारणीय वेगों के धारण से उत्पन्न होने वाले विकार—विविध अधारणीय वेगों के धारण से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। विभिन्न अधारणीय वेगों के धारण से कौन-कौन व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं इसका उल्लेख करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—मूत्र निग्रह से बस्ति और मूत्रमार्ग में शूल, मूत्र कृच्छ्र, शिरोवेदना, शरीर की वक्रता एवं वंक्षण प्रदेश में पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है। पुरीष निग्रह से पक्वाशय व शिरो प्रदेश में शूल, वायु (अपान वायु) व पुरीष की अप्रवृत्ति, शरीर में पिण्डिका उत्पन्न होकर ऐंठन होना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। शुक्र निग्रह से मूत्रमार्ग व वृषण में शूल, अंगमर्द (शरीर में मरोड़), हृदय में वेदना तथा मूत्रावरोध आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। वात निग्रह से पुरीष, मूत्र एवं अपान वायु का अवरोध, आध्मान (पेट का फूलना), वेदना, क्लम (कार्यों के प्रति अनुत्साह) तथा वातजन्य अन्य उदर रोग उत्पन्न हो जाते है। छर्दि निग्रह से कण्डू, कोठ (शरीर में चकत्तों का उभरना), अरुचि; शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, हृल्लास (मिचली आना), वीसर्प आदि रोग उत्पन्न हो जाते है। क्षवथु (छींक) निग्रह से मन्यास्तम्भ (गले की जकड़ाहट), शिरःशूल, अर्दित (मुखगत लकवा), अर्धावभेदक (शिरोर्ध शूल) तथा इन्द्रियों का दौर्बल्य आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

उद्गार निग्रह से हिक्का, श्वास, अरुचि, कम्प (शरीर का काँपना), हृदय तथा उरस् (पार्श्व) के कर्मों में अवरोध आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जृम्भा

निग्रह से शरीर में वक्रता, आक्षेप (अंगों में बार-बार मरोड़ होना), संकोच (संधियों का मुड़ना), सुप्ति (अंग शून्यता), कम्प तथा प्रवेपन (अंगों का हिलना) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। क्षुद्वेग निग्रह (भूख के वेग को रोकना) से कार्श्य (शरीर की कृशता), दौर्बल्य, वैवर्ण्य (शरीर की वर्ण विकृति), अंगमर्द, अरुचि तथा भ्रम (चक्कर आना) आदि लक्षण होते हैं। पिपासा निग्रह से कण्ठ और मुख का सूख जाना, बाधिर्य, श्रम (अनायास थकावट होना) साद (शरीर में भारीपन) तथा हृदय में वेदना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। वाष्प निग्रह (अश्रु रोकना) से प्रतिश्याय, अक्षिरोग, हृद्रोग, अरुचि एवं भ्रम आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। निद्रा निग्रह से जृम्भा, अंगमर्द (शरीर में पीड़ा), तन्द्रा, शिरोरोग तथा अक्षिगौरव (आखों में भारीपन) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। श्रम निःश्वास निग्रह (श्रमजन्य गहरी साँस को रोकना) से गुल्म, हृद्रोग, संमोह (मूर्च्छा) आदि लक्षण उपन्न हो जाते हैं।

उपर्युक्त १३ प्रकार के वेगों को धारण से उत्पन्न व्याधियों के उपचारार्थ आचार्य ने भिन्न-भिन्न उपक्रमों का उल्लेख किया है। विस्तार भय से हम उसका विचार करना अपेक्षित नहीं समझते।

अधारणीय वेगों के निग्रह से उत्पन्न होने वाले व्याधियों को उत्पन्न न होने देने की इच्छा वाले व्यक्तियों को इन वेगों का धारण नहीं करना चाहिए, जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होना है। यथा—

वेग निग्रहजा रोगा य एते परिकीर्तिताः।
इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं वेगान्नेतान्न धारयेत्॥ च० सू० ७/२५.

उपर्युक्त अधारणीय वेगों के धारण से जो अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनका निर्देश आचार्य ने स्वाभाविक रूप से स्वतः प्रवृत्त वेगों को न रोकने के महत्त्व को समझते हुए किया है। इसी लक्ष्य को दृष्टिगत कर हमने भी इस प्रकरण में इनका उल्लेख किया हैं। यद्यपि स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होने वाले शारीरिक मलों के निष्कासनार्थ जन साधारण की सहज ही प्रवृत्ति होती है। अतः सामान्य रूप से विचार करने पर इसकी उतनी महत्ता नहीं परिलक्षित होती, क्योंकि यह विषय जन-साधारण के लिए अनिवार्य होने से इस पर सहज ही ध्यान नहीं जाता। तथापि स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि ने इन स्वाभाविक वेगों का नियमतः विसर्जन (त्याग) अत्यन्त आवश्यक होता है। आजकल के भौतिकता वादी परिप्रेक्ष्य में इन सामान्य विषयों पर

लोगों का ध्यान नहीं जाता। परिणामस्वरूप इनकी उपेक्षा से लोग धीरे-धीरे अनेक व्याधियों से ग्रस्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें इन स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होने वाले प्रवृत्तियों को नियमपूर्वक समयानुसार विसर्जन के महत्त्व की जानकारी नहीं होती। अतः वे जब इन प्रवृत्तियों का प्रबल वेग होता है उसी समय उसका विसर्जन अनिवार्यता के कारण करते हैं, अन्यथा इन पर विशेष ध्यान नहीं देते। फलस्वरूप वृत्तिगत (पेशे के अनुसार) कार्यों में व्यस्तता के कारण तथा उचित स्थान व उचित अवसर के अभाव में स्वाभाविक प्रवृत्ति के वेग प्रवर्त्तन को हठात् रोकने का प्रयास करते हैं। यही स्थिति जब पुनः पुनः दोहराई जाती है तो वे वेगनिग्रह जन्य व्याधियों से ग्रस्त हो जाते हैं। इसी प्रकार की प्रवृत्ति को परित्याग करने के निमित्त तथा समयानुसार स्वाभाविक मल प्रवृत्ति के वेग को विसर्जित करने की दृष्टि से आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने अधारणीय वेगों के रोकने या धारण न करने का उपदेश किया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से अधारणीय वेगों की प्रवृत्ति को यथाकाल विसर्जित करने का महत्त्व प्रतिपादित होता है। दूसरी ओर धारणीय विकारकारी मानसिक भावों के वेगों को रोकने का निर्देश भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। सामान्यजन विकारकारी मानसिक भावों की उपस्थिति होने पर उनकी प्रवृत्ति को रोकने का महत्त्व नहीं समझते। परिणामस्वरूप वे नानाविध आपत्तियों से घिर जाते हैं और उसका परिणाम उन्हें चिरकाल तक भोगना पड़ता है। ईर्ष्या, भय, क्रोध, शोक, परद्रोह चिन्तन, लोभ आदि मानव समाज को कितने निम्न स्तर तक गिरा सकते हैं व समाज में इनसे कितनी अशांति व दुःख का प्रादुर्भाव हो सकता है यह कल्पनातीत है। समग्र विश्व में जो आज इतनी आपाधापी, अत्याचार, शोषण, हिंसा तथा अशांति बनी हुई हैं, उसके मूल में विकारकारी मानसिक भावों की प्रवृत्ति को न रोकना ही है। अतः यदि हम समाज में, विश्व में शांति, सुख, सौहार्द और सर्वजन सुलभ सहृदयता का प्रसार चाहते हैं तो विकारकारी मानसिक भावों की सहज प्रवृत्ति को प्रयास पूर्वक रोकना पड़ेगा। उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में धारणीय वेगों के निरोध की महती उपादेयता सहज ही प्रकट होती है।

पंच पंचक सिद्धान्त

पिछले प्रकरण में हम स्वस्थ चतुष्क के सम्बन्ध में विवरण दे चुके हैं। उसी स्वस्थ चतुष्क के अन्तर्गत 'इन्द्रियोपक्रमणीय' अध्याय का आचार्य ने सद्वृत्तानुष्ठान में मन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होने के कारण मन के निरूपण प्रसंग में इसके साधनभूत पंचेन्द्रियों पर विचार करते हुए इनका सम्बन्ध पञ्चभूतों से स्थापित किया है। और

साथ ही तदनुसार इनके विषयों, अधिष्ठानों तथा विभिन्न ज्ञान स्वरूप बुद्धियों का उल्लेख पञ्च पञ्चक प्रकरण का सूत्रपात करते हुए प्रतिपादित किया है। पञ्च पञ्चक पाँच पाँच वस्तुओं के पाँच वर्ग हैं। इसी कारण इस विचार सरणि को पञ्चपञ्चक सिद्धान्त के रूप में उपस्थापित किया गया है।

पञ्चपञ्चक के विषय को विवेचित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—इस प्रकरण में पाँच इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ), पाँच इन्द्रियों के द्रव्य (आश्रय), इन्द्रियों के पाँच अधिष्ठान (आश्रय स्थल), इन्द्रियों के पाँच विषय (ग्रहणीय संवेदनाएँ), तथा पाँच इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों के पाँच ज्ञान रूप बुद्धियाँ हैं। आचार्योक्त उद्धरण निम्नांकित है। यथा—

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रिय द्रव्याणि, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, पञ्चेन्द्रियार्थाः, पञ्चेन्द्रिय बुद्धयो भवन्ति। च० सू० ८/३.

आगे आचार्य ने उपर्युक्त पञ्चपञ्चक को नामतः निर्देशित करते हुए विषय को निम्नांकित प्रकार से प्रस्तुत किया है। यथा—

पञ्चेन्द्रिय—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण (नासिका) रसना (जिह्वा) एवं स्पर्शनेन्द्रिय ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

पञ्चेन्द्रिय द्रव्य—आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी ये पाँच इन्द्रियों के आश्रय हैं।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान—आँख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा ये पाँच इन्द्रियों के आश्रय स्थल हैं।

पञ्चेन्द्रियार्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच इन्द्रियों के विषय (गृहीत संवेदनाएँ) हैं।

पञ्चेन्द्रिय बुद्धि—चक्षु बुद्धि (देखने का ज्ञान), स्पार्शन बुद्धि (स्पर्श ज्ञान), श्रोत्र बुद्धि (श्रवण ज्ञान), रस बुद्धि (रस ज्ञान) एवं गन्ध बुद्धि (गन्ध ज्ञान) ये पाँच इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों के ज्ञान हैं।

ये विभिन्न बुद्धियाँ (ज्ञान) इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, सत्त्व (मन) और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होती हैं। ये बुद्धियाँ क्षणिक एवं निश्चयात्मिका होती हैं। अर्थात् विभिन्न बुद्धियों के द्वारा ही निश्चयात्मक ज्ञान होता है तथा ये ज्ञान भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः ये क्षणिक भी हैं।

उपर्युक्त सभी इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) मन के सहयोग से ही अपने अपने विषयों

को ग्रहण करने में सक्षम होती हैं। इसी तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

मनः पुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहण समर्थानि भवन्ति। च० सू० ८/७

इस सन्दर्भ में एक जिज्ञासा होती है कि आयुर्वेद में सभी इन्द्रियों को पांचभौतिक माना जाता है, तो पञ्च पञ्चक प्रसंग में आचार्य ने विभिन्न इन्द्रियों के आश्रय रूप ५ द्रव्यों–आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी का ही क्यों निर्देश किया है। अर्थात् एक एक इन्द्रियों का आश्रय एक एक ही द्रव्य का उल्लेख किया गया है। इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य के निम्नोक्त वचन से होता है। यथा—

तत्रानुमान गम्यानां पञ्चमहाभूत विकार समुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपद्यते। तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं बिशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृहजाति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च।
च० सू० ८/१४.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने इन्द्रियों के पाञ्चभौतिक होने पर भी जिन भूतों की जिन इन्द्रियों में अधिकता होती है उसी विशेष भूताधिक्य के कारण ही उस विशेष इन्द्रिय का आश्रय उस विशेष भूत को माना जाता है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य कर आचार्य कहते है कि—अनुमान से जानने योग्य इन्द्रियों के पाञ्चभौतिक होने पर भी चक्षु में तेज, श्रोत्र में आकाश, घ्राण में पृथ्वी, रसना में जल एवं स्पर्शनेन्द्रिय में वायु भूत विशेष रूप से (अधिकता से) होने के कारण उन विशेष इन्द्रियों को उन उन विशेष भूतों सें आरब्ध माना जाता है। तदनुसार इन्द्रियों को तैजस, आकाशीय पार्थिव आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

आचार्य सुश्रुत ने भी धमनी विवरण प्रसंग में पञ्चपञ्चक सिद्धान्त का संकेत किया है, जैसाकि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः,
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा,
पञ्चत्वमायान्ति विनाश काले॥ सु० शा० ९/११

पाँच महाभूतों से उत्पन्न हुई धमनियाँ पाँच इन्द्रिय वाले कर्म पुरुष को कर्ण, नेत्र, जिह्वा, नासिका एवं त्वचा इन पाँच अधिष्ठानों में बारी-बारी पाँचों को नियोजित करती रहती हैं। पञ्चेन्द्रियों (सूक्ष्म रूप इन्द्रिय पञ्चक को पाञ्चभौतिक धमनियाँ आकाशादि पञ्चमहाभूतों में आयु पर्यन्त नियोजित करते हुए नाश (मृत्यु

काल) के समय नष्ट हो जाती हैं अर्थात् उनका पांचभौतिक कार्यरूप वियोजित (विखंडित) हो जाता है।

उपर्युक्त आचार्य सुश्रुतोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आचार्य ने प्रकारान्तर से पंचपञ्चक सिद्धांतगत तथ्यों की ओर ही संकेत किया है। उपर्युक्त उद्धरण में पञ्च-पञ्चक के तीन समुदाय यथा—पञ्चेन्द्रिय द्रव्य का 'पञ्चाभिभूताः' से पञ्चेन्द्रियों का 'पञ्चेन्द्रियम्' तथा पञ्चेन्द्रियार्थो का 'पञ्चसु' से आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है। यद्यपि शेष दो समुदाय पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान तथा पञ्चेन्द्रिय बुद्धियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। तथापि आचार्य के विचार सरणि से यह अभिप्राय ज्ञात होता है कि पंचेन्द्रिय से पंचेन्द्रियाधिष्ठान का भी ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियों के कार्यों का उल्लेख होने पर इन्द्रियों से सम्बन्धित अवयव विशेषों का भी निहितार्थ अपेक्षित होता है। पंचेन्द्रिय बुद्धि समुदाय का ग्रहण आचार्य के 'भावयित्वा' शब्द से फलितार्थ रूप में प्राप्त होता है। पंचेन्द्रिय बुद्धियों से इन्द्रिय विशेष द्वारा गृहीत विषयों का ज्ञान अभिप्रेत होता है। आचार्य ने 'पंचेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा' इस वाक्यांश से इन्द्रिय विशेष के विषय ज्ञान की ही ओर संकेत किया है। इस प्रकार प्रकारान्तर से आचार्य सुश्रुत ने भी पञ्चपञ्चक सिद्धांत का विचार प्रस्तुत किया है।

पञ्चपञ्चक सिद्धान्त की उपादेयता—त्रिविध हेतुवाद प्रकरण में हम पहले विचार कर चुके हैं कि इन्द्रियों के अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग से मनुष्यों में नाना-विध रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। अतः रोगोत्पत्ति में इन्द्रियाँ जो कि ज्ञान में मन की साधनभूत होती हैं उनका महत्त्व कम नहीं होता। इन्द्रियाँ यों भी जीवन के लिए शरीर की अनिवार्य घटक हैं। इसीलिए आचार्य चरक ने आयु (जीवन) के अनिवार्य चार प्रधान घटकों में इन्द्रियों का भी उल्लेख किया है। जीवन के लिए इन्द्रियों की अनिवार्यता को लक्ष्य कर आचार्य ने इन्द्रियों से सम्बन्धित तथ्यों का पञ्चपचक प्रसंग में यथोचित विचार प्रस्तुत किया है। पञ्चपञ्चक सिद्धांतगत तथ्यों के आधार पर ही हमें स्वस्थ जीवन के लिए इन्द्रियों के स्वास्थ्य की भी महती अपेक्षा होती है। यदि इन्द्रियाँ स्वस्थ नहीं हों तो मनुष्य भी स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। स्वस्थ पुरुष के लक्षण का उल्लेख करते हुए आचार्य सुश्रुत ने इन्द्रियों की प्रसन्नता (इन्द्रियों का प्राकृतभाव एवं कार्यतत्परता) का भी ग्रहण स्वास्थ्य लक्षण के अन्तर्गत किया है, जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ सु० सू० १५/४१.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण प्रतिपादित करते हुए बत-

लाया है कि—जिसके दोष व अग्नि समान (साम्यावस्था) हों तथा धातु एवं मल की क्रियायें समान (उचित रूप में) हों और आत्मा, इन्द्रिय तथा मन प्रसन्न हों वह स्वस्थ कहा जाता है।

इन्द्रियाँ भौतिक अधिष्ठानों में स्थित शरीर की शक्ति स्वरूप होती हैं और मन इन्द्रियों के कार्यों में सहायक अन्तःकरण होता है। मन की सहायता से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के अतियोग, अयोग व मिथ्या योग से नानाविध व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे कि बुद्धि का नाश हो जाता है। इन्द्रियों का समयोग ही व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्राकृतभाव में रखता हुआ बुद्धि की वृद्धिकरता है। उपर्युक्त तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

तदर्थातियोगायोगमिथ्यायोगात् समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय संपद्यते, सामर्थ्ययोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति। च० सू० ८/१५,

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि स्वास्थ्य के लिए इन्द्रियों के समयोग की अत्यन्त अपेक्षा है। इन्द्रियों के समयोग से केवल स्वास्थ्य की ही उपलब्धि नहीं होती वरन् बुद्धि की वृद्धि भी होती है, जिससे कि व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक समृद्धि को प्राप्त करता है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि स्वस्थ जीवन के लिए इन्द्रियों का स्वास्थ्य भी उतना ही अपेक्षित है जितना कि शरीर का स्वास्थ्य। इन्द्रियों के स्वास्थ्य के लिए इन्द्रियों का समयोग होना आवश्यक है और इन्द्रियों के समयोग का ज्ञान इन्द्रिय पञ्चक के ज्ञान बिना सम्भव नहीं। यदि किसी विषय के बारे में परिचय ही नहीं होगा तो उसके उचित व अनुचित सम्पर्क का ज्ञान कैसे होगा ? संग्रह व त्याग की प्रवृत्ति तो वस्तुओं के परिचय से ही हो सकती है। एतदर्थ पञ्चपञ्चक प्रकरण के माध्यम से आचार्य ने मनुष्य के स्वास्थ्य में आवश्यक इन्द्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत किया है। स्वस्थ चतुष्क के अन्तर्गत इस विषय को प्रतिपादित करने का लक्ष्य भी आचार्य के स्वास्थ्य रक्षा के आशय से ही प्रतीत होता है। इन सभी तथ्यों से पञ्चपञ्चक सिद्धांत की उपादेयता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इन्द्रियों का समयोग स्वास्थ्य रक्षण की दृष्टि से अनिवार्य है, इस दृष्टि से तो पञ्च-पञ्चक सिद्धांत की उपादेयता है ही, इसके अतिरिक्त नैदानिक दृष्टिकोण से भी इस सिद्धांत की उपादेयता है। दोष, अग्नि, धातु एवं मल की असमानता का ज्ञान अनुमान से होता है और उस अनुमान का आधार इन्द्रियाँ ही होती हैं, जैसा कि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत् ।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक् ।। सु० सू० १५/४५.

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि—दोष, अग्नि, धातु, एवं मल की जो वैषम्यावस्था विविध कारणों से होती है, यथा—नित्यग व आवस्थिक काल से, आहार विहार आदि से होती रहती है, उसे केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है। और अनुमान का आधार इन्द्रियों की अप्रसन्नता है। अर्थात् यदि व्यक्ति के इन्द्रियों में अप्रसन्नता हो तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि शरीर में दोषादि की असमानता हैं। अतः निष्कर्ष निकलता है कि दोषादिकों के असाम्यावस्था के निदान के लिए पञ्चेन्द्रियों की प्रसन्नता मूलक कसौटी अत्यन्त उपादेय है। इस प्रकार नैदानिकीय दृष्टिकोण से भी पञ्चपञ्चक सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट ज्ञात होती है।

आयुर्वेद में इन्द्रियाँ पाँचभौतिक मानी जाती हैं। किन्हीं भूत विशेष के उत्कर्ष से इन्हें पार्थिव, तैजस, आप्य आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। पञ्चपञ्चक सिद्धांत से हमें ज्ञात होता है कि किस इन्द्रिय में किस भूत का उत्कर्ष होता है। तद-नुसार इन्द्रियों की पुष्टि के निमित्त पाँचभौतिक द्रव्यों का उपयोग अपेक्षित है। सामान्य सिद्धांत के अनुसार पाँचभौतिक आहार द्रव्यों से पाँचभौतिक शरीर के पाँचभौतिक अवयवों की पुष्टि होती रहती है। उक्त तथ्य की पुष्टि आचार्य सुश्रुत के निम्नोक्त वचन से होती है। यथा—

पंचभूतात्मके देहे ह्याहारः पाँचभौतिकः।
विपक्वः पंचधा सम्यक् गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ।।
सु० सू० ४६/५२४.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि पञ्चभूतात्मक शरीर में पाँचभौतिक आहार द्रव्य अपने-अपने अग्नियों द्वारा पाचित होकर अपने-अपने भूतविशेषों के गुणों को बढ़ाते हैं। उपर्युक्त आर्ष वाक्य के परिप्रेक्ष्य में भी पञ्चपञ्चक सिद्धांत की उपा-देयता स्पष्ट होती है।

——

अध्यात्म द्रव्य गुण संग्रह सिद्धान्त

आयुर्वेद के अनुसार जीवन के अनिवार्य घटकों में सत्त्व (मन) आत्मा तथा शरीर इन तीन का ग्रहण किया जाता है। जीवन के ये तीन घटक त्रिपाद की भाँति जीवन धारण में अनिवार्यतः अपेक्षित हैं। इसी कारण आचार्य चरक ने इन्हें त्रिदण्ड

कहा है, जिसका विवेचन हम पूर्व प्रकरण में कर चुके हैं। पंचेन्द्रियों के प्रसंग में विवेचित किया जा चुका है कि मन के सान्निध्य से ही इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। किन्तु केवल मन के सहयोग से ही इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के लिए तो चेतन रूप आत्मा की अपेक्षा होती है। आत्मा के सानिध्य से ही जड़ रूप मन, इन्द्रियाँ तथा शरीर ये सभी चेतनता प्राप्त करते हैं। चेतन तत्त्व तो केवल आत्मा ही होता है। आत्मा की चेतनता का प्रतिबिम्ब ही शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को चेतन सदृश कर देता है, जिससे सभी प्राणी चैतन्य रहते हुए आवश्यकतानुसार चेष्टावान होते हैं।

जीवन धारण में आत्म तत्त्व की अनिवार्य भूमिका होने के कारण स्वस्थवृत्त प्रसंग में आचार्य चरक ने इससे सम्बन्धित द्रव्य और गुणों का परिचय अध्यात्म द्रव्य गुण संग्रह सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है। अध्यात्म द्रव्य गुण संग्रह का विवेचन आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रतिपादित किया है। यथा—

मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्म द्रव्यगुण संग्रहः शुभाशुभ प्रवृत्ति निवृत्ति हेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति। च० सू० ८/१३.

मन, मन के विषय, बुद्धि तथा आत्मा ये सभी आत्मा से सम्बन्धित द्रव्य और गुण के समूह हैं, ये सभी ही शुभ कर्मों (हितकर कार्यों) में प्रवृत्ति (कार्योन्मुखता) तथा अशुभ कर्मों (अहितकर कार्यों) से निवृत्ति (कार्य विरति) में कारण हैं। अर्थात् इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति हितकर कार्यों को करता है तथा अहितकर कार्यों से दूर रहता है। कर्म जिसे क्रिया भी कहते हैं द्रव्य के आश्रित रहता है। अध्यात्म द्रव्य गुण संग्रह गत तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए द्रव्यों के सम्बन्ध में कुछ निर्देश करना प्रासंगिक होगा। जैसा कि हम नवद्रव्य वाद सिद्धान्त के प्रसंग ने विचार कर चुके हैं कि पञ्चभूत, आत्मा, मन, काल और दिशा ये सभी नौ कारण द्रव्व हैं। इन कारण द्रव्यों में आत्मा से सम्बन्धित द्रव्य मन ही होता है। अतः आचार्य ने इस प्रसंग में मन को अध्यात्मद्रव्य कहा है। आत्मा और मन का सम्बन्ध कार्य सम्पादन की दृष्टि से अन्योन्याश्रित है। अर्थात् ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित होकर ही कार्य में सक्षम होते हैं। यद्यपि आत्मा में चेतनता होती तथापि इसे ज्ञान करणों (इन्द्रियों) अंतकरण व बाह्य करणों के माध्यम से ही होता है, जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥ च० शा० १/५४.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि—आत्मा ज्ञानवान होते हुए भी

करणों के सहयोग से ही ज्ञानोपलब्धि में प्रवृत्त होता है। करणों की अस्पष्टता (मलिनता) अथवा इनके अयोग से ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार ज्ञान के लिए आत्मा को करणों के सहयोग की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार जड़ात्मक मन को भी चेतनता के लिए आत्मा के सहयोग की आवश्यकता है, जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते॥

च० शा० १/७५ ७६.

उपर्युक्त वचन से स्पष्ट है कि—क्रियावान होते हुए भी मन अचेतन होता है। यह आत्मा के सहयोग से ही जल की उष्णता के समान चेतनावान् होता है। जैसे—कि जल स्वभावतः शीत होता है, किन्तु ताप के संयोग से इसमें उष्णता आ जाती है; उसी प्रकार अचेतन मन भी आत्मा के सहयोग से चेतन हो जाता है। आत्मा चेतनावान् होने के कारण ही कर्ता कहा जाता है। अचेतन होने के कारण मन क्रियावान् होते हुए भी कर्ता नहीं कहा जाता।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि किसी भी कार्य सम्पादन में आत्मा और मन का सहयोग अनिवार्य होता है। इसी कारण आचार्य ने अध्यात्मद्रव्य गुण संग्रहगत तत्त्वों को शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों व निवृत्तियों का हेतु निर्दिष्ट किया है।

चूँकि कर्म और गुण द्रव्य के ही आश्रयभूत रहते हैं अतः अध्यात्मद्रव्य आत्मा और मन के कर्म व गुणों का भी अन्तर्भाव अध्यात्मद्रव्य गुण संग्रह में होता है। अध्यात्म द्रव्य गुण संग्रह में अन्तर्भूत सभी तत्त्वों का विवेचन तत्तद् विषयक शीर्षकों से पूर्व प्रकरणों में किया जा चुका है, अतः इस प्रसंग में उनका विचार अपेक्षित नहीं है किन्तु इस सन्दर्भ में यह तथ्य ध्यातव्य है कि आचार्य चरक ने इस प्रसंग का उल्लेख स्वस्थ चतुष्कान्तर्गत 'इन्द्रियोपक्रमणीय' अध्याय में किया है। इस विषय का उल्लेख आचार्य ने विशेष अभिप्राय से किया है। इस प्रसंग के आगे वक्ष्यमाण 'सद्वृत्तानुष्ठान' विवेचन के मूल में अध्यात्मद्रव्य गुण संग्रह गत तथ्य ही है। सद्वृत्त के पालन में मन एवं बुद्धि की मुख्य भूमिका होती है। यदि मन व बुद्धि शुद्ध होती है तो मनुष्य शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है और इसके विपरीत मन व बुद्धि में विकार होने से मनुष्य की अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति हो जाती है।

सद्वृत्तानुष्ठान स्वस्थ व सुखी जीवन के लिए अनिवार्य है और इसके परिपालन में मन और बुद्धि की अहम भूमिका होती है। इसी कारण आचार्य ने अध्यात्मद्रव्य गुण संग्रह प्रकरण की अवतारणा करके प्राणियों के स्वास्थ्य के लिए इसके ज्ञान व तदनुसार उचित आचरण करने का महत्त्वपूर्ण निर्देश किया है।

अध्यात्म द्रव्य गुण संग्रह सिद्धान्त की उपादेयता—जैसा कि कहा जा चुका है कि आत्माधिकृत मन और बुद्धि ही शुभ कर्मों में प्रवृत्ति तथा अशुभ कर्मों से निवृत्ति के हेतु हैं। अतः यदि मनुष्य स्वस्थ व सुखी जीवन की आकांक्षा करता है तो उसे अध्यात्मद्रव्यगुण गत तथ्यों की पूरी जानकारी अपेक्षित है जिससे कि वह तदनुसार विहित कर्मों का आचरण एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग करता हुआ अभीष्ट सिद्धि में सफल होता है।

रोगों की उत्पत्ति में कारणभूत असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराध व परिणाम (काल) हैं। इनके अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग से ही सभी व्याधियाँ उत्पन्न होती है। उपर्युक्त त्रिविध व्याधि कारणों में से दो असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग व प्रज्ञापराध के अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग से उत्पन्न होने वाले व्याधियों से व्यक्ति सहज रूप से बच सकता है यदि वह अध्यात्मद्रव्यगुण संग्रह सिद्धान्त के आलोक में स्वस्थवृत्त का पालन करें। असात्म्येन्द्रिणार्थ संयोग व प्रज्ञापराध का अध्यात्मद्रव्यगुण गत तथ्यों से सीधा सम्बन्ध है। इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त वचन से प्रतिपादित किया है। यथा—

मनसस्तु चिन्त्यमर्थः। तत्र मनसो मनोबुद्धेश्च त एव समानातिहीनमिथ्यायोगाः प्रकृति विकृति हेतवो भवन्ति। च० सू० ८/१६

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि—मन जिस किसी विषय को इन्द्रियनिरपेक्ष (इन्द्रियों के बिना) होकर गहण करता है अथवा इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का ही इन्द्रियों की सहायता के बिना ही चिन्तन, मनन करता है यही मन का विषय है। उसी मन तथा मन की बुद्धि का समयोग प्रकृत भाव (स्वास्थ्य) का हेतु है। और यदि उसी मन एवं बुद्धि का अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग होता है तो वह विकृति (अस्वास्थ्य) का कारण होता है। उपर्युक्त विवरण में आचार्य ने प्रज्ञापराध का ही निर्देश किया है। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग (इन्द्रियों का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग) में भी मन की ही प्रमुख भूमिका होती है, क्योंकि मन के सहयोग से ही इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं; जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

मनः पुरः सराणीन्द्रियाण्यर्थ ग्रहण समर्थानि भवन्ति। च० सू० ८/७

समनस्क इन्द्रियों के ही अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग से विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं परिणामतः जिससे कि बुद्धि की विकृति हो जाती है। परिणामस्वरूप पुनः प्रज्ञापराध होता है जिससे कि और भी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके विपरीत इन्द्रियों के समयोग से शरीर प्राकृतभाव (स्वस्थ) में रहता है, जिससे कि बुद्धि की वृद्धि (पुष्टि) होती हैं जो कि मनुष्य को सुखी व समृद्धिपूर्ण जीवन प्राप्त करने में सहायक होती है। उपर्युक्त तथ्यों को ही लक्ष्य कर आचार्य चरक ने इन्द्रियों के सम व विषमयोग में मन की ही प्रमुख भूमिका को निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा —

तदर्थातियोगायोगमिथ्यायोगात् समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय संपद्यते, सामर्थ्ययोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति। च० सू० ८ १५.

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इन्द्रियों के विषम व समयोग में मन की प्रमुख भूमिका होती है तथा तदनुसार बुद्धि का भी नाश एवं पुष्टि होती है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से अध्यात्म द्रव्य गुण संग्रह सिद्धांत की स्वास्थ्य रक्षा में महती उपादेयता का सम्यक् ज्ञान होता है।

सद्वृत्तानुष्ठान सिद्धान्त

जैसा कि पूर्व विवेचित प्रकरणों में कहा जा चुका है कि व्यक्ति को स्वस्थ रहने के लिए सद्वृत्त का पालन करना आवश्यक है। सद्वृत्तानुष्ठान शब्द से यह तात्पर्य ज्ञात होता है कि—सद्वृत्त का अनुष्ठान अर्थात् सद्वृत्त का पालन करना। सद्वृत्त से अभिप्राय है—,'सतां वृत्तं आचरणं कर्तव्यं वा'' अर्थात् सज्जनों का कर्तव्य। इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि सज्जनों का आचरित कर्तव्य ही सद्वृत्त है।

सद्वृत्त का पालन मानव मात्र के लिए क्यों आवश्यक है ? इसकी क्या उपयोगिता है ? इसका पालन कैसे करना चाहिए ? और आत्महित की आकांक्षा वाले व्यक्ति को सर्वदा ही इसका पालन करना चाहिए आदि विषयों को लक्ष्य कर आचार्य चरक निम्नोक्त वचन में कहते है कि— यथा—

तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यमेभिर्हेतुभिः, तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थ संयोगेन बुद्ध्या सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक् परिपालनेन, देशकालात्मगुणविपरीतोपासनेन चेति। तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। च० सू० ८/१७.

अर्थात् व्यक्ति को अविकृत (स्वस्थ) मन सहित सभी इन्द्रियों के उपघातक (विकार कारक) कारणों से बचाने के लिए निम्नोक्त निर्विकारी उपायों से प्रयत्न करना चाहिए। यथा—इन्द्रियों का हितकर विषयों के संयोग से अर्थात् समयोग से बुद्धि से भलीभाँति यह समझकर कि यह हमारे लिए हितकर है और यह अहितकर हैं, ऐसा विचार करके सभी हितकर कार्यों का सम्पादन करें तथा अहितकर कार्यों का परित्याग कर दे।

उपर्युक्त तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि - असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग एवं प्रज्ञापराध के परित्याग से अनागत व्याधियों से प्रतिषेध (रुकावट) रूप चेष्टाओं का पालन करें। इसके अतिरिक्त उत्पन्न हुए व्याधियों के शांति के उपाय हैं - देश, काल, प्रकृति व विकार के गुणों से विपरीत गुणों का सेवन। अर्थात् जिस देश, जिस काल, जित प्रकृति वाले व्यक्ति में, जिस प्रकार की व्याधि उत्पन्न हुई हैं; इन सभी के गुणों के विपरीत गुणों का शास्त्रविहित उपक्रमों के सेवन से आरोग्य की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों की दैनन्दिन जीवन में उपयोगिता होने से आत्महित की आकांक्षा करने वाले सभी व्यक्तियों को उक्त तथ्यों का स्मरण करते हुए सदैव ही सभी प्रकार के सद्वृत्त का पालन करना चाहिए।

पालनीय सद्वृत्तों की विस्तृत सूची आचार्य चरक ने निर्देशित किया है। आचार्य द्वारा प्रस्तुत सद्वृत्तों की सूचीगत सम्पूर्ण तथ्यों का उल्लेख ग्रन्थ विस्तार भय से नहीं किया गया है, किन्तु जिज्ञासुओं के निदर्शनार्थ कतिपय सद्वृत्त का उल्लेख प्रासंगिक होगा। यथा—देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, सिद्ध आचार्यों की पूजा (श्रद्धा व आदर) करें। औषधियों को कल्याण कारक रूप में धारण करें, (रखे), शरीर के शुद्धचर्य प्रातः सायं स्नान करें, शरीरगत मल द्वारों को पुनः पुनः अच्छी तरह से साफ करें, नित्य ही स्वच्छ वस्त्र पहिने, कर्तव्यकर्मों को प्रतिपादित करने में दूसरों से स्पर्धा करें, कर्मफल की प्राप्ति में ईर्ष्या न करें, धार्मिक, आस्तिक, क्षमावान्, ह्रीमान (लज्जाशील) व बुद्धिमान रहे। सभी प्राणियों से आत्मीयता रखें, सत्य का पालन करें आदि। उपर्युक्त सभी सद्वृत्त विधि परक (पालनीय) हैं।

आचार्य ने त्याज्य अथवा अकरणीय कर्मों का निषेध परक वाक्यों से निर्देश किया है। यथा—असत्य भाषण न करें, दूसरे के धन को न लें, बैर न करें, परस्त्री की आकांक्षा न करें; अधार्मिक, राजद्रोही, उन्मत्त एवं पतित लोगों के साथ न रहें, नीच लोगों का संग न करें, हिंसक पशु, काटने वाले पशु व सींग वाले पशुओं के समीप न रहें।

भोजन प्रसंग में निम्नोक्त निषेध परक कर्मों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा—

बिना स्नान किए; बिना स्वच्छ वस्त्र के, बिना जप किए, बिना हवन किए व बिना देवताओं के नमस्कार किये भोजन न करें। अशुद्ध मुख से, बिना मन के, बिना हाथ-पाँव धोए, हानिकर देश में, बिना उचित समय के: कुढ़ते हुए मन से, बासी व दुर्गन्धित भोजन न करें।

मल, मूत्र, छींक, अपानवायु, सिंघाणक (नासिकागत कफ) आदि के त्याग के सम्बन्ध में कुछ निषेध परक वाक्यों में आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से उल्लेख किया है। यथा—शरीर को असमान स्थिति में रखते हुए छींकना, भोजन करना व सोना नहीं चाहिए। वायुवेग, अग्नि, जल; चन्द्रमा, सूर्य ब्राह्मण और गुरु की ओर मुख करके थूँकना, मलत्याग, मूत्र त्याग व अपानबायु का त्याग न करें, मार्ग में, जन-समूह में अथवा भोजन के समय मूत्र त्याग न करें। जप, होम, अध्ययन, वलिकर्म व मंगलकर्म के समय नाक से सिंघाणक (नासिका मल) का त्याग न करें।

मैथुन (स्त्री संभोग) किन स्थितियों में वर्जित है, इसके सम्बन्ध में निषेध परक निर्देशों का उल्लेख आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा—स्त्री को नीच (निम्न स्तर की) न जाने, स्त्री पर अत्यधिक निर्भर न रहें, स्त्री को गोपनीय बात न सुनाएँ, स्त्री को सभी विषयों में अधिकार न देवें, रजस्वला, रोगी, अल्पबुद्धि वाली, अपवित्र, अनिष्ट रूप व आचरण वाली, रतिकर्म में अनभिज्ञ, बिना कामेच्छा वाली, दूसरे से प्रीति रखने वाली, दूसरे की स्त्री, असवर्ण जाति वाली आदि स्त्रियों से मैथुन कर्म न करें।

पूजित वृक्ष, मार्ग, चौराहा, उपवन, श्मशान, सलिल, औषधिभूमि, ब्राह्मण के घर, गुरु के घर एवं देवालय आदि स्थानों पर मैथुन कर्म न करें।

दिन रात्रि के संधि कालों में, वर्जित तिथियों (प्रतिपदा, पूर्णिमा आदि), अपवित्र स्थिति में, बाजीकर औषधियों के बिना पचे हुए, बिना कामेच्छा के, बिना कामोत्तेजना के, बिना खाये हुए, अत्यधिक खाये हुए, मलमूत्र के वेग स्थिति में, अथवा बिना एकान्त के मैथुन कर्म न करें।

किन स्थितियों में अध्ययन नहीं करना चाहिए तथा समुचित अध्ययन में कौन-कौन विधियाँ त्याज्य हैं ? इसके विषय में आचार्य ने निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत किया है। यथा—

बिजली चमकने की स्थिति में, ऋतु के विपरीत होने पर, दिशाओं में आग लगने पर, भूकम्प की स्थिति में सार्वजनिक उत्सव में, उल्कापात के समय, अमावस्या व प्रतिपदा में तिथियों में, सूर्य व चंद्रग्रहण के समय और दिन और रात्रि के संधिकाल

में अध्ययन नहीं करना चाहिए। बिना गुरु से पढ़े, अत्यधिक परिमाण में विषयों का अध्ययन, तकार से अन्त होने वाले अत्यधिक शब्दों वाले विषय का, विकृत स्वर वाले शब्दों का, अव्यवस्थित शब्द वाले विषय का, अधिक शीघ्रता से, अधिक विलम्ब से, अधिक देर से उच्चरित शब्द वाले, अधिक उच्च स्वर से तथा अत्यधिक निम्न स्वर से अध्ययन का अभ्यास नहीं करना चाहि।

जन साधारण के लिए कतिपय महत्त्वपूर्ण निषिद्ध विषयों का परित्याग आरोग्य व सुखी जीवन के लिए आवश्यक है। इसके विषय में आचार्य ने निम्नोक्त स्थितियों का निषेधपरक वाक्य से निर्देश किया है। यथा—अनेक शिष्टजनों द्वारा मिलकर बनाए गये नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, रात्रि में तथा निर्जन स्थान में न चले, सन्ध्या काल, आहार काल व अध्ययन काल में स्त्री व निद्रा का सेवन न करे, बालक, वृद्ध, लोभीं, मूर्ख, दुष्टजनों तथा नपुंसकों से मैत्री न करें, मद्य, द्यूत (जूआ खेलना), तथा वेश्या प्रसंग में रुचि न रखे, गोपनीय बातों को न कहे, किसी का अपमान न करें, अहंकारी न हो, ईर्ष्यालु न हो, ब्राह्मणों की निन्दा न करे, गाय को न मारे, वृद्ध, गुरु, संगठन तथा राजा की आलोचना न करे, अत्यधिक न बोले, अपने बन्धुओं, अपने प्रेमियों, कुटिल लोगों, तथा गोपनीय रहस्यों के जानने वालों का अनादर न करे। अधीर न हो, चंचल चित्त न होवे, जो भरण-पोषण करने वाला न हो उसकी सेवा में न रहे। अपने स्वजनों पर अविश्वास न करे, केवल अपने हीं सुख की कामना न करे, जो नित्य ही दुःखी रहे उनका संग न करे, सभी पर विश्वास न करें एवं सभी पर आशंका न करे। कार्यकाल का अतिक्रमण न करे अर्थात् यथोचित काल पर कार्य करे, इन्द्रियों के वश में न रहे, बुद्धीन्द्रियों पर अत्यधिक भार न दे, अतिदीर्घसूत्री (कार्य को अधिक काल तक टालना) न हो, क्रोध और हर्ष से प्रभावित न होवे, चिरकाल तक शोक न करे, सफलता से अति गर्व न करे, असफल होने पर दीनता न रखे, पाँचभौतिक शरीर अनित्य हैं ऐसा सदैव ही स्मरण करे, शुभ-अशुभ कार्यों का परिणाम भी क्रमशः शुभ, अशुभ ही होता है ऐसा निश्चय दृढ़ करे तथा शुभ कार्य ही करे, जो कार्य न किया हो उसे करने का ध्यान रखे, अपनी शक्ति का अपव्यय न करे तथा अपनी निंदा या अपयश का नित्य स्मरण न करे।

अपवित्र स्थिति में घी, अक्षत, तिल, कुश और सर्षप से अग्नि में हवन न करे, अपने कल्याण की कामना करते हुए ऐसा चिंतन करे कि शरीर में अग्नि विकृत न हो, वायु मेरे प्राणों को धारण करें, विष्णु मुझे बल दें, इन्द्र मुझे शक्ति दें, मुझमें कल्याणकारी जल का प्रवेश हो। आपोहिष्ठः······ ··· इस मन्त्र से जल का स्पर्श करे, ओष्ठों को दो बार जल से धोये, पाँवों पर जल छिड़के, शिरो प्रदेशगत छिद्रों को जल का स्पर्श कराए। इस प्रकार आन्तरिक शौच के निमित्त उपर्युक्त विधि का पालन करे।

उपर्युक्त सद्वृत्तों के विषय में विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इनमें से अधिकतर विधि निषेध परक सद्वृत्त आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अप्रासंगिक से जान पड़ते हैं। किंतु यदि उन अप्रासंगिक से जान पड़ने वाले सद्वृत्तों के वाच्यार्थ (शाब्दिक अर्थ) के बदले उनके फलितार्थ (परिणाम मूलक अर्थ) पर विचार किया जाय तो ये सभी विधि निषेध परक निर्देश वाक्य प्रासंगिक हो जाते हैं। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना अपेक्षित समझते हैं, जिससे कि जिज्ञासुओं को सम्बद्ध विषय का सुखावबोध हो सके। यथा—देव, गो, ब्राह्मण, गुरु व सिद्धजनों की पूजा करे, इस सद्वृत्त वाक्य का वाच्यार्थ तो आधुनिक काल में अप्रासंगिक जान पड़ता है। किंतु इसके फलितार्थ अर्थात् देव, गो, ब्राह्मण, गुरु आदि की पूजा करने से जो फल प्राप्त होता है, उस पर विचार किया जाय तो यह वाक्य नितान्त प्रासंगिक हो जाता है। देव, गुरु, ब्राह्मण, सिद्ध आदि का तात्पर्य समाज के श्रेष्ठ व समर्थ लोगों से सेना चाहिए। इदि इन श्रेष्ठ व समर्थ लोगों का आदर व श्रद्धा किया जायेगा तो आदर, श्रद्धा करने वाला निश्चय ही उनका प्रियपात्र होगा। परिणामस्वरूप वह व्यक्ति अपने को सुरक्षित समझेगा एवं आत्मशक्ति का अनुभव करेगा जो कि उसके जीवन को सुखमय व समृद्धि पूर्ण बनाने में सहायक होगा। इसी प्रकार यदि गौ की पूजा अर्थात् उसकी अच्छी देखभाल व सेवा करेगा तो गौ जो कि समृद्धि की प्रतीक है उसके जीवन में निश्चय ही समृद्धि की वृद्धि करेगी।

इसी प्रकार "त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रु लोम नखान् संहारयेत" अर्थात् पक्ष में तीन बार केश, स्मश्रु (मूँछ) लोम व नखों को कटवाए। इस विधि वाक्य का भी यदि फलितार्थ लिया जाय तो यह ज्ञात होता है कि केश, श्मश्रु, छोभ व नख का उचित समय से कटवाना स्वच्छता व शरीर की सुन्दरता के लिए अपेक्षित है।

इसी प्रकार निषेध परक निर्देशों का भी फलितार्थ लिया जाय तो उपदिष्ट सभी निर्देश वाक्य प्रासंगिक जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ—"नान्यस्वमाददीत", "नान्य स्त्रियमभिलषेत्", "न वैरं रोचयेत्" आदि वाक्यों के फलितार्थ पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि दूसरे के धन को लेना, दूसरे की स्त्री को प्राप्त करने की अभिलाषा करना अथवा दुश्मनी में रुचि रखना आदि कार्य सामाजिक दृष्टि से अनैतिक माने जाते हैं तथा अनेक प्रकार के आपत्तियों में डालने वाले होते हैं। अतः यदि इन निषेध परक निर्देशों का पालन किया जाता है तो व्यक्ति नैतिक रूप से समाज में प्रतिष्ठित स्थान पाता हैं तथा परिणामस्वरूप सुखी व स्वस्थ जीवन प्राप्त करता है। स्वस्थ जीवन की प्राप्ति यदि व्यक्ति सभी प्रकार के मानसिक उद्वेगों से मुक्त होगा तभी हो सकती है। मानसिक उद्वेगों से मुक्ति के सन्दर्भ में इस प्रकार के निषेध परक निर्देशों का पालन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इसी प्रकार वाह्य शौचाचार व आन्तरिक शौचाचार परक निर्देशों का भी फलितार्थ लिया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वाह्य शौच से व्यक्ति का शरीर स्वच्छ, स्फूर्तियुक्त एवं सुन्दर बना रहता है जो कि स्वास्थ्य व सुखी जीवन के लिए आवश्यक है। आंतरिक शौच के आचरण से मन तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता बनी रहती है जो कि व्यक्ति के स्वस्थ व सुखी जीवन के लिए आवश्यक है।

सद्वृत्त के विधि निषेध परक निर्देशों में बहुत से ऐसे भी हैं जो कि साक्षात् रूप से अर्थात् वाच्यार्थ से भी अत्यन्त प्रासंगिक हैं। पृथक्-पृथक् रूप से उन सभी सद्वृत्तों की प्रासंगिकता ग्रन्थ विस्तार भय से वर्णित नहीं किया जा सकता है। किन्तु निदर्शनार्थ हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि आर्ष आचार्यों द्वारा उपदिष्ट सभी विधि निषेध परक सद्वृत्तों का हमारे दैनन्दिन जीवन में आज भी उतना ही महत्त्व है जितना कि उनके उपदेश काल में था। सद्वृत्तों के पालन का स्वस्थ व सुखी जीवन के सन्दर्भ में शाश्वतिक व सार्वत्रिक महत्त्व हैं।

सद्वृत्तानुष्ठान की उपादेयता—सद्वृत्तों के पालन की उपादेयता हमारे दैनंदिन जीवन में इसके साक्षात् लाभ से स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है। इनके पालन से व्यक्ति को सद्यःफल प्राप्त होता है तथा इनकी उपेक्षा से हानि भी शीघ्र ही दृष्टिगोचर होती है। विधि निषेध परक निर्देशों का पालन कर सर्वसाधारण अपने जीवन को स्वस्थ व सुखी बना सकते हैं। सद्वृत्तों की उपादेयता का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसे प्रस्तुत ग्रन्थ की सीमा में लेखबद्ध करना सन्भव नहीं है और न अपेक्षित ही। तथापि जिज्ञासुओं के निदर्शनार्थ हम आचार्य चरक के शब्दों में ही सद्वृत्त के निम्नोक्त उपादेयताओं को प्रस्तुत करेंगे। यथा—

स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते॥
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसंमतः।
धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति॥
परान् सुकृतिनों लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते।
तस्माद्वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा॥

च० सू० ८/३१-३३.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने स्वस्थवृत्त तथा सद्वृत्त पालन के सुपरिणामों का उल्लेख करते हुए कहा है कि—सभी सद्वृत्तों व स्वस्थवृत्त का यथोचित प्रकार से जो पालन करता है वह व्याधिमुक्त रहते हुए सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। सज्जनाभिमत यश से संसार को पूर्ण कर देता है, धर्म और अर्थ इन पुरुषार्थ

द्रव्य को प्राप्त करता है तथा सभी प्राणियों से बन्धुत्व को प्राप्त करता है अर्थात् सभी का प्रियपात्र हो जाता है। स्वस्थवृत्त तथा सद्वृत्त का पालन करने वाला पुण्य-कर्मा व्यक्ति उत्तमलोक (स्वर्ग को प्राप्त करता है। अतः सभी मनुष्य को स्वस्थवृत्त व सद्वृत्तों का सदैव पालन करना चाहिए।

भिषगादि चतुष्पाद सिद्धांत

आचार्य चरक ने आयुर्वेद के उभयविध प्रयोजन को लक्ष्य कर पहले स्वास्थ्य रक्षा के निमित्त ग्रन्थ के सूत्र स्थानान्तर्गत ५वें अध्याय से ८वें अध्याय तक चार अध्यायों में स्वस्थ चतुष्क का विवेचन प्रस्तुत किया है। तदनन्तर दूसरे प्रयोजन को लक्ष्य कर स्वस्थ एवं आतुर दोनों प्रकार के व्यक्तियों के हित को लक्ष्य कर ९वें अध्याय से १२वें अध्याय तक निर्देश चतुष्क का विवरण प्रतिपादित किया है। निर्देश चतुष्क में सर्वप्रत्रम आचार्य ने चिकित्सा के चार पादों (संघटकों) का उल्लेख किया है। चिकित्सा के ये चार पाद हैं वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी। इन्हें ही भिषगादि चतुष्पाद कहते हैं।

रोगों के शमन के लिए तथा चिकित्सा कर्म में समीचीन सफलता के लिए वैद्य, औषध, परिचारक एवं रोगी ये चार गुणकारी कारग हैं, जैसा—कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥ च० सू० ९/३.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने विकारों (रोगों) के शमनार्थ भिषगादि चतुष्पाद अर्थात् भिषक् (चिकित्सक), द्रव्य (औषधि), उपस्थाता (परिचारक) तथा रोगी इन चार को गुणकारी कारग के रूप में प्रस्तुत किया है। भिषगादि चतुष्पादों के सम्बन्ध में विवरण देने के पूर्व आचार्य विकार शब्द का विवेचन निम्नोक्त वचन द्वारा प्रस्तुत करते हैं। यथा—

विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च ॥ च० सू० ९।४.

धातुओं (वातादि दोष, रस रक्तादि एवं रज, तम) की विषमता (स्वास्थ्य के लिए व्यवहार्य परिमाण से अधिक वा न्यून होना) ही विकार होता है तथा धातुओं की समता ही प्रकृति (स्वास्थ्य) कही जाती है। प्रकृति की स्थिति ही सुख संज्ञक आरोग्य होता है तथा विकार हो दुःख है।

उपर्युक्त विकार व प्रकृति के विवरण प्रसंग में आचार्योक्त धातुवैषन्य व धातुसाम्य के सम्बन्ध में कुछ शंकाएँ उपस्थिति होती हैं जिसका समाधान आचार्य चक्रपाणि ने निम्नोक्त रीति से प्रतिपादित किया है।

शंका होती है कि धातुवैषम्य तो कालक्रम दिन और रात्रि के कारण तथा भोजन पूर्व, भोजन के पश्चात् व भोजन के पाक काल में दैनन्दिन रूप से हुआ करता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या सदा ही विकार ग्रस्त रहता है ? और दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कभी भी स्वस्थ रह ही नहीं सकता। प्रस्तुत शंका का समाधान करते हुए आचार्य चक्रपाणि कहते हैं कि यथा—

"दिवा रात्रि भोजनावस्थादि जनितं धातुवैषम्यमुद्वेजक विकाराकर्तृत्वेन सुखमिति व्यवह्रियते, तेन यो ह्यल्पः स नास्त्येवेति कृत्वाऽल्पेऽपि धातुवैषम्ये धातुसाम्य व्यवहारः सिद्धोभवति। च० सू० ९/४ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

उपयुक्त व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि ने कहा है कि—दिनरात्रि व भोजन की अवस्था जनित धातुवैषम्य विकारोत्पत्ति में सक्षम न होने से इन स्थितियों में भी व्यक्ति स्वस्थ व सुखी रहता है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। दैनन्दिन जीवन में होने वाला धातुवैषम्य इतना अल्प होता है कि वह नहीं ही होता है ऐसा समझकर अल्प धातुवैषम्य में धातु साम्यावस्था का व्यवहार ही माना जाता है।

विकार को परिभाषित करने के अनन्तर आचार्य चिकित्सा का लक्षण निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत करते हैं ! यथा—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ च० सू० ९/५.

भिषगादि चतुष्पादों की श्रेष्ठता का धातुवैषम्य की अवस्था में धातुसाम्य (आरोग्य) के लिए की गई प्रवृत्ति (कार्यारम्भ) को चिकित्सा कहते हैं।

आचार्य चक्रपाणि ने भिषगादि चतुष्पादों की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए निम्नोक्त तथ्य का प्रतिपादन किया है। यथा—

"प्रवृत्तिर्वैद्यस्य इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमित्यादिकोपदेशरूपा, द्रव्यस्यतूपयोगे सति स्वकार्यारम्भरूपा, परिचारक प्रवृत्तिर्भेषज संस्करणातुर परिचर्यादिरूपा, आतुर प्रवृत्तिर्वैद्योक्तानुष्ठान व्याधिस्वरूप कथनादिका।
च० सू० ९/५ पर आयुर्वेद दीप्रिका टीका

उपयुक्त व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि ने वैद्य की प्रवृत्ति के विषय में कहा है कि—रोगोपचार के लिए यह करना चाहिए अथवा यह नहीं करना चाहिए; इस प्रकार का प्रयास ही वैद्य की प्रवृत्ति होती है। द्रव्य की प्रवृत्ति से तात्पर्य है—द्रव्यों

के अपने गुण कर्मादि के प्रभाव का आरम्भ होना। परिचारक की प्रवृत्ति यह होती है कि—वह विविध औषधियों का संस्कार रोगी के लिए प्रस्तुत करे तथा रोगी की परिचर्या करे। रोगी को प्रवृत्ति का तात्पर्य है—वैद्य के द्वारा कहे गए विधान का पालन तथा व्याधि के स्वरूप का कथन।

विकारों की शांति के लिए आचार्य ने भिषगादि चतुष्पादों को गुणकारी कारण कहा है। अतः उक्त चतुष्पादों के प्रत्येक पाद के अपेक्षित गुणों का आचार्य ने निम्नोक्त प्रकार से प्रतिपादन किया है। यथा—

श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्॥ च० सू० ९।६.

वैद्य के गुण—शास्त्र (आयुर्वेद) का विशुद्ध ज्ञान अनेक विध उपयोगी चिकित्सिकीय कार्यों का देखना व उनका अभ्यास, चिकित्सिकीय कार्यों में कुशलता तथा शरीर व मन की पवित्रता ये श्रेष्ठ वैद्य के चार गुण हैं।

द्रव्यों (औषधियों) के गुण—

बहुता तत्रयोग्यत्वमनेकविध कल्पना।
संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते॥ च० सू० ९/७.

बहुता अर्थात् अनेक प्रकार की औषधियों का होना, तत्रयोग्यत्व (रोगानुसार उपशामक क्षमता), अनेक प्रकार से प्रयुज्यमान कल्पना की योग्यता अर्थात् रोगी व रोग के अनुसार स्वरस, कल्क आदि कल्पना कीं योग्यता वाला तथा सम्पत् युक्त अर्थात् कीड़े, जल, ताप आदि से अप्रभावित, ये चार उत्तम औषधि के गुण हैं।

परिचारक के गुण—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्चभर्तरि।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणाः परिचरे जने॥ च० सू० ९।८.

रोगी के उपचार कर्म की जानकारी होना, उपचार कर्म की कुशलता, अपने उपचर्यमाण (उपचारित होते हुए) रीगी के प्रति प्रेम होना तया उपचार कर्म में शरीर व मन की पवित्रता ये चार श्रेष्ठ परिचारक के गुण हैं।

रोगी के गुण—स्मृति निर्देश कारित्वमभीरुत्वमथापि वा।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः॥ च० सू० ९।९.

स्मृति (रोगग्रस्तता के पूर्व की स्थितियों तथा रोग के कारणों का स्मरण होना (जिससे कि रोग का निदान परिवर्जन हो सके, निर्देशकारित्व (वैद्य के परामर्श का पालन), अभीरुत्व (रोग से भयभीत न होना) तथा ज्ञापकत्व (रोगजनित विविध लक्षणों को व्यक्त करने की क्षमता) ये चार रोगी के गुण हैं।

इस प्रकार चार-चार गुण वाले भिषगादि चारो पादों के १६ गुण ही रोगोपचार की सफलता में कारण हैं। भिषगादि चारो पादों में भी औषधियों के ज्ञान वाला, चिकित्सा कर्म को परिचारक के माध्यम से नियन्त्रित करने वाला तथा रोगी को उपचार कर्म में निरत (लगाए) रखने वाला होने के कारण भिषक् (वैद्य) ही चिकित्सा कर्म में प्रधान कारण होता है : इसी तथ्य को आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है। यथा—

कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पाद चतुष्टयम्।
विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥ च० सू० ९।१०.

चिकित्सा कर्म में वैद्य की प्रधानता का प्रतिपादन आचार्य ने अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्तों के माध्यम से प्रस्तुत किया है जो कि प्रसंगगत विषय को समझने में बहुत ही सहायक है। आचार्योक्त दृष्टान्त निम्नांकित है। यथा—

पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः।
विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च ॥
आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारण संज्ञिताः।
वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥

च० सू० ९।११–१२.

जिस प्रकार पाक कर्म में पाचक (रसोइया), पात्र, इन्धन एवं अग्नि कारण है तथापि पाक कर्म में प्रधानता पाचक की होती है। जिस प्रकार युद्ध की जीत में विजेता (सेनापति), भूमि, सेना तथा शस्त्र कारण हैं तथापि युद्ध विजय में विजेता की ही प्रधानता होती हैं। उसी प्रकार चिकित्सा कर्म में भिषगादि चारो पाद के कारण होते हुए भी वैद्य की प्रधानता होती है।

आचार्य चक्रपाणि ने निम्नांकित रीति से उपर्युक्त दृष्टान्तों का चिकित्सा के चतुष्पादों से समन्वय किया है जिससे कि प्रश्नुत विषय अत्यन्त सरल व सुबोध हो गया है। चिकित्सा कर्म की पाक कर्म से तुलना करते हुए आचार्य ने पाक कर्म में पाचक स्थानीय वैद्य, पात्र स्थानीय आतुर, इन्धन स्थानीय परिचारक तथा अग्नि स्थानीय औषधि का उल्लेख किया है। उसी प्रकार युद्ध के विजय में भी विजेता स्थानीय वैद्य, भूमि (देश) स्थानीय आतुर; सेना स्थानीय परिचारक व शस्त्र स्थानीय औषधि का उल्लेख करके विषय को अत्यन्त सरल व सुबोध बना दिया है।

श्रेष्ठ वैद्य को प्राणाभिसर की संज्ञा से अभिहित करते हुए आचार्य ने चिकित्सा कर्म की सिद्धि में शास्त्र का ज्ञान, शास्त्र के व्यवहार्य रूप का ज्ञान एवं चिकित्सा कर्म के

प्रति प्रवृत्ति इन सभी विषयों को आवश्यक कहा है। जैसा कि निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

तस्माच्छास्त्रेऽर्थं विज्ञाने प्रवृत्तौ कर्म दर्शने।
भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥ च० सू० ९।१८.

प्राणाभिसर वैद्य ही रोगी को रोगमुक्त करके उसके प्राणों की रक्षा करता है। अतः भिषगादि-चतुष्पादों में प्राणाभिसर वैद्य की महत्ता को आचार्य ने चिकित्सा कर्म की सफलता में सर्वोपरि स्वीकार किया है। चिकित्सा कर्म में वैद्य की योग्यता का परिचायक प्राणाभिसर विशेषण आचार्य के विशेष लक्ष्य को सूचित करता है, जो कि इस विशेषण के निरुक्ति परक अर्थ में निहित है। आचार्य चक्रपाणि ने प्राणाभिसर शब्द की निम्नांकित व्याख्या किया है। यथा—

"प्राणान् गच्छतो व्यावर्तयति इति प्राणाभिसरः" अर्थात् जाते हुए प्राणों को जो रोके अथवा जो प्राणों की रक्षा करे वह प्राणाभिसर है।

भिषगादि चतुष्पाद में वैद्य की ही प्रधानता को द्योतित करने के लिए आचार्य ने चिकित्सक को ही सभी दृष्टि से योग्य होने की अपेक्षा को दर्शाया है, जैसा कि निम्नोक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है। यथा—

हेतौ लिंगे प्रशमने रोगाणामप्यपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः॥
विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते॥
यस्यत्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्य शब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणि सुखप्रदः॥

च० सू० ९।१९।२१।२३.

जो वैद्य रोग के कारणों में, लक्षण में, रोग के उपशमन में तथा रोगों की पुनः उत्पत्ति न होने देने में; इन सभी चार विषयों का ज्ञाता होता है वही उत्तम वैद्य राजा के योग्य होता है अर्थात् श्रेष्ठ वैद्य होता है। ज्ञान (आयुर्वेद ज्ञान), वितर्क (ऊहापोह पूर्वक तर्क शक्ति), विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान अथवा आयुर्वेदाभिमत अन्य शास्त्र का ज्ञान), स्मृति (रोग हेतु, लक्षण व उपचार का स्मरण), तत्परता चिकित्सा कर्म में निरत रहना) तथा क्रिया (उपचार कर्म का सम्पादन) इन सभी ६ गुणों से युक्त जो वैद्य होता है, उसके लिए कोई भी कार्य (रोग) असाध्य नहीं होता अर्थात् उसे सभी कार्यों में सफलता प्राप्त होती है। जिसे ये सभी विद्या आदि

शुभ गुण होते हैं वही वैद्य संज्ञा (नाम) का वास्तविक अधिकारी होता है तथा वह प्राणियों को स्वास्थ्य एवं सुख प्रदान करने वाला होता है।

विशेषकर वैद्य के लिए ही अभीष्ट उपर्युक्त गुणों के वर्णन से आचार्य का यही अभिमत प्रकट होता है कि चिकित्सा कर्म में वैद्य की ही प्रधानता होती है, जैसा कि आचार्य चक्रपाणि के निम्नोक्त विचार से ज्ञात होता है। यथा—

"एतच्च प्रबन्धेन पृथक्-पृथक् गुण कथनं वैद्यस्य गुणोत्पादने यत्नातिशयं कारयितुं तथाद्रव्यादिभ्यः पादेभ्योवैद्यस्यैव प्रधानतोपदर्शनार्थं, वैद्यो हि पादत्रयं विगुणमपि कल्पनया शिक्षया मन्त्रणेन च संपाद्य चिकित्सितुं पारयति, ननु गुणवद्वैद्यं बिना द्रव्यादयः गुणवन्तोऽप्यक्षमाः। च० सू० ९।२३ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

अर्थात् वैद्य के लिए पृथक्-पृथक् रूप से कहे गए अभीष्ट उपर्यक्त गुणों का विवरण वैद्य के गुचों की बृद्धि में अत्यधिक प्रयत्न करने के निमित्त तथा द्रव्य (औषध) परिचारक एवं रोगी इन तीनों पादों की अपेक्षा वैद्य की प्रधानता को दर्शाने के लिए किया गया है। क्योंकि गुणी वैद्य शेष तीन पादों के विगुण (हीन गुण) होने पर भी उनमें कल्पना (औषधि के निमित्त), शिक्षण (परिचारक के निमित्त) तथा मन्त्रणा (रोगी के निमित्त) संपादित करके चिकित्सा कर्म में सफलता प्राप्त कर लेता है। किन्तु यदि वैद्य गुणवान नहीं हुआ तो द्रव्यादि तीनों पाद गुणवान होने पर भी चिकित्साकर्म की सफलता में सक्षम नहीं होते।

इस प्रकार सफल चिकित्सा के साधनभूत भिषगादि चतुष्पाद में वैद्य की प्रधानता तथा उसमें वैद्यकीय गुणों की संपत्ति शालिता की अनिवार्यता को निर्देशित करते हुए आचार्य ने इस तथ्य पर अधिक बल दिया है कि—वैद्य को शास्त्र ज्ञान में निष्णात (विवेकपूर्ण) होने के साथ ही सहज ज्ञान (नैसर्गिक प्रतिभा) वाला भी होना चाहिए। क्योंकि शास्त्रज्ञान तो बाह्य प्रकाश की भाँति होता है जो कि सहज ज्ञान रूपी चक्षु के बिना दर्शन कार्य को सम्पादित नहीं कर सकता। अतः शास्त्रज्ञान के अभ्यास के साथ ही वैद्य को सहज ज्ञान का होना भी अनिवार्य है। उपर्युक्त दोनों वस्तुओं अर्थात् शास्त्र ज्ञान एवं सहज ज्ञान से युक्त होने पर वैद्य चिकित्सा कर्म में कभी भूल नहीं करता। चिकित्सा के तीन पाद वैद्य पर ही आश्रित होते हैं। इस कारण वैद्य को अपने गुण संपत्तियों में प्रयास पूर्वक स्थित रहना चाहिए। उपर्युक्त तथ्यों के सन्दर्भ में आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा—

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥

चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद्वैद्य व्यपाश्रयः ।
तस्मात् प्रयत्नमातिऽठेद्भिषक् स्वगुण संपदि ।।
च० सू० ९।२४-२५.

उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणि निम्नांकित वचन में कहते हैं कि--शास्त्र शब्देन शास्त्राभ्यास कृता मतिः, सा हि ज्योतिः बाह्यालोक इव, प्रकाशार्थं वस्तूनां ग्रहणयोग्यतां कर्तुमित्यर्थः । दर्शनमिव दर्शनं चक्षुरिवेत्यर्थः । यद्यपि बुद्धिरात्मन एव भवति तथाऽप्यात्मन इत्यनेन सहजां बुद्धि दर्शयति, यतः सहजां बुद्धि विना शास्त्रजा बुद्धिर्या वैनायकीत्यभिधीयये, सा न सम्यक् चिकित्सा समर्था भवतीति । ताभ्यामिति सहज विशुद्धि बुद्धि शास्त्राभ्यां सहज वैनायक बुद्धिभ्याम् । च० सू० ९।२४-२५ आयुर्वेद दीपिका टीका

उपर्युक्त उद्धरण में आए हुये शास्त्र शब्द से अभिप्राय है—शास्त्र के अभ्यास से प्राप्त बुद्धि, ऐसी बुद्धि बाह्य प्रकाश के समान वस्तुओं को देखने योग्य बनाने में समर्थ होती हैं । बाह्य प्रकाश से वस्तुओं को देखने के लिए जिस प्रकार आँख की अनिवार्यता होती है, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान को सम्यक् प्रकार से समझने व तदनुसार व्यवहार के लिए आत्मबुद्धि अथवा सहज बुद्धि की आवश्यकता होती है । क्योंकि सहजबुद्धि के बिना शास्त्र ज्ञान से अर्जित बुद्धि जो वैनायकी बुद्धि कही जाती है चिकित्सा कर्म के सम्यक् सम्पादन में समर्थ नहीं होती । इसी कारण उद्धरण में दोनों ही सहजबुद्धि व शास्त्राभ्यास जनित बुद्धि से युक्त वैद्य को चिकित्सा कर्म में सफल बतलाया गया है । ऐसे वैद्य चिकित्सा कर्म में कभी भूल नहीं करते ।

वैद्य को जिस प्रकार की बुद्धि से चिकित्सा कार्य में व्यवहार करना चाहिए इस तथ्य का उल्लेख करते हुए आचार्य चरक निम्नोक्त उद्धरण में कहते हैं । यथा—

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम् ।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधः ।। च० सू० ९/२६.

रोगी से मित्रभाव रखना, रोगी के रोग को नाश करने की इच्छा में दयाभाव, साध्य रोगों से पीड़ित रोगियों से प्रीति रखना अर्थात् साध्य रोगों की चिकित्सा में रुचि रखना तथा मरणासन्न रोगो की चिकित्सा में उपेक्षा रखना अर्थात् जिस रोगी का मरण निश्चित हो उसकी चिकित्सा न करना, ये चार वैद्य की वृत्तियाँ (व्यवहार्य कर्तव्य) कही जाती हैं, जिसे वैद्य को चिकित्सा कर्म में व्यवहार करना चाहिए ।

चार-चार गुणों से युक्त भिषगादि चतुष्पाद भेषज (चिकित्सा) होता है, ऐसा श्रेष्ठ वैद्य कहते हैं । १६ गुणों वाला यथोचित चिकित्सा कर्म आरोग्य प्रदान करने में समर्थ होता है, ऐसा पुनर्वसु आत्रेय का अभिमत है । च० सू० १०/३.

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उक्त कथन के विषय में आशंका उपस्थित करते हुए आचार्य मैत्रेय ने कहा है कि—क्या कारण है कि कोई आत्मशक्ति सम्पन्न रोगी जो कि उचित औषधि, परिचारक एवं कुशल चिकित्सक से चिकित्सा कराते हुए रोग मुक्त हो जाते है तथा कोई इन सभी उपर्युक्त स्थितियों में चिकित्सित होते हुए भी मृत्यु को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के परिणाम को देखने से कहा जा सकता है कि षोडश गुण सम्पन्न चिकित्सा अकिञ्चित्कर (निष्प्रभावी) होती है। कुछ ऐसे रोगी भी देखे जाते हैं कि जो आत्मशक्तिहीन, साधनहीन, परिचारकहीन तथा अकुशल चिकित्सक से चिकित्सित होते हुए भी रोगमुक्त हो जाते हैं एवं कुछ इन्हीं स्थितियों में मर जाते हैं, कुछ विना चिकित्सा के मर जाते हैं। इन स्थितियों को देखते हुए यह विचार उपस्थित होता है कि भेषज (चिकित्सा करना) और अभेषज (चिकित्सा न करना) इन दोनों स्थितियों में कोई भिन्नता नहीं है। च० सू० १०/४.

आचार्य मैत्रेय की उपर्युक्त आशंका का निराकरण करते हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं कि—हे मैत्रेय इस प्रकार का विचार करना अनुचित है। यह विचार कि क्या कारण है कि १६ गुणों से सम्पन्न भिषगादि चतुष्पाद भेषज से चिकित्सित रोगी मृत्यु को प्राप्त करते हैं, ऐसा कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि भेषज साध्य व्याधियों के लिए भेषज अकारण (निष्प्रभावी) नहीं होता। जो रोगी बिना सम्पूर्ण भेषज पादों के रोगमुक्त ही जाते हैं उनमें सम्पूर्ण भेषज पादों को सम्पादित करने योग्य विशेष कारण (रोग कारण) नहीं होता। जैसे कि गिरे हुए समर्थ पुरुष को उठाने में दूसरा पुरुष उठाते हुए उसके बल को सहारा देता है तो वह (गिरा हुआ व्यक्ति) अधिक शीघ्रता से बिना कठिनाई के उठ जाता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण भेषज पादों के सहयोग से रोगी शीघ्र ही बिना कठिनाई के रोगमुक्त हो जाते हैं। जो रोगी सम्पूर्ण भेषज समुदाय से चिकित्सित होते हुए भी मर जाते हैं वे सभी भेषज समुदाय से साध्य होने योग्य नहीं है। क्योंकि सभी व्याधियाँ उपाय (भेषज) साध्य नहीं होतीं, और उपाय साध्य व्याधियाँ अनुपाय (भेषज हीनता) से सिद्ध (चिकित्सित) नहीं होतीं। असाध्य व्याधियों के निमित्त भेषज समूह सफल नहीं होता। कोई भी ज्ञानवान् वैद्य मुमुर्षु (मरणासन्न) रोगी कों रोगमुक्त करने में समर्थ नहीं होता। परीक्षा करके कार्य करने वाले ही कुशल होते हैं। जिस प्रकार नित्य ही अभ्यास करने वाला धनुर्विद्या में निरत धनुर्धारी नातिदूरवर्त्ती (अधिक दूर नहीं) बड़े लक्ष्य को अपने वाण से वेधने में गलती नहीं करता तथा अपने इष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अपने गुणों से सम्पन्न, साधनों से युक्त वैद्य भी रोगी की परीक्षा करके चिकित्सा कर्म को प्रारम्भ करते हुए साध्य रोगों की चिकित्सा में गलती नहीं करता तथा रोगी को आरोग्य प्रदान करता है। इन सभी तथ्यों के आलोक में

विचार करने से ज्ञात होता है कि भेषज (भिषगादि चतुष्पाद) अभेषज (भिषगादि हीन कर्म) से अविशिष्ट नहीं होता अर्थात् भेषज और अभेषज में विशेषता (भिन्नता) होती है। च० सू० १०/५.

इस प्रकार भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने भिषगादि चतुष्पाद की चिकित्सा कर्म में अनिवार्यता तथा महत्ता प्रतिपादित करते हुए इस सिद्धान्त की रोगशामक उपयोगिता कतिपय प्रत्यक्ष सिद्ध तथ्यों के आधार पर बतलाया हैं, जिससे कि जनसाधारण को भी प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान व इसके प्रति सहज विश्वास हो सके। उपर्युक्त विषय को हम भिषगादि चतुष्पाद सिद्धान्त की उपादेयता शीर्षक से प्रस्तुत करेंगे।

भिषगादि चतुष्पाद सिद्धान्त की उपादेयता—यों तो चिकित्सा कर्म में भिषगादि चतुष्पादों की क्या उपादेयता है यह किसी से छिपा नहीं है। तथापि सर्वसाधारण को भिषगादि चतुष्पाद के प्रति अधिक विश्वास बढ़ाने तथा इनके प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने के उद्देश्य से इस सिद्धान्त की उपादेयता का स्पष्ट विवरण अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में हम भगवान् पुनर्वसु आत्रेय द्वारा उदाहृत निम्नोक्त प्रत्यक्ष सिद्ध तथ्यों को ही विषय के सुखावबोध के निमित्त प्रस्तुत करेंगे। यथा—

इदं च नः प्रत्यक्षं—यदनातुरेण भेषजेनातुरं चिकित्सामः, क्षाममक्षामेण, कृशं च दुर्बलमाप्याययामः, स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयामः, शीतेनोष्णाभिभूतमुपचरामः, शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून् पूरयामः, व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः, व्याधीन्मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः, तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषज समुदायः कान्ततमो भवति। च० सू० १०/६.

महर्षि आत्रेय कहते हैं—हमारे सामने ये विषय सर्वथा प्रत्यक्ष हैं। यथा—हम दोष रहित औषध योगों से रोगी की चिकित्सा करते हैं, क्षीण दुर्बल रोगी की अक्षाम (बृंहण) औषध योगों से, कृश और दुर्बल को आप्यायित (तृप्त) करने वाले औषधों से, स्थूल तथा मेदस्वी रोगियों को अपतर्पण (उपवास, रुक्ष आदि) आहार बिहार तथा औषधोपचार से, उष्णाभिभूत (लू लगे हुए या गर्मी से पीड़ित) रोगियों को शीतोपचार से और शीत से पीड़ित रोगियों की उष्णोपचार से, न्यूनता को प्राप्त रसादि धातुओं की पूर्ति करते हैं, बढ़े हुए धातुओं को घटाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, समस्त रोगों को मूल विपर्यय (जिस कारण से रोग उत्पन्न हुआ हो उसके विपरीत क्रिया) से चिकित्सा करते हुए दोषों को भली-भाँति सम अवस्था में रखते हैं। उन-उन रोगियों के प्रति ऐसा करने से वह समस्त भेषज समुदाय (भिष-

गादि चतुष्पाद) हम लोगों का अत्यन्त प्रिय हो जाता है। अर्थात् सर्वथा दोषरहित हो जाता है।

अन्त में महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने भिषगादि चतुष्पादों में से प्रधान वैद्य के लिए चिकित्सा कर्म में कर्तव्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करते हुए निर्देश किया है कि— जो वैद्य रोग की साध्यासाध्यता (चिकित्स्य व अचिकित्स्य) को पहले से ही जानकर उचित समय पर साध्य रोगों की चिकित्सा प्रारंभ करता है वह निश्चय ही रोग को शांत करने में सफल होता है। इसके विपरीत यदि असाध्य रोग का उपचार करता है तो वह निश्चित हीं अपने अर्थ, विद्या एवं यश की हानि कराता है तथा समाज में निन्दित होता हुआ समाज के अच्छे लोगों द्वारा त्याग दिया जाता हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्॥
अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥

च० सू० १०/७-८.

भिषगादि चतुष्पाद सिद्धांत की महत्ता एवं उपादेयता का निर्देश करते हुए महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने आचार्य मैत्रेय की मिथ्या बुद्धि कि—भेषज और अभेषज समान है और रोगी कर्मवश ही रोग से मुक्त होते हैं तथा मृत्यु को प्राप्त होते हैं इस अयुक्ति युक्त विचार का खंडन करते हुए इसे त्याग देने का निम्नोक्त उद्धरण में स्पष्ट उपदेश किया है। यथा—

भिषजा प्राक् परीक्ष्यैवं विकाराणां स्वलक्षणम्।
पश्चात्कर्म समारम्भः कार्यः साध्येषु धीमता॥
साध्यासाध्य विभागज्ञो यः सम्यक् प्रतिपत्तिमान्।
न स मैत्रेय तुल्यानां मिथ्याबुद्धिं प्रकल्पयेत्॥

च० सू० १०।२१-२२.

अर्थात् उत्तम भेषज समुदायों से युक्त वैद्य पहले रोगों का उनके लक्षणों के आधार पर उचित निदान करके साध्य रोगों की चिकित्सा प्रारम्भ करे। साध्य और असाध्य रोगों के भेद को जानने वाले एवं साध्य रोगों की यथोचित चिकित्सा करने वाले मैत्रेय के समान मिथ्या बुद्धि का आश्रय न लें।

महर्षि पुनर्वसु आत्रेय के उपर्युक्त वचन की समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि भिषगादि चतुष्पाद की चिकित्सा कर्म में असंदिग्ध महत्ता एवं उपादेयता है। सामान्य-

जन को आचार्य मैत्रेय के समान यह मिथ्या विचार भी नहीं करना चाहिए कि रोगी कर्मवश ही रोग से मुक्त होते हैं अथवा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य मैत्रेय सदृश की मिथ्या बुद्धि त्याग कर व्यक्ति को भिषगादि चतुष्पाक सिद्धांत जैसे-आप्तजन उपदिष्ट विचार का आश्रय लेना चाहिए।

तिस्त्रैषणीय सिद्धान्त

निर्देश चतुष्कगत विषयों का लोक कल्याणार्थ प्रतिपादन करते हुए आचार्य चरक ने अपने प्रतिपाद्य ग्रन्थ के सूत्र स्थान के ११वें अध्याय में मनुष्यों के लिए अपेक्षित तीन प्रकार की एषणाओं (इच्छाओं) का उल्लेख किया है। ये तीन एषणाएँ हैं— प्राणैषणा, धनैषणा तथा परलोकैषणा। इन तीनों ही एषणाओं के प्रति जिस व्यक्ति में आकांक्षा होती है वही पुरुष है। इन एषणाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को उत्साहित मन एवं स्फूर्ति बुद्धि युक्त होकर शारीरिक सामर्थ्य तथा मानसिक दृढ़ विश्वास से सांसारिक समृद्धि व परलोक प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए। उपर्युक्त तथ्यों को आचार्य ने निम्नांकित उद्धरण से प्रस्तुत किया है। यथा—

इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धि पौरुष पराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा-प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति। च० सू० ११/३.

इन एषणाओं में सर्वप्रथम प्राणैषणा (प्राण धारण की आकांक्षा) ही सभी प्राणियों के समक्ष उपस्थित होती है। क्योंकि प्राण परित्याग से सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग हो जाता है। इस प्राणैषणा के यावज्जीवन परिपालन के निमित्त व्यक्ति के स्वास्थ्य रक्षण के लिए स्वस्थवृत्त का अनुसरण तथा रोगग्रस्त व्यक्ति के रोग मुक्ति में सावधानी रखनी चाहिए। प्राणैषणा के निमित्त ही उपर्युक्त उभयविध (स्वास्थ्य रक्षण व आतुर विकार शमन) वृत्तियों का निर्देश किया गया है तथा आगे भी कहा जायेगा। उभयविध वृत्तियों के परिपालन से प्राण की रक्षा होती है और प्राण रक्षा से व्यक्ति दीर्घ जीवन को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रथम प्राणैषणा का प्रतिपादन किया गया है। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत् पूर्वतरमापद्येत। कस्मात्? प्राण परित्यागे हि सर्वत्यागः। तस्यानुपालनंस्वस्थस्य स्वस्थवृत्तानुवृत्तिः, आतुरस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः, तदुभयमेतदुक्तं वक्ष्यते च, तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुरवाप्नोति इति प्रथमैषणा व्याख्याता भवति। च० सू० ११/४.

आगे दूसरी धनैषणा की महत्ता प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं कि—प्राणैषणा के पश्चात् दूसरी धनैषणा की पूर्ति के लिए व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि प्राण रक्षा के पश्चात् धन की ही प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील होना चाहिए। धन प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशीलता इसलिए अपेक्षित है कि धनाभाव के दुःख से बढ़कर कोई दुःख नहीं है। उस व्यक्ति के समान और कोई दुःखी नहीं है जो कि साधन हीन होते हुए भी दीर्घ आयु वाला होता है। इस कारण आरोग्य, भोग व धर्म के साधनभूत धन की प्राप्ति के लिए व्यक्ति प्रयत्न करे। इस प्रसंग में धन अर्जित करने के निम्नांकित उचित उपायों का आचार्य ने निर्देश किया है। यथा कृषिकर्म, पशुपालन, वाणिज्य तथा राज कार्यों में सेवा आदि, इसके अतिरिक्त भी सज्जनों द्वारा जो कार्य अनिन्दित हो तथा प्रशंसित हो एवं जिसे कि धनोपार्जन के योग्य जाने उसे करना आरम्भ करे। ऐसा करते हुए व्यक्ति बिना अपमानित हुए ससम्मान दीर्घ जीवन जीता है। इस प्रकार यह द्वितीय धनैषणा का प्रतिपादन किया गया। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत, प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्येऽष्टव्यं भवति, नह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः, तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपायाननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—कृषि पाशुपाल्य वाणिज्य राजोपसेवादीनि, यानि चान्यानपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्त्तुं, तथा कुर्वन् दीर्घजीवित जीवत्यनवमतः पुरुषो भवति। च० सू० ११/५.

आगे आचार्य ने परलोकैषणा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि—प्राणैषणा तथा धनैषणा की उपलब्धि होने पर पुरुष के लिए अभीष्ट परलोकैषणा की उपलब्धि की आकांक्षा उपस्थित होती है। किन्तु साधारण पुरुष को संशय होता है कि—इस शरीर के नाश के पश्चात् हम पुनः जन्म लेंगे अथवा नहीं। इस संशय के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि—यह संशय क्यों होता है। कहा जाता है कि कुछ लोग ऐसे हैं जो कि प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानकर और पुनर्भव को परोक्ष (अप्रत्यक्ष) होने के कारण नास्तिक्य बुद्धि का आश्रय लेते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे लोग हैं जो कि शास्त्रोपदेश के विश्वास से पुनर्भव मानते हैं। इस सम्बन्ध में शास्त्रों में भी मत वैभिन्य है। यथा—कुछ लोग माता पिता को जन्म का कारण मानते हैं, कुछ लोग स्वभाव को अर्थात् प्राणियों का जन्म स्वाभाविक रूप से होता रहता है, कुछ पर निर्माण अर्थात् अज्ञात शक्ति विशेष परमात्मा से जन्म होता है और कुछ यदृच्छा अर्थात् बिना किसी कारण कार्य परम्परा के संयोगवश जन्म हो जाता है। इस प्रकार पुनर्भव के सम्बन्ध में शास्त्रों का भी भिन्न-भिन्न मत है। ये सभी मतानुयायी आत्मा की पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार करते जो कि पुनर्भव का हेतु है। इन्हीं कारणों से संदेह

होता है कि पुनर्भव (पुनर्जन्म) होता है कि नहीं । प्रस्तुत प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है । यथा—

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत । संशयश्चात्र, कथं ? भविष्याम इतश्च्युता न वेति; कुतः पुनः संशय इति उच्यतेसन्ति ह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः; सन्ति चागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति; श्रुतिभेदाच्च—

मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम् ।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः ।।

अतः संशयः—किं नु खल्वस्ति पुयर्भवो न वेति । च० सू० ११।६.

पुनर्भव के विषय में उपर्युक्त शंका के समाधान में आचार्य कहते हैं कि—पुनर्भव के प्रसंग में बुद्धिमान् व्यक्ति नास्तिक्य (परलोक के अस्तित्व को नकारना) बुद्धि तथा संशय का नाश करे अर्थात् बुद्धि में ऐसा विचार न लाये । क्योंकि प्रत्यक्ष अल्प होता है अर्थात् प्रत्यक्ष की सोमा या सामर्थ्य सीमित क्षेत्र तक ही होता है और अप्रत्यक्ष या परोक्ष अत्यधिक होता है जो कि आगम (शास्त्र व आप्तोपदेश) अनुमान व युक्ति के द्वारा जाना जाता है । जिन इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वे इन्द्रियाँ ही स्वयं व्यक्ति के लिए अप्रत्यक्ष हैं । प्रस्तुत प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है । यथा—

तत्रबुद्धिमान्नास्तिक्य बुद्धि जह्याद्विचिकित्सां च । कस्मात् ? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्; अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति; यदागमानुमान युक्तिभिरुपलभ्यते; यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि । च० सू० ११।७.

प्रत्यक्ष ज्ञान में विविध कारणों से उपस्थित बाधाओं को लक्ष्य कर आचार्य ने प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाओं को रेखांकित करते हुए कहा है कि– विद्यमान वस्तु की उपस्थिति होने पर भी चक्षु के अत्यन्त सन्निकट होने से यथा–नयनगत कज्जल आदि, अत्यधिक दूर होने से, आँख की ओट होने से, वस्तुओं की समानता से यथा—आम्रफलों की राशि में किसी एक विशेष आम्रफल की उपस्थिति की जानकारी में व्यवधान हो जाना । व्यक्ति के देखते हुए भी एक समान ही सभी आम्रफलों के होने से किसी विशेष आम्रफल की जानकारीं नहीं हो पाती । इन विविध कारणों के अतिरिक्त भी प्रत्यक्ष हीते हुए भी वस्तु की जानकारी नहीं हो पाती यथा—आँख की दुर्बलता से अथवा मन की चंचलता से । प्रकाश की अत्यन्त तीव्रता से अथवा प्रकाश की अत्यन्त मन्दता से भी प्रत्यक्ष वस्तु की ज्ञानोपलब्धि नहीं होती । उपर्युक्त विविध कारणों से प्रत्यक्ष वस्तुओं का भी ज्ञान नहीं होता । इस कारण बिना विचार वाले व्यक्ति ही

ऐसा कहते हैं कि जो वस्तु प्रत्यक्ष है उसी की सत्ता है और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं।

त्रिविध शास्त्रों के अनुसार जन्म के भिन्न २ कारणों को युक्ति विरुद्ध प्रतिपादित करते हुए आचार्य ने उनके वचनों का प्रत्याख्यान (खंडन) किया है तथा वेद सम्मत पुनर्भव को चतुर्विध प्रमाणों से सिद्ध कर परलोकैषणा के सम्बन्ध में उठे संशय का समाधान प्रस्तुत किया है। विविध शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित जन्म के भिन्न २ कारणों को आचार्य ने निम्नोक्त रीति से युक्ति विरुद्ध प्रतिपादित करके उनके मतों का खंडन किया है।

माता-पिता को जन्म का कारण मानने वाले के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि—माता-पिता की आत्मा यदि सन्तान में जाती है तो वह दो प्रकार से जा सकती है, या तो आत्मा पूर्णतः सन्तान में जायेगी अथवा अवयव के रूप में। यदि आत्मा संतान में पूर्णतः जाती है तो माता या पिता की मृत्यु हो जायेगी। और यदि यह कहा जाय कि आत्मा अवयव रूप में संतान में जाती है तो यह युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि नित्य, निरवयव और सूक्ष्म आत्मा का अवयव नहीं हो सकता। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि संचरेत्।
द्विविधं संचरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा॥
सर्वश्चेत् संचरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत्।
निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः॥

च० सू० ११/९-१०.

यदि यह कहा जाय कि आत्मा का संतान में संचरण नहीं होता बल्कि बुद्धि और मन का संचरण होता है तो यह भी युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि बुद्धि और मन भी आत्मा के समान ही सूक्ष्म और निरवयव हैं। यदि पूर्णतः बुद्धि या मन का संतान में संचरण होता है तो माता या पिता दोनों में कोई एक बुद्धिहीन या मन विहीन हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा के पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार जन्म का कारण न मानने वालों के लिए चतुर्विध योनि (जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज) भी नहीं हो सकती। क्योंकि जरायुज और अण्डज का जन्म तो किसी प्रकार माता पिता से स्थापित किया जा सकता है किन्तु स्वेदज और उद्भिज्ज के विषय में यह संभव नहीं। इस प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव ते।
येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा॥ च० सू० ११/११

जो शास्त्र पंचभूतों के संयोग से स्वाभाविक रूप से चैतन्य की अभिव्यक्ति को मानते हैं उनके मत का प्रत्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि—यदि पंचभूत और चेतना धातु के संयोग से जन्म माना जाता है तो पंचभूतों और चेतना धातु इन छओं के संयोग और वियोग में कर्म को ही कारण मानना पड़ेगा। इस उपपत्ति के आधार पर भूतों के संयोग और चेतना धातु के संयोग में जिससे प्राणियों में चेतनता आती है इस मत को स्वीकार करने पर भी जन्मान्तर कृत कर्म को भी स्वीकार करना पड़ेगा। फलस्वरूप निष्कर्ष रूप में प्रेत्यभाव (परलोक स्थिति) भी स्वीकृत (सिद्ध) हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां धातूनां स्वलक्षणम्।
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम्॥ च० सू० ११।१२

तत् भूत संयोग विभाग कारण जन्मान्तर कृत कर्म स्वीकारात् प्रेत्यभाव स्वीकृतो भवतीति भावः। च० सू० ११/१२ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

परनिर्माण या किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा प्राणियों की सृष्टि का पक्ष स्वीकार करने पर अनादि चेतना धातु का किसी दूसरे के द्वारा निर्माण यह विचार युक्ति विरुद्ध लगता है। और यदि यह कहें कि पर आत्मा (श्रेष्ठ आत्मा) या परमात्मा जन्म का कारण है तो ऐसा परनिर्माण हमें भी इष्ट (स्वीकार) है। इसी तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त उद्धरण में प्रतिपादित किया है। यथा—

अनादेश्चेतना धातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।
पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः॥ च० सू० ११।१३

यदृच्छावाद (बिना किसी कार्य कारण भाव के संयोगवश किसी घटना का होना) के मत का खंडन करते हुए आचार्य कहते हैं कि—यदृच्छावादियों के मत में न परीक्षा (तथ्यों को प्रमाणों द्वारा जांच परख करना) है और न कुछ परीक्ष्य (प्रमाणों द्वारा जानने योग्य तथ्य), न कोई कर्त्ता है और न ही कोई कारण (सृष्टि का कारण)। यदृच्छावादी देवता, ऋषि एवं सिद्ध पुरुषों पर विश्वास नहीं करते और न ही कर्म अथवा कर्मफल को मानते हैं। ऐसे नास्तिक जो कि यदृच्छावाद से अभिभूत (प्रभावित) हैं उनके लिए आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। नास्तिक्य बुद्धि का आश्रय लेने वाले यदृच्छावादी के समान कोई पापी नहीं है। क्योंकि यदृच्छावादी कर्मवाद को न मानने के कारण भले बुरे कर्मों का विचार नहीं करते, अतः मिथ्या ज्ञानवश बुरे से बुरा कर्म कर डालते हैं तथा परिणामस्वरूप अत्यन्त दुःख के भागी होते हैं। उपर्युक्त तथ्यों को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

न परीक्षा न परीक्ष्यं च न कर्ता कारणं न च।
न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।
पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः॥
च० सू० ११।१४-१५.

नास्तिक्य बुद्धि को त्यागने का उपदेश करते हुए भगवान पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं कि—बुद्धिमान व्यक्ति अधर्म मार्ग में ले जाने वाली नास्तिक्य बुद्धि को त्याग दे तथा सज्जनाभिमत बुद्धि प्रदीप (ज्ञानालोक) से तथ्यों को देखे अर्थात् जो तथ्य वस्तुतः जैसा है उसमें अपनी बुद्धि रूपी ज्ञान चक्षु से अथवा विवेक दृष्टि से तदनुसार देखे या समझे। इस प्रसंग में निम्नोक्त आचार्य वचन द्रष्टव्य है। यथा—

तस्मान्मतिं विमुच्यैताममार्गं प्रसृतां बुधः।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथातथम्॥ च० सू० ११।१६

इस प्रकार आचार्य चरक ने परलोकैषणा के सम्बन्ध में उत्थापित शंकाओं तथा जन्म के कारण में विविध मतावलम्बियों द्वारा प्रस्तुत विचारों का निराकरण करके प्रमाण चतुष्टय से पुनर्भव की सिद्धि प्रतिपादित किया है। प्रमाण चतुष्टय का विवेचन हम एक स्वतन्त्र शीर्षक से आगे करेंगे। किन्तु इस प्रसंग में परलोकैषणागत मूल तथ्य पुनर्भव की सिद्धि में आचार्य ने प्रमाण चतुष्टय के माध्यम से किन युक्तियों से किया है उसका उल्लेख विषय के स्पष्टीकरणार्थ अपेक्षित है।

सभी सत् (प्रमाणगम्य भावरूप विधि विषय) तथा असत् (प्रमाणागम्य अभाव-रूप विषय) वस्तुओं की चार प्रकार से परीक्षा करनी चाहिए। ये चार परीक्षायें हैं आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा युक्ति। इन चतुर्विध परीक्षाओं की परिभाषा, परिचय तथा उपादेयता के विषय में हम आगे के शीर्षक में विचार करेंगे। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य ने इन चतुर्विध परीक्षाओं की युक्तियों से पुनर्भव की सिद्धि किस प्रकार किया है उसी का विचार करेंगे।

आप्तोपदेश या आप्तागम वेदों को कहते हैं इनके अतिरिक्त भी जो तथ्य वेदार्थ से अविपरीत, परीक्षकों द्वारा परीक्षित, शिष्ट जनों द्वारा अनुमोदित व लोक कल्याण में व्यवहृत हो वह भी आप्तोपदेश ही है। आप्तोपदेश से यह ज्ञात होता है कि दान, तप, यज्ञ, सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य आदि का आचरण व पालन करना अभ्युदय (भौतिक सुख समृद्धि) और निःश्रेयसकर (मोक्ष प्राप्ति कारक) होता है। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

तत्राप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः

शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः, स चाप्तागमः, आगमादुपलभ्यते—दान-तपो यज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदय निःश्रेयसकराणीति। च० सू० ११।२७.

आप्तोपदेशाभिमत पुनर्भव की प्रामाणिकता को प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं कि—धर्म में तत्पर तथा भय, राग, द्वेष, लोभ मोह एवं मान (अभिमान) आदि दोषों से मुक्त एवं कर्म को जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ पुराकाल के पुरातन आप्त महर्षियों के द्वारा अपने अप्रतिहत (अबाधित) मानस व बुद्धि शक्ति से प्राप्त दिव्य ज्ञान से स्वयं ही पुनर्भव का अनुभव प्राप्त करके इसकी सिद्धि को प्रतिपादित किया गया हैं। ऐसा निश्चित व असंदिग्ध विचार जानना चाहिए। निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगत भयरागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्म विद्धि-रनुपहत सत्त्वबुद्धि प्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुभिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम्। च० सू० ११।२९.

इस प्रकार आचार्य ने आप्तोपदेश प्रमाण से पुनर्भव सिद्धि को प्रतिपादित किया है। दूसरे प्रमाण प्रत्यक्ष के द्वारा पुनर्भव की सिद्धि की सीमाओं को लक्ष्य कर आचार्य का अभिमत है कि—यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से पुनर्भव की सिद्धि नहीं की जा सकती तथापि इसके द्वारा पुनर्भव को जानने योग्य अनुमानगत तथ्यों का ज्ञान होता है जो कि इसकी सिद्धि में सहायक होते हैं। प्रत्यक्षमूलक तथ्यों के आधार पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि पूर्वजन्मकृत कर्मों के कारण ही मनुष्यों में निम्नांकित भेद पाया जाता है। पुनर्भव के अस्तित्व सिद्धि में अनुमान ग्राह्य निम्न प्रत्यक्षमूलक तथ्य देखे जाते हैं। यथा—माता पिता के असमान सन्तान का होना, एक ही माता पिता से उत्पन्न सन्तानों में वर्ण, स्वर, आकृति, मन, बुद्धि एवं भाग्य की भिन्नता, मनुष्यों का उच्च व नीच कुल में जन्म, किसी का दास होना व किसी का स्वामी होना, किसी का सुखी जीवन व किसी का दुःखी जीवन, आयु की भिन्नता यथा—किसी का दीर्घायु होना व किसी का अल्पायु होना, जो कर्म वर्तमान जीवन में नहीं किये गए हैं फिर भी अनिष्ट कर्मफल को भोगना, तत्काल जात अशिक्षित शिशु का रोना, स्तन पान करना, एवं हँसने व डरने की प्रवृत्ति का होना (यदि पुनर्भव न माना जाय तो बिना पूर्व अनुभव के जन्म के तत्काल पश्चात् अशिक्षित शिशु कैसे रोता है, स्तन पान कैसे करता है तथा हर्षोत्पादक व भयोत्पादक भावों को जानकर उसमें हँसने व डरने की प्रवृत्ति कैसे होती है, शरीर में अच्छे या बुरे फलों की प्राप्ति के लक्षणों की उत्पत्ति, कर्म की समानता होने पर भी कर्म फल में भिन्नता, किसी में

प्रतिभा का होना किसी में न होना, किसी में जातिस्मर (मैं यहाँ आया तथा पूर्वजन्म में अमुक कुल में अमुक व्यक्ति के यहाँ जन्मा था एवं मेरा ऐसा परिवार था आदि का बोध होना) गुण का होना, समान दर्शन होने पर भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में किसी के प्रति प्रीति व किसी के प्रति द्वेषभाव होना आदि। इन प्रत्यक्ष मूलक तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि पूर्वजन्म कृत शुभ अशुभ कर्म के अनुसार ही उपर्युक्त भिन्नताओं की उपस्थिति होती है तथा इन भिन्नताओं को युक्तिसंगत रूप में समझा जा सकता है। इस सन्दर्भ में आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्य संभवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्य विशेषाः, प्रवरावर कुले जन्म, दास्यैश्वर्यं, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम्, इह कृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनां प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फल विशेषः, मेधा क्वचित् क्वचित् कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम्-इहागमनमितश्च्युतानामिति, समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्।

च० सू० ११।३०.

उपर्युक्त प्रत्यक्षमूलक लक्षणों से अनुमान किया जाता है कि अपने पूर्वजन्म में किया हुआ जो अपरिहार्य (जो बिना भोगे हटाया नही जा सकता) एवं अविनाशी कर्म है जिसकी दैव (भाग्य) संज्ञा दी जाती है वह कर्म आनुबन्धिक (कर्मफल भोगे जाने तक रहने वाला) होता है और जो कुछ भी व्यक्ति को भोगना पड़ता है वह उसी का परिणाम होता है। इस जन्म में किए गये कर्म का दूसरे जन्म में फल होगा। अतः कर्मफल होने से इसके बीज (कर्मफल का कारण) का अनुमान किया जाता है, और बीज (कारण) से फल (कार्य) का अनुमान होता है। आचार्योक्त निम्नवचन द्रष्टव्य है। यथा—

अत एवानुमीयते—यत्—स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म, तस्यैतत् फलम्, इतश्चान्यद्भविष्यतीति फलाद्बीजमनुमीयते; फलं च बीजात्।

च० सू० ११/३१.

आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन तीन प्रमाणों द्वारा पुनर्भव की सिद्धि करने के पश्चात् आचार्य ने युक्ति प्रमाण (अनेक विध उपायों से प्राप्त निष्कर्ष) द्वारा भी पुनर्भव की प्रामाणिकता प्रतिपादित किया है। पुनर्भव की सिद्धि निम्नोक्त युक्तियों से प्रमाणित होती है। यथा—षड्धातु (पंचभूत तथा चेतन तत्त्व) के संयोग से गर्भ का होना, कर्ता और कर्म के साधनों के संयोग से क्रिया का संपादित होना, किए गए कर्म का परिणाम होना, न किए गये कर्म का परिणाम न होना, बिना बीज के अंकुरोत्पत्ति का न होना, कर्म के अनुसार ही फल (परिणाम) का होना तथा अन्य

बीज से अन्य फल की उत्पत्ति नहीं होना अर्थात् आम्रफल बीज से आम्रफल का ही होना अन्य फल का न होना आदि अनेक युक्तियों से पुनर्भव की सिद्धि होती है।

उपर्युक्त विषय गत तथ्यात्मक निष्कर्ष ही युक्ति है। इस प्रसंग में निम्नोक्त उद्धरण द्रष्टव्य है। यथा—

युक्तिश्चैषा—षड्धातु समुदयाद्गर्भजन्म; कर्तृकरण संयोगात् क्रिया; कृतस्य-कर्मणः फलं नाकृतस्य। नांकुरोत्पत्तिरबीजात्; कर्मसदृशं फलं; नान्यस्माद्बीजादन्यस्योत्पत्तिः इति युक्तिः। च० सू० ११।३२.

इस प्रकार आचार्य ने चतुर्विध प्रमाणों से पुनर्भव की सिद्धि करते हुए परलोकैषणा के अस्तित्व व औचित्य का प्रतिपादन किया है। चतुर्विध प्रमाणों से पुनर्भव को प्रमाणित करने के पश्चात् आचार्य ने परलोकैषणा की सफलता के निमित्त धर्म साधनों में तत्पर रहने का निर्देश किया है। ये धर्मसाधन हैं—गुरु की सेवा, अध्ययन में प्रवृत्ति, अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य पालन एवं अपरिग्रह (उचित आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह न करना) आदि व्रतों का पालन, शास्त्रोक्त विधि से विवाह करके संतानोत्पादन करना, अपने आश्रित जनों का भरण पोषण, अतिथि सत्कार, दान करना, परद्रोह चिन्तन न करना, तपस्या करना (किसी शुभ लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वदा तत्पर) किसी से ईर्ष्या न करना, हितकर दैहिक, वाचिक तथा मानसिक कार्यों में तत्परता, शरीर, इन्द्रिय, मन, मन के विषय, बुद्धि तथा अपने कर्तव्याकर्तव्यों की परीक्षा करते हुए मन को एकाग्र (अपने श्रेष्ठ लक्ष्य में स्थिर रखना) आदि कर्म तथा इसके अतिरिक्त भी जो कर्म सज्जनों द्वारा निन्दित नहीं हैं व स्वर्ग में ले जाने वाले हैं एवं अपनी वृत्ति (पेशा) को पोषित (पुष्ट) करने वाला जानें उन्हें करना प्रारम्भ करे। ऐसा करते हुए व्यक्ति इस लोक में यश को प्राप्त करता है और मृत्यु के पश्चात् उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह तीसरी परलोकैषणा का प्रतिपादन किया गया। आचार्योक्त मूल उद्धरण निम्नांकित है। यथा—

एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्ववधीयेत, तद्यथा—गुरुशुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादनेभृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाङ्मनसे कर्मण्यक्लिष्टे देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मपरीक्षायां मनः समाधाविति, यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि सतामविगर्हितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुं, तथा कुर्वन्निह चैवयशो लभते प्रेत्य च स्वर्गम्। इति तृतीया परलोकैषणा व्याख्याता भवति। च० सू० ११।३३.

इस प्रकार आचार्य ने अनुचित व शास्त्र विरुद्ध कर्म न करने वाले एवं मानसिक

विकारों से मुक्त व्यक्तियों के लिये पुनर्भव के धर्मसाधनों का उपदेश किया है। वस्तुतः परलोकैषणा की साधना सभी व्यक्तियों को स्वीकार्य व प्रिय नहीं है, अतः आचार्य उचित अधिकारी के लिए ही परलोकैषणा के प्राप्ति में सहायक धर्मसाधनों का उपदेश किए हैं न कि सर्व साधारण के लिए। जैसा कि आचार्य ने स्वयं के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट किया है। यथा—

एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते।
परीक्ष्यं सदसच्चैव तया चास्ति पुनर्भवः॥ च० सू० ११।२६

अर्थात् उपर्युक्त चतुर्विध प्रमाणों से ही सभी तथ्यों की परीक्षा की जाती है अन्य किसी साधन से नहीं। वस्तुओं की सत्ता, असत्ता (विद्यमानता या अविद्यमानता) इन चतुर्विध प्रमाणों से ही परीक्षा करने योग्य है, और इस परीक्षा से पुनर्भव का अस्तित्व सिद्ध होता है।

मानव मात्र के लिए उचित व उपादेय इन त्रिविध एषणाओं के सम्बन्ध में आवश्यक विवरण का विचार करने के पश्चात् हम इन एषणात्रय के विवेचन की उपादेयता का विवरण प्रस्तुत करना चाहेंगे जिससे कि आयुर्वेद के सन्दर्भ में इनकी उपयोगिता व प्रासंगिकता की स्पष्ट जानकारी हो सके।

तिस्रैषणीयवाद की उपादेयता—आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों ने आयुर्वेद वाङ्मयगत समग्र विषय वस्तु को प्राणियों के स्वस्थ व सुखी जीवन को केन्द्रीकृत करके ही प्रतिपादित किया है। तिस्रैषणीय वाद भी उन्हीं सुविचारित व उपादेय शृंखलाओं की एक कड़ी है।

त्रिविध एषणाओं में प्रथम प्राणैषणा की उपादेयता स्वयं सिद्ध है। सभी प्राणी प्राणों की रक्षा को सर्वोपरि समझते है। प्राणैषणा को ही आश्रय करके दो अन्य एषणायें भी होती हैं। प्राणैषणा का ही सार्थक परिणाम स्वस्थ व सुखी जीवन है। स्वस्थ व सुखी जीवन की कामना ज्ञानी-अज्ञानी सभी को होती है। अतः स्वस्थ व सुखी जीवन की उपलब्धि हेतु प्राणैषणागत तथ्यों की जानकारी तथा तदनुसार उनका जीवन में व्यवहार करना अत्यन्त उपयोगी व अपरिहार्य है। इन्हीं अपेक्षाओं को लक्ष्यकर के आयुर्वेदोपदेशकों ने स्वतः सिद्ध एवं सर्व साधारण को ज्ञात प्राणैषणा का उपदेश किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जो तथ्य सर्व साधारण को ज्ञात तथा सहज ही व्यवहार्य है उसके बारे में आर्ष आचार्यों ने उपदेश करके किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति नहीं किया है वरन् ऐसा वर्णन उनका वाग्विलास मात्र ही है। इस विषय में यह तथ्य ध्यातव्य है कि सर्वसाधारण में प्रायः यह देखा जाता है कि जिस व्यवहार, आचरण व विचार की जितनी ही अधिक महत्ता व उपादेयता है उसकी

उतनी ही उपेक्षा की जाती है। स्वस्थ व सुखी जीवन के प्रति सर्वसाधारण की उपेक्षावृत्ति भी इस सन्दर्भ में अपवाद नहीं है। स्वस्थ व सुखी जीवन की कामना तो सर्वसाधारण को रहती है, किन्तु इसके परिपालनार्थ कर्तव्य विधि निषेध वाक्यों के अनुसार व्यवहार के प्रति व्यक्ति उदासीन रहता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत कर आचार्यों ने प्राणैषणा की प्रधानता व तदनुसार स्वस्थ व दीर्घजीवन के निमित्त पालनीय एवं त्याज्य कर्मों का निर्देश किया है। जैसे कि दीपक व तद्गत प्रकाश के प्रति सभी का ध्यान आकृष्ट होता हैं, किन्तु उसके आलोक प्रसार में साधनभूत तेल या वर्तिका के प्रति लोगों का ध्यान नहीं जाता। वस्तुतः देखा जाय तो देदीप्यमान दीपक में स्नेहाधार, स्नेह और वर्तिका ही प्रकाश के प्रधान कारण हैं तथापि इनके कारणता के प्रति जनसाधारण का ध्यान आपाततः नहीं जाता। उसी प्रकार प्राण के प्रति सभी का ध्यान जाता है किन्तु प्राणाधार शरीर व इसके आश्रयभूत दोष, धातु व मल की समता की ओर कम ही लोगों का ध्यान जाता है। जैसे कि दीपक को देदीप्यमान अवस्था में रखने के लिए स्नेहाधार, स्नेह और वर्तिका की ओर ध्यान रखना आवश्यक और अपरिहार्य है उसी प्रकार प्राण की रक्षा के लिए शरीर के साथ ही दोष, धातु एवं मल की साम्यावस्था बनाये रखना भी आवश्यक व अपरिहार्य है।

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों ने जीवन की सार्थक व उत्कृष्ट परिणति के निमित्त ही प्राणैषणा के विचार का प्रतिपादन किया है। प्राणैषणा के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के लिए सर्वप्रथम सर्वोत्तम व अपरिहार्य विचारणीय एवं प्रतिपालनीय विषय प्राण रक्षा ही है। प्राण रक्षा के अनन्तर ही मनुष्य के चरम पुरुषार्थों की उपलब्धि की कामना व तदनुसार व्यवहार की कल्पना की जा सकती है। और जब प्राण रक्षण की महत्ता एवं अनिवार्यता का ज्ञान होता है तो सहज ही इसके रक्षण में साधनभूत उपायों पर भी ध्यान जाना अपेक्षित होता है।

अतः प्राणैषणा के प्रतिपादन से आचार्य ने प्राण की महत्ता व अनिवार्यता को रेखांकित करते हुए इसकी चरितार्थता स्वस्थवृत्तानुपालन व रोगोपशमन के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रकारान्तर से प्राणैषणा का प्रतिपाद्य तथ्य स्वास्थ्य रक्षण व रोग प्रशमन ही है। क्योंकि इन उभयविध विधियों के प्रतिपालन से ही प्राणैषणा का फलितार्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार प्राणैषणा विषयक विचार से स्वास्थ्य रक्षण व रोगप्रशमन रूप आयुर्वेद के प्रयोजन का ही आयुर्वेदज्ञों ने प्रतिपादन किया है। एतदर्थ स्वस्थवृत्तानुपालन व रोग प्रशमन में अप्रमाद (अशिथिलता) का निर्देश किया है।

प्राणैषणा विवरण का मुख्य लक्ष्य आरोग्य जीवन है। आरोग्य जीवन ही चतुर्विध पुरुषार्थों का आश्रय है और इस आश्रय की उत्कृष्टता को हरण करने वाले रोग होते हैं। जैसा—कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

धर्मार्थकाममोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसोजीवितस्य च॥ च० सू० १/१५.

अतः आरोग्य जीवन के लिए 'स्वस्थवृत्तानुपालन तथा रोग प्रशमन में अप्रमाद' इन उभयविध तथ्यों के ज्ञान व तदनुसार आचरण करना ही प्राणैषणा की उपादेयता है। प्राणैषणा के प्रतिपादन से आचार्य ने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि व्यक्ति को जैसे अपना प्राण प्रिय होता और उसकी रक्षा के प्रति जितना ध्यान रखता है उतना ही प्रिय दूसरे का भी प्राण होता है तथा उसके रक्षा के प्रति भी ध्यान देना अपेक्षित है। समाज में एक दूसरे की प्राण रक्षा के प्रति ध्यान देने से ही मनुष्य अपने प्राण बाधा के प्रति निर्भय रह सकता है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर आचार्य ने सद्वृत्त प्रसंग में "स्त्रीभोगस्तेय हिंसाद्यास्तस्या वेगान् विधारयेत्। च० सू० ७/२९. अर्थात् मनुष्य को परस्त्री संभोग, चोरी करना, हिंसा करना आदि निषिद्ध प्रवृत्तियों के वेगों को धारण (रोकना) करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इन सभी कार्यों से विरत रहना चाहिए। इसी तथ्य को भगवान कृष्ण ने भी प्रकारान्तर से भक्तियोग प्रकरण में अर्जुन के प्रति उपदेश देते हुए कहा है कि—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ भ० गी० १२/

अर्थात् जिससे लोक (समाज के प्राणी) उद्विग्न (व्याकुल) न हों तथा जो स्वयं भी लोक से उद्विग्न न हो एवं जो हर्ष, अमर्ष (क्रोध) भय तथा व्याकुलता से मुक्त हो वह व्यक्ति मुझे (भगवान) को प्रिय है। अर्थात् वह व्यक्ति निस्सन्देह ही सुखी जीवन प्राप्त करता है। इन सभी तथ्यों के आलोक में विचार करने से प्राणैषणा विचार के प्रतिपादन की समाज में महती उपादेयता का स्पष्ट ज्ञान होता है।

अतः निष्कर्ष रूप में 'स्वस्थवृत्तानुपालन' तथा रोग प्रशमन में अप्रमाद इन उभयविध तथ्यों का ज्ञान तथा तदनुसार आचरण करना ही प्राणैषणा विचार की उपादेयता है जिससे कि व्यक्ति स्वस्थ व दीर्घजीवन प्राप्त करके पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि में प्रयत्नशील रहते हुए अपने जीवन को सार्थक बना सकता है।

धनैषणावाद की उपादेयता—जीवन यात्रा को सहज रूप से गतिशील बनाने के लिए धन की महत्ता सर्वसाधारण को विदित है। अतः प्राणैषणा के पश्चात् आचार्य ने

धनैषणा का प्रतिपादन किया है। सुखी जीवन के लिए साधन के रूप में धन की अपेक्षा सभी को होती हैं। अतः धनोपार्जन के लिए आचार्य ने कतिपय वृत्तियों (पेशों) का उल्लेख किया है। ये वृत्तियाँ यथा—कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं राजकीय सेवाएँ आदि अपनी सहज प्रतिभा व जातिगत संस्कारों के अनुसार होनी चाहिए तभी व्यक्ति अपने जीवन को यथेष्ट समृद्धिपूर्ण बना सकता है। इन वृत्तियों के अतिरिक्त भी अनेक वृत्तियाँ धनोपार्जन के निमित्त अपनाई जा सकती हैं जो कि शिष्टजनानुमोदित व समाज में अनिन्दित हों। धनोपार्जन के निमित्त उपर्युक्त वृत्तियों के उल्लेख से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य उन्हीं वृत्तियों से धनोपार्जन का निर्देश करते है जो कि समाज द्वारा समर्थित व प्रशंसित हों। इसके विपरीत चौर्यकर्म, द्यूत व मिथ्याचरण से अर्जित धन को निन्दित ब परित्याज्य बतलाते हुए इनका निषेध किया गया है। शिष्टजनानुमोदित वृत्ति द्वारा उपार्जित धन से ही मानवजीवन तनावरहित व संतुष्ट रह सकता है। तनाब रहित व संतुष्ट जीवन ही पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि में सहायक हो सकता है। अतः आचार्य ने संकेत रूप से इसी तथ्य को अभिव्यक्त करने के निमित्त धनैषणा का प्रतिपादन किया है। सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं। सुख की प्राप्ति के लिए सुख के साधनों का भी निर्दोष रहना आवश्यक है। इसी कारण आचार्य ने उचित वृत्तियों के द्वारा ही धनोपार्जन का निर्देश किया है। धनैषणा के प्रतिपादनै से आचार्य ने जीवन के धन की उपयोगिता को अंगीकार करते हुए शिष्टजनानुमोदित वृत्तियों के द्वारा ही उपार्जित धन की श्रेष्ठता बतलाया है जो कि मनुष्य को सुखी जीवन प्रदान कर पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति में सहायक हो सकता है।

जिस प्रकार समाज परस्पर एक दूसरे के प्राणों की रक्षा के प्रति मनुष्य को सावधान व सचेष्ट रहना चाहिए उसी प्रकार धनैषणा के सन्दर्भ में भी मनुष्य को एक दूसरे की वृत्ति (धनोपार्जन का साधन) के प्रति भी परस्पर सहयोग की भावना व तदनुसार व्यबहार करना चाहिए। जब सभी व्यक्ति एक दूसरे की वृत्ति की रक्षा के प्रति सावधान रहते हुए किसी के वृत्ति को क्षति नहीं पहुँचाते तो उसकी वृत्ति की रक्षा भी निर्विघ्न होती रहती है। अनुचित रीति से अर्जित धन मनुष्य को अनुचित कार्यों की ओर प्रेरित करता है जिससे वह कर्तव्याकर्तव्य के प्रति किंकर्तव्य बिमूढ़ होकर उचित मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। अनुचित रीति से उपार्जित धन की रक्षा के प्रति भी व्यक्ति सदैव चिन्तित रहता है क्योंकि उसे सदा यह भय बना रहता है कि—मैंने अनुचित रूप से जो धन उपार्जित किया है वह किसी न किसी दिन विपत्ति का कारण हो सकता है। इस प्रकार की दुश्चिन्ताओं से ग्रस्त व्यक्ति अनेक बिष रोगों से पीड़ित होते हुए अपने जीवन को दुःखमय बना लेता है। अतः इन सभी अनिष्टकारी स्थितियों

से बचने के लिए आचार्योक्त धनैषणा रिचार का आश्रय लेना व तदनुसार व्यवहार करना अत्यावश्यक है।

उपयुंक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने से यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि सुखी व सार्थक जीवन के लिए आचार्योक्त धनैषणा बिवरण की कितनी महत्ता व उपादेयता है। विस्तार भय से धनैषणा के विशाल परिक्षेत्रीय उपादेयता का विवरण नहीं दिया जा रहा है। पाठकों के निदर्शनार्थ संक्षिप्त विवरण से ही धनैषणा की उपादेयता का विवेचन किया गया है।

परलोकैषणावाद की उपादेयता—जहाँ तक परलोकैषणा विषयक विचारों की उपादेयता का सम्बन्ध है यह तथ्य सर्वविदित है कि समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा मनुष्यों के समष्टिगत व व्यष्टिगत जीवन को सुखपूर्वक रीति से व्यतीत करने के लिए कुछ विधि निषेधों का पालन तथा परित्याग करना पड़ता है। यों तो सामाजिक विधि नियम व्यवस्थाओं का नियन्त्रण समष्टि रूप से रहता है तथापि सामाजिक मर्यादाओं का बहुत कुछ नियंत्रण तथा लोकहित के अनुकूल व्यवहार व्यक्ति की व्यष्टिकृत (प्रत्येक व्यक्ति द्वारा आचरित) नैतिकता, सहानुभूति तथा समवेदना पर आश्रित रहता है। और यदि व्यक्तियों में इन उपर्युक्त भावों का समावेश तथा तदनुसार व्यवहार होता हैं तो निश्चय ही मानव समाज सुख व शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ अभ्युदय (भौतिक समृद्धि) को भी प्राप्त करता है। व्यष्टिकृत नैतिकता व उदारता का नियंत्रण व व्यवहार परलोकैषणागत कर्मवाद सिद्धांत से ही असंदिग्ध रूप से होता है। कर्मवाद सिद्धांत के अनुयायी प्रायः निषिद्ध कर्मों से अपने को विरत रखते हुए विधिसम्मत कार्यों का यथाशक्य सम्पादन करते हैं। कर्मवादियों का संस्कार ही ऐसा होता है कि वे निषिद्ध कर्म को करने से डरते हैं तथा विहित कर्मों को पूरा करने में संचेष्ट रहते हैं। इस प्रकार कर्मवादी व्यक्ति स्वतः नियंत्रित रहता हुआ निषिद्ध कर्मों का त्याग तथा विधि कार्यों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार कर्मवाद सिद्धांत के संस्कार वश ही व्यष्टिकृत आचरणों से मानव समाज मर्यादित व सुसंगठित रहता हुआ सुखी व शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहता है।

यद्यपि कर्मवाद के अनुयायियों में भी कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो कर्मवाद में विश्वास करते हुए भी निषिद्ध कर्मों का त्याग व विधि सम्मत कार्यों का पालन नहीं कर पाते। किन्तु ऐसे लोग यह तो मानते ही हैं कि पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार ही उनमें वैसा स्वभाव बना हुआ है जिसके कारण उनके जीवन में जो भी दुःख होना है होकर ही रहेगा। ऐसे व्यक्ति भी कर्मवाद के संस्कार से बंधे हुए कम से कम अपने द्वारा

किए गये अनुचित कार्यों से पश्चाताप की शोकाग्नि से पीड़ित होते हैं तथा उनमें अपने को सुधारने की प्रवृत्ति होती है और अन्ततः सुधर भी जाते हैं। इसके विपरीत यदि व्यक्ति कर्मवाद के सिद्धांत को नहीं मानता वह नास्तिक्य बुद्धि से ग्रस्त होकर कर्तव्या-कर्तव्य की परवाह न करते हुए कुछ भी कर सकता है जो कि समाज व स्वयं उसके लिए भी घातक हो जाता है। कर्मवाद सिद्धांत के प्रति अविश्वास तथा विधि निषेध के पालन व त्याग के नियमों को न मानने के कारण ही आधुनिक समाज समुन्नत विकास व समृद्धि के होते हुए भी दुःखी है। किसी व्यक्ति को किसी के प्रति विश्वास नहीं है तथा सभी एक दूसरे से भयभीत हैं। समाज में उच्छृङ्खलता व अराजकता की स्थिति कर्मवाद सिद्धांत के प्रति अविश्वास के ही कारण है। कर्मवाद को न मानने वाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि उच्च आदर्शों की भी उपेक्षा करते हैं जिससे कि आज मानव समाज प्रायः विश्रृंखलित (विघटित) सा होता जा रहा है। व्यक्ति पूर्णतः आत्मकेन्द्रित होते हुए दूसरों के सुख दुःख के प्रति उदासीन हो गया हैं। स्थिति इतनी भयावह होती जा रही है कि व्यक्ति अपने संकुचित स्वार्थ की पूर्ति के लिए बड़े से बड़े जघन्य कार्यों को भी करने से नहीं हिचकता। ऐसे स्वार्थी व्यक्ति में न नैतिकता होती है और न विवेक, परोपकार की भावना तो उसे स्पर्श भी नहीं कर पाती।

यदि मानव समाज को सुखमय व शांतिपूर्ण जीवन प्राप्त करना है तो व्यक्तियों में कर्मवाद व आस्तिकता के भावों को जगाना होगा। कर्मवाद व आस्तिकता के आश्रय से ही मानव समाज में विश्वबंधुत्व की भावना हो सकती है। उदारता व परोप-कारिता का भाव तो निस्संदेह ही कर्मवाद व आस्तिकता के मूल से ही प्रसूत हो सकता है। यदि समाज में उदारता का भाव आ जाता है तो तो उसके लिए फिर अपना पराया कुछ रह ही नहीं जाता। उसके लिए तो सम्पूर्ण विश्व ही अपना कुटुम्ब (परिवार) सा लगता है। किसी आप्त पुरुष ने ठीक ही कहा है कि—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां नु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

उपर्युक्त विचारों के आलोक में विचार करने से परलोकैषणावाद की जनसाधा-रण में क्या उपादेयता है? यह तथ्य स्पष्ट ज्ञात होता है।

इस प्रकार संक्षेप में शीर्षकानुगत तिस्रैषणीयवाद की उपादेयता का विवरण प्रस्तुत किया गया।

—

प्रमाण चतुष्टयवाद

भगवान पुनर्वसु आत्रेय ने प्रत्यक्षवादी नास्तिकों के पुनर्भव परलोकमत के प्रति अविश्वास का खण्डन करते हुए और वेदानुमत पुनर्भव व परलोकवाद की स्थापगा करते हुए चतुर्विध प्रमाणों का विवेचन किया है। चतुर्विध प्रमाणों से महर्षि आत्रेय ने पुनर्भव की सिद्धि करते हुए सर्वसाधारण में शुभ-अशुभ कर्मों के अबश्यंभावी फल की प्रामाणिकता का विश्वास दिलाया है तथा पुनर्भव के निश्चयात्मक अस्तित्व के विश्वास को स्थापित किया है। साथ ही भौतिक समृद्धि एवं स्वर्ग प्राप्ति के गिमित्त शुभकमों में प्रवृत्त रहने का निर्देश किया है। पुनर्भव तथा परलोक सम्बन्धी विचार पूर्णतः परोक्ष (अप्रत्यक्ष) के विषय हैं अतः इगमें सर्वसाधारण का विश्वास किस प्रकार दृढ़ हो तथा तदनुसार सामान्यजन किस प्रकार शुभ कर्म करते हुए भौतिक समृद्धि के साथ-साथ स्वर्ग की प्राप्ति करें, इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुए भगवान पुनर्वसु आत्रेय ने चतुर्विध प्रमाणों का प्रतिपादन किया है। चतुर्विध प्रमाणों के आधार पर सामान्थजन में परीक्षज्ञानमूलक पुनर्भव व स्वर्ग के प्रति भी युक्तिसंगत रूप से दृढ़ आस्था का प्रादुर्भाव होता है जो कि लोक कल्याणकारी सिद्ध होता है।

चतुर्विध प्रमाणों के प्रतिपादन की प्रयोजनवत्ता (उद्देश्य) को लक्ष्य करके महर्षि ने कहा है कि—इस जगत् में जो कुछ भी सत् (समीचीन व ग्राह्य) या असत् (असमीचीन व अग्राह्य) रूप में विद्यमान है उसके याथातथ्य (यथावत्) वस्तु स्वरूप का निर्णय (निश्चय) चार परीक्षाओं (प्रमाणों) द्वारा होता है। ये चार घरीक्षाएँ हैं—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति। प्रस्तुत प्रसंग में निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा गरीक्षा। आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं युक्तिश्चेति।

च० सू० ११/१७.

प्रमा और प्रमाण—संस्कृत साहित्य में ज्ञान शब्द सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार की जानकारी के लिए व्यवहृत होता है। यह ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ दोनों प्रकार का हो सकता है। परन्तु ('प्रमा') केवल यथार्थ ज्ञान (सत्य ज्ञान) को ही कहते है, जैसा कि आचार्य उदयन के निम्नोक्त वचन से प्रमाणित होता है। यथा—**"यथार्थानुभवः प्रमा, तत्साधनं च प्रमाणम्"** अर्थात् यथार्थ अनुभव (सत्यज्ञान) ही प्रमा है और सत्यज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं।

महर्षि आत्रेय द्वारा सत् असत् विषयों के ज्ञान के लिए व्यवहृत परीक्षा शब्द भी प्रमाण के ही अर्थ में अभिप्रेत है। परीक्षा शब्द को व्याख्यायित करते हुए आचार्य चक्रपाणि निम्नोक्त वचन में कहते हैं—**"परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति**

परीक्षा" अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप की परीक्षा अथवा याथातथ्य ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे परीक्षा कहते हैं। और वह परीक्षा उपर्युक्त चतुर्विध प्रमाण ही हैं।

आचार्य सुश्रुत ने भी चतुर्विध प्रमाणों का उल्लेख किया है किन्तु चरक संहितोक्त चतुर्विध प्रमाणों से कुछ भिन्नता के साथ। जहाँ आचार्य चरक ने आयुर्वेद में परम उपादेय 'युक्ति' प्रमाण का चतुर्विध प्रमाणों में प्रतिपादन किया है वहीं आचार्य सुश्रुत ने युक्ति प्रमाण के स्थान पर शल्य शास्त्र के लिए उपादेय 'उपमान' प्रमाण का प्रतिपादन किया है। आचार्य सुश्रुतोक्त चतुर्विध प्रमाण निम्नोक्त हैं। यथा—

तस्याङ्गवरमाद्यमागम प्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय।
सु० सू० १/१३.

शल्यशास्त्र का आद्यत्व और श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से कहा—"उस आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ और आद्य अंग का मैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणों से अविरुद्ध जो उपदेश कर रहा हूँ उसको तुम लोग धारण करो" आचार्य सुश्रुत द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त चतुर्विध प्रमाण न्याय दर्शन के उपदेष्टा महर्षि गौतम के अनुसार हैं।

चरक संहिता में एक अन्य स्थल पर तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश का उल्लेख मिलता है जो कि सांख्य और योगदर्शन के अनुसार ही है। प्रमाण के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों में भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही यथार्थ ज्ञान का साधन मानता है। बौद्ध, जैन और वैशेषिक दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करते हैं। सांख्य और योगदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। अर्वाचीन तथा प्राचीन नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को यथार्थ ज्ञान का साधन मानते है। मीमांसकों का एक समुदाय (प्रभाकर मतानुयायी) उपर्युक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त पाँचवाँ प्रमाण अर्थापत्ति भी स्वीकार करते हैं। मीमांसकों का दूसरा सम्प्रदाय जो कुमारिल भट्ट का अनुयायी है वह उपर्युक्त पाँच प्रमाणों के अतिरिक्त छठाँ प्रमाण अनुपलब्धि को भी मानता है। पौराणिक सम्प्रदाय संभव तथा ऐतिह्य नामक दो और प्रमाण अर्थात् आठ प्रमाणों द्वारा वस्तु स्थिति का निर्णय करते हैं। तांत्रिक लोग नवाँ प्रमाण चेष्टा मानते हैं। कोई-कोई आचार्य परिशेष नामक दसवाँ प्रमाण भी मानते हैं। जो दर्शन कम से कम प्रमाणों द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि करते हैं वे अन्य प्रमाणों को अपने कहे हुए प्रमाणों में ही अन्तर्भाव करते हैं। यथा—सांख्य, योग तथा आयुर्वेद के आचार्य अर्थापत्ति तथा संभव को अनुमान के अन्तर्गत तथा अनुपलब्धि या अभाव का प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में एवं ऐतिह्य का शब्द प्रमाण या आप्तोपदेश के अन्तर्गत अन्तर्भाव करते हैं।

इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य चरक द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध प्रमाणों से सभी सत्-असत् की वस्तुस्थिति का यथार्थज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः हम चरकाभिमत प्रमाण चतुष्टय को ही यथार्य ज्ञान में साधनभूत प्रमाण के रूप में विवेचित करने का प्रयास करेंगे। प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश व युक्ति इन चतुर्विध प्रमाणों में प्रत्यक्ष का लक्षण आचार्य चरक ने निम्नोक्त रीति से प्रतिपादित किया है। यथा—

आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्तातदात्वेयाबुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ च० सू० ११/२०

प्रत्यक्ष का लक्षण—आचार्य चरक ने प्रत्यक्ष का लक्षण निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है। आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के विषय, इन सभीं के सम्बन्ध से जो निश्चयात्मिका बुद्धि या ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के निमित्त उपर्युक्त चारो घटकों का एक साथ सम्बंध होना अनिवार्य है। यदि इन चारो घटकों में से किसी एक की भी न्यूनता हुई तो बाह्य जगत की वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष पद प्रति और अक्ष इन दो शब्दों का यौगिक है। प्रति का अर्थ सामने और निकट होता है। अक्ष का अर्थ इंद्रियाँ तथा नेत्र होता है इस प्रकार प्रत्यक्ष पद का अर्थ नेत्र तथा ज्ञानेन्द्रियों के सामने या सन्निकट हुआ। सन्निहित तथा साक्षात् भी प्रत्यक्ष पद का भावार्थ है। यह परोक्ष (प्रत्यक्ष से बाहर) के विपरीत अर्थ में व्यवहृत होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण अर्थात् साधकतम कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है। १—सविकल्पक और २—निर्विकल्पक। सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जिसमें यह स्पष्ट ज्ञान हो कि वह अमुक वस्तु है। निर्विकल्पक जिसमें यह स्पष्ट ज्ञान न हो कि यह क्या वस्तु है, वह ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। सबिकल्पक प्रयक्ष प्रमाण के भी दो भेद होते हैं। (१) लौकिक और (२) अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार से उपलब्ध होता है। बाह्येन्द्रिय द्वारा और अन्तरिन्द्रिय द्वारा, इन्हें क्रमशः बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। बाह्य के पुन पांच भेद होते हैं जो पंचेन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने से होता है। आभ्यन्तर (मानस) प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है। इस प्रकार सब मिलकर प्रत्यक्ष ६ प्रकार के होते हैं।

लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) ६ प्रकार का होता है। यथा-संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण विशेष्य भाव।

संयोग सन्निकर्ष—चक्षु से घड़े का प्रत्यक्ष होना संयोग सम्बन्ध है।

संयुक्त समवाय—घड़े के रंग का प्रत्यक्ष होना संयुक्त समवाय सम्बन्ध है।

संयुक्त समवेत समवाय—रंग का सामान्य रूप जानने वाले प्रत्यक्ष में संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि आँख से संयुक्त घड़े में उसका रंग समवेत (मिश्रित) है, उस रंग के साथ सामान्य रंग का समवाय सम्बन्ध है।

समवाय—कान द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष होना समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि कान के भीतर जो आकाश (खोखला स्थान) हैं वही कर्णेन्द्रिय है और शब्द आकाश का गुण होने के कारण शब्द और आकाश में समवाय सम्बन्ध है। गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता हैं।

समवेत समवाय—शब्द गुण का साक्षात्कार करना समवेत समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि शब्दत्व का शब्द के साथ समवाय सम्बन्ध है और शब्द का कान के साथ।

विशेषण विशेष्य भाव—अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होना विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध है। पृथ्वी तल पर घड़े का अभाव है ऐसा ज्ञान तब होता है जब कि घड़े का अभाब उस पृथ्वी तल का विशेषण हो जो कि आँख से संयुक्त है। यथा—घट रहित पृथ्वी इस वाक्य में घट रहित या घटाभाव पृथ्वी का विशेषण है।

इस प्रकार उपर्युक्त विविध सम्बन्धों वाला संयोग प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होता है।

आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषय से एक साथ सम्बन्ध होने से विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से विभिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यथा—घ्राणेन्द्रिय (नासिका) से इसके विषय गंध से सम्पर्क होने पर सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि का घ्राणज प्रत्यक्ष होता है। रसनेन्द्रिय (जिह्वा) विविध मधुर, अम्ल आदि स्वादों का रासन प्रत्यक्ष होता है। चक्षुरिन्द्रिय आँख का विविध रूपों से संपर्क होने पर चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का विविध शब्दों से संपर्क होने पर श्रोत्रज (कर्णेन्द्रिय में उत्पन्न) प्रत्यक्ष होता है। त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से विविध प्रकार के शीत, उष्ण, स्निग्ध, और मृदु आदि वस्तुओं का सम्पर्क होने पर त्वाची (त्वचा से उत्पन्न) प्रत्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त एक मानस प्रत्यक्ष भी होता है जिससे व्यक्ति को सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि का ज्ञान होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष—यह तीन प्रकार का होता है। १—सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति २—ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति और ३—योगज।

(१) सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति—वह अलौकिक प्रत्यक्ष है, जिससे जाति या विषय के सम्पूर्ण वर्ग का ग्रहण हो। जैसे किसी एक गौ को देखकर उसके सम्पूर्ण वर्ग या जाति का ज्ञान हो जाता है।

(२) **ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति**—वह अलौकिक प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा हमें विषय के गुणों का साक्षात् ज्ञान होता है, पर उस विषय के गुण से उसको ग्रहण करने वाली इन्द्रिय का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) नहीं होता। और एक ही समय एक प्रत्यक्ष के साथ-साथ दूसरा भी प्रत्यक्ष उसको ग्रहण करने वाली इन्द्रिय से सन्निकर्ष न होने पर भी होता है। उदाहरणार्थ जैसे—एक वरफ के टुकड़े का चाक्षुष ज्ञान के साथ-साथ उसकी शीतलता का ज्ञान होना तथा सामने दिख रहे दूरस्थ पुष्प के रमणीय रूप के साथ-साथ उसके सुगन्ध का भी ज्ञान होता है। दूरस्थ पुष्प के साथ घ्राणेन्द्रिय सन्निकर्ष न होने पर भी उसके गन्ध का अनुभव होना अलौकिक सन्निकर्ष होता है। अतः इसे ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति कहते हैं।

(३) **योगज प्रत्यक्ष**—यह असाधारण प्रत्यक्ष है जो केवल योगियों को ही साक्षात् रूप से हुआ करता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (ओट) दीवाल आदि तथा विप्रकृष्ट (काल और देश, उभय रूप से दूरस्थ) वस्तुओं का ग्रहण लोक प्रत्यक्ष द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं होता। परन्तु ऐसी वस्तुओं का अनुभव योगी लोग ही करते हैं। इनके ज्ञान के लिए प्रणिधान (देवाराधन) की सहायता अपेक्षित है। यह युक्त और युञ्जान के भेद से दो प्रकार का होता है। युक्त को सर्वदा अनुभव होता रहता है। दूसरे को अनुभव प्राप्त करने का चिन्तन होता रहता है। अर्थात् प्रयत्नशील रहने पर युञ्जान को भी व्यवहित तथा विप्रकृष्ट वस्तुओं का अनुभव हो सकता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रतिपादन के पश्चात् अनुमान प्रमाण के लक्षण तथा उसके भेद का विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य चरक निम्नोक्त वचन में कहते हैं। यथा—

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥

च० सू० ११/२१-२२.

अनुमान का लक्षण और भेद—उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने अनुमान का लक्षण एवं इसके भेद का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—प्रत्यक्ष पूर्वकत्व अर्थात् पहले से अनुभूत तथ्य के आधार पर जो ज्ञान होता है वह अनुमान कहा जाता है। यह त्रिकाल भूत (अतीत), वर्तमान और अनागत (भविष्य) तीनों काल की घटनाओं के ज्ञान में व्यवहृत होता है। जैसे—धूम से छिपी हुई अग्नि का अनुमान (वर्तमान कालिक), गर्भ देखने से मैथुन का अनुमान। (पूर्व कालिक) तथा बीज से अनागत (भविष्य कालिक) फल का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार बीज

फल के कारण कार्य के लक्षण को देखकर, कारण के अनुसार ही कार्य होता है ऐसा बुद्धिमान लोग अ मान से निश्चित करते हैं।

अनुमान पद दो शब्दों से बना यौगिक पद है। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ ज्ञान करना। 'अनु पश्चात् मीयते ज्ञायते अनेन इति अनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्व प्रत्यक्षीकृत तथ्यों के आधार पर जो पश्चात् ज्ञान प्राप्त करने में साधनभूत हो वह अनुमान कहा जाता है।

आचार्य चरक ने एक अन्य स्थल पर अनुमान को युक्ति सापेक्ष तर्क कहा है—

"अनुमानं खलु तर्कोयुक्त्यपेक्षः" च० वि० ४.

विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी उसका अवधारण (ज्ञान) युक्ति कहलाता है—उपस्कार टीका। अविज्ञात तत्त्व के अर्थ में कारण और उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिए जो 'ऊहा' होती है उसे तर्क कहते हैं—न्याय दर्शन १।१।४०। युक्ति सापेक्ष तर्क अर्थात् युक्ति के द्वारा कार्यकारण भावोपपत्ति (कार्य कारण भाव नियम) से अविज्ञात अर्थ का ज्ञान करना, जैसे—रसोई घर में अग्नि और धूम को एक साथ देखकर उनमें कार्यकारण भाव का ग्रहण कर, किसी पर्वत पर धूम को देखकर अग्नि और धूम के कार्यकारण भावोपपत्ति से अदृष्ट अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना, ऐसा ज्ञान अनुमान कहलाता है—उपस्कार टीका

यह अनुमान प्रत्यक्षपूर्व तीन प्रकार का होता है और तीनों काल में होने वाला होता है। लिंग (लक्षण) के दर्शन से लिंगी (लक्ष्य) का ज्ञान होना अनुमान के प्रत्यक्ष पूर्वकत्व को प्रमाणित कर देता है। निम्नोक्त तीन प्रकार के अनुमान हैं। यथा—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। जहाँ कारण से कार्य का अनुमान किया जाय वहाँ 'पूर्ववत्' अनुमान होता है। जैसे—बीज से फल का अनुमान। जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जाय वहाँ 'शेषवत्' अनुमान होता है। जैसे—गर्भ को देखकर मैथुन का अनुमान तथा फल को देखकर बीज का अनुमान। कार्य और कारण दोनों से भिन्न अनुमान को 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं। जैसे—धूम से अग्नि का अनुमान।

उद्धरण में उक्त त्रिकाल से तात्पर्य है तीनों—अतीत, वर्तमान और अनागत (भविष्य) काल का अनुमान, जैसे—निगूढ़ (छिपी हुई) वर्तमान अग्नि का धूम देखकर अनुमान करना तथा निगूढ़ अतीत मैथुन का अनुमान गर्भ को देखकर करना। इसी प्रकार बुद्धिमान लोग बीज के सदृश ही फल को देखकर और यह समझकर कि कारण (बीज) के अनुकूल ही कार्य (फल) होता है, बीज और फल में कार्य कारण लक्षण

वाली व्याप्ति (साहचर्य नियम) का ग्रहण कर बीज से अनागत फल का अनुमान कर लेते हैं।

अनुमान का एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विभेद किया जाता है। वह दो प्रकार का होता हैं। जो अनुमान स्वयं अपने ज्ञान के लिए किया जाय वह स्वार्थानुमान है, जैसे कोई व्यक्ति अपने रसोई घर में पुनः पुनः धूम और अग्नि को देखकर इस निश्चय पर पहुँचता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। यदि वही व्यक्ति किसी पर्वत पर उठते हुए धूम को देखता है तो उसे जहाँ-जहाँ धूम वहाँ-वहाँ अग्नि इस व्याप्ति का स्मरण हो जाता है, और उससे उसे यह ज्ञान हो जाय कि वहाँ पर अग्नि है इसका नाम लिंग परामर्श है। यह अपने समझने के लिए होता है अतः इसे स्वार्थानुमान करते हैं। जो दूसरे के ज्ञान के लिए पञ्चावयव का प्रयोग करके अनुमान कराया जाता है वह 'परार्थानुमान' कहा जाता है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि जैसे—पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ पर धूम है। जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे—कि रसोई घर में। अतः यहाँ पर भी ऐसा ही होना चाहिए, इसलिए यहाँ पर भी अग्नि है। लिंग के इस प्रकार के प्रतिपादन से दूसरा व्यक्ति भी पर्वत पर अग्नि होने आ अनुमान करता है।

पञ्चावयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अनुमान साधक अवयवों से परार्थानुमान की सिद्धि होती है। पञ्चावयवों का निम्नोक्त रीति से उपयोग करके कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी वस्तु की सिद्धि में अनुमान कराता है। यथा—पर्वत पर अग्नि है यह 'प्रतिज्ञा' है। वहाँ पर धूआँ होने के कारण यह हेतु है। जहाँ-जहाँ धूआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है जैसे—रसोई घर में यह 'उदाहरण' है। यहाँ भी वैसी ही स्थिति है यह 'उपनय' है। इसलिए यहाँ पर आग है, यह निगमन है। उपर्युक्त पञ्चावयबों के द्वारा परार्थानुमान का पूर्ण ज्ञान (नैयायिकों के मत से) हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे तथ्य का स्पष्टीकरण बहुत अच्छा हो जाता है, और उस व्यक्ति के मन में जिसे समझाया जाता है किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। परन्तु तार्किकों का विचार है कि उपर्युक्त अवयवों की संख्या घटाई जा सकती है। क्योंकि प्रतिज्ञा और निगमन में कोई वास्तविक भेद नहीं है। इनमें एक ही बात को दुहराया जाता है। उपनय और हेतु की पृथकता भी कोई वास्तविक अर्थ नहीं रखता जब कि व्याप्ति (साहचर्य नियम) का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार तीन अवयव प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्ति वाक्य शेष रह जाते हैं। निगमन का प्रतिज्ञा में तथा उपनय और उदाहरण का व्याप्ति में अन्तर्भाव (संयोजन) हो जाता है। अतः परवर्ती नैयायिकों में उक्त तीन अवयव से ही अनुमान को सिद्ध करने की प्रवृत्ति हो गई ऐसी प्रतीति होती हैं।

व्याप्ति—अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस-लिए भारतीय दार्शनिकों ने विशेषतः नैयायिकों ने व्याप्ति के विवेचन में इतनी कुशाग्र बुद्धिता का परिचय दिया है कि वह दार्शनिक जगत् में एक आश्चर्य-जनक व्यापार स्वीकार किया जाता है। व्याप्ति के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवे-चन नव्य न्याय के ग्रन्थों में किया गया है। हेतु (धूम) तथा साध्य (अग्नि) के नियत साहचर्य सम्बन्ध (एक साथ रहने का) को व्याप्ति कहते हैं। दो वस्तुओं को एकत्र विद्यमान होने से उनमें व्याप्ति की कल्पना तब तक नहीं कर सकते जब तक हमें उनके नियम से सदा एकत्र रहने की सूचना न मिले। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, इस साहचर्य की सत्ता हम नियत रूप से पाते हैं; अतः धूम तथा अग्नि की व्याप्ति न्याय संगत प्रतीत होती है। इसलिए व्याप्ति का प्राचीन ग्रन्थों में 'अविनाभाव सम्बन्ध' के नाम से उल्लेख है। अविनाभाव अर्थात् जो वस्तु जिसके बिना न रह सके उसका सम्बन्ध है। धूम की सत्ता तभी होती है जब अग्नि के साथ उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है। व्याप्ति, धूम तथा अग्नि के साथ सम्पन्न होती है। परन्तु अग्नि तथा धूम के साथ व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। जैसे—तप्त लौह पिंड में अग्नि होती है किन्तु वहाँ धूम का अभाव होता है। व्याप्ति में व्याप्य में व्यापक की अवस्थिति होती है। इसलिए जहाँ व्याप्य होगा वहाँ व्यापक का होना आवश्यक है। धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक। अतः जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है। किन्तु जहाँ व्यापक (अग्नि) रहे वहाँ व्याप्य (धूम) रहे यह आवश्यक नहीं। जैसे—कि तप्त लौह पिण्ड में अग्नि तो होती है किन्तु वहाँ धूम का अभाव होता है।

नैयायिक लोग व्याप्ति की प्रामाणिकता के विषय में वेदान्तियों के मत का अव-लम्बन करते हैं। अनुभव की एकरूपता व्याप्ति की सत्यता सिद्ध कर सकती है। परन्तु अन्वय व्यतिरेक, व्यभिचाराभिग्रह, उपाधिनिरास, तर्क और सामान्य लक्षण-प्रत्यासत्ति, इन साधनों के प्रयोग से ही व्याप्ति के तथ्य का यथार्थ परीक्षण किया जा सकता है।

(१) अन्वय—"तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः" अर्थात् किसी वस्तुविशेष की उपस्थिति होने पर किसी वस्तुविशेष की उपस्थिति को अन्वय कहा जाता है।

(२) व्यतिरेक—"तदभावे तदभावो व्यतिरेकः" अर्थात् किसी वस्तुविशेष के अभाव रहने पर किसी वस्तुविशेष का अभाव होना व्यतिरेक कहा जाता है।

(३) व्यभिचाराग्रह—उक्त दोनों में किसी प्रकार का व्यभिचार (सांकर्य दोष)

(४) **उपाधिनिरास**—इतने साधनों के होने पर भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती जब तक उपाधि (व्याप्ति सिद्धि में बाधा) का निरास (दूरीकरण) न हो।

(५) **तर्क**—अनुकूल तर्क व्याप्ति सिद्धि में पाँचवा सहायक साधन है। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति के लिए तर्क की अनुकूलता है कि यदि पर्वत में अग्नि न हो तो धूम भी नहीं होगा। पर धूम की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से निष्पन्न है अतः तर्क दोनों के साहचर्य (एक साथ रहना) का द्योतक है।

उपर्युक्त साधनों की सहायता से व्याप्ति की सिद्धि हो सकती है जो कि अनुमान प्रक्रिया की पूर्णता में मुख्य भूमिका प्रतिपादित करते हैं।

आप्तोपदेश (आप्तागम)—किसी वस्तु की सत्ता सिद्धि में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए आप्तोपदेश प्रमाण की भी अपेक्षा होती है। आप्तजनों के वचन को आप्तोपदेश कहा जाता है। आप्तोपदेश का विवेचन आचार्य चरक ने निम्नोक्त रीति से प्रतिपादित किया है। यथा—

तत्र आप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेव गुणयोगाद्वचनम् तत्प्रमाणम्। च० वि० ४/४.

आप्तजनों के कहे गये वचनों को आप्तोपदेश कहते हैं। आप्तजन शास्त्र तत्त्वों के निःसंशय (असंदिग्ध) ज्ञान से सम्पन्न तथा स्मृति व शास्त्रों के वचन को यथार्थ रूप से जानने वाले रागद्वेष से मुक्त यथार्थ विचार वाले होते हैं। ऐसे आप्तजनों के गुण युक्त वचन को आप्तोपदेश कहते हैं, जो कि यथार्थ ज्ञान कराने में सहायक होता है। एक अन्य प्रकरण में आचार्य ने आप्त के लक्षण का प्रतिपादन निम्नोक्त प्रकार से किया है। यथा—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमः॥

च० सू० ११/१८-१९.

जो तप और ज्ञान बल से रज और तम के दोष से मुक्त हों और जिनका निर्मल ज्ञान त्रिकाल (भूत, वर्तमान और भविष्य) में अबाधित रहता हो ऐसे लोग आप्त, शिष्ट और विबुद्ध कहे जाते हैं एवं उनका वचन निःसंशय युक्त होता है। रज और तम के दोष से मुक्त होने का कारण वें जो कुछ भी कहेंगे वह सत्य ही होगा, असत्य कैसे हो सकता है।

एक दूसरी निरुक्ति के अनुसार अर्थों के साक्षात्कारकरण को आप्ति कहते हैं, और इस कार्य को करने वाले आप्त कहे जाते हैं। कार्य और अकार्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपदेश द्वारा शासन करने से वे 'शिष्ट' कहलाते हैं। बुद्धिजन्य विषयों के विशेष ज्ञान करने से 'विशुद्ध' कहे जाते हैं। ऐसे आप्त पुरुषों के उपदेश तथा वचन संशय रहित, निश्चयात्मक और सत्य होते हैं। इनमें रजोगुण तथा तमोगुण का अभाव होने से ये कभी मिथ्याभाषण नहीं कर सकते। असत्य तो रागद्वेष तथा मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है, और ये तीनों दोष रज एवं तम निर्मुक्त होने पर उस पुरुष में नहीं रहते; अत: ऐसे पुरुष को असत्य बोलने का कोई कारण नहीं। वे सदा सत्य और संशय रहित उपदेश करते हैं। ऐसे पुरुष के वचन को ऐतिह्य भी कहते हैं।

वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध दार्शनिक 'शब्द' या आप्तोपदेश को यथार्थ ज्ञान के लिए स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। महान् बौद्ध तार्किक दिङ्नाग 'शब्द' के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वे आप्त पुरुष जिनके वचन को 'शब्द' प्रमाण माना जाता है, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा ही उपलब्ध हुआ होता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्रमाणित वचन जब कोई पुरुष कहता है तभी हम उस पर विश्वास करते हैं। आप्त पुरुष की परिभाषा में भी साक्षात्कृत धर्मा अर्थात् जिसने विषयों को प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसा कहा जाता है। अत: जो वचन प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बल पर कहा गया हो उसे एक पृथक् स्वतंत्र प्रमाण रूप से प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकों के शब्द प्रमाण का समर्थन सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन भी करते हैं। परन्तु ये लोग भी नैयायिकों ने जो लक्षण शब्द प्रमाण के दिये हैं उससे मतभेद रखते हैं। ये लोग शब्द से वेद तथा अन्य उसके सदृश शास्त्र जो सत्य ज्ञान को देते हैं और वेदों का खंडन नहीं करते उसे मानते हैं। ये वेद को प्रमाण इस कारण से नहीं मानते कि वह किसी विश्वस्त या आप्त पुरुष द्वारा कहा गया या लिखा गया है, प्रत्युत इसलिए कि वेद अपौरुषेय तथा अनादि हैं क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है जो जगत् में स्वयं प्रकट हुआ है; किसी व्यक्ति विशेष ने उसे प्रकट नहीं किया है। ये लोग किसी भी व्यक्ति के चाहे वह कितना भी विश्वस्त क्यों न हो उसके उपदेश को शब्द प्रमाण नहीं मानते। पर नैयायिक वेद का कोई रचयिता है ऐसा नहीं मानते। वे भी वेद को ईश्वरकृत मानते हैं, और वेद के उपदेश को प्रमाण इसलिए मानते हैं कि वह ईश्वरकृत है तथा वे ईश्वर में विश्वास करते हैं। परन्तु वे इस विश्वास के होते हुये भी मनुष्य को विश्वासी होने तथा उनके वाक्यों को प्रामाणिक मानने से रोकते नहीं। नैयायिक उनके वाक्यों को भी प्रमाण मानते हैं जो विश्वासी तथा आप्त हैं। जहाँ

प्रत्यक्ष तथा अनुमान से काम नहीं चलता वहाँ ऐसे आप्तजनों के उपदेश को नैयायिक प्रमाण मानते हैं। अतः नैयायिक लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार के शब्द प्रमाण मानते हैं।

युक्ति प्रमाण—युक्ति प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत करने के पूर्व आचार्य चरक ने कतिपय उदाहरणों का वर्णन करके इसके लक्षण तथा स्वरूप को सरलता से समझाने का उपक्रम किया है। जैसे—जल, कर्षण (जोंती गई भूमि), बीज तथा ऋतु (काल) इनके संयोग से शस्य (फसल) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ६ धातुओं पञ्च-महाभूत और आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार की प्रक्रिया बोध जो यथार्थ ज्ञान में सहायक होता है उसे युक्ति कहते हैं। मथ्य (नीचे की लकड़ी), मंथक (लकड़ी को घुमाने वाला पुरुष) और मंथान (ऊपर को घूमने वाली लकड़ी) के संयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चतुष्पादसपद् से अर्थात् गुणवान् भिषक्, औषध, रोगी और परिचारक के संयोग से रोग की शान्ति तथा आरोग्यलाभ होता है। युक्ति से युक्त को युक्तियुक्त कहते हैं। चतुष्पाद समन्वित चिकित्सा के संयोग (युक्ति) से आरोग्यलाभ होता है।

इन उदाहरणों को प्रस्तुत करने के पश्चात् आचार्य युक्ति के लक्षण का प्रतिपादन करते हैं—अनेक कारणों के संयोग से उत्पन्न हुए भावों को जो बुद्धि कारण संपत्ति के रूप में देखती है अर्थात् ज्ञान कराती है उसे युक्ति कहते हैं। इस युक्ति के द्वारा तीनों कालों के विषयों का ज्ञान होता है। इससे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की सिद्धि होती है। आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा—

जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसंभवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद्गर्भाणां संभवस्तथा॥
मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद् व्याधिनिबर्हणी॥
बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥

च० सू० ११/२३-२५.

चरक संहिता के टीकाकारों ने युक्ति प्रमाण को एक पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। युक्ति प्रमाण को वे अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका (सहायिका) मात्र मानते हैं। विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में उसी प्रकार कारण और उपपत्ति को समझना या व्यवहार करना युक्ति है। यह व्याप्ति

रूप से अनुमान की सहायता करती है। इस प्रकार युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत हो जाता है।

आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन अपनी उपस्कार टीका में युक्ति प्रमाण को अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत करने का औचित्य का प्रतिपादन करते हुए निम्नोक्त वचन में कहते हैं। यथा—

वस्तुतस्तु युक्तिर्न प्रमाणान्तरम्। व्याप्ति रूप हि सा अनुमानं करोति। तथा च — "अनुमानं हि युक्त्यपेक्षस्तर्कः" इति (च० वि० ८ ४०.) एवं युक्तिरनुमानेऽन्तर्भवति।

च० सू० ११/२५ पर उपस्कार टीका

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने कहा है कि—वस्तुतः युक्ति पृथक् प्रमाण नहीं है। नियत साहचर्य के नियम (व्याप्ति) रूपी युक्ति अनुमान करती है। जैसा कि आचार्य चरक ने स्वयं ही विमान स्थान के आठवें अध्याय में कहा है कि—"अनुमान युक्त्यपेक्ष तर्क होता है" इस प्रकार युक्ति प्रमाण अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत होती है।

आचार्य चक्रपाणि ने भी युक्ति प्रमाण को अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव करने के औचित्य का प्रतिपादन निम्नोक्त वचन से किया है। यथा—

बहूपपत्तियोगज्ञायमानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति ऊहलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता। एवमनेन भवितव्यमित्येवं रूप ऊहोऽत्र युक्तिशब्देनाभिधीयते; सा च परमार्थतोऽप्रमाणभूतापि वस्तुपरिच्छेदे प्रमाणसहायत्वेन व्याप्रियमाणत्वात्, तथा तत्रैव ऊहरूपया प्रायोलोकानां व्यवहारादिह प्रमाणत्वेनोक्ता। अतएव प्रदेशांतरे युक्तिं विना यथोक्तं प्रमाणत्रयं दर्शयिष्यति—त्रिविधा वा परीक्षा सहोपदेशेन (वि० अ० ४/५.) इति वचनात्। तथा रोगभिषग्जितीये शब्दादीनि चत्वारिप्रमाणान्यभिधास्यति। त्रिकाला वर्तमानातीतानागतविषयाः, त्रिकालविषयत्वं च त्रिवर्गसाधनादेव, ऊहेनैव हि प्रायस्त्रिवर्गानुष्ठाने प्रवृत्तिर्भवति; (प्रमाणपरिच्छेदेन तु (प्रचारो विरल एव) यत्तु बहुकारण-जलकर्षण-बीजर्तुसंयोगाद्भावि सस्यज्ञानं युक्तिरुच्यते, तच्चानुमानान्नार्थान्तरभूतं; तत्रानुमानाद्भेदो दुष्कर इति नाद्रियामहे; किं च कारणेभ्यः कार्यं प्रतीयमानं न कदाऽपि वर्तमानं प्रतीयते ततश्च त्रिकालतेति पराहतं स्यात्।

च० सू० ११/२५ पर आयुर्वेद दीपिका

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—बहुत से कारणों के योग से ज्ञात होने वाले विषय को जो बुद्धि जानती है और जो ऊह लक्षण (तर्करूप) वाली है वह युक्ति है जो कि प्रमाण की सहायिका है। इस प्रकार इससे यह होने योग्य है इस

प्रकार का जहाँ ऊह (तर्क) हो वहीं युक्ति संज्ञा से अभिहित की जाती है। वह वस्तुतः अप्रमाण रूप होते हुए भी वस्तुज्ञान के विशेषण में प्रमाण के सहायक रूप में व्यवहृत होती है। इस प्रकार यह युक्ति ऊह रूप से लोक में व्यवहार होने से यहाँ प्रमाण रूप से कही गई है। इसीलिए एक दूसरे स्थल पर आचार्य ने युक्ति को छोड़कर तीन ही प्रमाणों का उल्लेख किया है यथा—आप्तोपदेश को लेकर तीन प्रकार की परीक्षायें हैं। इस प्रकार के आचार्य वचन से यह प्रमाणित होता है। इसी प्रकार रोगभिषग्जितीय अध्याय में उपमान को ग्रहण करके आप्तोपदेश आदि चार प्रमाणों का उल्लेख किया जायेगा। उद्धरण में आये हुए तीनों काल वाली इस पद से वर्तमान, अतीत और अनागत (भविष्य) के विषय वाली इसके त्रिकाल के अनुमान के निर्देश करने के कारण ही कहा गया है। त्रिवर्ग साधकत्व से अभिप्राय है कि ऊह से ही धर्म, अर्थ एवं काम के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। पृथक् प्रमाण के रूप में युक्ति प्रमाण का लोक में प्रचार अत्यल्प है। युक्ति के लक्षण में जल, कर्षण, बीज और ऋतु इन अनेक कारणों के संयोग से भावि सस्य (फसल) की उत्पत्ति का ज्ञान होता है यह कहा गया है यह तो अनुमान से पृथक् प्रमाण नहीं है। ऐसी स्थिति में युक्ति प्रमाण का अनुमान प्रमाण से भेद करना कठिन है इसलिए हम लोगों को यह स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि कारणों से ज़ाना जाने योग्य कार्य कभी भी वर्तमान काल में नहीं प्रतीत होता, अतः युक्ति प्रमाण कि त्रिकालता भी बाधित हो जाती है।

यद्यपि चरक संहिता के टीकाकारों ने युक्ति प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है तथा इसे अनुमान प्रमाण के सहायक के रूप में मानते हुए अनुमान प्रभाण में ही अन्तर्भूत किया है, तथापि स्वयं महर्षि अग्निवेश के वचन का आचार्य चरक द्वारा युक्ति प्रमाण के विषय में उल्लेख असंदिग्ध रूप से सोद्देश्य ही प्रतीत होता है। पुराकालीन ऋषियों के वचन केवल विवरण सौकर्य मात्र के ही लिए नहीं होते थे प्रत्युत उद्देश्य पूर्ण होते थे। इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि युक्ति प्रमाण का सोदाहरण विवेचन वह भी पुनर्भव जैसे—सम्पूर्णतः परोक्ष विषय की प्रामाणिकता प्रतिपादित करने के लिए किया गया है तो वह निस्सन्देह ही इस प्रमाण की महत्ता एवं इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को दृष्टिगत रखकर ही किया गया होगा। मध्यकाल के संहिता टीकाकारों ने भले ही इसे अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र मानकर अनुमान में ही अन्तर्भूत करने का अभिमत प्रकट किया हो किन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में तो यह एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में असंदिग्ध रूप से अपनी सत्ता प्राप्त कर चुका है।

आज के वैज्ञानिक युग में युक्ति प्रमाण का प्रयोगात्मक साक्ष्य (एक्सपेरीमेन्टल एविडेन्स) के रूप में स्वतन्त्र प्रमाण की तरह सार्थकता सिद्ध हो चुकी है। आधुनिक

वैज्ञानिक अनुमान को इनफिरेन्स के रूप में ग्रहण करते हैं। अनुमान (इनफिरेन्स) और प्रयोगात्मक साक्ष्य (एक्सपेरीमेन्टल एविडेन्स) बिल्कुल भिन्न वस्तु हैं। संतति और माता-पिता के रक्त परीक्षण के प्रयोगात्मक साक्ष्य द्वारा अनेक विवादास्पद आनुवंशिक विषयों का निराकरण किया जा चुका है। प्रयोगात्मक साक्ष्य को न्यायालय में भी पूर्ण मान्यता मिल चुकी है। इसी प्रकार अनेक विवादास्पद विषयों में जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश आदि प्रमाणों को कुछ भी गति नहीं प्राप्त होती वहाँ प्रयोगात्मक साक्ष्य ही यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्धारण करता है। वैज्ञानिक तथ्यों के अन्वेषण तथा निर्धारण में आज प्रयोगात्मक साक्ष्य एक महत्त्वपूर्ण साधन हो गया है यह सर्वविदित है। प्रयोगात्मक साक्ष्य में अनेक प्रकार की प्रक्रियायों द्वारा यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्धारण किया जाता है। युक्ति प्रमाण के विषय में भी कहा गया है कि—अनेक कारणों के योग से उत्पन्न होने वाली स्थिति जिसे बुद्धि उपपत्तियुक्त समझती है वह युक्ति है। इस प्रकार प्रयोगात्मक साक्ष्य और युक्ति के लक्षणों का समन्वय किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन मनीषियों द्वारा प्रतिपादित युक्ति प्रमाण तथा अद्यतन प्रयोगात्मक साक्ष्य में कोई भेद नहीं है। अतः हमने भी युक्ति प्रमाण को प्रयोगात्मक साक्ष्य के समानान्तर अभिप्राय वाला ही मानकर इसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में विवेचित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि इस तथ्य से असहमति नहीं व्यक्त की जा सकती कि युक्ति के द्वारा भी वस्तुस्थिति के यथार्थ ज्ञान में अनुमान ही किया जाता है तथापि एवंविध प्रमाण में युक्ति की अनिवार्यता होती है। अनुमान तो पहले से प्रत्यक्षीकृत ज्ञान के आधार पर ही किया जाता है किन्तु युक्ति प्रमाण में पूर्व ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। आयुर्वेद के व्यवहारमूलक शास्त्र होने के कारण इसमें युक्ति प्रमाण का बहुशः आश्रय लिया जाता है। रक्तपित रोग में रक्तनिर्गमन (रक्तस्राव) होने पर रक्त पित्तयुक्त है अथवा जीवनापेक्षी रक्त है ऐसा सन्देह होने पर उसे काक और श्वान को खाने के लिए दिया जाता हैं। यदि काक और श्वान उस रक्त को खा जांय तो वह जीवशोणित है और यदि न खांय तो रक्तपित्तगत शोणित है ऐसा अनुमान करना चाहिए। इस तथ्य की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि प्रक्रिया विशेष से ही अनुमान को आधार प्राप्त होता है। आचार्य चरक ने इसी तथ्य को निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा :—

लोहितपित्तसंदेहे किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलौहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्। च० चि० ४।७.

इसी प्रकार अतिसार में दोषों की सामनिराम परीक्षा में युक्ति का आश्रय लिया जाता है। यदि पुरीष जल में डूब जाय, अधिक दुर्गन्धयुक्त व पिच्छिल हो तो साम-

दोष वाला माना जाता है और यदि उपर्युक्त लक्षण न मिले तो निराम दोष वाला माना जाता है। साम दोष में दोषों के पाचन के लिए उपक्रम (उपाय) किया जाता है और निराम दोष में संशमन उपक्रम विहित होता है। इस प्रसंग में आचार्य सुश्रुत का निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम्॥ सु० उ० अ० ४०.

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि युक्ति प्रमाण अनुमान में सहायक है तथापि इसके स्वतन्त्र प्रमाण माने जाने में कोई आपत्ति नहीं है। जैसे—कि आप्तोपदेश द्वारा ज्ञात विषय को प्रत्यक्ष तथा अनुमान से और भी पुष्ट किया जाता है उसी प्रकार युक्ति प्रमाण से ज्ञात विषय को अनुमान के आधार पर और पुष्ट किया जाय तो इससे युक्ति प्रमाण के स्वतन्त्र सत्ता के सम्बन्ध में संशय का अवकाश कहाँ है। ज्ञात विषय को व्यक्ति अनेक प्रकार से पुष्ट करता है। अतः निष्कर्ष में असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि युक्ति प्रमाण एक स्वतन्त्र प्रमाण है जिसकी आयुर्वेद में महती उपादेयता है। आज के वैज्ञानिक युग में तो युक्ति प्रमाण की महत्ता और सार्थकता और भी अधिक सिद्ध हो रही है।

प्रमाण चतुष्टयवाद की उपादेयता—आयुर्वेदाभिमत प्रयोजन की उपलब्धि में चतुर्विध प्रमाणों की उपादेयता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वास्थ्य रक्षा के विविध साधनों की उत्तमता की परीक्षा इन चतुर्विध प्रमाणों से ही की जाती है तथा तदनुसार उत्तम साधनों के उपयोग से व्यक्ति स्वस्थ रह सकता हैं। उसी प्रकार रोग प्रशमन में भी रोगी परीक्षा, रोग परीक्षा, औषध परीक्षा आदि में चतुर्विध प्रमाणों की अपेक्षा होती है। चतुर्विध प्रमाणों से परीक्षित रोगोपचार ही व्यक्ति को निरापद रखते हुए रोग से मुक्ति दिला सकता है। प्रमाण चतुष्टय की उपादेयता जैसे—महत्त्वपूर्ण विषय के स्पष्टीकरण के लिए चतुर्विध प्रमाणों की पृथक्-पृथक् क्या उपादेयता व महत्ता है इस पर विचार करना अपेक्षित है। अतः हम चतुर्विध प्रमाणों को पृथक्-पृथक् रूप से उनकी उपादेयता के दृष्टिकोण से विवेचित करेंगे।

आप्तोपदेस की उपादेयता—किसी विषय विशेष की स्पष्ट जानकारी के लिए उस विषय विशेष के तज्ज्ञ विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट विवरणों का ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक किसी विश्वस्त वचन का आश्रय नहीं लिया जाता तब तक न विषय विशेष की जानकारी हो सकती है और न ही उस विषय विशेष पर कुछ अधिक सोचने समझने का अवकाश ही प्राप्त होता है। इतना ही नहीं यदि किसी विषय विशेष के बारे में हमारी बुद्धि को जानकारी नहीं होती तो उस विषय विशेष के प्रत्यक्ष होने

पर भी हमारीं आँखें उन्हें देखते हुये भी यथार्थतः नहीं देख पातीं। क्योंकि हमारी आँखें भी वही देखती हैं जिसका ज्ञान हमारी बुद्धि को होता है। इसी तथ्य को किसी विद्वान् ने यों कहा है कि—"हमारी आँखें उस वस्तु को नहीं देखतीं जिसे हमारा मस्तिष्क नहीं जानता"। उक्त वाक्य का तात्पर्य यह नहीं है कि बुद्धि में जिस वस्तु विशेष का ज्ञान नहीं उसे आँखें देखती ही नहीं। आँखें सभी वस्तुओं को जो कि उनके सामने हैं उन्हें देखती हैं किन्तु जब तक बुद्धि में उन वस्तु विशेषों की जानकारी नहीं होती तब तक उन वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को आँखें प्रत्यक्षीकृत नहीं कर सकती। इस तथ्य को इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि जब कोई रोगी किसी सामान्य चिकित्सक के पास रोगोपचार के निमित्त जाता है तो वह चिकित्सक उस रोगी के उन्हीं लक्षणों को देख पाता है जिनके विषय में उसे जानकारी होती है और उसी के आधार पर वह रोग निदान करके चिकित्सा करता है। किन्तु चिकित्सा होने पर भी उस रोगी को स्वास्थ्य लाभ नहीं होता तो वह रोगी किसी अन्य उत्तम चिकित्सक के पास जाता है। उत्तम चिकित्सक रोगी के समस्त लक्षणों को प्रथम बार में ही देखकर रोग का समुचित निदान कर लेता है तथा तदनुसार रोगोपचार की यथोचित व्यवस्था कर देता है जिससे कि रोगी रोगमुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ करता है। ऐसा क्यों होता है? इसका मुख्य कारण यही है कि उत्तम चिकित्सक को विविध रोगों के लक्षण का पहले से ही जानकारी होतीं है और जब रोगी उसके पास पहुँचता है तो वह अपनी पूर्ण जानकारी के आधार पर रोगी के समस्त लक्षणों को वह अपनी आँखों से दृष्टिपथ में ले आता है तथा तद्नुसार रोग निदान व उपचार कर रोगी को रोगमुक्त कर देता है। विषय को और स्पष्ट करने के लिए एक अन्य उदाहरण भी दिया जा सकता है। यदि ज्वर से पीड़ित कोई रोगी सामान्य चिकित्सक के पास पहुँचता है जिसे ज्वर के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं होती कि कितने प्रकार का ज्वर होता है और वह रोगी किस ज्वर से पीड़ित है तो चिकित्सक उसके लक्षणों को देखता हुआ भी नहीं जान पाता कि रोगी में अष्टविध ज्वरों के विविध लक्षणों में से कौन-कौन लक्षण उपस्थित हैं। परिणामस्वरूप रोगी का समुचित ज्वर निदान नहीं कर पाता और जब रोग निदान ही नहीं हो पायेगा तो उचित चिकित्सा कैसे सम्भव है। इसके विपरीत यदि वही ज्वर पीड़ित रोगी उत्तम चिकित्सक के पास जाता है जिसे अष्टविध ज्वरों के सभी लक्षणों की जानकारी है तो वह उस ज्वर रोगी को प्रथम दृष्टि में ही उसके समस्त लक्षणों को देखकर तदनुसार उचित निदान व चिकित्सा करने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त विवरणों के आलोक में विचार करने से यह तथ्य भलीभाँति ज्ञात होता है कि जब तक किसी की विचारसरणि या बुद्धि में पहले से वस्तु विशेष की जानकारी नहीं होती तो आँखें उस वस्तु विशेष को देखते हुए भी उसे समक्ष नहीं पातीं। इस

तथ्य से यह सिद्ध होता है कि आँखों से वस्तुविशेष को वास्तविक रूप में देखने के लिए बुद्धि में पहले से ही जानकारी का होना अनिवार्य है। और जब यह तथ्य सिद्ध हो जाता है तो व्यक्ति के लिए विश्वसनीय वचनों का ही ज्ञान अपेक्षित है जिससे उसे उपस्थित विषय का यथार्थ ज्ञान हो सके। एतदर्थ प्राचीन मनीषियों ने यथार्थ ज्ञान के निमित्त आप्तोपदेश के आश्रय का निर्देश किया है। आचार्य चरक ने आप्तोपदेश की उपादेयता एवं महत्ता का रोग परीक्षण के सन्दर्भ में उल्लेख करते हुए कहा है कि—इन त्रिविध प्रमाण समूह से रोग की सभी प्रकार से पहले परीक्षा करके उसके कारण और अनुबन्ध का सभी प्रकार से ज्ञान प्राप्त करना तथा रोगी इस विशेष रोग से पीड़ित है ऐसा निश्चय निश्चय करना निश्चित रूप से दोष रहित होता है क्योंकि आंशिक ज्ञान से सम्पूर्ण ज्ञेय विषय का ज्ञान नहीं होता। इन त्रिविध प्रमाण समूह आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञानोत्पत्ति में सर्वप्रथम आप्तोपदेश से विषय विशेष का ज्ञान होता है तत्पश्चात् उसके बारे में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से परीक्षा होती है। क्योंकि पहले से जानकारी नहीं प्राप्त किया हुआ किसी विषय का प्रत्यक्ष व अनुमान द्वारा परीक्षा करते हुए क्या ज्ञान प्राप्त कर पायेगा ? अर्थात् पहले से ज्ञान प्राप्त किया हुआ ही प्रत्यक्ष व अनुमान के द्वारा विषय विशेष की परीक्षा में समर्थ हो सकता है। इस कारण से ज्ञानियों के लिए प्रत्यक्ष व अनुमान से द्विविध परीक्षा उपयुक्त है। जिन्हें जानकारी नहीं है उनके लिए आप्तोपदेश सहित प्रत्यक्ष व अनुमान इन त्रिविध प्रमाणों से परीक्षा करना उपयुक्त है। प्रसंगगत आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा—

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यावसानमदोषं भवति, न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते। त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। तस्माद्द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम्, अनुमानं च; त्रिविधा वा सहोपदेशेन। च० वि० ४/५.

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद में आप्तोपदेश प्रमाण की क्या महत्ता व उपादेयता है। प्रत्यक्ष, अनुमान व युक्ति इन सभी प्रमाणों की आधारभूमि आप्तोपदेश प्रमाण ही होता है। आप्तोपदेश के बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों की भी सार्थकता पूर्ण नहीं हो सकती। और जैसा कि आप्तजनों का लक्षण शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है तदनुसार वैसे आप्त की वाणी से सहज ही असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की उपादेयता—प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों में विश्वसनीय एवं

असंदिग्ध होता है, अतः यह प्रमाणों में प्रधान माना जाता है। किसी प्रकार के संशय का अवसर ही नहीं रहता। आयुर्वेद में रोगी परीक्षा में इस प्रमाण की सर्वाधिक उपादेयता है। रोगी के रोग निदान तथा समुचित उपचार के निमित्त परीक्ष्य दशविध परीक्ष्यों की अधिकतर परीक्षायें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही की जाती हैं जो कि रोग विनिश्चय तथा समुचित रोगोपचार के लिए आवश्यक हैं। इसी कारण आचार्य चरक ने आतुर की समुचित परीक्षा के औचित्य को प्रतिपादित करते हुए निम्नोक्त वचन में कहा है। यथा—

आतुरस्तु खलु कार्यदेशः। तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्यात्, बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा। तत्र तावदियं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः; दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषजप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति। तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः।

च० वि० ८/९४.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने कहा है कि—आतुर ही चिकित्सक के लिए चिकित्साकर्म का कार्यस्थल है। रोगी की परीक्षा उसको आयु प्रमाण के ज्ञान के लिए अथवा उसके बल व दोष के बल के प्रमाण के ज्ञान के लिए किया जाता है। दोष बल व रोगी के बल के अनुसार ही औषधि का प्रमाण विकल्प किया जाता है। इस कारण रोगोपचार में रोग के बल तथा दोष बल की अपेक्षा को दृष्टिगत रखकर परीक्षा करें। एतदर्थ आतुर की प्रकृति से, विकृति से, सार से, संहनन से, शरीर प्रमाण से, सात्म्य से, सत्त्व से, आहार शक्ति से, व्यायामशक्ति से तथा वय से बल प्रमाण जानने के लिए परीक्षा करे।

उपर्युक्त विविध परीक्ष्यों में से अधिक तर परीक्षायें प्रत्यक्ष से ही सम्भव हैं जिससे कि रोगी के बल प्रमाण तथा दोष बल की जानकारी होती है जो कि समुचित रोगोपचार के लिए अत्यावश्यक है।

एक अन्य स्थल पर भी आचार्य चरक ने रोग के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी के लिए प्रत्यक्ष परीक्षा की महत्ता एवं उपादेयता का विवरण निम्नोक्त रीति से प्रस्तुत किया है। यथा—

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्; तद्यथा—आन्त्रकूजनं, संधिस्फुटनमङ्गुलीपर्वणां च, स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत; वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाः, शरीरप्रकृतिविकारौ, चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्य-

नुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत; रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानाद-वगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते । गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत; स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तम् ।

च० वि० ४/७.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने विविध ज्ञानेन्द्रियों से ग्राह्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षा करने का स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है कि—प्रत्यक्ष से रोग के सम्बन्ध में समुचित जानकारी के इच्छुक चिकित्सक को रोगी के शरीरगत सभी भावों की सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा परीक्षा करनी चाहिए केवल रसज्ञान को छोड़कर। यथा—आंत्रकूजन (आंत्रगत शब्द), संधिस्फुटन (संधियों में गतिजन्य शब्द) अंगुली-पर्वों के शब्द, रोगी का स्वर विशेष तथा और भी जो शरीरगत शब्द हों उनकी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा परीक्षा करे। रोगी का वर्ण, रोग का लक्षण, रोगी का शरीर प्रमाण, छाया तथा और भी अन्य आँख से देखे जाने वाले विषय की परीक्षा करे। रस जो कि रोगी के शरीरगत रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है उसकी परीक्षा अनुमान से करे। रस की परीक्षा प्रत्यक्ष द्वारा नहीं संभव है इसलिए रोगी से प्रश्न करके ही उसके मुखगत रस को जाने। रोगी के शरीरगत विकृत गन्ध की नासिका से परीक्षा करे। रोगी के प्राकृत व विकृत स्पर्श की हाथ से स्पर्श परीक्षा करे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि रोगी एवं रोग परीक्षा में प्रत्यक्ष प्रमाण अत्यन्त उपादेय है। प्रत्यक्ष से केवल आँखों द्वारा देखे गये विषय का ही ग्रहण नहीं किया जाता प्रत्युत जैसा—कि उपर्युक्त विवरण में कहा गया है रसनेन्द्रिय के विषय को छोड़कर अन्य सभी ज्ञानेन्द्रियों के विषय का ग्रहण किया जाता है। रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य रस का प्रत्यक्ष तो केवल रोगी को होता है जो स्वयं रस का ग्रहण करता है।

अनुमान प्रमाण की उपादेयता—रोगी व रोग परीक्षा प्रसंग में अनुमान प्रमाण की भी अत्यन्त उपादेयता व महत्ता है। अनुमान से केवल शरीरगत विकारों का ही ज्ञान नहीं होता प्रत्युत मानसिक विकारों की भी जानकारी प्राप्त हो सकती है जिसे कि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। प्रत्यक्ष प्रमाण तो केवल वर्तमान काल की स्थितियों की ही जानकारी उपलब्ध कर सकता है। किन्तु अनुमान प्रमाण की यह विशेषता है कि इससे अतीत, वर्तमान एवं भविष्य में होने वाली घटनाओं का भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से अनुमान प्रमाण का आयुर्वेद में अत्यन्त महत्त्व एवं उपादेयता है। आचार्य चरक ने अनुमान प्रमाण के विस्तृत विषय क्षेत्र एवं इसकी

उपादेयता को लक्ष्य करके अनुमान द्वारा ज्ञेय विषयों का विशद विवेचन किया है जैसा कि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन; संज्ञां नामग्रहणेन; स्मृतिं स्मरणेन; ह्रियमपत्रपणेन; शीलमनुशीलनेन; द्वेषं प्रतिषेधेन; उपधिमनुबन्धेन; धृतिमलौल्येन; वश्यतां विधेयतया; वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण; गूढलिङ्गव्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण; आयुषः क्षयमरिष्टैः; उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन; अमलं सत्त्वमविकारेण; ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं; स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यात्।

च० वि० ४/८.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चरक ने विविध शारीरिक एवं मानसिक भावों को अनुमान के द्वारा ज्ञात करने के विषय में कहा है कि—ये निम्नोक्त शारीरिक एवं मानसिक भाव अनुमान के द्वारा जानने योग्य हैं। यथा—अग्नि (पाचनशक्ति) का अनुमान व्यक्ति के आहार पाचन की शक्ति से, बल का व्यायाम शक्ति से; श्रोत्रादिक पञ्चज्ञानेन्द्रियों की कार्य कुशलता उनके-उनके विषयों के ग्रहण से, मन का विभिन्न ज्ञानेद्रियों के भिन्न-भिन्न काल में विषय ग्रहण से, मन का विशेष ज्ञान विभिन्न कार्यों से, मन के रजोगुण का आसक्ति से, क्रोध का शत्रुता से, शोक का दीनता से, हर्ष का प्रसन्नता से, मोह का विषय विशेष के ज्ञान न होने से, भय का विषाद (दुःखी होना) से, धैर्य का अविषाद (दुःखी न होना) से, वीर्य (शक्ति) का उत्थान (उत्साह) से, स्थिर बुद्धि का अचंचलता से, श्रद्धा (इच्छा) का वस्तु की चाह से, मेधाशक्ति का ज्ञेय विषयों के ग्रहण से, संज्ञा (चैतन्यता) का नाम ग्रहण से, स्मृति का स्मरण से, लज्जाशीलता का लज्जायुक्त व्यवहार से, शील (विषयों के प्रति स्वाभाविक रुचि) का विषयों के प्रति रुचि से, द्वेष (दुश्मनी) का प्रतिरोध से, उपधि (छल) का उत्तर कालीन परिणाम से, धृति की अचंचलता से, अनुशासन का आज्ञाकारिता से, वय, भक्ति, सात्म्य एवं व्याधि के कारण का क्रमशः काल, देश, उपशय तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाओं से, गूढ़ लक्षण वाली व्याधियों का उपशय और अनुपशय से (उपाय विशेष से रोग का लक्षण का शान्त होना उपशय तथा रोग लक्षण का बढ़ना अनुपशय कहा जाता है), दोषों का प्रमाण दोषों के प्रकोपक कारणों के सेवन से, आयुक्षय का अरिष्ट (मृत्यु के निश्चित लक्षण) से, वर्तमान कालिक आत्मोन्नति का

कल्याण युक्त कार्यों में तत्परता से, निर्मल मन का मानसिक विकारों के अभाव से, ग्रहणी (पच्यमान आहार द्रव्यों का पाचनकाल तक धारण करने वाला अवयव विशेष) की मृदुता एवं दारुणता की, स्वप्न दर्शन का फल, अनिष्ट (अनिच्छित), इष्ट (इच्छित), सुख एवं दुःख आदि की परीक्षा रोगी से प्रश्न करके अनुमान करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि अनुमान प्रमाण द्वारा ज्ञेय विषयों का क्षेत्र कितना विस्तृत है तथा इसकी उपादेयता आयुर्वेद में कितना महत्त्व रखती है।

युक्ति प्रमाण की उपादेयता—आयुर्वेद में युक्ति प्रमाण की महत्ता व उपादेयता आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्यवहृत प्रयोगात्मक साक्ष्य के रूप में और भी अधिक विश्वसनीय एवं प्रयोज्य बहुल हो गई है। जैसा कि युक्ति प्रमाण विवेचन प्रसंग में कहा जा चुका है कि युक्ति प्रमाण को आधुनिक काल में प्रयोगात्मक साक्ष्य के समानार्थक माना जा सकता है। इस तथ्य के आलोक में विचार करने से ज्ञात होता है कि आज के युग में जो भी रोग निदान से सम्बन्धित विविध परीक्षण पद्धतियाँ हैं वे सभी युक्ति प्रमाण के अन्तर्गत आ जाती हैं। विविध रोग परीक्षण पद्धतियों की रोग निदान के सन्दर्भ में महती उपादेयता सर्वविदित है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में प्रयोगात्मक साक्ष्य का बहुआयामी व्यापक व्यवहार हो रहा है जिससे कि रोग, रोगी एवं औषधि परीक्षण समुचित रूप से संपन्न हो रहा है जिसका लाभ मानव समाज को मिल रहा है। अद्यतन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय लगता है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन मनीषियों ने कितना सोच समझकर और तर्क की कसौटी पर परखकर युक्ति को यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि कराने में प्रमाण का स्वरूप दिया गया है। आयुर्वेद के अन्य संहिताओं में युक्ति प्रमाण का उल्लेख नहीं मिलता। केवल चरक संहिता में ही इस प्रमाण को प्रमाण के रूप में विवेचित किया गया है। आधुनिक काल में युक्ति प्रमाण की व्यापक उपादेयता के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो निस्सन्देह ही यह तथ्य प्रकाश में आता है कि आचार्य चरक ने सचमुच ही एक सुविज्ञ भविष्य द्रष्टा के समान आयुर्वेद में युक्ति प्रमाण रूपी मणि को समायोजित कर दिया है जिसका आलोक दिनानुदिन बढ़ता ही जा रहा है। यह निस्सन्देह ही आचार्य चरक का आयुर्वेद के प्रति महान योगदान है जो कि शाश्वत आयुर्वेद को अपने शाश्वतिक आलोक से सहस्राब्दियों से आलोकित करता आ रहा है तथा भविष्य में भी आलोकित करता रहेगा।

युक्ति प्रमाण की उपादेयता व महत्ता पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपनिबद्ध किया जा सकता है। विस्तार भय से अधिक विवरण नहीं दिया जा रहा है पाठकों के निदर्शनार्थ संक्षिप्त रूप में ही इसकी उपादेयता का उल्लेख किया गया।

इस प्रकार चतुर्विध प्रमाणों की उपादेयता का पृथक्-पृथक् विचार किया गया। जैसा—कि प्रत्येक प्रमाणों की उपादेयता से ज्ञात होता है कि ये सभी प्रमाण व्यस्त रूप में तथा समस्त रूप में यथार्थ ज्ञान के साधन हैं एवं उनकी उपादेयता भी अलग-अलग स्वतन्त्र रूप में तथा समवेत रूप में दोनों ही तरह से होती है।

त्रयोपस्तम्भ वाद

आचार्य चरक ने आयु (जीवन) के लिए तीन उपस्तम्भों (आधारभूत अवलंबों) का उल्लेख किया है। ये तीन उपस्तम्भ हैं—१. आहार, २. स्वप्न और ३. ब्रह्मचर्य। युक्ति पूर्वक प्रयुक्त इन तीन उपस्तम्भों (अवलंबों) से उपस्तब्ध (स्थिर किया हुआ) यह शरीर बल, वर्ण, उपचय (क्रमिक वृद्धि) से उपचित (पुष्ट) होकर आयु के संस्कार के अनुरूप अनुवर्तन (अनुगमन) करता है। शरीर के प्रति जो अहितकर आहार-विहार है, उनका सेवन न करना यही शरीर का संस्कार है, जिसका वर्णन इसी प्रसंग में आगे किया जायगा। उपर्युक्त तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

त्रय उपस्तम्भा इति—आहारः, स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति, एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात् संस्कारमहितमनुसेवमानस्य, य इहैवोपदेश्यते। च० सू० ११।३५

आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या निम्नोक्त रीति से की है जो कि प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के निमित्त उद्धृत करना अपेक्षित है। यथा—

अन्येन स्तभ्यमानं धार्यमाणमुपसमीपं प्रधानकारणस्य गत्वा स्तम्भयति धारयतीत्युपस्तम्भः, यथा गृहधारणनियुक्तप्रधानस्तम्भसमीपवर्ती तद्बलाधायक उपस्तम्भः, तथेहापि शरीरस्यायुः सप्रवर्तकेन कर्मणा ध्रियमाणस्याहारादयो धारकत्वेनोपस्तम्भा इत्युच्यन्ते। ब्रह्मचर्यशब्देन इन्द्रियसंयमसौमनस्यप्रभृतयो ब्रह्मज्ञानानुगुणा गृह्यन्ते। आहारादयश्चेह प्रधानकल्पनया प्रशस्ता एव गृह्यन्ते, तेन विरुद्धकाहारादीनां शरीरानुपस्तम्भकत्वं नोद्भावनीयम्, अत एव युक्तियुक्तैरिति विशेषणं युक्त्या प्रशस्तेन योगेन युक्ता युक्तियुक्ताः। ब्रह्मचर्यस्यायुक्तिरनभ्यासादतिमात्रेन्द्रियसंयमनादिरूपा, सा हि मनःक्षोभादिहेतुर्भवति। उपचित्तं युक्तम्। आयुःसंस्कारात् आयुःकारणं धर्माधर्मावसानं यावदित्यर्थः, संस्कारशब्दः कारणवचनः। आहारादयश्च प्राधान्येनोक्ताः; तेनाभ्यंगादीनां शरीरधारकत्वमविरुद्धमेव। नन्वाहारादीनि सम्यगाचरतोऽपि विशेषरसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिजन्यैर्व्याधिभिरन्तराऽपि

मरणं दृष्टमित्याह—संस्कारमित्यादि। संस्कारकारणम्। अहितं शरीरस्य इति शेषः। य इहैवोदेक्ष्यत इति 'त्रीण्यायतनानि' इत्यादि ग्रन्थेन।

च० सू० ११।३५ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

उपर्युक्त व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि ने कहा है कि—अन्य किसी से स्तभ्यमान अर्थात् धार्यमाण (धारित होता हुआ) जो कि जीवन के प्रधान कारण के समीप जाकर उसे सहारा दे उसे उपस्तम्भ कहते हैं, जैसे—गृह के धारण के लिए प्रयुक्त प्रधान आधार काष्ठ के समीप लगे हुये काष्ठ प्रधान काष्ठ को बल (सहारा) देने वाले होते हैं, उसी प्रकार शरीर के जीवन धारण को सम्प्रेरित करने वाले कर्म से धारित हुये जीवन के लिए आहार आदि धारक हैं। ब्रह्मचर्य शब्द से इन्द्रिय संयम और मन की उत्तमता आदि ब्रह्मज्ञान के अनुरूप आचार विचार ग्रहण किये जाते हैं। आहार आदि यहाँ प्रधान कारण होने से कल्याणकारी के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। इससे कदन्नों (निषिद्ध अन्नों) का शरीर के प्रति उपस्तम्भकत्व (अवलम्बता) नहीं समझना चाहिये। इसी कारण आगे आचार्य आहार का युक्तियुक्त ऐसा विशेषण करेंगे। युक्तिपूर्वक अर्थात् जो कल्याणकारक योग से युक्त हो वही युक्तियुक्त है। ब्रह्मचर्य की अयुक्ति बिना अभ्यास के इन्द्रियों का अत्यधिक संयम करना क्योंकि ऐसा इन्द्रिय संयम मन की क्षुब्धता का कारण होता है। शरीर का उचित पोषण ही उपचय होता है। आयु (जीवन) का कारण धर्म और अधर्म का परिणाम है। संस्कार शब्द यहाँ कारणवाची है। आहारादि को शरीर के धारण के लिये प्रधान कारण के रूप में कहा गया है। इससे अभ्यंग आदि उपाय भी शरीर धारक हैं यह शास्त्रसम्मत ही है। आशंका होती है कि आहारादि का युक्तिपूर्वक सेवन करते हुए तथा असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग से उत्पन्न व्याधियों के बिना भी मृत्यु देखी जाती है। इसका समाधान आचार्य ने संस्कार इत्यादि वचन से किया है। मृत्यु का कारण संस्कार है जो धर्म अधर्म का परिणाम होता है। शरीर के अहितकर आहार बिहार का अनुपसेवन जीवन का कारण है। अहितकर विषयों का इसी प्रसंग में 'त्रीण्यायतनानि' इस वचन से आगे उल्लेख करेंगे।

आहार, स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य ये तीनों शरीर को स्थिर एवं स्वस्थ रखने में सहायक होते हैं। जिस प्रकार तिपाई (स्टूल) के आधार तीन काष्ठ दण्ड होते हैं, और उन्हीं के सहारे तिपाई अपनी स्थिति बनाये रखती है उसी प्रकार आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य इन्हीं तीन अवलम्बों के सहारे शरीर भी स्थिर एवं स्वस्थ रहता है।

उपर्युक्त तीनों ही उपस्तम्भों की स्वास्थ्य रक्षा एवं दीर्घ जीवन के निमित्त अनिवार्यता होती है। अतः इन उपस्तम्भों की महत्ता व अनिवार्यता को लक्ष्य कर प्रस्तुत

शीर्षक के सुखावबोध के लिए हम इनका पृथक्-पृथक् आयुर्वेदानुसार विवेचन करना अपेक्षित समझते हैं।

आहार—आहार की महत्ता व उपादेयता का वर्णन करते हुए आचार्य चरक ने सूत्र स्थान के २८वें अध्याय में कहा है कि—अनेक प्रकार के अशित (खाए हुये कोमल आहार द्रव्य), पीत (पेय रूप में लिये गए), लीढ (हलुआ आदि के रूप में चाटे गये) एवं खादित (खाये हुए कठोर आहार द्रव्य) आहार पदार्थों का जब मनुष्य सेवन कर लेता है तो वह आहार प्रदीप्त जाठराग्नि के बल से तथा अपनी-अपनी (उन खाये हुए पदार्थों में स्थित पाँच भौतिक अग्नियों) अग्नि की ऊष्मा से अच्छी तरह पकता हुआ, काल की भाँति न रुकता हुआ सभी धातुओं का उचित रूप में पाक करता हुआ सभी धातुओं की ऊष्मा, वायु तथा स्रोतों वाले इस शरीर को उपचय, बल, वर्ण एवं सुखायु (सुखी जीवन) से युक्त करता है और शरीर की सभी धातुओं को शक्ति सम्पन्न बना देता है। धातुएँ धातुओं का आहार करके शरीर को सम अवस्था में रखती हैं। प्रसंगगत निम्नोक्त आचार्य वचन द्रष्टव्य है। यथा—

विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थित सर्वधातुपाकमनुपहत सर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचय बलवर्णसुखायुषा योजयति शरीरधातूनूर्जयति च। धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते। च० सू० २८/३.

आचार्य सुश्रुत ने भी आहार की शरीर धारकता, जीवनवर्धकता एवं इसकी अनिवार्यता का विवरण देते हुए निम्नोक्त वचन में यों कहा है। यथा—

आहारः प्रीणनः सद्योबलकृद्देहधारकः।
आयुस्तेज समुत्साह स्मृत्योजोऽग्नि विवर्धनः॥ सु० चि० २४/६८.

अर्थात् आहार शरीर को तृप्त करने वाला, सद्यः (शीघ्र) बल देने वाला, देह का धारक, आयु, तेज (शरीर की कान्ति), सम्यक् उत्साह, स्मृति, ओज तथा अग्नि को बढ़ाने वाला होता है। एक अन्य स्थल पर भी आचार्य सुश्रुत ने आहार को प्राणियों के प्राणों, बल, वर्ण एवं ओज का मूल (आश्रय) वर्णित करते हुए इसकी अनिवार्यता का निर्देश किया है। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा –

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बल वर्णौजसां च। सु० सू० १/२२.

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि आहार जीवन रक्षा एवं स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। इसी कारण आचार्य चरक ने आहार को जीवन तथा स्वास्थ्य के लिए उपस्तम्भ के रूप में निर्दिष्ट किया है।

स्वप्न (निद्रा)--आचार्य ने निद्रा को जीवन तथा स्वास्थ्य का दूसरा उपस्तम्भ कहा है। प्राणियों को जीवन रक्षा के लिए जैसे आहार की अनिवार्यता है, उसी प्रकार निद्रा की भी अपेक्षा होती है। निद्रा के स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि -मन के क्लान्त (थकने) अथवा निष्क्रिय होने पर तथा इन्द्रियों के क्लमयुक्त (क्रिया रहित) होने पर जब मन एवं इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से निवृत्त हो जाती हैं तो व्यक्ति सोता है। आचार्योक्त वचन निम्नांकित है। यथा—

यदा तु मनसिक्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्वितः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥ च० सू० २१/३५.

विधिपूर्वक सेवित निद्रा के गुणों को निर्देशित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—प्राणियों का सुख, दुःख, पुष्टि, कृशता, बल, दौर्बल्य, वृषता (पुंस्त्व), क्लीबता (नपुंसकता), ज्ञान, अज्ञान, जीवन और मृत्यु ये सभी निद्रा के ही आश्रित होते हैं। अर्थात् यदि विधिपूर्वक निद्रा का सेवन किया जाता है तो व्यक्ति सुखी, पुष्ट, बल-वान पुंस्त्वशक्ति वाला, ज्ञानी तथा आयुष्मान होता है। इसके विपरीत यदि निद्रा का सेवन अनुचित प्रकार से किया जाता है तो व्यक्ति विपरीत परिणामों का भागी होता है। बिना उचित काल अर्थात् निषिद्ध काल में यथा--दिन, सूर्योदय काल व सूर्यास्त काल में सोने से निद्रा का मिथ्या योग तथा निद्रा के अतिप्रसंग-अतियोग से एवं दिन रात में कभी न सोने से जो कि उचित निद्रा का सेवन नहीं करता यह निद्रा का अयोग या हीन योग है। सुखी जीवन की कामना वाला व्यक्ति काल रात्रि के समान इन उपर्युक्त निद्राओं का परित्याग करे। यही निद्रा जब विधिपूर्वक सेवन की जाती है तो वह स्वस्थ देह और सुखी जीवन से व्यक्ति को सम्पन्न करती है। जैसे--कि योगी पुरुष को सत्या बुद्धि (तत्त्वज्ञान) के प्राप्त होने से सिद्धि प्राप्त होती है। इस सन्दर्भ में निम्नोक्त आर्ष वचन द्रष्टव्य है। यथा—

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥
अकालेऽतिप्रसंगाच्च न च निद्रा निषेविता।
सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा॥
सैवयुक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रादेहं सुखायुषा।
पुरुषं योगिनं सिद्धया सत्याबुद्धिरिवागता॥ च. सू. २१/३६-३८.

यद्यपि आयुर्वेद के आर्ष आचार्यों ने दिवा स्वप्न का निषेध किया है तथापि कतिपय व्यक्तियों व कतिपय स्थितियों में इसका सेवन भी निर्देशित किया है। जिन

व्यक्तियों व जिन स्थितियों में दिवा स्वप्न का विधान उचित है उनके विषय में आचार्य चरक कहते हैं कि—संगीत रत, अध्ययनरत, मद्यसेवी, स्त्रीभोगरत, कार्याधिक्य से ग्रस्त, अत्यधिक पैदल चलने से कृश (क्षीण) हुए, अजीर्ण रोग वाले, चोट से घायल, क्षीण; वृद्ध, बालक, स्त्री, तृष्णा (पिपासा) अतिसार, एवं शूल से पीड़ित, श्वास रोगी, हिक्का रोगी, कृश व्यक्ति गिरने से चोट खाया हुआ, उन्माद रोगी, सवारी में चलने से थका हुआ व जगा हुआ, क्रोध, शोक, व भय से दुःखी आदि इन सभी को दिन में सोने से धातुसाम्य बना रहता है तथा बल की उत्पत्ति होती है। सोने से वर्धित श्लेष्मा इनके अंगों को पुष्ट करता है तथा जीवन स्थिर रहता है। इन उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतु में आदान काल होने के कारण प्राणियों में रुक्षता होती है व बात की वृद्धि होती है, और रात्रि के छोटी होने से दिवास्वप्न हितकर होता है।

किन व्यक्तियों को दिवास्वप्न निषिद्ध है तथा दिवास्वप्न से कौन रोग उत्पन्न होते हैं इसका विवेचन करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—ग्रीष्म काल को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन के सोने से कफ और पित्त प्रकुपित होते हैं, अतः इनमें दिवास्वप्न हितकर नहीं होता है। मेदस्वी, नित्य स्नेह सेवी, श्लेष्मा प्रकृति वाले, श्लेष्मा रोगी, एवं दूषी विष से पीड़ित को दिन में कभी नहीं सोना चाहिए। दिवास्वप्न (दिन में सोना) से हलीमक, शिरःशूल, स्तैमित्य (गीले वस्त्र से लिपटे हुए की सी अनुभूति), अंगों में भारीपन, अंगों में पीड़ा, अग्निमान्द्य, हृदयोपलेप, शोफ, (शोथ) अरोचक, हृल्लास (मिचली आना), पीनस (जीर्ण प्रतिश्याय), अर्धावभेदक (शिर के आधे भाग में तीव्र वेदना), कोठ (चकत्ते), पिडका (फुन्सियाँ), कण्डू (खुजली), तन्द्रा, कास, एवं गले का रोग आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। दिन में सोने से स्मृति एवं बुद्धि में भ्रान्ति, स्रोतोरोध, ज्वर, इन्द्रियों की अक्षमता तथा विष वेग की वृद्धि होती है। इस प्रकार अहितकर निद्रा से उपर्युक्त व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को हितकर निद्रा को जानते हुए निद्रा का सेवन करना चाहिए जिससे सुख की प्राप्ति होती है। च० सू० २१/४४-४९.

रात्रि जागरण से शरीर में रूक्षता तथा दिन में सोने से स्निग्धता उत्पन्न होती है। बैठे हुये थोड़ा निद्रा सेवन अरुक्ष तथा अस्निग्ध कर होता है। अतः यदि व्यक्ति थका हो और उसके लिये निद्रा अपेक्षित हो तो दिन में भी बैठे-बैठे थोड़ी निद्रा का सेवन कर सकता है। इससे उसमें स्निग्धता नहीं बढ़ती। इसी प्रकार यदि रात्रि में जागरण करना हो तो भी व्यक्ति को बैठे-बैठे थोड़ी निद्रा का सेवन कर लेने से उसमें रूक्षता नहीं उत्पन्न होती है। च० सू० २१/५०.

निद्रा की महत्ता व उपादेयता का उल्लेख करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि— जिस प्रकार देह को चलाने के लिए तथा स्वस्थ व सुखी जीवन के निमित्त आहार की अनिवार्यता है, उसी प्रकार निद्रा भी अनिवार्य है। निद्रा और आहार का स्थौल्य और कार्श्य को उत्पन्न करने में विशेष महत्त्व होता है आचार्य चरकोक्त निम्न वचन द्रष्टव्य है। यथा—

देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्न सुखोमतः।
स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः॥ च० सू० २१/५१.

निद्रा जनक उपायों (कारणों) का विवरण देते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—अभ्यंग (शरीर में मालिश), उत्सादन (उबटन लगाना), स्नान, ग्राम्य व आनूप पशुओं का मांस रस, जल में रहने वाले पक्षियों का मांस रस, शालि चावल का दही, दूध एवं घृत के साथ खाना, मद्य सेवन, मन का सुख, मनोनुकूल गन्ध एवं शब्द, संवाहन कर्म (शरीर को दबाना), आँखों का स्नेह से तर्पण, शिर व मुख पर लेप करना, सुखद विस्तर व शयन कक्ष, उचित समय पर सोना आदि शीघ्र ही किसी कारण से नष्ट हुई निद्रा को ले आते हैं।

—च० सू० २१। ५२–५४

निद्रा को रोकने वाले कारणों का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नोक्त रीति से किया है—काय (शरीर) तथा शिर का विरेचन कर्म, भय, चिन्ता, क्रोध, धूम्रपान, व्यायाम करना, रक्तमोक्षण, उपवास, कष्टकर शय्या, सत्व गुण की अधिकता, योगाभ्यास से तमोगुण का जीतना आदि उपाय आती हुई निद्रा को रोकते हैं। ये ही निद्रा नाश के कारण भी हैं। कार्यों की अधिकता, जरावस्था, शूल और वात के विकार भी निद्रा नाश के कारण हैं। —च० सू० २१। ५५–५७

निद्रा के ६ प्रकार के भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य चरक ने प्राणियों के लिए स्वाभाविक निद्रा को हितकारी निर्दिष्ट किया है। निद्रा के ६ भेद इस प्रकार हैं—१. तमोभवा (तमोगुण के बढ़ने से उत्पन्न), २. श्लेष्म समुद्भवा (कफ वृद्धि से उत्पन्न), ३. मनः शरीरश्रम संभवा (मन और शरीर की थकावट से उत्पन्न), ४. आगन्तुकी (अरिष्ट लक्षणों अर्थात् मृत्यु के नियत लक्षणों से उत्पन्न), ५. व्याध्यनुवर्तनी (व्याधियों का अनुसरण करने वाली) तथा ६. रात्रि स्वभाव प्रभवा (स्वाभाविक रूप से प्रतिदिन रात्रि में आने वाली। इन सभी निद्राओं में 'रात्रि स्वभाव प्रभवा' निद्रा को प्राणियों की रक्षा करने वाली ऐसा तज्ज्ञ विद्वानों ने कहा है। तमोभवा निद्रा को पाप का मूल (पापों को उत्पन्न करने वाली) कहते हैं। शेष

अन्य ४ निद्राएँ व्याधि को सूचित करने वाली होती हैं। आचार्योक्त निम्नांकित वचन द्रष्टव्य है। यथा—

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च,
मनः शरीरश्रम संभवा च।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तनी च,
रात्रि स्वभाव प्रभवा च निद्रा॥
रात्रि स्वभाव प्रभवा मता या,
तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञः।
तमोभवामाहुरघस्य मूलम्,
शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति॥

च० सू० २१। ५८ ५९

आचार्य सुश्रुत ने भी प्राणियों के लिए निद्रा की अनिवार्यता व महत्ता का उल्लेख करते हुए कहा है कि—उचित निद्रा काल में निद्रा सेवन से व्यक्ति में पुष्टि, वर्ण, बल, उत्साह, अग्नि की दीप्ति, तन्द्रा का अभाव एवं धातु साम्य होता है। निम्नांकित वचन द्रष्टव्य है। यथा—

पुष्टि वर्ण बलोत्साहमग्निदीप्तिमतन्द्रिताम्।
करोति धातुसाम्यं च निद्रा काले निषेविता॥

सु० चि० २४। ८८

निद्रा के सम्बन्ध में पाश्चात्य मत—निद्रा सभी प्राणियों की स्वाभाविक क्रिया है। महाकवि शेक्सपियर ने कहा है कि निद्रा प्राणियों का प्रधान पोषक भाव है। निद्रा निस्सन्देह ही प्राणियों के लिए एक सापेक्ष वस्तु है, यह एक पुनर्रचना की प्रक्रिया हैं। जीवन रूपी घड़ी के लिए यह चाभी की तरह है। जैसे घड़ी को सदैव चलते रहने के लिए नित्य प्रति चाभी देनी होती है उसी प्रकार व्यक्ति को भी स्वस्थ जीवन के लिए प्रतिदिन सोना अनिवार्य है। साथ ही निद्रा जीवन रूपी बैटरी (टार्च) को पुनः पुनः क्रियाशील बनाती है। निद्रा काल में चयात्मक क्रिया सक्रिय रहती है तथा अपचयात्मक क्रिया अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहती है।

जीवन का तीसरा उपस्तम्भ ब्रह्मचर्य है। धर्मशास्त्रों में यह जीवन के प्रथम आश्रय के रूप में प्रसिद्ध है। महर्षि पतंजलि ने ब्रह्मचर्य को समाधि के सिद्धि में आवश्यक साधन के रूप में 'यम, के अन्तर्गत माना है, जैसाकि निम्नोक्त सूत्र से ज्ञात होता है। यथा—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। पा० यो० द०

ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुए गरुड़ पुराण में उल्लेख किया गया है कि—मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ही ब्रह्मचर्य है। जैसाकि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागी ब्रह्मचर्य प्रचक्षते ॥

गरुड़पुराण पूर्व खण्ड अध्याय २३०।६

आयुर्वेद में ब्रह्मचर्य पालन का निर्देश शुक्र रक्षा की दृष्टि से किया गया है। सप्त धातुओं में शुक्र अन्तिम धातु होने से इसके रक्षा का स्वास्थ्य रक्षा में अत्यन्त महत्व है। आचार्य चरक ने कहा है कि—शुक्र आहार का उत्कृष्ट सार है, अतः इसकी रक्षा करना स्वयं की रक्षा करने के समान है। इसके क्षय से बहुत से रोगों की उत्पत्ति होती है अथवा मृत्यु भी हो जाती हैं। आचार्योक्त निम्न वचन द्रष्टव्य हैं। यथा—

आहारस्य परंधाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयोह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥

च० नि० ६।९

किसी अन्य आचार्य ने भी शुक्र रक्षा के महत्व को लक्ष्य कर कहा है कि—शुक्र का विन्दु क्षय मृत्यु के समान है तथा बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। जैसाकि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता हैं। यथा—

मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्

शुक्र रक्षा की ही दृष्टि से आचार्य चरक ने स्वस्थ चतुष्क प्रकरण में ग्राम्य धर्म (मैथुन कर्म) को उचित परिमाण में ही सेवन करने का निर्देश किया है। अधिक मैथुन का सर्वथा निषेध किया है, जैसाकि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

व्यायामहास्य भाष्याध्व ग्राम्य धर्म प्रजागरान्।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया ॥

च० सू० ७।३४

अर्थात् व्यायाम करना, हँसना, बोलना, चलना, ग्राम्य धर्म (मैथुन) जागना ये सभी स्वास्थ्य के लिए उचित होने पर भी बुद्धिमान व्यक्ति इन्हें अधिक परिमाण में सेवन न करे।

ब्रह्मचर्य को जीवन का उपस्तम्भ के रूप में निर्देशित करने का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से काम प्रवृत्ति की ओर आकर्षित होता है और रतिकर्म जन्य क्षणिक सुख से अपने को अत्यन्त सुखी मानता है जिससे कि उसे इसके प्रति बार बार प्रवृति होने लगती है। परिणाम स्वरूप पुनः पुनः शुक्रक्षय होने से वह क्षय जन्य अनेक व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। मनुष्य को इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से नियन्त्रित करने के उद्देश्य से आचार्य ने ब्रह्मचर्य को जीवन का उपस्तम्भ गिर्देशित किया है। उपर्युक्त तथ्यों को ही लक्ष्यकर आचार्य चरक ने 'शोष निदान' में शुक्रक्षय से होने वाले अनेक प्रकार के शोष के उपद्रवों का सोपपत्तिक विस्तृत विवेचन करते हुए बुद्धिमान व्यक्ति को शरीर की रक्षा के लिए शुक्र की रक्षा करने का निर्देश किया है। इस प्रसंग में आचार्य चरक द्वारा विवेचित शुक्रक्षय से उत्पन्न विविध शोष उपद्रवों का विस्तार भय से उल्लेख नहीं किया गया है। जिज्ञासु पाठक इसे सम्बद्ध ग्रन्थ में देख सकते हैं। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में शुक्र रक्षा के औचित्य का आचार्य द्वारा निर्दिष्ट निम्न वचन से उल्लेख अपेक्षित है। यथा—

तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षञ्छुक्रमनु-रक्षेत्।
परा ह्येषा फल निर्वृत्तिराहारस्येति। च० नि० ६।८

अर्थात् बुद्धिमान पुरुष अपने शरीर की रक्षा करता हुआ शुक्र की रक्षा करे। आहार परिणाम का शुक्र ही श्रेष्ठ सार है।

इस प्रकार आहार, स्वप्न एवं ब्रह्मचर्य ये तीनों ही स्वस्थ जीवन के लिए वास्तव में अवलम्ब स्वरूप हैं। अब हम इन उपस्तम्भों की उपादेयता के विषय में विचार करेंगे।

त्रयोपस्तम्भवाद की उपादेयता—आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य की स्वस्थ जीवन के लिए उपादेयता व महत्ता सभी विज्ञजनों को सुविदित है। आहार व स्वप्न तो प्राणि मात्र के लिए अनिवार्य है, अतः सभी लोग निसर्गतः इसके महत्त्व व उपादेयता को समझते हैं तथा तदनुसार व्यवहार भी करते हैं। किन्तु स्वस्थ, सुखी व दीर्घ जीवन के लिए इनके उचित सेवन के निमित्त आयुर्वेद के आचार्यों ने इन्हें जीवन के उपष्तम्भ रूप में वर्णित किया है। यदि मनुष्य इन्हें जीवन के उपस्तम्भ रूप में समझता है तो वह अवश्य ही इन त्रयोपस्तम्भों पर ध्यान देता हुआ शास्त्रोक्त विधि के अनुसार इनका हितकर सेवन अनिवार्य रूप से करता है। और इसके हितकर सेवन के परिणाम स्वरूप अपने को विविध रोगों से बचाते हुए स्वस्थ, सुखी व दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। इसी तथ्य को लक्ष्यकर आचार्य चरक ने निम्नोक्त उद्धरण में उचित

आहार का उचित परिमाण व उचित काल में सेवन का विधान तथा विषमाशन का निषेध निर्देशित किया है। यथा--

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्॥

—च० नि० ६।११

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने उचित आहार का उचित परिमाण में उचित काल के अनुसार सेवन का विधान निर्देशित किया है तथा साथ ही विषमाशन (अनुचित आहार का अनुचित परिमाण तथा अनुचित काल में सेवन) सेवन का नियेध किया है। विषमाशन से अनेक प्रकार की कष्ट कर व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। हितकर आहार सेवन के साथ ही आचार्य ने जितेन्द्रियता (ब्रह्मचर्य) पालन का भी निर्देश किया है। जितेन्द्रियता का इस प्रसंग में यह महत्त्व है कि हितकर आहार सेबन का पूर्ण लाभ भी व्यक्ति को तभी मिल सकता है जबकि वह शास्त्रोक्त विधि से ब्रह्मचर्य का पालन भी करे।

आधुनिक भौतिकतावादी युग में त्रयोपस्तम्भों पर समुचित ध्यान न दिये जाने से तथा तदनुसार व्यवहार न करने से मानव समाज अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित होते हुए दुःखी तथा अल्पायु जीवन का शिकार होता जा रहा है। इस प्रकार की चिन्तनीय व कष्टप्रद स्थितियों से बचने के लिए आयुर्वेदोपदिष्ट त्रयोपस्तम्भवाद जैसे-विचार सरणि का ज्ञान तथा तदनुसार आचरण मानव समाज के लिए आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त उपादेय एवं प्रासंगिक है। हितकर आहार का समुचित व्यवहार न होने से आज आये दिन लोग विषाक्त भोजन के शिकार होकर काल के ग्रास होते चले जा रहे हैं। यदि हितकर आहार के सम्बन्ध में प्रतिपादित आहार विधि विशेषायतन, आहारविधि विधान, अन्न पान विधि तथा त्रिविध कुक्षीय आदि सिद्धान्तों का आश्रयण कर तदनुसार व्यक्ति आहार लेता है तो वह निस्सन्देह ही अनेक प्रकार की आहारजन्य व्याधियों से बचता हुआ स्वस्थ व दीर्घजीवन प्राप्त करता है। आहार की उपादेयता व महत्ता को ही दृष्टिगत रखकर ही आयुर्वेद के सभी आद्य उपदेष्टाओं ने इस पर अनेक स्वतन्त्र अध्यायों में विस्तृत विवरण विवेचित किया है। आचार्य चरक ने स्वतन्त्र रूप से आहार विषयक विवरण को पाँच अध्यायों में उपनिबद्ध किया है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रसंगों में आचार्य ने आहार सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किया है। हम प्रसंगानुसार उपर्युक्त आहार विषयक विवरणों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र शीर्षक से विचार करेंगे। अतः प्रस्तुत प्रसंग में उनका नामतः ही निर्देश किया गया है। किन्तु जहाँ तक जीवन के उपस्तम्भ रूप आहार की उपादेयता का सम्बन्ध है, यह

एक निर्विवाद तथ्य है कि मनुष्य को स्वस्थ व सुखी दीर्घजीवन के लिए आहार विषयक सभी विचारों का परिज्ञान व तदनुसार आचरण अनिवार्य व अपेक्षित है।

शास्त्रगत निद्रा विषयक विवरणों का परिज्ञान व तदनुसार निद्रा सेवन भी स्वस्थ व सुखी जीवन के लिए अनिवार्य है। अतः मानव जीवन में इसकी उपादेयता असंदिग्ध है। जहाँ तक जीवन के उपस्तम्भ रूप ब्रह्मचर्य की उपादेयता का सम्बन्ध है तो यह आधुनिक काल में केवल चारित्रिक नैतिकता का मानदण्ड ही नहीं प्रस्तुत करता प्रत्युत् 'एड्स' जैसी भयावह प्राणलेवा व्याधि से भी परित्राण करने वाला साधन बन गया है। इस दृष्टिकोण से ब्रह्मचर्य की उपादेयता आज अत्यन्त प्रासंगिक हो गई है। आज की भौतिकतावादी एवं उपभोगवादी संस्कृति का मानव समाज अज्ञानवश मिथ्या क्षणिक सुख के अभिलाषा में सभी सामाजिक मर्यादाओं तथा नैतिकताओं को तिलांजलि देकर अपने सर्वनाश का उपाय जुटा लिया है। इसी कारण आज मानव समाज के समक्ष 'एड्स', 'कैन्सर', हृद्रोग जैसी भयानक व्याधियाँ मानव को नित्य ही मृत्यु के मुख में ढकेल रही है। प्रकृति से खिलवाड़ करने वाला आज का वैज्ञानिक समाज भले ही प्रकृति पर विजय पाने का दम्भ करे किन्तु वास्तविकता यह है कि मानव समाज मृत्यु की विभीषिकाओं से त्रस्त है। ऐसी विषम स्थिति में प्रकृति से सहज आत्मीय भाव रखने वाला तथा तदनुसार मानव जीवन का सदुपाय निर्दिष्ट करने वाला आयुर्वेद शास्त्र का शाश्वतिक उपदेश ही मानवता की रक्षा कर सकता है। इस दृष्टिकोण से आधुनिक सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य जैसा साधन ही जीवन रक्षा का अवलम्ब हो सकता है। 'एड्स' जैसी भयानक जानलेवा व्याधि के जानकारी से पहले तो पाश्चात्य संस्कृति के लोग अज्ञानवश ब्रह्मचर्य जैसे जीवन के अमोघ कवच को भले ही उपहास की वस्तु समझते थे, किन्तु अब उन लोगों को भी विवश होकर इसके पालन का महत्त्व और उपादेयता माननी पड़ रही है।

उपर्युक्त विवरण के आलोक में विचार करने से आहार स्वप्न और ब्रह्मचर्य इन त्रयोपस्तम्भों की स्वस्थ व सुखी जीवन के लिए क्या उपादेयता एवं महत्ता है, इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।



त्रिण्यायतन वाद

प्रस्तुत शीर्षक का अभिप्राय है कि सभी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों के तीन कारण समुदाय है: इसी कारण इसे त्रिण्यायतन कहा जाता है। इन त्रिविध कारणों से सम्बन्धित विचार सरणि को त्रिण्यायतनवाद कहते हैं। त्रिण्यायतन का

निरुक्तिपरक अर्थ है—'त्रीणि आयतनानि यस्य तत् त्रीण्यायतनम्' अर्थात् तीन कारण हों जिसके वह त्रिण्यायतन है। यहाँ आयतन शब्द का अभिप्राय निदान या कारण है। आचार्य चरक ने असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम (काल) इन तीनों कारणों का अतियोग (अति सम्पर्क), अयोग (हीन सम्पर्क अथवा असम्पर्क), और मिथ्यायोग (अनुचित सम्पर्क') को त्रिण्यायतन' अर्थात् रोग के त्रिविध कारण कहा है। जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

त्रीण्यायतनमिति—अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगः।

च० सू० ११, ३७.

प्रस्तुत शीर्षक से सम्बधित विषय का विवेचन हम 'त्रिविध हेतु वाद' शीर्षक से पूर्व प्रकरण में कर चुके हैं, अतः 'त्रिण्यायतनवाद' इस शीर्षक से पुनः उसका विवेचन अपेक्षित नहीं है। अतएव पाठक प्रस्तुत विषय को 'त्रिविध हेतुवाद' शीर्षक में देखें।

प्रस्तुत शीर्षक के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि इस शीर्षक से सम्बन्धित विषय वस्तु का विवेचन 'त्रिविध हेतुवाद' शीर्षक में हो ही चुका है तो पुनः उसी विषयवस्तु का दूसरे शीर्षक से विवरण देने का क्या औचित्य है ? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि हमने आचार्य चरक द्वारा सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय में आयुर्वेद अवतारणा के रूप में उक्त 'त्रिविध हेतुसंग्रह' से उद्धृत सूत्र को ही मुख्य मानकर उसी शीर्षक से तद्विषयक विषय वस्तु का विचार प्रस्तुत कर दिया है। किन्तु आचार्य चरक ने 'निर्देश चतुष्क' प्रकरण में पुनः उसी सूत्र रूप उद्धृत त्रिविध हेतुसंग्रह का विशद विवेचन 'त्रिण्यायतन' शीर्षक से किया है। आचार्य द्वारा पुनः उसी विषयवस्तु का निर्देश चतुष्क में नाम निर्देश विषय की महत्ता को प्रदर्शित करता है। निर्देश चतुष्क प्रकरण में 'त्रिण्यायतन' संज्ञा से अभिहित विषय का नामतः निर्देश अपेक्षित होने के कारण ही हमने त्रिविध हेतु संग्रह गत विषयों का उल्लेख उक्त शीर्षक से कर दिया है। वस्तुतः त्रिविध हेतु संग्रह गत विषय का विवरण इसी शीर्षक में होना चाहिए। किन्तु हमने आचार्य द्वारा सूत्र रूप से उक्त त्रिविध हेतुसंग्रह गत विषय का 'त्रिविध हेतुवाद' शीर्षक में इसका विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। सुधी पाठक इस पुनरुक्त दोष का समाधान उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करके कर सकते हैं।

●

त्रिरोगमार्ग वाद

प्रस्तुत शीर्षक का अभिप्राय है कि जितने भी रोग होते हैं वे सभी शरीर के तीन मार्गों के माध्यम से उत्पन्न होते हैं। इसी विचार सरणि को केन्द्रीभूत करके जो तथ्य

विवरण आयुर्वेद में सिद्धान्त रूप से प्रतिष्ठापित किया गया है, उसे ही हमने त्रिरोग मार्गवाद सिद्धान्त के रूप में विवेचित करने का प्रयास किया है। सभी प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति शरीर के तीन मार्गों के माध्यम से ही होती है इस तथ्य का प्रतिपादन आचार्य चरक ने निम्नांकित उद्धरण में यों किया है। यथा—

त्रयो रोग मार्गा इति शाखा, मर्मास्थिसन्धयः, कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो-धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोग मार्गः, मर्माणि पुनर्बस्तिहृदय मूर्धादीनि, अस्थिसन्ध-योऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः, कोष्ठः पुन-रुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्याय शब्दैस्तन्त्रे, स रोग मार्ग आभ्यन्तरः। च० सू० ११/४८.

शरीर में रोगोत्पत्ति के तीन मार्ग हैं, अर्थात् तीन मार्गों के माध्यम से ही शरीर में सभी प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति होती है। ये तीन मार्ग हैं—१. शाखा, मर्म तथा अस्थि सन्धियाँ तथा ३. कोष्ठ। यहाँ शाखा शब्द से रक्तादि धातु तथा त्वचा का ग्रहण किया जाता है, यह बाह्य रोग मार्ग है। बस्ति, हृदय, मूर्धा (शिर) आदि को मर्म कहते हैं। अस्थियों की सन्धियों को अस्थि सन्धि कहते हैं। इन सन्धियों से बँधी हुई स्नायु, कण्डराएँ तथा सिरा आदि का समावेश भी अस्थि सन्धियों में ही होता है। यह रोग का मध्यम मार्ग है। अब तीसरे रोग मार्ग कोष्ठ के विषय में कहा जा रहा है। आयुर्वेद में कोष्ठ का महास्रोत, शरीर का मध्य भाग, आमाशय, पक्वाशय आदि पर्यायों से अभिधान (नाम करण) किया जाता है। यह आभ्यन्तर (भीतरी) रोग मार्ग है।

उपर्युक्त उद्धरण में रोग के तीन मार्गों का वर्णन करके उनकी काय चिकित्सा के सिद्धान्तों के अनुसार क्षेत्र सीमा का निर्देश किया गया है। यहाँ पर शाखा शब्द से रस धातु को छोड़कर शेष रक्तादि ६ धातुओं का ग्रहण किया गया है क्योंकि रस का ग्रहण तो त्वचा से ही होता है। माता के आहार रस से गर्भाशय में शुक्रशोणित के पाक के फलस्वरूप शिशु की त्वचा का निर्माण होता है। अतः त्वचा का मूल माता का आहार रस ही है। इसका समर्थन आचार्य चक्रपाणि ने निम्नोक्त रीति से किया है। यथा—

त्वक्चेति त्वक् शब्देन तदाश्रयो रसोऽपि गृह्यते, साक्षात्तु रसानभिधानं हृदय स्थायिनो रसस्य शाखा संज्ञा व्यवच्छेदार्थं तस्य हि कोष्ठ ग्रहणेनैव ग्रहणम्; अनेन-न्यायेन यकृत्प्लीहाश्रितं शोणितं कोष्ठत्वेनैवाभि प्रेतमिति बोद्धव्यं, समान न्यायत्वात्।
च० सू० ११।४८ पर आयुर्वेद दीपिका

उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—त्वचा शब्द से उसके आश्रित रहने वाला

रस धातु भी ग्रहण किया जाता है। रस का स्पष्ट उल्लेख इस लिए नहीं किया गया कि हृदय स्थित रस धातु का ग्रहण न हो। हृदय स्थित रस धातु का कोष्ठ में ग्रहण किया जाता है। इस नियम से यकृत प्लीहा में स्थित रक्त का ग्रहण कोष्ट से ही होता है ऐसा जानना चाहिए। जिस प्रकार त्वचा के आश्रित रस का ग्रहण त्वचा से किया जाता है, उसी प्रकार यकृत् प्लीहा आश्रित रक्त का ग्रहण भी कोष्ठ शब्द से किया जाता है। नियम की समानता होने से उपर्युक्त तथ्य का ग्रहण किया जाता है।

आचार्य चरक द्वारा उद्धृत शाखा शब्द का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणि कहते हैं कि—

अत्र शाखेति संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं तथा रक्तादीनां धातूनां शाखाभिधेयानां वृक्ष शाखा तुल्यत्वेन बाह्यत्व ज्ञापनार्थम्।

—च० सू० ११।४८ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

अर्थात् प्रस्तुत प्रसंग में शाखा शब्द का नाम निर्देश लोक व्यवहार के लिए किया गया है। शाखा नाम से अभिहित रक्तादि धातुओं की वृक्ष की शाखाओं से समानता शरीर की दृष्टि से बाह्यत्व (बाहरीपन) को बताने के लिए किया गया है। जैसे वृक्ष की शाखाएँ वृक्ष के मूल और स्कन्ध की दृष्टि से बाह्य अवयव होते हैं, उसी प्रकार रक्तादि धातुएँ भी शरीर के मूल कोष्ठ तथा मर्म की दृष्टि से बाह्य होते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण में केवल तीन मर्मों का निर्देश किया गया है, वह केवल निदर्शन मात्र है। वास्तव में आयुर्वेद में १०७ मर्मों का उल्लेख मिलता है, जैसाकि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

सप्तोत्तरं मर्मशतमस्मिञ्छरीरे स्कन्ध शाखा समाश्रितमग्निवेश। तेषामन्यतम पीडायां समधिका पीड़ा भवति, चेतना निबन्ध वैशेष्यात्। तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धा श्रितानि गरीयांसि, शाखानां तदाश्रितत्वात्; स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्बस्ति शिरांसि तन्मूलत्वाच्छरीरस्य। च० सि० ९।३

शरीर में १०७ मर्म होते हैं जो कि स्कन्ध (धड़) और शाखाओं में आश्रित होते हैं। इन मर्मों में से किसी भी मर्म में आघात होने से अधिक पीड़ा होती है क्योंकि मर्मों के स्थान पर चेतना धातु विशेष रूप से अवस्थित होती है। इन मर्मों में शाखाश्रित मर्मों की अपेक्षा स्कन्धाश्रित मर्म अधिक गम्भीर होते हैं क्योंकि शाखाएँ स्कन्ध के आश्रित होती हैं। स्कन्धाश्रित मर्मों में भी हृदय बस्ति एवं शिर ये तीन मर्म और अधिक गम्भीर होते हैं क्योंकि ये ही शरीर के मूल (आश्रय) है।

शरीरगत सभी मर्म, अस्थि संधियाँ एवं अस्थि संधियों से जुड़ी तथा बँधी हुई स्नायुएं व कण्डराएँ ये सभी मध्यम रोग मार्ग हैं। अर्थात् इन रोग मार्गों से उत्पन्न रोग शाखाश्रित रोगमार्गों से उत्पन्न रोगों की अपेक्षा अधिक गम्भीर व कष्ट साध्य होते हैं। कोष्ठ के माध्यम से उत्पन्न होने के कारण कोष्ठ को आभ्यन्तर रोग मार्ग कहा जाता है। कोष्ठ का विवरण आचार्य सुश्रुत ने निम्नोक्त प्रकार से प्रतिपादित किया है। यथा—

स्थानान्यामाग्नि पक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ सु० चि० २।

अर्थात् आम और पक्व आहार के स्थान क्रमशः आमाशय तथा पक्वाशय, अग्नि (जाठराग्नि) का स्थान, मूत्र और रुधिर का स्थान क्रमशः मूत्राशय, यकृत व प्लीहा, हृदय, उण्डुक तथा फुफ्फुस ये सभी कोष्ठ कहे जाते हैं।

आचार्य चरक ने कोष्ठ में अवस्थित अवयवों का परिगणन कोष्ठांगों के रूप में निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

पञ्चदश कोष्ठांगानि—तद्यथा-नाभिश्च, हृदयं च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, बस्तिश्च, पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुदं च, अधरगुदं च, क्षुद्रान्त्रं च, स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति। च० शा० ७।१०

उपर्युक्त जो २ कोष्ठांग परिगणित किये गए हैं उनके माध्यम से विविध रोग उत्पन्न होते हैं, ये सभी आभ्यन्तर रोग मार्ग हैं। ये कोष्ठांग शरीर के अन्य अवयवों की अपेक्षा शरीर के प्रति अन्तरङ्ग अवयव हैं, अतः इन्हें आभ्यन्तर रोग मार्ग कहा गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में जिज्ञासा होती है कि हृदय, बस्ति, यकृत, प्लीहा आदि जो कोष्ठांग हैं उनका निर्देश मर्म के अन्तर्गत मध्यम रोग मार्ग में भी किया गया है तथा साथ ही इन्हें आभ्यन्तर रोग मार्ग भी बतलाया गया है। इस प्रकार शरीरगत कुछ अवयवों को समान रूप से दोनों रोग मार्गों से सम्बद्ध क्यों किया गया है? क्या यह विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पुनरुक्त दोष नहीं है? उपर्युक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि जब बस्ति, हृदय आदि मर्म में रोगोत्पत्ति रक्तादि धातुओं अथवा बाह्य रोगमार्गों के माध्यम से होती है तो उन्हें मध्यम रोग मार्गों में परिगणित करते हैं। और यदि रोगोत्पत्ति बस्ति, हृदय आदि मर्मों में स्वतन्त्र रूप से होती है तो उसे कोष्ठगत आभ्यन्तर रोगमार्ग समझना चाहिए। इस तथ्य को यदि ध्यान में रखा जाय तो आचार्य का रोग मार्ग विवरण प्रसंग में बस्ति, हृदय आदि मर्मों का मध्यम रोगमार्ग तथा आभ्यन्तर रोग मार्ग के रूप में निर्देश पुनरुक्त दोष नहीं कहा जा

सकता क्योंकि रोगोत्पत्ति की दृष्टि से उपयुक्त मर्मों में दोनों ही रोगमार्गों से रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त मध्यम रोग मार्ग बस्ति, हृदय आदि मर्मों में उत्पन्न रोग बाह्य रोग मार्ग से उत्पन्न व्याधियों के अप्रतिकार के परिणाम स्वरूप भी हो जाते हैं। आभ्यन्तर रोग मार्ग प्रसंग में उल्लिखित बस्ति, हृदय आदि कोष्ठांगों में उत्पन्न व्याधियाँ स्वतन्त्र रूप से उन्हीं अंगों को आश्रित करके उत्पन्न होती हैं। इसी कारण आचार्य ने आभ्यन्तर रोगमार्ग जन्य व्याधियों को साध्या साध्यता की दृष्टि से कष्ट साध्य अथवा असाध्य निर्दिष्ट किया है।

आचार्य द्वारा रोगोत्पत्ति में भिन्न २ मार्गों का उल्लेख तत्तद् मार्गों के आश्रित व्याधियों के साध्यासाध्यता के ज्ञान के लिए किया गया है, जैसाकि आचार्य चक्रपाणि के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

एतच्च मार्ग भेद कथनं तदाश्रित व्याधीनां सुख साध्यत्वादि ज्ञानार्थम्।
च० सू० ११।४८ पर आयुर्वेद दीपिका

विभिन्न रोग मार्गों का उल्लेख करने के पश्चात् आचार्य चरक ने त्रिविध रोग मार्ग की दृष्टि से विभिन्न व्याधियों का उल्लेख निम्नोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है जिससे ज्ञात होता है कि किस रोग मार्ग से कौन २ सी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। यथा—

तत्र गण्ड पिडकालज्यपची कीलाधिमांस मषक कुष्ठ व्यंगादयो विकारा बहिर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथु गुल्मार्शो विद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः, पक्षवध ग्रहापतानकार्दित शोष राजयक्ष्मास्थिसन्धिशूल गुदभ्रंशादयः शिरो हृद् बस्ति रोगादयश्च मध्यममार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः, ज्वरातीसारच्छर्द्यलसक विसूचिका कासश्वास हिक्कानाहोदर प्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथु गुल्मार्शो विद्रध्यादयः कोष्ठानुसारिणो भवन्ति रोगाः। च० सू० ११।४९

शाखानुसारी अर्थात् शरीर के बाह्य अवयवों के माध्यम से उत्पन्न होने वाले रोग हैं—गलगण्ड, पिडका, अलजी, अपची, कील, अधिमांस, मषक (मस्सा), कुष्ठ, व्यंग आदि। शरीर के मध्यम मार्ग के माध्यम से उत्पन्न होने वाले रोग हैं—पक्षवध (अर्धांगवात), पक्षग्रह (अर्धांग स्तब्धता), अपतानक, अर्दित, शोष, राजयक्ष्मा, अस्थिशूल, सन्धि शूल, गुदभ्रंश आदि। शरीर के आभ्यन्तर अवयवों से उत्पन्न होने वाले रोग हैं—ज्वर, अतीसार, छर्दि, अलसक, विसूचिका, कास, श्वास, हिक्का, आनाह, उदर रोग, प्लीहा रोग आदि। विसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श और विद्रधि आदि बाह्य मार्गानुसारी व्याधियाँ कोष्ठानुसारी भी अर्थात् आभ्यन्तर रोग मार्ग वाली भी होती हैं। आचार्य ने इसी तथ्य का संकेत विसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श और विद्रधि

आदि के साथ बहिर्मार्गज का विशेषण लगाकर किया है, अर्थात् ये सभी व्याधियाँ अन्तर्मार्गज भी होती हैं।

आचार्य चक्रपाणि ने उपर्युक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए निम्नोक्त उद्धरण में कहा है कि –यथा—

बहिर्मार्गजाश्चेति विसर्पादीनां विशेषणं विसर्पादयोह्यन्तर्मार्गभागजोऽपि संभवन्त्यतस्तद् व्युदासार्थम्। अन्तर्मार्गजाश्चेति विसर्पादि विशेषणम्। अर्शो बहिर्वल्याश्रितं शाखागतम्, अन्यच्च कोष्ठगतम्। बहिर्मार्गजो गुल्मो यो बहिरुत्तुण्डित उपलभ्यते बहिश्च पच्यते स ज्ञेयः अन्यस्तु सर्वः कोष्ठगत एव।

च० सू० ११।४९ पर आयुर्वेद दीपिका टीका

अर्थात् विसर्प आदि व्याधियों का बहिर्मार्गज विशेषण ये अन्तर्मार्गज भी होते हैं, अतः उपर्युक्त व्याधियाँ केवल बहिर्मार्गज ही नहीं अपितु अन्तर्मार्गज भी होती हैं इस शंका के निराकरण के लिए दिया गया है। विसर्पादि का अन्तर्मार्गज विशेषण इसीलिए दिया गया है। अर्श रोग जब बाह्य वल्याश्रित होता है तो वह शाखागत (बहिर्मार्गज) होता है और अन्तः वल्याश्रित कोष्ठगत या अन्तर्मार्गज भी होता है। गुल्म रोग जो कि बाहर उठा हुआ होता है तथा बाहर ही उसका पाक होता है तो उसे बहिर्मार्गज जानना चाहिए और इससे अन्य सभी को कोष्ठगत या अन्तर्मार्गज जानना चाहिए।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में त्रिविध रोगमार्ग—यदि त्रिविध रोग मार्ग विचार सरणि का आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के आलोक में विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि आर्ष आचार्यों द्वारा प्रस्तुत यह विचार आज भी उतना ही प्रासंगिक व वैज्ञानिक है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी इस तथ्य को वैज्ञानिक परीक्षणों से भली-भाँति प्रतिपादित करता है कि कुछ विशेष उपसर्ग (इन्फेक्शन) शरीर के कुछ विशेष अवयवों को ही आश्रित करके व्याधि उत्पन्न करते हैं। चिकित्सा विज्ञान में इस प्रकार के विशेष उपसर्गों के विशेष स्थानाश्रित होकर व्याधि उत्पन्न करने की प्रक्रिया को चयनात्मक स्थानाश्रयता (सेलेक्टिव लोकेलाइजेशन) कहते हैं। उदाहरणार्थ टिटनेस के जीवाणु त्वचा के क्षत होने पर ही त्वक् मार्ग से भीतर प्रवेश करके व्याधि उत्पन्न करते हैं। इसीप्रकार फुफ्फुसगत यक्ष्मा के जीवाणु श्वास मार्ग से ही प्रवेश कर फुफ्फुसगत यक्ष्मा को उत्पन्न करते हैं। यदि इन जीवाणुओं का शरीर के अन्य मार्गों से प्रवेश होता है तो वह निष्प्रभावी ही रहता है। इसी प्रकार सर्प विष भी त्वचा मार्ग से ही प्रविष्ट होने पर शरीर के लिए घातक होता है। यदि सर्प विष मुख मार्ग से शरीर में प्रविष्ट होता है तो वह शरीर के लिए

घातक नहीं होता। ऐसे ही कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं। कुछ उदाहरण तो जिज्ञासुओं के निदर्शन मात्र के लिए दिया गया है। सुधी पाठक स्वयं ही इस विषय का चिकित्सा विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन कर सकते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से ज्ञात होता है कि पुराकालीन आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत त्रिविध रोग मार्ग का विचार कितना वैज्ञानिक व आज के वैज्ञानिक युग में भी कितना प्रासंगिक है।

त्रिविध रोग मार्गवाद की उपादेयता—जैसाकि त्रिदोषवाद प्रकरण में कहा जा चुका है कि दोषों की अवस्थिति सम्पूर्ण शरीर में होती है तथापि स्थान विशेष में दोष विशेष की अवस्थिति होती है और स्वस्थावस्था में दोष विशेष अपने अपने प्राकृत स्थान पर रहते हुए शरीर का क्रिया संचालन करते हैं। किन्तु शरीर के रुग्ण हो जाने पर दोष अपना प्राकृत स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। रोगोपचार के निमित्त दोषों को अपने प्राकृत स्थान पर लाना होता है। दोषों के अपने अपने प्राकृत स्थान में आने पर शरीर स्वस्थ होता है। शरीर की विकृतावस्था में दोषों को गति तीन प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार की दोषों की गति होती है क्षय (स्व परिमाण की अल्पता), स्थान (स्वपरिमाण में अवस्थिति) तथा वृद्धि (स्वपरिमाण से अधिकता)। दूसरे प्रकार की दोषगति होती है—ऊर्ध्व गति, अधोगति तथा तिर्यक् गति। अर्थात् दोषों का शरीर के ऊर्ध्व भाग में, अधोभाग में तथा तिर्यक् दिशा में (कोष्ठ से शाखाओं) अर्थात् बाहु और पाद में जाना। दोषों की तीसरी गति होती है कोष्ठ, शाखा तथा मर्म एवं अस्थि सन्धियों में। उपर्युक्त दोष की त्रिविध गतियों को आचार्य चरक ने निम्नांकित वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

> **क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।**
> **ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा॥**
> **त्रिविधा चापरा कोष्ठ शाखा मर्मास्थि सन्धिषु।**
> **इत्युक्ता विधि भेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः॥**

च० सू० १७।१११-११२

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि त्रिदोष जो कि विकृतावस्था में व्याधि के कारण होते हैं वे भी त्रिविध रोग मार्ग में ही अवस्थित होते हुए विभिन्न व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थिति में व्याधियों के उपचार के निमित्त दोषों को अपने प्राकृत स्थान पर ले आना अपेक्षित होता है। जब तक दोष अपने प्राकृत स्थान में नहीं आते व्याधित व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो पाता। इसके साथ ही शाखाश्रित दोषों को कोष्ठ

में लाकर उन्हें उचित संशोधन क्रिया (पञ्च कर्म) द्वारा शरीर से बाहर निकालना आवश्यक होता है। कभी ऐसा भी होता है कि विभिन्न कारणों से कोष्ठाश्रित मल शाखाओं में चले जाते हैं और वहीं अवस्थित होकर प्रकोप के उचित कारणों के अभाव में चिरकाल तक स्थिर रहते हुए उचित प्रकोपक कारणों की प्रतीक्षा करते हैं तथा प्रतिकूल देश (स्थान) व काल (ऋतु) के आने पर प्रकुपित होकर व्याधि उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थिति में शाखाश्रित मलों की वृद्धि करने, मल की द्रवता बढ़ाने, मलों का पाचन करने, स्रोतसों के मार्ग का शोधन करने तथा वात को नियन्त्रित करने से शाखाश्रित मल शाखा को छोड़कर कोष्ठ में चले आते हैं। कोष्ठ में आने पर मल का संशोधन कर्म द्वारा निष्कासन करना होता है तभी व्याधि का प्रशमन होता है। मल किन कारणों से कोष्ठ से शाखा में पहुँच जाते हैं तथा वे किस प्रकार पुनः कोष्ठ में लाये जाते हैं, इस तथ्य का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्नांकित वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानपचारणात् ।
कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः ।
नादेश काले कुप्यन्ति भूयो हेतु प्रतीक्षिणः ॥
वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुख विशोधनात् ।
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥

च० सू० २८/३१-३३

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार ही शाखाश्रित कामला को कोष्ठ में लाकर पुनः दोष का संशोधन करके कामला की समुचित चिकित्सा की जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्य के निर्देशानुसार शाखाश्रित कामला रोगी को कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण और अधिक अम्ल का सेवन कराकर उसकी पित्त वृद्धि करनी चाहिए और पित्त वृद्धि तब तक करनी चाहिए जब तक कि रोगी का पुरीष पित्त से युक्त न हो जाय। इस प्रकार पुरीष के पित्त रंजित हो जाने पर तथा पित्त के अपने स्थान में (शाखा को छोड़कर कोष्ठ में) आने पर कामला का उचित उपचार करना चाहिए। इसी तथ्य को आचार्य ने निम्नोक्त वचन से प्रस्तुत किया है। यथा—

कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाऽम्लैश्चाप्युपक्रमः ।
आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद्भवेत ॥
स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्त रंजिते ।
निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्वं कामलिको विधिः ॥

च० चि० १६/१३०-१३१.

उपर्युक्त आचार्य वचन से स्पष्ट होता है कि त्रिविधरोग मार्ग सिद्धान्त के अनुसार ही कामला में शाखाश्रित मल को कोष्ठ में लाकर उसका संशोधन कर्म से निष्कासन करके समुचित उपक्रम किया जाता है। त्रिविध रोग मार्ग वाद से ही यह ज्ञात होता है कि कामला कोष्ठ मार्ग में होने वाली व्याधि है और इसकी चिकित्सा शाखाश्रित पित्त मल को इसके प्राकृतिक स्थान कोष्ठ में लाकर ही की जा सकती है। यदि शाखाश्रित मल को कोष्ठ में नही लाया जायेगा तो कामला की उचित चिकित्सा संभव ही नहीं हो सकती है। इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में विचार करने से त्रिविध रोग मार्गवाद की उपादेयता स्पष्ट होती है। ऐसे ही अनेक रोगों में त्रिविध रोग मार्गवाद सिद्धान्त के अनुसार ही रोग का समुचित निदान तथा उपचार होता है। ग्रन्थ विस्तार भय से अन्य उदाहरणों का उल्लेख नहीं किया गया है।

आचार्य चरक द्वारा निर्दिष्ट कतिपय वचनों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने से स्पष्ट होता है कि रोग निदान तथा रोगोपचार में त्रिरोग मार्गवाद सिद्धान्त का अनुसरण कितना महत्वपूर्ण तथा उपादेय है। इस प्रसंग में आचार्योक्त निम्नांकित वचन द्रष्टव्य है। यथा—

स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयन्त्यामयान् बहून्॥
तस्माद्विकार प्रकृतिरधिष्ठानान्तराणि च।
समुत्थान विशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्॥
यो ह्येतत्त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक्।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं स कर्मसु न मुह्यति॥

च० सू० १८/४५-४७.

उपर्युक्त आचार्योक्त वचन का अभिप्राय है कि—कुपित हुए दोष शरीर के विविध उत्पत्ति स्थानों की विभिन्नता से तथा शरीर के विभिन्न स्थानों पर स्थानाश्रित होने के कारण बहुत से रोगों को उत्पन्न करते हैं। अतः उपर्युक्त हेतुओं के कारण रोग का कारण, रोग का अधिष्ठान अर्थात् रोग कहाँ स्थानाश्रित हुआ है तथा उसकी उत्पत्ति किस स्थान से हुई-है; इन सभी तथ्यों को जानकर ही रोगोपचार करना चाहिए। जो इन उपर्युक्त त्रिविध तथ्यों को जानकर चिकित्सा कर्म प्रारम्भ करता है वह पहले से ही रोगों की अपेक्षित जानकारी रखने से चिकित्सा कर्म में भ्रमित नहीं होता।

उपर्युक्त उद्धरण में आया हुआ समुत्थान विशेष पद त्रिरोग मार्गवाद की ही ओर संकेत करता है। समुत्थान विशेष की जानकारी के लिए त्रिरोग मार्गवाद की पूर्ण जानकारी अपेक्षित है। त्रिरोगमार्गवाद सिद्धान्त के आधार पर ही रोग का समुचित

निदान व उपचार संभव होता है। रोगोपचार के लिए पहले समुचित रोग निदान की अपेक्षा होती है, जैसा कि आचार्य के निम्नोक्त वचन से ज्ञात होता है। यथा—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥

च० सू० २०–२३.

उपर्युक्त वचन से आचार्य ने निर्देशित किया है कि—चिकित्सक पहले रोग की परीक्षा करे तदनन्तर औषध की परीक्षा करे। तत्पश्चात् रोग और औषध का पूर्व ज्ञान रखते हुए चिकित्सक चिकित्सा कर्म प्रारम्भ करे।

रोग ज्ञान के महत्त्व को दर्शाते हुए आचार्य ने कहा है कि—जो चिकित्सक रोग को बिना जाने हुए चिकित्सा कर्म आरम्भ करता है वह औषधि विधान का जानकार होता हुआ भी रोग की चिकित्सा में संयोगवश ही सफल होता है अर्थात् संयोगवश ही उसे कभी-कभी सफलता प्राप्त हो सकती है अधिकतर वह असफल ही रहता है। उपर्युक्त तथ्य के सन्दर्भ में निम्नांकित आचार्य वचन द्रष्टव्य है। यथा—

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्।
अप्यौषध विधानज्ञस्तस्य सिद्धिः यदृच्छया॥

च० सू २०/२१.

चिकित्सा कर्म में पूर्ण सफलता के लिए चिकित्सक को रोगों का समुचित ज्ञान तथा सभी औषधियों का यथोचित ज्ञान अपेक्षित होता है। इन उभय विध ज्ञानों के साथ ही चिकित्सक को देश (रोगी के रोगाक्रान्त होने का स्थान) तथा काल (रोगाक्रान्त होने की ऋतु) का भी यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। उपर्युक्त विविध ज्ञानवाले चिकित्सक को निस्सन्देह ही चिकित्सा कर्म में सफलता प्राप्त होती है। उक्त तथ्य के प्रसंग में निम्नांकित आचार्य वचन द्रष्टव्य है। यथा—

यस्तु रोग विशेषज्ञः सर्वभैषज्य कोविदः।
देशकाल प्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम्॥

च० सू० २०/२१.

उपर्युक्त सभी तथ्यों के आलोक में विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चिकित्सा कर्म में सकलता के लिए सर्वप्रथम रोग का समुचित ज्ञान होना अनिवार्य है। और रोग ज्ञान के लिए रोग के कारण, अधिष्ठान तथा उनके समुत्थान विशेष (त्रिरोग मार्ग) का ज्ञान अत्यावश्यक है। अतः त्रिविध रोगमार्गवाद सिद्धान्त रोग ज्ञान में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है। इस कारण त्रिविध रोग मार्गवाद सिद्धान्त चिकित्सा कर्म की सिद्धि में अत्यन्त उपादेय है।

त्रिविधौषध वाद

समस्त प्रकार की व्याधियों के कारणों को जिस प्रकार आयुर्वेद के आचार्यों ने 'त्रिविध हेतु' (असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम) में समाविष्ट किया है उसी प्रकार समस्त व्याधियों के उपचार को भी 'त्रिविधौषध' में अन्तर्भूत करके प्रतिपादित किया है। त्रिविधौषधवाद से तात्पर्य है रोगोपचार के तीन प्रकार के साधन या उपाय। त्रिविधौषध का प्रतिपादन करते हुए आचार्य चरक निम्नांकित उद्धरण में कहते हैं। यथा—

त्रिविधौषधमिति—दैवव्यपाश्रयं, युक्ति व्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्च ।

च० सू० ११/५४

रोगोपचार के तीन प्रकार के साधन हैं—(१) दैव व्यपाश्रय अर्थात् दैव (अदृष्ट) को आश्रित करके जो चिकित्सा की जाती है उसे दैव व्यपाश्रय औषध कहते हैं। इस प्रकार के साधन का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देखा जा सकता। जैसे मन्त्रादि का रोगोपचार में प्रत्यक्ष प्रभाव जानना संभव नहीं होता। दूसरा साधन है—युक्ति व्यपाश्रय अर्थात् इसमें रोगोपचार के निमित्त विविध उपायों का यथा—औषधि, आहार, बिहार आदि का आश्रय लिया जाता है। तीसरा रोगोपचार का साधन है—सत्त्वावजय अर्थात् मन को नियन्त्रित कर उस पर बिजय पाना।

त्रिविधौषध के सम्बन्व में आचार्य ने विशद विवरण निम्नोक्त रीति से प्रतिपादित किया है। यथा—

तत्र दैवव्यपाश्रयं—मन्त्रौषधिमणिमंगल बल्युपहार होम
नियम प्रायश्चित्तोपवास स्वस्त्ययन प्रणिधान गमनादि ।
युक्ति व्यपाश्रयं—पुनराहारौषध द्रव्याणां योजना;
सत्त्वावजयः — पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः ।

च० सू० ११ ५४

दैवव्यपाश्रय या दैवाश्रित चिकित्सा के साधन हैं—मन्त्र, औषधि धारण, मणि धारण, मंगल कार्य का सम्पादन, देवताओं के निमित्त बलि देना, देवताओं के निमित्त उपहार या भेंट समर्पित करना, हवन कर्म, नियमों का पालन करना यथा—शौच, संतोष, तप कर्म, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान अर्थात् देवाराधन आदि नियम के अन्तर्गत आते हैं, प्रायश्चित्त अर्थात् किये गये अशुभ कर्मों के निवारण के लिए पश्चाताप करते हुए शरीर को पीड़ित करते हुए शुभ कर्मों को करना, उपवास (निराहार रहते हुए इन्द्रियों का संयम करना, स्वस्त्ययन (कल्याण कारक वचनों

का श्रवण करना), प्रणिपात (देवता, गुरु, सिद्ध व सन्तों के चरणों में गिरना) एवं गमन (तीर्थाटन करना) आदि ।

युक्ति व्यपाश्रय अर्थात् उपायाश्रित चिकित्सा के साधन हैं—आहार, विहार एवं औषध द्रव्यों का उपयोग । सत्त्वावजय अर्थात् मनोनिग्रह या जितेन्द्रियता चिकित्सा का साधन (उपाय) है—अहितकर विषयों से मन को हटाकर मन पर नियन्त्रण करना ।

उपर्युक्त त्रिविधौषध संग्रह विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आयुर्वेद के आचार्यों ने जिस प्रकार समस्त व्याधियों के कारणों को लोक कल्याणार्थ तथा व्याधि निदानार्थ त्रिविध हेतुओं में समाविष्ट कर दिया है उसी प्रकार सामान्य जनों के चिकित्सा सौकर्यार्थ एवं आरोग्य लाभार्थ समस्त चिकित्सा उपक्रमों का भी 'त्रिविधौषध' में समावेश सम्पादित कर दिया है । इसी विषय का स्पष्ट व विशद विवेचन आचार्य चरक ने विमान स्थान के आठवें अध्याय में प्रतिपादित दश विध परीक्ष्य तथ्यों के विवेचन प्रसंग में 'करण' के नाम से एक दूसरे प्रकार से किया है जिसका उल्लेख प्रसंग गत विषय को और भी अधिक स्पष्ट व विशदीकृत करने के निमित्त अपेक्षित है । आचार्योक्त उद्धरण निम्नाँकित है । यथा—

करणं पुनर्भेषजम् । भेषजं नाम .तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातु साम्याभि निर्वृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपायान्तेभ्यः । तद्द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्-दैव व्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं चेति । तत्र दैवव्यपाश्रयं-मन्त्रौषधि मणिमंगल बल्युपहार होम नियमप्रायश्चित्तोपवास स्वस्त्ययन प्रणिपात गमनादि, युक्ति व्यपाश्रयं-संशोधनोपशमने च चेष्टाश्च दृष्टफलाः । एतच्चैव भेषजमङ्गभेदा-दपि द्विविधं-द्रव्यभूतम्, अद्रव्यभूतं च । तत्र यदद्रव्यभूतं तदुपायाभिप्लुतम् । उपायो नाम भय दर्शन विस्मापन विस्मारण क्षोभण हर्षण भर्त्सन बध बन्ध स्वप्न संवाहनादिरमूर्तो भाव विशेषो यथोक्ताः सिद्ध्युपायाश्चोपायाभिप्लुता इति । 'यत्तु द्रव्यभूतं तद्वमनादिषु योगमुपैति ।
—च० वि० ८/८७

आचार्य ने उपर्युक्त उद्धरण में औषध का उल्लेख करण या भेषज शब्द से किया है । भेषज शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य कहते हैं कि—भेषज संज्ञा उसकी होती है जो कि चिकित्सक के धातु साम्य स्थापन में प्रयत्न करते हुए अनेक उपायों से उपकरण (साधन) के रूप में उपकल्पित (उपयोग में प्रयुक्त) किया जाता है । वह भेषज आश्रय भेद से दो प्रकार का होता है—दैवव्यपाश्रय तथा युक्ति व्यपाश्रय । इनमें दैव व्यपाश्रय भेषज वे हैं जिनका उल्लेख इसी शीर्षक के अन्तर्गत पहले किया जा चुका है । युक्ति व्यपाश्रय भेषज हैं—संशोधन (पञ्चकर्म द्वारा

शरीरगत दोषों को निकालना) या शरीर का शुद्धिकरण तथा उपशमन (शरीरगत दोषों का शमन करना एवं शरीर की विविध चेष्टाएँ। ये सभी साधन या उपाय प्रत्यक्ष फल देने वाले हैं। ये भेषज अंग भेद से दो प्रकार के हैं—प्रथम द्रव्यभूत अर्थात् मूर्त द्रव्यों का उपयोग तथा द्वितीय अद्रव्यभूत अर्थात् अमूर्त भावों का रोगोपचार में उपयोग। इसमें जो अद्रव्यभूत हैं वे उपाय रूप हैं। उपाय उसे कहते हैं जो कि अमूर्तभाव विशेष के रूप में रोग प्रशमन में साधन की तरह उपयोग में लाये जाते हैं। जैसेकि भय, इष्ट वस्तु का दर्शन, विस्मय कारक वस्तुओं का देखना, घटना विशेष को विस्मृत कराना (भुला देना) क्षुब्ध करना, प्रसन्न करना, निन्दा, तथा अपमान करना, मारना, बंधन में बाँधना, निद्रित करना, शरीर को दबाना आदि। ये सभी अमूर्त भाव प्रत्यक्षतः आरोग्य के कारण नहीं हैं किन्तु शरीरगत वातादि दोषों को इस प्रकार साम्यावस्था में लाते हैं जिससे कि स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। जो युक्ति व्यपाश्रय भेषज द्रव्यभूत हैं वे सभी वमन, विरेचन आदि कर्मों में उपयोगी होने के साथ ही दोषों का संशमन भी करते हैं।

उपर्युक्त भेषज के प्रकारों में पूर्वोक्त त्रिविधौषध विहित 'सत्त्वावजय' का उल्लेख नहीं आया है। इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य चक्रपाणि ने अपनी आयुर्वेद दीपिका टीका में किया है, जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है। यथा—

अत्र दैवव्यपाश्रय युक्तिव्यपाश्रय द्वैविध्ये तु सत्त्वावजयोऽपि भेषजमवरुद्धं ज्ञेयं, सत्त्वावजयो हि दृष्टद्वारोपकारी युक्तिव्यपाश्रये, तथाऽदृष्टद्वारोपकारी तु दैवव्यपाश्रये प्रविशति। अतएवोक्तं युक्तिव्यपाश्रय व्याकरणे—चेष्टाश्च दृष्टफला इति। चेष्टा शब्देन मनश्चेष्टाऽपि सत्त्वावजय लक्षणा गृह्यते।

च० वि० ८/८७ पर आ० दी० टीका

अर्थात् यहाँ (इस प्रसंग में) दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय इन दो प्रकार के भेषजों (औषधों) में सत्त्वावजय भेषज भी अन्तर्भूत होता है, ऐसा जानना चाहिए। जो सत्त्वावजय (मनोनिग्रह) प्रत्यक्षतः उपयोगी जान पड़ता है वह युक्तिव्यपाश्रय में तथा जो अप्रत्यक्ष रूप से उपयोगी होता है वह दैवव्यपाश्रय में प्रविष्ट होता है। इसीलिए युक्तिव्यपाश्रय की व्याख्या में प्रत्यक्ष फलदायी चेष्टायें भी ग्रहण की जाती हैं। चेष्टाओं से मन की चेष्टायें भी जो मनोनिग्रह रूप हैं वे ग्रहण की जाती हैं।

पूर्वोक्त उद्धरण में आगत अंगभेद से भेषज का जो दो प्रकार बतलाया गया है उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य चक्रपाणि निम्नांकित वचन में कहते हैं कि—यथा—

पुनरौषधस्य प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—अंगभेदादित्यादि, अङ्गं शरीरमिति यावत्, तेन स्वरूपभेदादित्यर्थः। द्रव्यभूतं द्रव्यरूपम् एवमद्रव्यरूपम्।

च० वि० ८/८७ पर आ९ दी० टीका

अर्थात् औषध का पुनः एक दूसरे प्रकार से दो प्रकार का भेद अंगभेद इस पद से किया गया है। अंग का तात्पर्य यहां शरीर ग्रहण किया जाता है जिससे भावार्थ हैं स्वरूप भेद। जो औषध द्रव्यभूत हैं वे द्रव्यरूप तथा जी अद्रव्यभूत हैं वे अद्रव्यरूप औषध हैं।

भयादि जो कि अमूर्त (अद्रव्यरूप) भाव होते हैं वे प्रत्यक्षतः आरोग्य के कारण नहीं होते किन्तु धातुसाम्य के प्रति इनका परोक्ष लाभ होता है। इसी कारण आयुर्वेद के आचार्यों ने भयादि अमूर्त भावों को भी आरोग्य लाभ के उपायों के रूप में निर्दिष्ट किया है। इसी तथ्य को लक्ष्यकर आचार्य चक्रपाणि ने चरक के अद्रव्यभूत भेषज के 'उपायाभिप्लुतम्' इस पद को निम्नांकित रीति से व्याख्यायित किया है, जिसे कि प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने के लिए उल्लिखित करना अपेक्षित है। यथा

उपायाभिप्लुतमिति उपाय व्याप्तम्, उपायग्रहण गृहीतमिति यावत्। एवं मन्यते—भयादयोऽमूर्ता भावा न साक्षादारोग्य कारणानि भवन्ति, किं तर्हि शरीर स्थितानेव वातादीन् तथा कुर्वन्ति समत्वेनोत्पाद्यमानान् येनारोग्यं भवति, न ह्यमूर्तानि मूर्तानां शरीर धातूनामुत्पत्तौ समवायि कारणानि भवन्ति, भेषजं तु द्रव्यभूतं समशरीरोत्पादे समवायि कारणं भवत्येव, तेन द्रव्यस्यारोग्यं प्रति साधकतमत्वं साधु, अमूर्तानां तु भयादीनां न भेषजवत् साधकतमत्वमिति कृत्वा द्रव्य जन्य एव धातुसाम्ये तेषामुपायत्वमुक्तम्। एवं सूक्ष्मया बुद्धया भयादीनामुपायत्वं, स्थूलया तु बुद्धया भेषजत्वमपीति कृत्वा भयादिषु भेषज व्यवहारश्चाचार्याभिमतो द्विविधेभेषजेऽर्थेऽद्रव्यभूतग्रहणादुन्नीयते। केवलमद्रव्यभूतंभेषजमुपायव्याप्तं, किं त्वन्येऽपि परिचारकादय उपाय ग्रहण गृहीता एवेत्याह—यथोक्ताः सिद्धयुपायाश्चेति। यथोक्ताः सिद्ध्युपायाः परिचारकादयोऽत्र दशविध परीक्ष्येसाक्षादनुक्तास्तेऽपि उपायाभिप्लुता एवेत्यर्थः। किं वा उपायाभिप्लुतमिति उपाय मिश्रितम्। तत्रभयाद्यमूर्तभेषज एव यथोक्ता उपायाः कारणादि सौष्ठव सम्यगमिविधानरूपा अद्रव्यभूतभेषज पक्षगृहीताइत्यर्थः। तेनभयादिषुतथोपाय शब्दाभिधेयेषु च अद्रव्यभूतभेषज शब्दप्रयोगो भवतीति दर्शयति। ये नु 'उपायान्नाभिप्लुता' इति वदन्ति, ते देशकालावेव अद्रव्यभूतभेषजमिति वदन्ति, वदन्ति च द्रव्यशब्देन क्वाथ कल्काद्युपयोजनीयं द्रव्यमुच्यते इति, एतच्चनातिमनोहारि : अनेन चेति साधनभूतेन च 'एवं प्रकृत्या' इत्यादि—तथा साध्येन च 'एवं विधस्य पुरुषस्य' इत्यादिनोक्तेन विशेषेण युक्तमभूदित्यर्थः।

च० वि ८/८७. पर आयुर्वेद दीपिका

आचार्य चक्रपाणि द्वारा व्याख्यायित उपर्युक्त वचन का अभिप्राय है—उपायभिप्लुत का तात्पर्य है उपायाश्रित या उपायों से युक्त। भयादि अमूर्त भाव प्रत्यक्ष रूप से आरोग्य प्राप्ति में कारण नहीं होते ऐसा माना जाता है। क्या भयादि अमूर्त भाव शरीरगत वातादि दोषों की समता उत्पन्न करके धातुसाम्य की स्थिति प्राप्त कराते हैं जिससे कि आरोग्य (स्वास्थ्य) की प्राप्ति होती है ? यदि इस प्रकार की युक्ति दी जाय तो इसके विषय में यह तर्क उपस्थित होता है कि अमूर्तभाव शरीर के मूर्त धातुओं की उत्पत्ति में समवायि कारण (आधारभूत उपादान) नहीं होते हैं। द्रव्यभूत भेषज तो शरीर में धातुसाम्य उत्पन्न करने में समवायि कारण होता ही है, इस कारण द्रव्यों की आरोग्य के प्रति साधनता सिद्ध है। किन्तु भयादि अमूर्त भावों का द्रव्यभूत भेषज की तरह साधनता नहीं है ऐसा मानकर द्रव्यजन्य धातुसाम्य में ही भेषज की आरोग्य में साधनता (उपायत्व) है ऐसा कहा गया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर भयादि अमूर्त भावों की भी आरोग्य के प्रति उपायत्व (साधनता) है। स्थूल दृष्टि से भयादि में भेषज का व्यवहार अर्थात् भयादि का भी भेषज रूप में साधनता आचार्य को अभिप्रेत है, इसी तथ्य को आचार्य ने 'एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधंद्रव्यभूतम्, अद्रव्यभूतंच, इस वाक्य से निर्दिष्ट किया है। द्विविध भेषज के अर्थ में अद्रव्यभूतभेषज के ग्रहण से उपर्युक्त तथ्य अनुमित किया जाता है। केवल अद्रव्यभूतभेषज ही चिकित्सा के साधन नहीं है अपितु अन्य परिचारक, वैद्य आदि भी उपाय से ग्रहण किए जाते हैं। इसीलिए कहा है—'यथोक्ताः सिद्धयुपायाश्चेति' अर्थात् चिकित्सा की सफलता में यथोचित कहे गये उपाय। यद्यपि रोगोपचार में वर्णित दशविध परोक्ष्य तथ्यों में परिचारक आदि प्रत्यक्षतः नहीं कहे गये हैं तथापि 'उपायाभिप्लुत' पद से इनका भी ग्रहण होता है। उपायाभिप्लुता का उपायों का मिश्रण या संयोग भी अर्थ लिया जा सकता है। उपायाभिप्लुत का उपर्युक्त अर्थ ग्रहण करने से भयादि अमूर्त भेषज भी यथोक्त उपायों में आ जाते हैं जो कि कारण (वैद्य) आदि की कुशलता एवं चिकित्सा कर्म का सम्यक् विधान रूप अद्रव्यभूतभेषज के पक्ष में ग्रहण किया गया है। इस कारण भयादि अमूर्त भावों का उपाय शब्द से अभिधान (नाम करण) तथा इनके लिए अद्रव्यभूत भेषज शब्द का प्रयोग होता है ऐसा आचार्य के उपायाभिप्लुतम् शब्द से इङ्गित होता है। जो लोग उपायाभिप्लुतम् पद को 'उपायान्नाभिप्लुता' इस पद के रूप में कहते हैं वे देश और काल को ही अद्रव्यभूतभेषज कहते हैं और उपयोगी क्वाथ, कल्क आदि को द्रव्य शब्द से अभिहित करते हैं। किन्तु यह विचार अधिक मनोग्राही नहीं लगता। 'अनेन च' इस पद से साधनभूत (उपाय) से 'एवं प्रकृत्या' इस वचन से इस प्रकार की प्रकृति से इत्यादि आचार्य वचनों से तथा चिकित्स्य एवं विधस्य पुरुषस्य' अर्थात् इस प्रकार की चिकित्सा में सफलता प्राप्त

होती है इत्यादि आचार्य के निर्देश से अद्रव्यभूत व द्रव्यभूत उपायों से रोगोपचार उचित है ऐसा निष्कर्ष निकलता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के औषधों का विवरण देकर पुनः आचार्य एक दूसरे प्रकार से औषध (चिकित्सा साधनों) का तीन प्रकार बतलाते हैं। औषध का यह भेद केवल शरीर के ही आश्रित व्याधियों की चिकित्सा को लक्ष्य करके किया गया हैं; जैसाकि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

शरीर दोष प्रकोपे तु खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तः परिमार्जनं, बहिः परिमार्सनं, शस्त्र प्राणिधानं चेति। तत्रान्तःपरिमाजंनं यदन्तः शरीरमनुप्रविश्यमौषधमाहारजातव्याधीनू प्रमार्ष्टि, यत्पुनर्बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यंग स्वेद प्रदेह परिषेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्ष्टि तद्बहिःपरिमार्जनं, शस्त्र प्रणिधानं पुनश्छेदन भेदन व्यधन दारण लेखनोत्पाटन प्रच्छनसीवनैषण क्षारजलौकसश्चेति।
च० सू० ११/१५.

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने शारीरिक दोषों के प्रकोप को लक्ष्यकर तीन प्रकार की औषधियों का उल्लेख किया है, वे हैं—१. अन्तः परिमार्जन, २. बहिः परिमार्जन तथा ३. शस्त्र-प्रणिधान। प्रथम प्रकार का औषध भेद हैं—अन्तः परिमार्जन, जिसका तात्पर्य है कि वे औषधियाँ जो शरीर में क्रमशः प्रविष्ट होकर आहार जन्य व्याधियों को नष्ट करती हैं।

दूसरा भेद—बहिः परिमार्जन वे औषध हैंजो कि बाह्य त्वचा का आश्रय लेकर अभ्यंग, स्वेदन कर्म, प्रदेह (लेपकर्म) परिषेक (उष्णोदक सेचन) तथा उन्मर्दन विम्लापन (यह क्रिया व्रणशोथ को घटाने के लिए व्रण उत्पन्न होते ही की जाती है) आदि कर्मों द्वारा व्याधियों का नाश करते हैं।

तीसरा औषध भेद --शस्त्रप्रणिधान अर्थात् शस्त्र क्रिया द्वारा स्थानिक विकृतियों का प्रतिकार छेदन क्रिया, भेदन कर्म, व्यधन, दारण, लेखन, उत्पाटन, प्रच्छन, सीवन, एषण क्रिया, क्षार व जलौकस (जोंक) आदि से किया जाता है।

इस प्रकार आचार्य चरक ने 'त्रिविधोषध विवरण' में सभी प्रकार के व्याधियों के उपचार निमित्त संक्षेप में चिकित्सा साधनों के संग्रह का उल्लेख कर दिया है। पहले कहे गये 'त्रिविधौषध' भेद से आचार्य ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक सभी प्रकार के रोगों के चिकित्सा साधनों का उल्लेख किया है। दूसरे प्रकार के औषध भेद द्विविध भेषज के विवरण से सभी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों के उपचार का साधन संग्रह वर्णित किया है। वस्तुतः द्विविध भेषज भी फलितार्थ रूप

में प्रथम प्रकार के 'त्रिविधौषध' भेद की ही तरह है किन्तु इसको वर्णित करने की रीति कुछ भिन्न सी है। जहाँ कि 'त्रिविधौषध' विवरण में दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय इन तीन प्रकार के चिकित्सा साधनों का उल्लेख शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों के उपचार के निमित्त अलग-अलग प्रतिपादित किया गया है वहीं द्वितीय प्रकार के द्विविध भेषज भेद में शारीरिक व मानसिक व्याधियों के उपचार साधनों का उल्लेख अलग-अलग नहीं किया गया है। तीसरे प्रकार के औषधभेद में केवल शारीरिक व्याधियों के लिए ही उपचार साधनों का वर्णन किया गया है। तीसरे प्रकार के औषध भेद में यह भी एक विशेषता है कि आचार्य ने शल्य विषयक स्थानिक रोगों के उपचार के साधनों का भी निर्देश कर दिया है। शस्त्र प्रणिधान से शल्य शास्त्राधिकृत रोगों के उपचार निमित्त अष्टविध शस्त्र कर्मों का स्पष्ट उल्लेख निर्दिष्ट किया गया है।

इस प्रकार आचार्य ने 'त्रिविधौषध' विवरण से समस्त चिकित्सा साधनों का संग्रह निर्दिष्ट कर समस्त रोगों के उपचार का चिकित्सा सूत्र भिषक् समाज को प्रदान किया है जो कि आयुर्वेद में लोक कल्याणार्थ एक महत्वपूर्ण योगदान है।

त्रिविधौषधवाद की उपादेयता—प्रस्तुत शीर्षकानुगत विवरण से आयुर्वेद के मूल उपदेष्टाओं ने लोक कल्याणार्थ मानव समाज को आरोग्यलाभार्थ एक ऐसा सूत्रात्मक अभीष्ट फलदायी तथ्य प्रदान किया है कि यदि इसका यथानिर्देश अनुपालन किया जाय तो संसार के मानव समाज में व्याप्त सभी प्रकार के व्याधियों से भिषक् समाज मानव समूह को रोगमुक्त कर सकता है। त्रिविधौषधवाद से केवल शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों के ही उपचार का साधन नहीं प्रतिपादित किया गया है अपितु आधिदैविक व्याधियाँ जो कि दुर्दैव के कारण मनुष्यों को पीड़ित करती हैं, उनके प्रतिकार का भी साधन उपलब्ध होता है। त्रिविधौषधवाद विवरण प्रसंग में आगत द्विविध भेषज विवरण में शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों के उपचार के निमित्त विविध औषध द्रव्यों के प्रयोग के अतिरिक्त भय, हर्ष, विस्मय, स्मृति, विस्मृति आदि अमूर्त भावों का भी व्याधियों के शमनार्थ प्रयोग आयुर्वेद की अत्यन्त विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। सहस्त्रों वर्ष पूर्व आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा स्थापित यह तथ्य कि भय, हर्ष आदि अमूर्त भाव भी शरीरगत त्रिदोष पर प्रभाव डालकर विभिन्न प्रकार की स्थितियों को उत्पन्न करते हैं स्त्रयं में ही एक महत्वपूर्ण चिकित्सिकीय योगदान है। इस सम्बन्ध में आचार्य चरक का निम्नोक्त वचन द्रष्टव्य है। यथा—

कामशोकभयाद्वायुः, क्रोधात् पित्तं त्रयोमलाः।
भूताभिषंगात् कुप्यन्ति भूतसामान्य लक्षणाः॥

च० चि० ३/११५.

अर्थात् काम (मैथुनेच्छा), शोक तथा भय से वायु, क्रोध से पित्त तथा भूताभिषंग (भूतावेश) से तीनों दोष प्रकुपित होते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों को यह तथ्य भलीभाँति ज्ञात था कि भयादि अमूर्त भावों का भी शरीरगत त्रिदोष पर प्रभाव पड़ता है। इसी कारण भयादि अमूर्त भावों को भी अद्रव्यभूत चिकित्सा साधन कहा गया है।

आज के अत्याधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाओं से भी यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि भय, हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों से शरीरगत परिवर्तन होते हैं, जिनका मनुष्य के स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध होता है। इतना ही नहीं अनेक वैज्ञानिकों ने इस तथ्य का भी पता लगा लिया है कि मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार की वेदना उत्पन्न होने पर उसके शरीर में स्वतः कुछ ऐसे रासायनिक तत्त्वों का निर्माण होता है जिससे कि व्यक्ति की वेदना में कमी अथवा वेदना की शान्ति हो जाती है। इस प्रक्रिया को वैज्ञानिकों ने 'वेदना प्रेरित वेदनाहर' (स्ट्रेस इन्ड्यूस्ढ एनालजेसिक) की संज्ञा दी है। इस वैज्ञानिक अनुसंधान से यह प्रमाणित होता है कि आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अद्रव्यभूत (भयादि अमूर्त) भाव भी चिकित्सा के साधन हो सकते हैं। किन्तु अद्रव्यभूत चिकित्सा साधनों की सफलता में चिकित्सकों की दक्षता व युक्तिज्ञता अपेक्षित है। चिकित्सक को यह भलीभाँति ज्ञान होना अपेक्षित है कि किन अमूर्त्त भावों से किस दोष की वृद्धि होती है और किन अमूर्त भावों से किस दोष की शान्ति होती है। किन्तु इस तथ्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह सिद्ध होती है कि चिकित्सक को भयादि अमूर्त्त भावों का शरीर पर प्रभाव पड़ता है जिनका कि चिकित्सा साधनों के रूप में उपयोग किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो आयुर्वेदोक्त 'त्रिविधौषधवाद' सिद्धान्त कितना उपादेय है यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

'त्रिविधौषधवाद' भिषक् समाज के लिए ऐसा चिकित्सा संग्रहसूत्र है कि जिसके अनुसरण से ही आयुर्वेद का मूल अभिधेय 'त्रिसूत्र' (हेतु, लिंग व औषध) ज्ञान की चरितार्थता पूर्ण होती है तथा जिससे कि आयुर्वेद के चरम लक्ष्य आरोग्य लाभ की प्राप्ति होती है। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि 'त्रिविधौषधवाद' सिद्धान्त आयुर्वेद में कितना उपादेय व महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'त्रिविधौषधवाद' आयुर्वेद के त्रिसूत्र ज्ञान रूपी त्रिदण्ड (तिपाई) का एक महत्त्वपूर्ण पाद है जो कि हेतु (रोग हेतु) ज्ञान व लिंग (रोग लक्षण) ज्ञान इन दोनों ज्ञानों को प्रयोजन रूप फल की प्राप्ति (आरोग्य लाभ) कराता है। जैसे—कि तिपाई तीनों पाद के ही आधार पर ही अपनी स्थिति बनाए रख सकती है तथा व्यवहार में उसकी उपयोगिता बनी रहती है,

उसी प्रकार आयुर्वेद का सार रूप 'त्रिसूत्र ज्ञान' भी 'त्रिविधौषध' ज्ञान से युक्त होने पर ही आयुर्वेद के प्रयोजन को पूर्ण करता है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने 'त्रिबिधौषधवाद' की अवतारणा करके भिषक् समाज को एक ऐसा सार्वकालिक व सार्वदैशिक चिकित्सा संगह रूपी मणिमय आलोक दिया है कि जिसके प्रकाश में चिकित्सक गण सहज रूप से मानव समाज को सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्त कर स्वस्थ व सुखी जीवन प्रदान कर सकते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने पर 'त्रिविधौषधवाद' की उपादेयता व महत्ता ज्ञात होती है। 'त्रिविधौषधवाद' की उपादेयता पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपनिबद्ध किया जा सकता है किन्तु ग्रन्थ विस्तार भय से संक्षेप में ही इस सिद्धान्त की उपादेयता का विवरण निदर्शन रूप में प्रस्तुत किया गया है।



शब्दानुक्रमणिका

ग्रन्थागत अशुद्ध शब्द परिमार्जन सूची

पृष्ठांक	अशुद्ध	शुद्ध
१.	उपवृंह्रत	उपवृंहित
१.	उपबृंहिण	उपवृंहण
५.	(Dirtinctive)	(Distinctive)
८.	च० सू० १/१८/१९	च० सू० ११/१८-१९
१०.	जीवन प्रक्रिया में इससे सम्बन्धित सभी मूल तत्त्वों का समावेश है ।	जीवन प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी मूल तत्त्वों का इसमें समावेश है ।
१५.	तत्रं सर्वतन्त्र सिद्धांतों	तत्र सर्वतन्त्र सिद्धांतों
१६.	घूरीभूत	धुरीभूत
१६.	कथ्य	तथ्य
१७.	विविच्य	विवेच्य
१७.	सद्वृत्तानुश्ठान	सद्वृत्तानुष्ठान
१८.	षड् अलग पदार्थों	षड्पदार्थों
२१.	पृथक्ता	पृथक्‌ता
२८.	द्वेदसंभवहेतवः	देहसंभवहेतवः
२८.	स्थूणाभिस्सृभिस्ततंश्च	स्थूणाभिस्तिसृभिस्
२८.	साम्मावस्था	साम्यावस्था
३१.	क्षययेत्	क्षपयेत्
४१.	संवत्सरो व प्रजापतिः	संवत्सरो वै प्रजापतिः
४२.	ह्राता है	होता है
४५.	लायतित्ति‍र	लावतित्तिर
४५.	तरुबिहृपः	तरुविटपः
४८.	गुन्यते	गुण्यते
४९.	मासतः	मारुतः
५२.	संयोन	संयोग
५९.	अतितीक्ष्योग्रा	अति तीक्ष्णोग्रा
५९.	द्विष्य	द्विष्टा
६४.	निषिद्	निषिद्ध

पृष्ठांक	अशुद्ध	शुद्ध
७२.	अस्तित्व	अस्तित्व
७३.	निर्माण षट्क	निर्वाणषट्क
७३.	व्यापक	व्यापक
७३.	व्तक्ति	व्यक्ति
७४.	भहा	कहा
७४.	आपुर्वेद	आयुर्वेद
७५.	क्योंफि	क्योंकि
७६.	कारव	कारण
७७.	जन्यमरण	जन्ममरण
७७.	प्रत्युत्त	प्रत्युत
८१.	पुरुषमव्याणन्नेद्रियं	पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं
८१.	सुखोपयन्न	सुखोपन्न
८१.	महतोपवादयन्ति	महतोपपादयन्ति
८२.	का उपतप्त	को उपतप्त
८३.	प्रतिपादनसौकर्भं	प्रतिपादनसौकर्य
८७.	कफ के कम	कफ के कर्म
८८.	त्वचाएँ	त्वचा
८९.	नाभिगताश्चरेत्	नाभिगलांश्चरेत्
९७.	पुष्णामि चौचधीः	पुष्णामि चौषधीः
१००.	सर्वंदिवसमपि परितन्प्स्वां	सर्वंदिवसमपि परिपतन् स्वां
१०१.	सर्वेशां	सर्वेषां
१०५.	यक्ति	यदि
१०५.	स्थावना	स्थापना
११०.	संभवन्तिः	संभवन्ति
१११.	पिढका	पिडका
१११.	चर्मदिल	चर्मदल
११२.	शरीध	शरीर
११७.	उत्कर्षायकर्ष	उत्कर्षापकर्ष
१२४.	रूपस्तेजः	रूपवत्तेजः
१३२.	तत्वा	तत्त्व
१३२.	होन से	होने से

पृष्ठांक	अशुद्ध	शुद्ध
१३५.	पापांडु वृक्ष प्ररोहा	पांडुवृक्षप्ररोहा
१३५.	सु० सू० ३६/४	सु० सू० ३७/४
१३५.	सु० सू० ३६/६	सु० सू० ३७/६
१३६.	ऊपर	उपर
१३७.	अपभूत	अप्भूत
१४२.	कारणव्यों	कारण द्रव्यों
१४५.	इषत् कषाय	ईषत् कषाय
१४५.	इषत् अम्ल	ईषत् अम्ल
१४५.	इषत् कषाय	ईषत् कषाय
१४६.	अवधारणाओं के	अवधारणाएं
१५०.	पार्थिवं गन्धो प्राणं च	पार्थिवं गन्धो घ्राणं च
१६४.	आचार्ग चक्रपाणि	आचार्य चक्रपाणि
१६७.	जात है	जाती है
१७५.	आवलणात्म	आवरणात्मक
१८३.	अयाग	अयोग
१८६.	एसके	इसके
१९४.	निरीशण	निरीक्षण
१९४.	भोजन पचना काल	भोजन-पचन काल
१९४.	सन्तुक्रम	सन्तुलन
१९५.	साभिः	याभिः
१९७.	विज्ञय	विषय
१९७.	षड्सवाद	षड्रसवाद
१९८.	पे	ये
१९८.	आश्रभूत	आश्रयभूत
२००.	सौमगुण	सोमगुण
२११.	दोषौषवादीन्	दोषौषधादीन्
२१४.	ः वरमुमपादयेत्	प्रवरमुपपादयेत्
२१८.	पंचविकित्सोपक्रा	पंचचिकित्सोपक्रम
२२०.	कार्यमातयस्य	कार्यमातपस्य
२२३.	दाग्रह	वाग्रह
,,	आत्यविक	आत्ययिक

पृष्ठांक	अशुद्ध	शुद्ध
२२४.	समुत्व क्लेशित श्लेष्माणं	समुत्क्लेशितश्लेष्माणं
,,	पूर्वाह्नग	पूर्वाह्णे
२२५.	जोभूत कल्प	जीमूत कल्प
२२६.	स्वेय क्रिया	स्वेद क्रिया
२२९.	स्वरना	स्वरसा
२३१.	चिवृतां	त्रिवृतां
२३१.	यथाक्तं	यथोक्तं
२३७.	शोधानानन्तरं	शोधनानन्तरं
२३९.	त्रात	वास
२४१.	सुसं निरेति	सुखं निरेति
२४४.	निनिश्चय:	विनिश्चय:
२४७.	प्राप्त्यथ	प्राप्त्यर्थ
,,	लक्षणम्	लक्षणम्
२५०.	पापयेत्	पाययेत्
२५०.	भूवस्तम्	भूयस्तम्
२५१.	हन्य:	हन्यु:
२५२.	दोषरुद्ध	दोषरुद्ध
२५४.	जीयति	जीयंति
२५६.	कालेष्वश्य	कालेष्ववश्यं
२५७.	नियत	नियतं
२५९.	सिसेगिन्ध	सिरोविगन्ध:
२५९.	सुबद्धत्र:	सुबद्धसूत्र:
२६१.	फल्कैर्गुडक्षौद्रघृतै:	कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतै:
२६२.	आसपृते	आसप्तते
२६८.	रोगेयु	रोगेषु
२६९.	मध्यवेन	मध्यस्वेन
,,	निम्नाक्त	निम्नोक्त
,,	वातपित्तप्रकोव	वात-पित्त-प्रकोप
,,	प्रकोवस्तथा	प्रकोपस्तथा
,,	तथा	तदा
२७०.	अन्नदान	अन्नपान

पृष्ठांक	अशुद्ध	शुद्ध
२७२.	पुरीष स्रसनादपि	पुरीषस्रं सनादपि
,,	अबलापेक्षणी	अबलापेक्षिणी
२७३.	शोष	शोथ
२७४.	दीपित	दीप्त
२७७.	सोकात्	शोकात्
,,	आच्क्षादिय	आच्छादित
,,	मूतेन्द्रिय	मूत्रेन्द्रिय
२८०.	पाक्सिद्धि	वाक्‌सिद्धि
२८४.	रसपिष्टानां	रसपिष्टानां
,,	योऽभिनिर्याति	योऽभिनिर्याति
२८५.	फाण्यच्छीतो	फाण्टाच्छीतो
२८६.	यह:	यत:
,,	च० सू० ५/७	च० सू० ४/७
,,	कल्पप्रेमी	कल्कप्रेमी
२८७.	च० सू० ५/७	च० सू० ४/७
२८८.	वर्णीकरण	वर्गीकरण
,,	गुडिकाढी	गुडिकादी
,,	मधुरादिवद्रुपदिष्टस्य	मधुरादिवदुपदिष्टस्य
,,	अतो न	यतो न
२९६.	माषानूपदोक	माषानूपोदक
३१३.	दैन्दिनन	दैनन्दिन
३१४.	रूप के	रूप में
,,	निनोक्त	निम्नोक्त
,,	विसर्गे पुतर्वायवो	विसर्गे पुनर्वायवो
,,	प्रत्ययमूता:	प्रत्ययभूता:
३१५.	अविफल	अविकल
३१७.	मध्वे	मध्ये
३१८.	आलोच्य	आलोच्य
,,	जाठरानि	जाठराग्नि
३२१.	विसर्गंकालवाद	विसर्गकालवाद
,,	दैनन्दित	दैनन्दिन

पृष्ठांक	अशुद्ध	शुद्ध
३२३.	आयुबेंद	आयुर्वेद
,,	उपदेष्टाओ	उपदेष्टाओं
३२५.	यात्रापेक्षी	मात्रापेक्षी
३३१.	तिमित्त	निमित्त
,,	आप्तजनो	आप्तजनों
३३८.	आपाधावी	आपाधापी
३४१.	नानाविथ	नानाविध
३४२.	एतदयं	एतदर्थं
३४४.	द्रव्व	द्रव्य
३४५.	यतश्चाएमा	यतश्चात्मा
३४६.	इन्द्रियाण्यथं	इन्द्रियाण्यर्थं
३४८.	स्पर्था	स्पर्धा
३५०.	कुटिल लीगों	कुटिल लोगों
३५१.	नियेध	निषेध
,,	विथि	विधि
,,	इदि	यदि
,,	छोभ	लोभ
३५४.	किक्त्सित्यभि धीयते	चिकित्सेत्यभिधीयते
३५५.	रोगी को	रोगी की
,,	उवशामक	उपशामक
३६१.	दुर्बतम्	दुर्बलम्
३६४.	आकांक्षा	आकांक्षा
३७५.	जीवन के धन	जीवन में धन
३८७.	विशुद्ध	विबुद्ध
३८८.	चतुष्पादसपद्	चतुष्पाद सम्पद्
३८९.	व्याप्तिरूरू	व्याप्तिरूपा
३९२.	आप्तोपदेस	आप्तोपदेश
४०७.	गिर्देशित	निर्देशित
४०९.	तभी विचारों	सभी विचारों
,,	व्यापि	व्याधि
४१०.	विदरण	विवरण

पृष्ठांक	अशुद्ध	शुद्ध
४१५.	टिटनेस	टिटेनस
४१७.	तथ्ल	तथ्य
,,	विष्यन्दनात्	विष्यन्दनात्
४२३.	अङ्गं मरीरमिति	अङ्गं शरीरमिति
,,	स्वरूपमेदादित्यर्थः	स्वरूपभेदादित्यर्थः
,,	द्रव्वभूतं	द्रव्यभूतं
,,	द्रव्वरूपम्	द्रव्यरूपम्
,,	सम्यगभिविधानरूपा	सम्यगभिविधानरूपा
४२५.	शरीर	शरीर
,,	च० सू० ११/१५.	च० सू० ११/५५
४२९.	भूताभिषंगात् कुप्यन्ति	भूताभिषंगात् कुप्यन्ति



प्रमुख आयुर्वेदीय ग्रन्थ

अष्टाङ्गसंग्रहः। मूलमात्र। सम्पादक डॉ. शिवप्रसाद शर्मा। 350.00

अष्टाङ्गसंग्रहः। वृद्धवाग्भटप्रणीतः। 'इन्दु' विरचित 'शशिलेखा' व्याख्यासमन्वितः। डॉ. ज्योर्तिमित्रआचार्यप्रणीत उपोद्घात सहित, सम्पा.—डॉ. शिवप्रसाद शर्मा 675.00

अष्टाङ्गशारीरम्। (An uptodate concise & complete Text Book of Human Anatomy & Physiology in Sanskrit). वैद्यरत्नम् पी. एस. वारियर। 425.00

(सचित्र) अष्टाङ्गहृदयम्। श्रीमद्वाग्भट्टविरचितम् सविमर्श अभिनव हिन्दी व्याख्योपेतम् (छात्र उपयोगी संस्करण)। (सूत्रस्थान) व्याख्याकार डॉ. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय 425.00

अष्टाङ्गहृदयसंहिता। श्रीमद्वाहटाचार्यविरचिता। 'इन्दु' विरचितया शशिलेखाख्यया व्याख्यया समुल्लसिता सम्पादकोभूमिकालेखकश्च अष्टवैद्यन् वैद्यमाधम चेरियानारायणन् नम्बूदिरी 500.00

अष्टाङ्गहृदयम्। सटिप्पण 'सर्वाङ्गसुन्दरा' 'आयुर्वेदरसायन' व्याख्याद्वय सहित। सम्पादक— वैद्य हरिशास्त्री पराड़कर 600.00

आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त। लेखक— डॉ. प्राणजीवन मेहता (गुजराती का हिन्दी अनुवाद) हिन्दी रूपान्तरकार-कविराज श्रीवागीश्वर शुक्ल 200.00

आयुर्वेदीय पथ्यापथ्य विज्ञान। डॉ० बद्री प्रसाद साव 250.00

आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्तम्। वैद्य दत्तात्रेय शास्त्री जलूकर, सम्पादक एवं अनुवादक वैद्य ना. ह. जोशी महोदयैः आयुर्वेद विशारद (Mis) 225.00

एलोपैथिक डायग्नोसिस एवं चिकित्सा। डॉ० शिवनाथ खन्ना 250.00

(व्यवहारिक) कायचिकित्सा। वैद्यरत्न शिवदत्त शर्मा 475.00

कायचिकित्सा। वैद्य हरिदास श्रीधर कस्तुरे। सम्पूर्ण 1-3 खण्ड में। 1000.00
प्रथमखण्ड-सिद्धान्तविमर्श 350.00, द्वितीयखण्ड-व्याधिविमर्श 350.00,
तृतीयखण्ड-व्याधिविमर्श 300.00

क्रियाशारीर (सचित्र) (Comprehensive Human Physiology) डॉ० कृष्णकान्त पाण्डेय 290.00

चरकसंहिता। चक्रपाणिदत्तप्रणीत 'आयुर्वेददीपिका' व्याख्या समलंकृत। संपा० वैद्य यादवजीत्रिक्रमजी आचार्य 475.00

प्राकृतिक आहार द्वारा निसर्गोपचार। प्रो० (डॉ०) के. के. पाण्डेय (Nature-Cure Through Natural Foods) 125.00

बसवराजीयम्। वैद्यवर श्रीबसवराजविरचित। हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार-प्रो. डॉ. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय 1000.00

Also can be had from : **Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi.**

ISBN : 978-81-218-0043-9 (Vol. I), 978-81-218-0045-5 (Set)